UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182677

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—787—13-6-75—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H84 C555 Accession No. P. G. H5171

Author चौहान, शिवचंद्र सिंह

Title [illegible]

This book should be returned on or before the date last marked below

साहित्य की समस्याएँ

हमारा प्रसिद्ध आलोचनात्मक साहित्य

गुलाबराय

काव्य के रूप ५.००
सिद्धान्त और अध्ययन ६.००
अध्ययन और आस्वाद ७.५०
हिन्दी-काव्य-विमर्श ४.००
मन की बातें ३.५०

गुलाबराय : स्नातक

आलोचक रामचन्द्र शुक्ल ६.५०

सहल : स्नातक

कामायनी-दर्शन ४.००

स्नातक : सुमन

हिन्दी-साहित्य और उसकी प्रगति ३.५०
आधुनिक हिन्दी साहित्य २.००

सुमन : मल्लिक

साहित्य-विवेचन ७.००
साहित्य-विवेचन के सिद्धान्त ३.५०

यज्ञदत्त शर्मा

कबीर-साहित्य और सिद्धान्त ३.००
सूर साहित्य और सिद्धान्त ३.००
जायसी-साहित्य और सिद्धान्त ३.००
तुलसी-साहित्य और सिद्धान्त ३.००
प्रबन्ध-सागर ८.५०
आदर्श-पत्र-लेखन ८.००
आदर्श भाषण-कला ८.००

जयनाथ 'नलिन'

हिन्दी-नाटककार ५.५०
हिन्दी-निबन्धकार ६.५०

शचीरानी गुर्टू

हिन्दी के आलोचक ८.००
महादेवी वर्मा ६.५०
सुमित्रानन्दन पंत ६.५०

आचार्य विश्वेश्वर

हिन्दी-काव्यालंकार-सूत्र १२.००
हिन्दी-वक्रोक्तिजीवितम् १६.००

डॉ० सावित्री सिन्हा

मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ ८.००
अनुसन्धान के स्वरूप ३.५०

डॉ० विमलकुमार जैन

सूफीमत और हिन्दी-साहित्य ८.००

डॉ० सुधीन्द्र

हिन्दी-कविता में युगान्तर ८.००

ब्यौहार राजेन्द्रसिंह

आलोचना के सिद्धान्त ४.००

नन्ददुलारे वाजपेयी

महाकवि सूरदास ४.००

हंसराज रहबर

प्रेमचन्द—जीवन, कला और कृतित्व ७.००

महावीर अधिकारी

प्रसाद—जीवन, कला और कृतित्व ८.००

रामवृक्ष बेनीपुरी

वन्दे वाणी विनायकौ ३.००

मोहनलाल जिज्ञासु

कहानी और कहानीकार ३.५०

देवराज उपाध्याय

रोमांटिक साहित्य-शास्त्र ४.००

अशोककुमार सिंह

उद्भवशतक-परिशीलन २.००

प्रभाकर माचवे

सन्तुलन ४.५०

रामकृष्ण शुक्ल

कला और सौन्दर्य ३.५०

ललिताप्रसाद सुकुल

साहित्य-जिज्ञासा ३.००

हरिश्चन्द्र खन्ना

रेडियो-नाटक ६.५०

मन्मथनाथ गुप्त

प्रगतिवाद की रूपरेखा ७.००

राजेन्द्र द्विवेदी

साहित्य-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द-कोष ८.००

बालमुकुन्द अर्शमलसियानी

महावरे और कहावतें ५.००

शिवदानसिंह चौहान

साहित्यानुशीलन ६.००

कृष्णचन्द्र शर्मा . देवीशरण रस्तौगी

तुलनात्मक अध्ययन ३.००

बनारसीदास चतुर्वेदी : हरिशंकर शर्मा

पद्मसिंह शर्मा के पत्र ७.००

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६



साहित्य की



साहित्य की

लेखक के अन्य आलोचनात्मक ग्रन्थ

साहित्यानुशीलन	६·००
हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष	३·५०
हिन्दी गद्य-साहित्य	२·७५
आलोचना के मान	३ ७५
काश्मीर : देश व संस्कृति	६·००

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

UNIVERSITY OF CALIFORNIA
RADHA

COPYRIGHT © BY ATMA RAM & SONS, DELHI-6

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	रुपए
प्रथम संस्करण	:	१ ९ ५ ९
आवरण	:	ना० मा० इंगोले
	:	हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-६

सूफीमत अ।र ।ह

निवेदन

'साहित्य की समस्याएँ' मेरे सन् '५१ से लेकर सन् '५५ तक के उन निबधो का संग्रह है जो 'साहित्यानुशीलन' या अन्य किसी पुस्तक मे सकलित नही किए गये। इनमे केवल चार निबध ही पुराने है––दो साहित्य-सम्बधी और दो भाषा-सम्बधी––जो पहले मेरे निबध-सग्रह 'प्रगतिवाद' मे प्रकाशित हुए थे। किन्तु यह पुस्तक अब अप्राप्य है और उसका नया सस्करण निकालने का विचार नही है।

आचार्य शुक्ल के जीवन-काल मे साहित्य, उसके इतिहास, मूल्याकन और उसमे प्रतिबिम्बित जीवन-वास्तव की समस्याएँ जिस रूप मे सामने आयी थी, उनका रूप अब बदल गया है, साथ ही इन समस्याओ को देखने-समझने की दृष्टि भी बदल गयी है। इसी कारण, हर सजग आलोचक साहित्य की इन मूलभूत समस्याओ पर नये सिरे से विचार करने के लिए विवश है। लेकिन पुरानी और नयी दृष्टि के विचारकों मे, कम से कम, एक बात सामान्य है कि हम सभी उस सत्य का अन्वेषण करने के आकाक्षी रहे है जो महान् साहित्य का सत्य है, ताकि उसकी चेतना से हमारे साहित्यकारो को महान् साहित्य रचने की प्रेरणा और स्फूर्ति मिले और हमारे पाठको मे केवल उत्कृष्ट रचनाओ को ही पसन्द करने की कलाभिरुचि का विकास हो। श्रेष्ठ साहित्य की रचना या उसके मूल्याकन के मार्ग मे यदि किसी प्रकार के मतवाद–अतिवाद, गैर जिम्मेदार दृष्टिकोण या सामाजिक परिस्थितियाँ बाधक बनी है तो यह हमे गवारा नही हुआ है और हमने उनके विरुद्ध खुल कर प्रतिवाद किया है। साहित्य-चिन्तन में सत्य और विवेक को प्रतिष्ठित करना ही इन विविध-विषयक निबधो का उद्देश्य है।

मैंने भाषा-सम्बधी दो निबधो को केवल उनके ऐतिहासिक महत्त्व के कारण ही इस संग्रह मे शामिल नही किया। सविधान और भाषा-आयोग की सिफारिशो के बावजूद राष्ट्रभाषा या जनपदीय भाषाओ के प्रश्न का अन्तिम फैसला नही हो गया है। इन प्रश्नो का जब तक कोई जनवादी समाधान नही किया जायगा, तब तक ये प्रश्न, एक-न-एक रूप में, देश के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों मे उठकर, भारतीय राष्ट्र की एकता को चुनौती देते रहेगे। स्वतत्रता अविभाज्य है तो उसके वरद्-स्पर्श का देश की हर भाषा और हर नागरिक को समान रूप से अनुभव करना चाहिए। जनवाद की कसौटी केवल बहुमत को प्रसन्न और सतुष्ट करना नही है, बल्कि अल्पमत को अन्याय और असन्तोष से मुक्ति दिलाना भी है। इसके अतिरिक्त जनपदीय भाषा-भाषी जनता यदि आज मूक है और कतिपय हिन्दी-आन्दोलनकारी ही शोर मचाकर उसका प्रतिनिधित्व करने का दावा कर रहे है, तो क्या यह स्थिति हमेशा ऐसी ही बनी रहेगी? आज का अल्पमत कल का बहुमत बन सकता है––अपने अधिकारो की चेतना भर फैलने की देर है। इसलिए मेरा विचार है कि हिन्दी-वादियों (या हिन्दी आन्दोलनकारियो) को व्यापक राष्ट्रीय हितो को ध्यान मे रखकर जनवादी दृष्टि से भाषा-सम्बधी प्रश्नो पर विचार करना चाहिए। नागा-जातियो की तरह विद्रोह करने पर ही हम विभिन्न भाषा-भाषियो के मूल अधिकारो को स्वीकार करे, नही तो उनका स्वत्व-हरण करके अपना सम्मान बढाते रहे, यह जनवादी तरीका नही है। हमारा दुराग्रह देश मे आन्तरिक कलह की आग का प्रज्ज्वलित रखेगा। ये निबध, पाठकों को, सही दिशा मे सोचने के लिए बाध्य कर सके, इस सग्रह मे उनका यही औचित्य है।

—शिवदानसिंह चौहान

क्रम

साहित्य

१.	नये भारत में साहित्य के मान-मूल्यों का प्रश्न	१
२	साहित्य के इतिहास की समस्या	१५
३.	राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण की समस्या	२४
४	साहित्य में पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा	३३
५	क्या साहित्य प्रॉपैगैण्डा है ?	४०
६	प्रगतिशील साहित्य	५१
७.	प्रगतिवाद	५४
८	प्रगतिवाद का प्रवृत्ति-निरूपण	५८
९	यथार्थ और साहित्य	६३
१०.	प्रतीकवाद · त्रिशकुओं का साहित्य ?	६८
११.	कविता में 'प्रगति' और 'प्रयोग' की समस्या	७७
१२.	आधुनिक कविता की समस्याएँ	८९
१३	आधुनिक कविता में प्रयोगवाद	९५
१४	हिन्दी कविता का भविष्य	९८
१५.	प्रेमचन्द के वाद	१०४
१६	प्रेमचन्द और गोर्की · तुलनात्मक अध्ययन की समस्या	१०९
१७	आलोचक का दायित्व	११८
१८	स्वाधीन भारत में हिन्दी साहित्य की गतिविधि	१३१
१९.	भारत की जन-नाट्यशाला	१३६
२०.	मानव-आत्मा के शिल्पियों से—	१५०
२१.	साहित्य में संयुक्त-मोर्चा	१८१
२२	एशियाई साहित्य में लोहे की दीवार	१९६

भाषा

२३	जनपदीय भाषाओं का प्रश्न	२०५
२४.	राष्ट्रभाषा : विवाद और समाधान	२७०

परिशिष्ट

(१)	पचवर्षीय जनपद कल्यानी योजना	३१३
(२)	मातृभाषाओं के जनपदों की सूची	३१५
(३)	संयुक्त-प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक संघ की कौंसिल का प्रस्ताव	३१७

साहित्य

१

नये भारत में साहित्य के मान-मूल्यों का प्रश्न

नये भारत से मुराद स्वतत्रता प्राप्ति के बाद के भारत से है। यो तो नये भारत की रूपरेखा बनना उस दिन से ही शुरू हो गई थी जिस दिन किसी हिन्दुस्तानी को अपनी गुलामी के बन्धन असह्य मालूम पडे और उसके मन मे आजादी की तमन्ना पैदा हुई। उस दिन से ही नये भारत का निर्माण करने के लिए हमारी सघर्ष-यात्रा का आरम्भ हुआ। उस दिन से ही हमारी जीवन-दृष्टि और जीवन-मूल्य बदलने लगे। साहित्य का स्वर भी 'कोऊ नृप होय, हमहि का हानी' की तटस्थता छोडकर 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाही' के उद्घोष मे परिणत हो गया। एक शताब्दी बीत गई हमे नये भारत के निर्माण की आकाक्षा लेकर अपनी सघर्ष-यात्रा मे निकले। इस संघर्ष के बीच नये भारत की रूपरेखा हमारे हृदयो मे बनती-उभरती आई है। इसीलिए जब स्वतन्त्रता मिली तो उसने नये मूल्यो और नई दृष्टि को जन्म नही दिया, बल्कि इससे हमारे बुद्धिजीवी वर्ग मे एक विचित्र भ्रम ही पैदा हुआ। मन की गति सदा बाह्य घटनाओ के समानान्तर नही चलती, न हर नयी घटना का तत्काल मर्म-बोध करने मे ही समर्थ होती है। अधिकतर लोगो ने समझा कि हम आखिरी मजिल पर पहुँच गये। आखिरी मजिल पर पहुँचना गति का अवसान है। जीवन चिरन्तन गति है। उसे अगर आगे बढने का मौका न मिले तो वह पीछे लौटेगा ही। मन की गति भी इस नियम का अपवाद नही है। स्वतन्त्रता के बाद, दुर्भाग्य से, मन और जीवन की गतियाँ विपरीत दिशा मे चलने लगी। जीवन तो आगे बढा, क्योकि राजनीतिक स्वतन्त्रता ही जीवन का लक्ष्य नही था। लेकिन मन और बुद्धि धोखा खा गये। कुछ लोग 'स्वतन्त्रता' को ही अन्तिम मजिल समझ कर आगे बढने से रुक गये। पुरानी पीढी के साहित्यकार, जिन्होने गहरी आत्मवेदना से सघर्ष-काल की आकाक्षाओ को वाणी दी थी, स्वतन्त्रता मिलते ही उन आकाक्षाओ के प्रति असवेदनशील-से हो गये। उन्होने समझा कि बस यही नया भारत है, जिसके गीत वे अब तक गाते आये थे। सघर्ष का अब अन्त हो गया, जीवन के अभाव पूरे हो गये और सत्ता के उपयोग का समय आ गया। नई पीढी के कुछ साहित्यकारो ने, जो कभी संघर्ष मे तप कर कचन नही बने थे, न जिन्हे दूसरो के दुख-दर्द का अनुभव ही था, स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृखलता लगाया और वे सब प्रकार के सामाजिक दायित्वो का व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर लगे अनावश्यक प्रतिबन्धो के रूप मे देखने लगे। पुरानो की असवेदनशीलता का ही यह दूसरा पहलू था। इन सबसे अलग हमारे कुछ

'साथी' ऐसे भी थे, जिन्होने अपने मन में नये भारत की एक आदर्श कल्पना बना रखी थी। स्वतन्त्रता के बाद भी उस कल्पना से भारत का मेल न देखकर उनकी निराशा दुर्वासा का अनियंत्रित आक्रोश बनकर फूट निकली। उन्होने कहा कि यह स्वतन्त्रता एक धोखा है, क्योंकि इसमें सब कुछ अभी पुराना ही है, नया कुछ भी नही, केवल शासक बदल गये है। वर्ग-शोषण से मुक्ति, न्याय और समानता इसमें आज भी दुर्लभ है।

इस मति-भ्रम के वातावरण में, स्वतंत्रता के बाद भारतीय जीवन में, विशेषकर बुद्धिजीवियों में मूल्यो का विघटन शुरू हुआ। इस विघटन मे और भी अनेक सामाजिक, नैतिक, सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो ने योग दिया। उनका उल्लेख करना व्यर्थ है। तीसरे महायुद्ध की आशका से लेकर फिल्म-व्यवसायियो की स्वार्थपरता तक का छिद्रान्वेषी विवेचन करते हुए, इन कारणो की एक लम्बी सूची गिनाने की प्रथा-सी चल पड़ी है। हर लेखक इन कारणो को गिनाता है—वह भी जो मूल्यो के विघटन से क्षुब्ध है और वह भी जो मूल्यो के विघटन के नाम पर व्यक्ति की आत्मविलासी क्रीडाओ के लिए सामाजिक दायित्वों की चेतना से साहित्य के दामन को अछूता रखना चाहता है। लगता है जैसे ये सभी लोग क्षणवादी है, वर्तमान को ही चिरन्तन मानते है। वस्तुतः वे वर्तमान के बाह्य रूप को ही देखते है, उसके आन्तरिक सत्य तक उनकी दृष्टि नही पहुँचती, क्योकि उनकी दृष्टि ऐतिहासिक नही है। स्वतन्त्रता ने हमे मंजिल पर नही पहुँचाया, बल्कि अपनी कल्पना के भारत का निर्माण करने का दायित्व भर सौपा है। स्वतन्त्रता वास्तव मे दायित्व है, सत्ता का उपभोग करने का अधिकार नही, न मजिल की प्राप्ति ही। लेकिन इस बात को अधिकांश बुद्धिजीवी नही देख पाये। इसीलिए स्वतन्त्रता से बाद स्वार्थो का संघर्ष चला, उसको औचित्य प्रदान करने के लिए सिद्धान्तो का आधार चाहे जो दिया गया हो, स्वार्थो का यह संघर्ष अवास्तविक है, भारतीय जीवन की वास्तविकता से उसका ऊपर का ही नाता है, क्योकि भारतीय जीवन चन्द बुद्धिजीवियों की विकृत चेतना के बावजूद एक सर्वव्यापी क्रान्ति के मध्य से गुजर रहा है। इसलिए मूल्यो के विघटन की प्रक्रिया भी एक सामयिक विकृति है। स्वार्थों का संघर्ष क्षण-स्थायी है, अधिक दिन नही चलेगा। बुद्धिजीवियो और साहित्यकारों को अपना भ्रम छोड़कर वास्तविकता से आँखे दो-चार करनी ही पडेगी और युग की केन्द्रीय समस्याओं को प्रतिबिम्बित करने के लिए जीवन-सत्य से जूझना पडेगा। इसलिए नये भारत में साहित्य के मान-मूल्यो का प्रश्न उठाना अब अनिवार्य हो गया है।

इस नये भारत के निर्माण की सजग चेष्टाएँ स्वतन्त्रता के बाद ही शुरू हो सकती थी। स्वतन्त्रता-संग्राम इसके लिए ही लडा गया और असंख्य देश-भक्तों ने इसकी खातिर ही स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने जीवन होम दिये। लेकिन जो आज है वही नया भारत नही है। हम स्वतन्त्र हुए, लेकिन भारत अभी पुराना ही है। पुराना इस अर्थ में कि पुराने के अवशेष नये के मुकाबले में कही ज्यादा हैं। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उस दिन कहा कि हम अभी गोबर-युग मे है, यानी हमारी जनसंख्या का अधिकांश

भाग अपना काम-काज चलाने के लिए जिस 'शक्ति' का इस्तेमाल करता है, वह उपले या कंडे जला कर प्राप्त की जाती है। कोयला, भाप या बिजली की शक्ति बहुत थोडे लोगों को ही उपलब्ध है। एटम-शक्ति का तो अभी स्वप्न ही देखा जा रहा है। नये और पुराने या उन्नत और पिछड़े जीवन को नापने का यह भी एक मानदंड है कि किसी देश के निवासी प्रकृति के गर्भ से निकाल कर अपने जीवन को सभ्य और सुखमय बनाने के लिए औसतन कितनी मात्रा में 'शक्ति' का इस्तेमाल करते है। निश्चय ही मनुष्य की प्रगति को नापने का केवल मात्र यही मानदंड नही है। और भी अनेक सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक तथा आध्यात्मिक मानदंडो का प्रयोग होता है। लेकिन यह मानदंड काफी बुनियादी है, क्योकि कल हमारे देश मे समाजवादी विधान लागू हो जाय और एक दर्जन शेक्सपियर, ताल्सताय, रवीन्द्र जैसी प्रतिभाएँ भी पैदा हो जायँ, तो भी 'शक्ति' प्राप्त करने के आधुनिक साधनो और माध्यमो का विकास किये बिना हमारा देश 'आधुनिक' या 'उन्नत' नही कहा जा सकेगा। हमारी जनता की गरीबी और उसका पिछडापन पूर्वतः बना रहेगा। गोबर-युग से विकास करके एटम-युग मे पहुँचने की समस्या बनी ही रहेगी और देश को इस दिशा मे विकास करना ही पडेगा। स्वतत्रता के बाद हम योजना बना कर सजग और संगठित रूप से इस दिशा मे कदम बढाने लगे है, यह इस बात का प्रमाण है कि नये भारत के निर्माण का क्रम तेजी से शुरू हो गया है। इसका अर्थ आप समझते है ?

इसका अर्थ है कि राजनीतिक पार्टियाँ या सरकारे बदल सकती है, लेकिन नये भारत के बनने के क्रम में फर्क नही आ सकता—हर पार्टी को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए नये भारत के निर्माण का बीडा उठाना होगा, और ईमानदारी से उसके निर्माण मे भाग लेना होगा, नही तो इतिहास उसे मिटा देगा। भगवान चाहे धनिको और शक्तिमानो का ही साथ देता हो, लेकिन इतिहास इतना अधा और पक्षपाती नही है, क्योकि इतिहास का निर्माण मनुष्य करते है। इतिहास की प्रक्रिया मानव-प्रगति की प्रक्रिया है, इसलिए उसकी कसौटी भी मानव-प्रगति ही है। इस कसौटी पर जो पार्टी, राज्य, वर्ग, सभ्यता, व्यक्ति या विचार खोटा सिद्ध होगा, उसे इतिहास अन्तत मिटा देगा, इसमे सन्देह नही हमारा मानव-समाज के दीर्घकालीन इतिहास का अनुभव यही बताता है। आज कोई पार्टी, वर्ग या व्यक्ति कितना ताकतवर है, इतिहास के लिए इस प्रमाण का कोई मूल्य नही है। मानव-समाज की प्रगति में वह कितना योग दे सकता है, उसके भावी अस्तित्व की सार्थकता केवल इससे ही सिद्ध होगी। इसलिए राजनीति के झगडे, जहाँ तक पार्टियो के झगड़े है, निम्न-स्तर के झगड़े है या अधिक से अधिक नये भारत के निर्माण-कार्य को अधिक वेग और सुचारु रूप से चलाने के बारे मे अपनी-अपनी योग्यता प्रमाणित करने का अवसर पाने के झगड़े है। तो इस विवेचन से दो बाते स्पष्ट है—पहली यह कि हम आज़ाद हुए है तो अब फिर कभी गुलाम नही बनना चाहेगे। दूसरी यह कि हम आजाद हुए है तो अब पुराना भारत नही रहेगा, क्योंकि नये भारत के निर्माण का क्रम लगातार जारी

रहेगा। यहाँ पुराने भारत का अर्थ अजंता, एलोरा, ताज या प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की महान उपलब्धियाँ नही है, बल्कि भारतीय जनता की गरीबी, पिछड़ापन, अशिक्षा, मनुष्य-मनुष्य में भेदभाव करने वाले रीति-रिवाज, सामन्तवादी और पूँजीवादी शोषण है। नये भारत के निर्माण से मनुष्य-जीवन को विकृत और अभावग्रस्त बनाने वाली ये पुरानी व्याधियाँ मिटती जायेगी। इस निर्माण की गति तत्कालीन परिस्थितियों के संघात से कभी मन्द या तीव्र हो जाय, यह अलग बात है, यद्यपि मन्द होना भी सम्भव नही दीखता। एक महान् विप्लव, क्रान्ति या परिवर्तन सामने है—हम उसके भँवर मे है। यह शान्तिपूर्ण निर्माण का विप्लव है, निर्माण की क्रान्ति है, निर्माण का परिवर्तन है। धरती के जिस बंजर चप्पे पर हल चलता है, वह उसके लिए विप्लव, क्रान्ति, परिवर्तन सब कुछ होता है। लेकिन वह अन्तत. निर्माण की प्रक्रिया का ही अग है। उसकी उधेड़ी हुई मिट्टी की ताजी गध मे भी अन्न के भावी अंकुरो की सम्भावना छिपी होती है। यह सब हल जोतने वाले को दीखता है। उसका लक्ष्य स्पष्ट होता है और यह लक्ष्य उसे अपनी व्यक्तिगत कठिनाइयो और अभावो से ऊपर उठकर भूमि को उर्वर बनाने मे अपनी समस्त शक्ति लगा देने की प्रेरणा देता है।

तो क्या आजादी और नये भारत के निर्माण से साहित्य के मूल्यो का सम्बन्ध इतना सीधा है? क्या साहित्य के मूल्य बदल जाने चाहिएँ? हमारा दावा यह नही है। एक शताब्दी के विकास को दृष्टि मे रखकर हम इस परिणाम पर पहुँचे है कि जब से आजादी की भावना पैदा हुई है, तब से हमारे साहित्य के मूल्यो में भी परिवर्तन आया है और कुछ मूल्य है जिन्हे प्राप्त करने के लिए हम जान-अनजान मे सघर्ष करते आये है। रीतिकालीन कविता से भारतेन्दुकालीन साहित्य की तुलना करते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। एक नये परिवर्तन और विकास के चिह्न हमे दृष्टिगोचर होते है। साहित्यकार एक व्यापक प्रवृत्ति को त्यागकर, एक दूसरी और उतनी ही व्यापक प्रवृत्ति को अपनाते हुए नजर आते है। दोनो युग के साहित्यकारो के विश्व-बोध मे काफी बडा फर्क है। इस नई प्रवृत्ति और विश्व-बोध मे जिन मूल्यो को अधिक मान्यता दी गई, उनका आजादी और प्रगति की भावना से सीधा सम्बन्ध भी दिखाई देता है। इसके बाद इतिवृत्तात्मक, छायावादी या प्रगतिवादी आदि जो भी काव्य-प्रवृत्तियाँ सामने आई और कथा साहित्य में आदर्शवाद, यथार्थवाद या प्रकृतिवाद की जो भी प्रवृत्तियाँ मुखर हुई, उन सबमें इन मूल्यों को ही युग की बढती चेतना के साथ, सूक्ष्म अथवा स्थूल अभिव्यक्ति देने की चेष्टा दिखाई देती है। आजादी पाने से पहले के काव्य और साहित्य मे अभिव्यक्ति की प्रणाली चाहे वैयक्तिक रही हो या निर्वैयक्तिक, इतना तो स्पष्ट है कि उसका सम्बन्ध सामाजिक कुरीतियो, क्रूर प्रतिबन्धों, आर्थिक राजनीतिक गुलामी, अन्याय, शोषण और असमानता से मुक्ति पाने की आकाक्षा से अवश्य रहा। यह कहना गलत है कि पुराने साहित्यकार इन भावनाओं, प्रवृत्तियो और विचारों के प्रति सचेत नही थे या स्वय अपनी अभिव्यक्तियों के अर्थ-संकेतो को पूरी तरह नही समझते थे और अनजाने में ही उन्होंने इन मूल्यो को

व्यक्त किया। हाँ, इतना अवश्य सम्भव है कि उन्होने सदा जान-बूझकर या पूर्व-निश्चय द्वारा इन मूल्यो को अभिव्यक्ति देने के लिए साहित्य की रचना न की हो और किसी व्यक्तिगत अनुभव को मूर्त अभिव्यक्ति देते समय ये मूल्य अनिवार्यत. प्रतिबिम्बित हो गये हों। यह सब सम्भव है, क्योकि लेखक का विश्व-बोध भी देश-काल सीमित ही होता है और जो भावनाएँ और विचार युग-मानस को आलोडित करते है उससे कोई भी रचनाकार अप्रभावित नही रहता। साथ ही यह भी सत्य है कि हर देश और काल मे नये-पुराने का संघर्ष निरन्तर जारी रहता है और जन-मानस में नये या पुराने विचार का समर्थन करने वाले परस्पर-विरोधी विचार प्रचलित रहते है। इस विचार-सघर्ष के पूरे ऐतिहासिक मर्म को बुद्धि-तल पर न समझने वाले लेखको ने भी यदि नये और प्रगतिशील विचारो को अपनी रचनाओ मे प्रतिबिम्बित किया तो इसका अर्थ है कि उनका हृदय पुराने के आकर्षण के बावजूद युग-जीवन की प्रगतिशील आकाक्षाओ के प्रति सहज संवेदनशील था और वे अपनी रचनाओ मे उन मूल्यो की प्राप्ति के लिए सघर्ष कर रहे थे जो जीवन-वास्तव की माँग बन चुके थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले के आधुनिक भारतीय साहित्य मे कुछ ऐसा ही हुआ है। इसलिए एक शताब्दी से हमारे श्रेष्ठ रचनाकार भारतीय जनता की प्रगतिशील आकाक्षाओ को मूर्त्त अभिव्यक्ति देकर जिन मूल्यों की प्राप्ति के लिए जान-अनजान मे संघर्ष करते आये है, आज उन्हे स्वीकार भर कर लेना जरूरी है। दिमाग को खरोचकर या कल्पना से मूल्यो की सृष्टि नही होती। ये मूल्य एक दीर्घकालीन सघर्ष, आजादी की प्राप्ति और नये भारत के निर्माण की समस्या से पैदा हुए है, उन्हे स्वीकार करने का अर्थ है कि हम अपने दायित्वो के प्रति सचेत है और किसी भी आकर्षक सामयिक फैशन या विदेशो से आई मानवद्रोही प्रवृत्ति के पीछे पागल होकर अपना दिशा-ज्ञान खोने के लिए तैयार नही है, जैसा कि कुछ लोग कर रहे है। अन्ततः यह साहित्यकार के अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा का भी प्रश्न है, जो गलत प्रवृत्तियो के प्रभाव मे पडकर अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग करके स्वय अपना गला घोट डालता है। ह्रासोन्मुखी पूँजीवाद की विकृतियो से आक्रान्त पाश्चात्य देशो मे मूल्यो का तेजी से विघटन हो रहा है और वहाँ के साहित्यकारो और कलाकारो मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता और रचनाकार की ईमानदारी के नाम पर नैतिक दृष्टि से मानवद्रोही, राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी तथा न्यस्त स्वार्थो की पोषक प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही है। साहित्य में मूल्यों का विघटन समाज-जीवन के रोग-ग्रस्त तथा ह्रासोन्मुखी होने की ही निशानी है। स्वतन्त्रता के बाद हमारे बहुत से तरुण लेखकों और कलाकारो को पथभ्रष्ट करने मे पाश्चात्य साहित्य की इन प्रवृत्तियो का बडा हाथ रहा है, यद्यपि हमारे यहाँ का समाज-जीवन ह्रासोन्मुखी नही है, विकासशील है और जो वैषम्य और रुग्णता उसमे है, वह गुलामी की देन है, जिसे मिटाने के लिए हम कृत-संकल्प है। समग्र रूप से इस वैषम्य और रुग्णता में वृद्धि नही हो रही, बल्कि धीरे-धीरे कमी हो रही है, क्योकि हम नये भारत के निर्माण की ओर बढ़ रहे है। किन्तु फिर भी तत्कालीन परिस्थिति को ही चिरन्तन सत्य मान

लेने से इस बात का भ्रम तो पैदा होता ही है कि भारतीय समाज खोखला है और असाध्य रोगों से पीड़ित है और इसे सम्पन्न और स्वस्थ बनाने के लिए जो प्रयत्न किये जा रहे है, वे स्वार्थ प्रेरित राजनीतिज्ञो द्वारा रचे गये ढकोसलों से अधिक कुछ नही हैं। पाश्चात्य देशों में प्रचलित विचारधाराएँ इन भ्रमों को पक्का करने मे मदद करती हैं और वे रूस-चीन के विकासोन्मुखी समाजो के प्रति आँखें मूँद लेते है, क्योकि मानवद्रोह की घुट्टी बेचने वाले विचारको और साहित्यकारो से उन्होने अपने साहित्यिक शैशवकाल में ही रूस-चीन के बारे मे बहुत-सी बे-सिर-पैर की बातें सुन रखी है। रूस और चीन में चाहे पुश्किन, ताल्सताय, गोर्की या लूसुन की प्रतिभा के लेखक अभी पैदा न हुए हो, लेकिन इतना तो निश्चित है कि वहाँ मूल्यो का विघटन नही हुआ है, जो स्वय अपने में इस बात का प्रमाण है कि वहाँ का मानव-समाज पश्चिम के पूँजीवादी समाज की तरह ह्रासोन्मुखी या रोग-ग्रस्त नही है। विज्ञान और ऐटम बम के युग मे भी यदि रूस-चीन के साहित्यों में मूल्यो का विघटन नही हुआ है, तो अक्ल पर ज्यादा जोर दिये बिना ही यह बात समझ में आ सकती है कि मूल्यो का विघटन, मानवद्रोही भावना और कुंठा-अनास्था की प्रवृत्तियाँ कोई ऐसी विश्व-व्यापी वास्तविकताएँ नही है कि हम उन्हे युग की अनिवार्यता मान कर अपनाले या चुपचाप स्वीकार कर ले। पूँजीवादी समाज के अन्तत. ह्रास से त्रस्त विचारको और साहित्यकारो द्वारा फैलाया हुआ यह भ्रम है, और चूँकि भारतीय-समाज पूँजीवाद के मार्ग से विकास करने के लिए कटिबद्ध है, इसलिए मानवद्रोही भावनाओ का हमारे देश मे कोई औचित्य नही है। जो लोग इस पाश्चात्य पौधे को यहाँ उगाना चाहते है, उन्हे ज्ञात होना चाहिए कि उसके लिए यहाँ अधिक दिनो तक अनुकूल वातावरण नही मिलेगा। सक्रान्ति-काल की सामयिक अराजकता का लाभ उठाकर यह पौधा दो-चार कोंपले चाहे फोड ले, लेकिन वृक्ष नही बन सकता। फिर भी, पिछली एक शताब्दी के संघर्ष-काल मे कतिपय मूल्यो के रूप मे हमारे साहित्य की जो उपलब्धियाँ हैं, उनको नये भारत के निर्माण की समस्या के सन्दर्भ में रखकर व्यापक जीवन-दृष्टि के रूप मे स्वीकार करने की आज जरूरत है।

भारतीय जनता ने आजादी के लिए संघर्ष किया—क्यों ? क्योकि 'आज़ादी' स्वमं एक मूल्य है, शायद सबसे बडा मूल्य। आजादी के बिना नये भारत के निर्माण की आकाक्षा एक स्वप्न ही बनी रहती। आजादी की बुनियाद पर ही 'नये भारत' की इमारत खड़ी हो सकती थी। 'जनवाद' दूसरा मूल्य है, जिसके लिए हमारी जनता ने संघर्ष किया, क्योकि जनवाद मे ही आज़ादी के बाद के भारत की आकाक्षाएँ ठोस मानवीय आधार पा सकती थी। जनवाद या डिमोक्रेसी पूँजीवाद का पर्याय नही है, न दोनों में कोई अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जनवाद समाजवाद का विरोधी भी नही, जैसा कि ह्रासोन्मुखी पूँजीवाद के विचारकों ने प्रचारित कर रखा है। जनवाद सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक क्षत्रों में व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धो का समानता, न्याय और सहयोग के आधार पर नियमन करने वाली व्यवस्था भी है और विश्व-बंधुत्व की एक उच्चतर नैतिक भावना

भी। 'शान्ति' तीसरा मूल्य है जिसके प्रति हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का सहज आकर्षण रहा है, क्योंकि शान्ति—विश्व शान्ति—ही आज़ादी और जनवाद की सुरक्षा की गारंटी है और शान्ति के वातावरण में ही किसान की कुदाली धरती से सोना उगलवा सकती है और मज़दूर का हथौड़ा नये कारखानो, विद्युतशक्ति पैदा करने वाले बाँधो और राजपथो का निर्माण करके जरूरत की चीजें पैदा कर सकता है। ये तीन मूल्य है जो हमारी सभी प्रगति-चेष्टाओ के मूलमंत्र रहे है। ये मूल्य ही हमारी राष्ट्रनीति की आधार-शिला है—गाधी के सत्य-अहिंसा के सिद्धान्त, समाजवादियो-साम्यवादियो के शोषण-मुक्त वर्गहीन समाज-व्ययस्था के सिद्धान्त तथा राष्ट्रो के सह-अस्तित्व के लिए पचशील के सिद्धान्त इन मूल्यों की ही पुष्टि करते है, क्योकि भारतीय जीवन ही नही, विश्व-जीवन के विकास की सम्भावनाएँ भी इन मूल्यो की स्वीकृति पर निर्भर करती है।

भारतीय जनता ने अपने जीवन मे इन मूल्यो को पाने के लिए लघर्ष किया है और हमारे सत्यान्वेषी साहित्यकारो ने व्यक्ति-पात्रो के माध्यम से मानव सम्बन्धो मे एक उच्चतर सामंजस्य स्थापित करने की समस्या के रूप मे इन मूल्यो को मूर्त्त अभिव्यक्ति दी है। इस परम्परा को स्वीकारने की जरूरत है, क्योकि आज भी हमारे जीवन की वास्तविकता इस परम्परा के उत्तरोत्तर विकास का ही तकाजा कर रही है, न कि इसे त्यागने का। इसका अर्थ है कि साहित्यकारो की जीवन-दृष्टि व्यक्तिवादी या विज्ञान-विद्रोही नही हो सकती। व्यक्तिवाद और विज्ञान-निरोध के रूप में व्यक्त अबुद्धिवाद, दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू है जो हमें अनास्था, कुठा और मानव-द्रोह की ओर ले जाते है। व्यक्तिवाद को व्यक्तित्व से नही मिलाना चाहिए। इस बात को ठीक से समझने की ज़रूरत है। व्यक्तिवाद और व्यक्तित्व एक ही चीज नही है। प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व अकुंठित रूप से विकास करे, यह सामाजिक प्रगति का लक्ष्य माना जा सकता है, क्योंकि जिस नये भारत का निर्माण हम करना चाहते है, उसमे व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्ध सामजस्यपूर्ण हो, इसमे किसी को विरोध नही हो सकता। लेकिन व्यक्तिवाद के मार्ग से व्यक्तित्व का विकास निश्चय ही सम्भव नही है, उससे व्यक्तित्व का हनन अवश्य होता है। समाज व्यक्तियो से ही मिलकर बनता है। हम जो कुछ भी हो, मज़दूर, किसान, डाक्टर, वैज्ञानिक, शिक्षक, लेखक, कलाकार—सभी समाज के अग है। हम सबके विभिन्न व्यवसायो और कार्यो की सार्थकता समाज के कारण ही है। अपने कार्यों से हम समाज को आगे ले जाते है, क्योंकि हमी समाज है। यदि व्यक्ति व्यक्तित्वहीन होगे, उनमें प्रौढता, शिक्षा, योग्यता और भले-बुरे का निर्णय करने की क्षमता नही होगी तो उनका सामाजिक जीवन भी कमजोर और विशृंखल होगा। इसलिए समाज जिन व्यक्तियों से मिलकर बना है, उनको व्यक्तित्व का विकास करने की पूरी सुविधाएँ देकर ही वह उन्नति की आशा कर सकता है। व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति इसके विपरीत है। व्यतिवाद पूँजीवादी समाज-सम्बन्धों की अराजकता को प्रतिबिम्बित करनेवाली प्रवृत्ति है, जिसमे मनुष्य-मनुष्य के बीच सामान्य सम्बन्ध-सूत्रों की चेतना कुठित और मलिन हो जाती है। जिस

समाज की सत्ता मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर अवलम्बित हो, उसका विश्व-बोध सामान्य सम्बन्ध-सूत्रो को अधिक महत्त्व नही दे सकता। आपने बच्चों के मनोविज्ञान पर ध्यान दिया है ? बच्चो में अभी व्यक्तित्व का विकास नही होता, इसलिए वे घोर व्यक्ति-वादी होते हैं—आत्मकेन्द्रित, स्वार्थ-सीमित, सकीर्ण और अवसरवादी भी ! दूसरे के खिलौनों पर अपना दावा करना, मिठाई के लालच में अपरिचित की गोद मे जाना और मिठाई पाते ही माँ की गोद मे लौटने के लिए मचलना, चीजो को तोडने मे आनन्द लेते समय यह न सोचना कि यह ऐनक है या मिट्टी का खिलौना ! और माँ-बाप की आँखो में उँगली कोचने से रोकने पर बिलख-बिलखकर रोना—उनकी ऐसी असख्य हरकते हमे प्रिय लगती है, क्योकि वे अभी अबोध है। हम उनसे अभी अपने सामाजिक दायित्वो की चेतना की अपेक्षा नही रखते। जिन लेखको के दिमाग इन बच्चो से ज्यादा विकसित नही होते—लेखक बनने से पहले दिमाग विकसित ही हो जाय, ऐसी कोई शर्त नही है कही—उन्हें यह संघर्षमय परिवर्तनशील दुनिया कुछ अजब-सी दीखती है। उन्हें लगता है कि यह सामाजिकता ही उनके व्यक्तित्व को चारों ओर से जकडे हुए है। और 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' के नाम पर वे सामाजिकता से ही द्रोह करने लगते है। समाज की कुरीतियो का विरोध, समाज से विरोध करना नही है—सभी महान लेखक सामाजिक कुरीतियो, अन्याय और शोषण को मान्यता प्रदान करने वाली विचारधाराओ पर आक्रमण करते आये है। समाज से विरोध तो उस समय व्यक्त होता है जब हर प्रकार के सामाजिक ायित्व को नकारने की चेष्टा की जाती है। जब अपने व्यक्तित्व को विशिष्टि और अभि-जात सिद्ध करने के लिए अन्य मनुष्यो को हीन और निकृष्ट समझा जाता है। यह व्यक्ति-वाद है, जो अधकचरे दिमाग के लोगों मे पनपता है और एक कैशोर-औद्धत्य के रूप मे प्रकट होता है। उसमे अच्छे-बुरे का भेद करने वाला विवेक नही होता। व्यक्तिवाद के मार्ग से व्यक्तित्व का विकास असम्भव है। इब्सन के 'पियर जायन्ट' को न भूले। उसने आत्म-सिद्धि के लिए सबसे अलग, सामाजिक दायित्वो को ठोकर मारकर, बस 'स्वय' बन-कर रहने की चेष्टा की थी, लेकिन इस आत्म-केन्द्रित मार्ग से चलकर न वह 'स्वय' बन सका, न व्यक्तित्व का विकास ही कर पाया। व्यक्तित्व का विकास आत्म-केन्द्रित, स्वार्थ-सीमित और मानवद्रोही दृष्टिकोण या कार्यों से नही होता, बल्कि दूसरो के प्रति सच्चे अर्थो में सहानुभूतिशील होने और दूसरों की नि.स्वार्थ मंगल-साधना करने से होता है। सामाजिक दायित्वो को सहर्ष अपनाने से ही व्यक्तित्व विकास पाता है। जो अपने मे ही रमा रहा, उसमे 'व्यक्तित्व' कैसा ? इसलिए 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' को जिस निरपेक्ष अर्थ में व्यक्तिवादी पेश करते है, उस अर्थ में वह साहित्य का मूल्य नही बन सकता। यह एक सापेक्ष्य मूल्य है और जनवाद के अन्तर्गत ही इसका स्थान है, उससे बाहर या उसके ऊपर नही।

व्यष्टि और समष्टि के बीच सामंजस्य स्थापित करने की समस्या जनवाद की समस्या है, क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास और सामाजिक जीवन का विकास

परस्पर सम्बद्ध हैं। आज यदि दोनों में सामंजस्य नही दीखता या यह कि व्यक्ति के जीवन में समाज का हस्तक्षेप बढ़ रहा है, जिससे व्यक्तित्व का विकास प्रायः कुंठित हो जाता है तो इसका अर्थ यह नही कि हमारे साहित्यकार अपने साहित्य को ऐण्डरसन की कहानी 'बरफ की रानी' (स्नो क्वीन) के प्रेत द्वारा निर्मित दर्पण जैसा बना लें, जिसमें सुन्दर मनुष्य की आकृति और सुन्दर विचार भी हमेशा विकृत होकर कुत्सित और कुरूप ही दीखते थे और फिर 'व्यक्तिवाद' या 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' के नाम पर प्रचारित करे कि उनके चमत्कारी साहित्य मे मनुष्य या उसकी भावना की शक्ल जैसी कुरूप दीखती है, वही उसका असली रूप है। व्यक्तिवादियो का साहित्य कुछ ऐसा दर्पण ही बनता जा रहा है, जिसमे मनुष्य और समाज की विकृति, कुत्सा, कुंठा, कुरूपता ही प्रतिबिम्बित होती है और जो सुन्दर है, भव्य है, पुनीत है, मंगलकारी है, वह भी वीभत्स, स्वार्थ-प्रेरित, अपवित्र और अमगलकारी बन जाता है। लेखक के अपने या पाठको के व्यक्तित्व के विकास मे ऐसे साहित्य से कोई मदद नही मिलती। जनवाद के मूल्य को त्याग कर व्यक्तित्व के विकास की कल्पना एक थोथा आत्मविलास है। जनवाद के बिना व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का स्वप्न शोषकवर्ग ही देख सकता है, जनसाधारण नही देख सकते। इसलिए व्यक्तित्व के विकास और व्यक्ति-स्वातंत्र्य की समस्या जनवाद के अंतर्गत मानव-सम्बन्धो के नियमन की समस्या है, लेखक के विशेषाधिकारों या आभिजात्य की समस्या नही है। व्यक्ति के जीवन मे समाज का हस्तक्षेप किस सीमा तक हो और सामाजिक रूढियो, नियमो या संस्थाओं से व्यक्ति किस सीमा तक स्वतन्त्र हो—विचार और कर्म के क्षेत्र मे—जनवादी दृष्टिकोण से ही इस समस्या का समाधान पाया जा सकता है। व्यक्ति की निरपेक्ष स्वतन्त्रता या समाज की निरपेक्ष सत्ता का कोई अर्थ नही है। ऐसी चीज कभी नही रही—कबीलों के संगठन मे भी नही—भविष्य मे तो और भी सम्भव नही है, क्योकि आज का व्यक्ति एक आत्मचेतन प्राणी है। फिर भी असामजस्य और वैषम्य हमेशा रहा है, दोनो के अधिकारो और दायित्वो के बीच वर्ग-समाज के कारण, अभी तक सही संतुलन नही स्थापित हो पाया। इस कारण ही तो 'जनवाद' को अपनी जीवन-दृष्टि बनाने की आज अनिवार्यता है। व्यष्टि और समष्टि की समस्या के असख्य रूप है, जीवन के हर क्षेत्र मे इस समस्या का नया समाधान ज़रूरी है। उदाहरण के लिए आज नारी घर की चहारदीवारी को तोड़कर बाहर आ रही है, जिससे मानव-सम्बन्धो मे एक महान क्रान्ति का सूत्रपात हुआ है। मजदूर किसान अपने अधिकारो के प्रति जागृत हो रहे है। जनवादी मूल्यो को जीवन दृष्टि के रूप मे अपनाने वाला लेखक इस व्यापक जागृति और इसके फलस्वरूप मानव-सम्बन्धो में होनेवाले अभूतपूर्व परिवर्तनो को सहानुभूति पूर्वक समझ सकता है और उनमें मानव-प्रगति की झाँकी देख सकता है, किन्तु व्यक्तिवादी अपने आभिजात्य के चश्मे से इन सब युगान्तरकारी परिवर्तनों को मनुष्य की दमित वासनाओं और हिंस्र वृत्तियों के उच्छृंखल विस्फोट के रूप मे ही देखने की क्षमता रखते है। वस्तुत. जनसाधारण की जागृति उन्हें अपने आभिजात्य पर आक्रमण-सा दीखता है। व्यक्ति-

स्वातंत्र्य की चीख़-पुकार का यही रहस्य है।

नये भारत के निर्माण को दृष्टि में रखकर आज़ादी, जनवाद और शान्ति को जीवन के सर्वोच्च मूल्य स्वीकार करने वाले साहित्यकार उस अबुद्धिवाद को भी प्रश्रय नही दे सकते जो विज्ञान-विरोध के रूप में प्रकट होता है और जो वास्तव में व्यक्तिवाद का ही हमजोली है। उन्नीसवी शताब्दी में ही विज्ञान से द्रोह शुरू हो गया था, जब व्यक्तिवाद ने जोर पकडा। कुछ साहित्यकारो ने सोचा कि विज्ञान मनुष्य को भौतिक रूप से तो सम्पन्न बना रहा है, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य विपन्न होता जा रहा है। भौतिक समृद्धि को राष्ट्रों और व्यक्तियो की बढती हुई स्वार्थपरता का मूल कारण समझा गया। उन्हें भय हुआ कि विज्ञान बुद्धि का साम्राज्य बढा रहा है और हृदय की सत्ता को संकुचित कर रहा है, जिससे साहित्य-कला के प्रेरणा-स्रोत ही नही सूखते जा रहे, बल्कि मनुष्य-मात्र में अनास्था, अनात्मीयता और असंवेदनशीलता बढती जा रही है। इसलिए विज्ञानवाद के विरोध मे अबुद्धिवाद ने सिर उठाया। नये भारत का निर्माण हम विज्ञान की ईजादो और सफलताओ की मदद से, वैज्ञानिक प्रणाली को अपना कर ही कर सकते है, इसमें सन्देह नही है। अबुद्धिवाद और विज्ञान-विरोध के मार्ग से नये भारत का निर्माण नही हो सकता, इतना तो शायद अबुद्धिवादी भी समझते है। किन्तु फिर भी वे विज्ञान को दिन-रात कोसते रहने में कोई कसर नही उठा रखते।

साहित्य और कला सर्जन की प्रेरणा को धक्का विज्ञान ने नही लगाया है, बल्कि उस वर्ग की व्यावसायिक वृत्ति ने, जिसने विज्ञान की भी सफलताओ का दुरुपयोग किया है--अणु-अस्त्रो का निर्माण करके! इसलिए विज्ञान को दोष देना व्यर्थ है। विज्ञान के इस युग मे भी तो महान लेखक हुए है, यद्यपि यह सच है कि विज्ञान मे योग्यतम पुरुष खप रहे है, क्योकि विज्ञान को अधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा है। कला-साहित्य के निर्माण और उसके व्यापक प्रसार के लिए उसे भी समान रूप से प्रोत्साहन देने की ज़रूरत है। क्योकि अकेला विज्ञान कला और साहित्य के स्थान की पूर्ति नही कर सकता। मनुष्य की चेतना को बढ़ाने वाले यह दोनो कार्य एक दूसरे के पूरक है। दोनों के लक्ष्य एक ही है, यद्यपि साधन और माध्यम भिन्न हैं। दोनो सत्य का अनुसधान करते है, और दोनो मनुष्य के जीवन और जगत सम्बन्धी अनुभव और ज्ञान मे अपने-अपने ढग से वृद्धि करके मनुष्य की क्षमताओ का विकास करते है और उसके भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को समृद्ध बनाते है। अबुद्धिवादी आरोप लगाते है कि विज्ञान ने मनुष्य से उसकी आस्था छीन ली है, दुख-दर्द के क्षणों में सान्त्वना और धैर्य देने वाला सम्बल मनुष्य के पास नही रहा। लेकिन आस्था के लिए अधविश्वास का आधेय ही क्यों ज़रूरी है? विज्ञान ने अंधविश्वासों का उन्मूलन किया है तो सत्य की उपलब्धि के मार्ग से मानव-प्रगति की अपरिसीमित सम्भावना का दरस भी तो दिखाया है। मानव-प्रगति में विश्वास ही विज्ञान-युग की आस्था का आधार है--प्रगति, भौतिक ही नही, सास्कृतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक सभी प्रकार की। यदि हम मानव समाज का निर्माण बुद्धि-संगत

आधार पर कर सकें, यदि शोषण और अन्याय को मिटा कर प्रत्येक व्यक्ति को विकास की समान सुविधाएँ दे सकें, यदि स्थायी शान्ति की स्थापना करके विश्व-मानव को सर्व-नाश के त्रास से मुक्ति दिला सकें तो विज्ञान, कला और साहित्य मिलकर मानव-जीवन को समृद्ध और सुखमय बना सकते हैं, इसकी कल्पना आपने की है ?

बीसवी शताब्दी विज्ञान की शताब्दी है, लेकिन इक्कीसवी शताब्दी साहित्य और कला की शताब्दी होगी । इसे आप एक भविष्यवाणी भी समझ सकते है ! नये भारत के निर्माण का संघर्ष हमारे सामने है, इसलिए इस शताब्दी के महत्त्व को समझिए ! जब तक हम गुलाम थे, तब तक इसके पूरे महत्त्व को समझना हमारे लिए सम्भव न था, क्योकि विज्ञान की सहायता से अन्य उन्नत देशो ने मनुष्य का जीवन-स्तर कितना ऊँचा उठा दिया है, अनेक घातक बीमारियों-महामारियो पर विजय प्राप्त करके उसकी औसत आयु में कितनी वृद्धि कर दी है, इन सब बातो का वास्तविक अर्थ हम नही समझ सकते थे, क्योकि यह सब हमारे जीवन की व्यावहारिक सम्भावनाओ से बाहर की बाते थी । लग-भग आधी शताब्दी इस तरह ही गुजर गई । किन्तु आजादी के बाद से सम्भावनाओं के क्षितिज खुलने लगे है । रूस, अमरीका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रास, जापान आदि देशो में जो समस्या पच्चीस वर्ष बाद उठेगी, इस शताब्दी के अन्त तक वह समस्या हमारे यहाँ भी उठेगी—अर्थात् विज्ञान के इस युग मे अब हम अन्य उन्नत राष्ट्रों से पीछे नही रह सकते । तीन-चार पचवर्षीय योजनाओ के बाद हमारे देश मे भी वह विकास बिन्दु आयेगा, जिसके बाद निर्माण और उत्पादन का कार्य इस वेग से चल पड़ेगा कि जो उन्नति शताब्दियो मे नही हुई थी, वह दो-चार वर्षो मे ही हो सकेगी । हम इस शताब्दी के अन्त तक—भौतिक साधनो और सुविधाओं की दृष्टि से—वहाँ होगे जहाँ हम अपने पाँच हजार वर्ष के इतिहास काल मे कभी नही पहुँचे, क्योकि हम आज पिछडे होकर भी विश्व की वैज्ञानिक प्रगति के वारिस है । बीसवी शताब्दी के अन्त तक नये भारत का निर्माण इस सीमा तक हो चुकेगा कि जहाँ आज रेगिस्तान है वहाँ हरी-भरी खेती लहराती होगी, और हम गोबर के स्थान पर ऐटम, हवा, सूरज और समुद्र के ज्वार की शक्ति का इस्ते-माल करते होगे । तब तक हमारे देश मे भी प्लेग, हैजा, मलेरिया, चेचक, तपेदिक, कैंसर और पोलियो जैसी महामारियाँ एक बीते युग की स्मृतियाँ बन जायेगी । हर मनुष्य स्वस्थ, सुशिक्षित और सुसंस्कृत होगा । हर मनुष्य को अपनी क्षमताओ के विकास के अवसर और साधन उपलब्ध होगे । समाज-व्यवस्था मे वह वर्ग वैषम्य न होगा, जिसमें शोषण और अन्याय पनपता है । यह सब कोरी कल्पनाये नही है, बल्कि विज्ञान द्वारा पैदा की हुई ऐसी सम्भावनाएँ है, जो व्यावहारिक और यथार्थ है । नये भारत का निर्माण विज्ञान की मदद से ही सम्भव है और हम सब भारतवासियो को इस शताब्दी के अन्त तक कठोर श्रम, त्याग और साधना करनी पड़ेगी । तब तक भारतीय मानस में श्रम और साधना का आत्यन्तिक महत्त्व रहेगा, और विज्ञान छत्तीस करोड़ जनता के अतुल परिश्रम का रचनात्मक कार्यों के लिए संगठन, नियमन, संचालन करेगा । वैज्ञानिक सफलताएँ

और वैज्ञानिक प्रणाली ही युग-भावना की प्रेरणा बनेगी। साहित्य को यह युग-भावना प्रत्येक व्यक्ति की चेतना और अनुभव का अंग बनानी पड़ेगी। यदि ऐसा न करके साहित्य ने विज्ञान-विरोधी अबुद्धिवाद का मार्ग पकडा तो वह पिछड़ जायगा, वह युग का प्रतिनिधित्व नही कर सकेगा। इतना ही नही, इस शताब्दी के अन्त तक जो समस्या हमारे देश मे पैदा होगी और जिसका समाधान करके ही इक्कीसवी शताब्दी कला और साहित्य की शताब्दी बन सकेगी, उसका समाधात साहित्य-कला के बस मे नही रहेगा और अगली शताब्दी मे भी साहित्य ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियो से ही ग्रस्त बना रहेगा। मुझे ऐसी सम्भावना नही दीखती, क्योकि वर्तमान पीढी के साहित्यकारो के मन मे विश्व मे छाये हुए युद्ध के त्रास के कारण विज्ञान-विरोधी अबुद्धिवाद के प्रति चाहे आकर्षण हो, लेकिन नये भारत के निर्माण की प्रगति अगली पीढी के साहित्यकारो को इस भ्रमजाल से मुक्त करने मे समर्थ होगी, इसमे सन्देह नही है। वे अपने वर्तमान और भविष्य को अधिक आश्वस्त नेत्रो से देख सकेगे। फिर भी वर्तमान पीढी के काफी साहित्यकारो की प्रतिभा गलत रास्तो पर भटकती रहे, यह कोई अच्छी बात नही है। विज्ञान नये भारत के निर्माण और मनुष्य की भौतिक तथा सास्कृतिक प्रगति में योग दे और साहित्य चाहे अभी कुछ काल के लिए ही सही—इस निर्माण और प्रगति के बारे मे मनुष्य के अन्दर सन्देह पैदा करे, भविष्य के बारे मे आशकाएँ उत्पन्न करे और मनुष्य के मानवीय गुणो और क्षमताओ के प्रति अविश्वास जगाये तो यह अनदेखा करनेवाली स्थिति नही है।

विज्ञान मनुष्य का दुश्मन नही है और न वह मनुष्य को अधोगति की ओर ले जा रहा है। विज्ञान और उसकी प्रणाली सत्य की खोज मे लगी मनुष्य की उस बौद्धिक और आध्यात्मिक चेष्टा का ही एक विशिष्ट रूप है, जिसका दूसरा विशिष्ट रूप कला और साहित्य है। दोनो में यदि स्पर्धा का प्रश्न उठता है तो इस बात के लिए कि देखें मनुष्य के भौतिक, आध्यात्मिक जीवन को भरापूरा बनाने मे कौन अधिक योग देता है। साहित्यकार वैज्ञानिको से ऐसी होड़ करे तो मनुष्य मात्र के लिए शुभकर बात हो सकती है, लेकिन विज्ञान का विरोध मनुष्य को गुमराह ही कर सकता है। विज्ञान की ईजादो का दुरुपयोग करने वाले लोगो और अबुद्धिवाद का प्रचार करने वाले साहित्यकारो तथा विचारको के बावजूद विज्ञान पथभ्रष्ट नही हुआ, क्योकि विज्ञान मे प्रतिक्रियावादी विचारधाराएँ नही पनप सकती। इसलिए कुछ साहित्यकार चाहे व्यक्तिवाद और अबुद्धिवाद के झंडे फहराते रहे, लेकिन विज्ञान नये भारत के निर्माण मे सतत् लगा रहेगा और इस शताब्दी के अन्त तक कला-साहित्य के भावी युग का सूत्रपात करने के लिए मनुष्य को हर प्रकार की भौतिक आवश्यकताओं से सम्पन्न कर देगा। आगे चलकर जिस समस्या के उठने का मै बार-बार संकेत करता आया हूँ, वह समस्या अवकाश के सदुपयोग की समस्या होगी, जैसे इस समय नये भारत के निर्माण की समस्या परिश्रम, त्याग और साधना की समस्या है। इस परिश्रम-काल के बाद मनुष्य के जीवन मे अवकाश-

काल आयेगा, सम्भवत: इस शताब्दी के अन्त तक ही, जब किसी भी मनुष्य को जीविकोपार्जन के लिए तीन-चार घंटों से ज्यादा काम नही करना पडेगा। आजकल अभिजात वर्ग ही अवकाशभोगी है, इस वर्ग के सदस्यो को ही अधिकतर पढने-लिखने की सुविधाएँ प्राप्त है, जिसके कारण यह भ्रम उत्पन्न हुआ है कि कला अभिजात वर्ग के लोग ही कला और साहित्य के निर्माता, पोषक और पारखी हो सकते है। अभिजात वर्ग के अन्दर यह क्षमता उसके पास पर्याप्त अवकाश होने के कारण ही उत्पन्न हो सकी है। लेकिन पचास वर्ष के अन्दर सारा समाज ही आज के अभिजात वर्ग के समान अवकाशभोगी हो जायेगा। तब अभिजात वर्ग की कला या कलाकार के आभिजात्य का कोई अर्थ नही रहेगा, क्योकि तब कला-साहित्य की सर्जना या उसके सूक्ष्म सौन्दर्य को परख सकने का एकाधिकार किसी वर्ग-विशेष के पास नही रहेगा। हर मनुष्य तब श्रेष्ठतर कला और सूक्ष्मतर ज्ञान की माँग करेगा। तब अवकाश के सदुपयोग की समस्या मानव-सम्बन्धो के बीच एक उच्चतर सामजस्य की समस्या के रूप मे भी प्रकट होगी, ताकि मनुष्य अपने फालतू समय को सहयोग की रीति से अपने आध्यात्मिक विकास के लिए सास्कृतिक मनोरंजन द्वारा बिता सके।

प्राचीन काल मे कर्म-जीवन के कोलाहल से दूर उपवनो मे ऋषि आश्रम होते थे, जहाँ उस जमाने मे मनीषी जीवन और जगत के रहस्यो की गाँठ खोलने के लिए अध्ययन-चिन्तन-परीक्षण करते थे। लेकिन अब समय आने वाला है, जब हर ग्राम और नगर एक विशाल सास्कृतिक उपवन होगा, जिसमे अपरिग्रह और कठोर तप-साधना के मार्ग से नही बल्कि विज्ञान और कला-साहित्य की उपलब्धियो से प्रत्येक मनुष्य अपने आध्यात्मिक जीवन को परिपूर्ण बनाने की कोशिश करेगा। व्यक्तिवाद और अबुद्धिवाद का विज्ञान-विरोध न हमे आज निर्माण की प्रेरणा दे सकता है, न कल हमे अपने अवकाश का रचनात्मक उपयोग करने की क्षमता दे सकेगा। इसलिए नये भारत के निर्माण के लिए आजादी, जनवाद और शान्ति को सबसे मूल्यवान मानने वाली जीवन-दृष्टि मे व्यक्तिवाद और अबुद्धिवाद का कोई स्थान नही हो सकता।

आजादी, जनवाद और शान्ति को सबसे बडे मूल्य मानने का यह मतलब कतई नही है कि लेखक काँग्रेस या कम्युनिस्ट पार्टी के प्रस्तावो को सामने रखकर साहित्य के नाम पर प्रचार-पोस्टर लिखे या पचवर्षीय-योजना की प्रशस्तियाँ गाने वाला साहित्य तैयार करें। इसका यह मतलब भी नही है कि साहित्यकार रूपगत प्रयोग बन्द कर दे या यह कि रूपगत प्रयोग साहित्य के विकास के लिए अनावश्यक समझे जायँ। इसका यह मतलब भी नही कि किन्ही खास विषयो पर ही साहित्य रचा जाये। इन मूल्यो की स्वीकृति महान साहित्य की रचना का कोई चमत्कारी नुस्खा भी नही है। ऐसा कोई सकीर्ण अर्थ निकालना अनर्थकारी होगा। मैंने जो प्रश्न उठाया है, उसका सम्बन्ध लेखक के विश्व-बोध तथा उसकी जीवन-दृष्टि से है, इन ऊपरी बातों से नही।

हम लेखक विप्लवकारी घटनाओ और विश्व-व्यापी संघर्ष और परिवर्तन के

द्रष्टा हैं। ह्रास और प्रगति की प्रक्रियाएँ तेजी से चालू हैं। जीवन के हर क्षेत्र में मानव-सम्बन्धों में आमूल परिवर्तन हो रहे है। ऐसे में आजादी, जनवाद और शान्ति यदि हमारी जीवन-दृष्टि में सबसे मूल्यवान वस्तुएँ नही रही तो हमारी सहानुभूतियाँ व्यक्तिवाद या अबुद्धिवाद के गलत मार्गो पर भटक जायेगी और हम गलत बातो के प्रति संवेदनशील और सही बातों के प्रति असंवेदनशील हो उठेगे—जैसा कि हमारे कतिपय प्रयोगवादी कवियों के साथ हुआ है—और हम जीवन के सत्य को वाणी देने में असमर्थ रहेगे। जीवन में दुख-दर्द भी है और खुशी भी और दोनों को समग्र रूप मे चित्रित करना साहित्यकार का दायित्व है। लेकिन ऐसा न हो कि हम जीवन का जो असत्य है उसे सत्य और चिरन्तन मान लें और सत्य को क्षणिक और सामयिक आजादी, जनवाद और शान्ति जीवन को उसकी असीम सम्भावनाओ की दृष्टि से देखने के मूल्य है। सत्य का आग्रह है कि हम इस युग के ऐतिहासिक परिवर्तनो को समझे और युग की भावना को नई प्रेरणा और नई दृष्टि दे। तभी हम नये भारत के निर्माण मे अपने साहित्य द्वारा रचनात्मक योग दे सकेगे।

—नवम्बर १९५५

२

साहित्य के इतिहास की समस्या

हर नई परिस्थिति में, जब पुराने समाज-सम्बन्ध और विचार समाज की प्रगति को अवरुद्ध करने लगते है और भावी विकास की सम्भावनाएँ समाज के गर्भ मे परिपक्व होकर नये जीवन-लक्ष्यो की चेतना जगाने और नये मानव-उद्योग और संघर्ष का आवाहन करने लगती है, उस समय मनुष्य परिस्थितियों के अन्तर्विरोध से उत्पन्न समस्याओं को समग्र रूप में समझने-सुलझाने और नई प्रेरणा और अन्तर्दृष्टि पाने के लिए मानव-इतिहास का नये सिरे से अध्ययन करता है। यह अध्ययन कभी निरुद्देश्य नही होता। जो प्रगति के आकाक्षी है वे इस अध्ययन द्वारा सत्य का अन्वेषण करते है, अर्थात् इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन करते हुए वे उसके विकास-नियमो और विकास-धाराओ का उद्घाटन करके एक सजीव, गत्यात्मक समाज-सिद्धान्त की उद्भावना करते है। और जो प्रगति-विरोधी है वे इतिहास को असम्बद्ध, कारणहीन, स्वय-भू घटनाओ का पुँज सिद्ध करके उसकी भावी प्रगति की दिशा पर परदा डालते है। इस प्रकार वर्ग-समाज के अन्तर्विरोधो के कारण इतिहास के प्रति भी परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणो का जन्म हुआ है।

यह स्थिति साधारण इतिहास के क्षेत्र मे ही नही है बल्कि मनुष्य-रचित हर भौतिक अथवा विचारगत क्रिया-कलाप के विशिष्ट इतिहासो के अध्ययन-क्षेत्रो में भी है। अर्थात् नृशास्त्र, शिल्प-विज्ञान, समाज-शास्त्र, भाषा-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, पुरातत्त्व, राजनीति, दर्शन, साहित्य, कला, सस्कृति आदि सभी क्षेत्रो मे इतिहास के अध्ययन के वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक, दोनो दृष्टिकोण प्रचलित है। अवैज्ञानिक दृष्टिकोण तो अनेक है। कुछ प्राचीन काल से ही चले आते है, कुछ नई-नई परिस्थितियो मे प्रभु-वर्ग की स्थिति के अनुकूल विकास पाते रहे है।

वर्ग-समाज से पहले आदिम युग मे भी मनुष्य ने इतिहास को समझने की चेष्टा की थी। उस समय की पुराण-कथाएँ (मिथ्स) इस बात का प्रमाण है कि देवमाला और प्रलय के बाद पंचभूतो से जगत् की उत्पत्ति की कल्पना करके आदिम मनुष्य ने एक ऐसे ऐहिक सिद्धान्त की उद्भावना की थी जिसके द्वारा उसने प्रकृति को स्वयं अपनी सफलताओं की छवियो (इमेज) मे अंकित करके देखा था और सामाजिक उत्पादन की अपनी प्रयोगशील चेष्टाओ में प्रकृति को भी मानवीय धातु से गढ डाला था। आदिम मानव की पुराण-कथाएँ (मिथ्स) चाहे कोरी कल्पनाएँ ही क्यो न हों, किन्तु उनमे ऐतिहासिक सत्य निहित है। जीवन और जगत का जो प्रतिबिम्ब संघर्षशील आदिम मनुष्य के मानस पर

पड़ा, उसकी चेतना से उसने विश्व का एक सुसम्बद्ध, वैज्ञानिक विवरण देने का प्रथम प्रयास किया था। सभी देशों की पुराण-कथाओं मे भगवान् को ही सृष्टि का कर्ता माना गया है। लेकिन आदिम मनुष्य ने इस सृष्टि को तो है ही, स्वयं भगवान् को भी मनुष्य की छवि (इमेज) में ही ढाला है। इस प्रकार इस परिकल्पना में भगवान् तो केवल कार्य-कारण-शृंखला की प्रथम कड़ी था। किन्तु बाद में, वर्ग-समाज के पैदा होने पर, इतिहास एक भिन्न चीज बन गया। इतिहासकारो ने आदिम मानव की परिकल्पना को उलट दिया। दावा किया गया कि मनुष्य ने अपनी छवि मे भगवान् को नही, बल्कि भगवान् ने अपनी छवि मे मनुष्य को बनाया है, और इतिहास मनुष्य द्वारा भगवान् के ही आदेशो उद्देश्यो के पालन और पूर्ति का वृत्त है। अर्थात् इतिहासकार ने इतिहास की वस्तु और सामग्री मे से किसी पैटर्न, व्यवस्था, नियम की खोज बन्द करके केवल अदृष्ट द्वारा आरोपित नियमों और व्यवस्थाओं को ही स्वीकार कर लिया। यह जगत् भगवान् की लीला-भूमि समझा गया और प्रत्येक महाप्रलय के बाद सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की पुनरावृत्ति होते जाना, स्वर्ग या नरक की प्राप्ति के लिए कर्मानुसार चौरासी लाख योनियो मे भटकना या मोक्ष प्राप्त कर लेना ही इस जीवन और जगत् का रहस्य और उद्देश्य माना गया।

किन्तु इसके भी बाद जब मध्ययुग की सामन्ती व्यवस्था को चुनौती देता हुआ पूँजीवादी वर्ग उठा तो उस प्रारम्भिक उत्थान के चेतना-विकासी जागरण-युग में मनुष्य और व्यक्ति की महत्ता स्वीकार की जाने लगी। फलतः इतिहास का केन्द्र स्वर्ग से उतारकर पृथ्वी पर ले आया गया और नरेशो के अन्तःपुरो और दरबारों से हटाकर सामान्य जीवन में और समरभूमि के रक्त-सिंचित मैदान से अलग करके मनुष्य की सभ्यता के विकास-पथ के बीच स्थापित किया गया। और यह समझने के लिए कि मनुष्य आदिम युग की वहशी और बर्बर अवस्थाओ से निकलकर 'सभ्यता' के युग मे कैसे आया, उस युग के सद्य-विकसित समाज-शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर इतिहास के नियामक कारणो की खोज आरम्भ हुई। किसी ने सिद्ध किया कि महान् व्यक्तियो की प्रतिभा ही इतिहास की संचालिका शक्ति है, महान् व्यक्ति ही इतिहास के निर्माता है, अतः उनकी जीवनियों का अध्ययन ही इतिहास का अध्ययन है। किसी ने दावा किया कि मनुष्य का संचित ज्ञान ही ऐतिहासिक विकास का मूल कारण है। किसी ने वैज्ञानिको के अन्वेषणों और शिल्पियों के शिल्पज्ञान को ही मूल कारण बताया। किसी ने भौगोलिक स्थिति, जलवायु तथा भूमि की विशेषताओ को ही इतिहास का नियामक माना। और किसी ने नये पूँजीवादी साम्राज्यो का एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका मे विस्तार होते देखकर जातिगत (रेशियल) विशेषताओ और रक्त की शुद्धता को ही तमाम ऐतिहासिक विकास और मानव-जीवन की समृद्धियों का उपभोग करने का अधिकारी होने का मूल कारण ठहराया। कहने का तात्पर्य यह है कि नई पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न यान्त्रिक भौतिकवादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप इतिहास के अनेक एकांगी सिद्धान्त समय-समय पर यूरो-

पीय रिनेसाँ (सांस्कृतिक नवजागरण) के बाद सामने आए, जिन्होंने ऐतिहासिक वास्तविकता को केवल ऊपरी सतहों पर ही जाँचा-परखा। ये सिद्धान्त इतिहास की गति को समग्र रूप से देखने-समझने की वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि न दे पाये। अवसरानुकूल इन दृष्टिकोणों का आश्रय लेकर जहाँ विकासशील पूँजीवाद ने मानव-प्रगति मे योग दिया, वहाँ अपने ह्रासकाल में उसने सारी मानव-जाति को महायुद्धो की आग में झोकने का औचित्य भी मनवाना चाहा। आज पूँजीवादी समाज की आन्तरिक असंगतियाँ इतनी तीव्र हो गई है कि उसकी व्यवस्थित अव्यवस्था व्यापक अराजकता मे परिणत हो चुकी है। ऐसे में इतिहास का अध्ययन सामाजिक जीवन के सत्य को जानने और उसके विकास-नियमो का उद्घाटन करने के लिए करना प्रभुवर्ग के लिए निरापद नही रहा। इसीलिए सब सिद्धान्तों और दृष्टिकोणों को पूर्वग्रह घोषित करके यह सिद्ध करने की कोशिश हो रही है कि इतिहास में किसी पैटर्न या विकास-धारा की खोज करना व्यर्थ है, क्योकि इतिहास असम्बद्ध घटनाओ और अदृष्ट कारणो का ही पुञ्ज है। या फिर वैज्ञानिकता का और सूक्ष्म उपक्रम करके यह सिद्ध किया जा रहा है कि इतिहास अनेक कारणो और तथ्यो से मिलकर बनता है। उनमे से किसी को कम या अधिक महत्त्व का कहना असम्भव है, इसलिए इतिहासकार का कार्य केवल इतना है कि वह इन तथ्यो के कार्य-कारण-सम्बन्धो का निर्धारण किये बिना ही, निरपेक्ष भाव से केवल एक के बाद दूसरे तथ्य को ज्यो-का-त्यो दर्ज करता जाय।

परन्तु मनुष्य का इतिहास कोई असम्बद्ध घटना-पुञ्ज नही, एक रचनात्मक प्रक्रिया (प्रोसेस) है, और इतिहास की दृष्टि मे केवल उन घटनाओ, तथ्यो और कार्यो का ही महत्त्व है जो सामाजिक जीवन के लिए अर्थवान् है, जो सामाजिक जीवन को और इस प्रकार व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित करते है। मनुष्य यदि वास्तविकता—जीवन और प्रकृति—के सत्य का बोध प्राप्त कर सकता है, जैसा कि विज्ञान द्वारा उसने किया है और करता जा रहा है, तो वह इतिहास द्वारा सामाजिक जीवन के सत्य का बोध भी प्राप्त कर सकता है। और मनुष्य ने ठोस ऐतिहासिक तथ्यो और विकास-धारा का अध्ययन करके इतिहास के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास भी कर लिया है जो धार्मिक और यान्त्रिक भौतिकवादी दृष्टिकोणों से भिन्न है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास मे परिवर्तन की गति न आवृत्तिमूलक है, न भगवान् या महान् व्यक्तियो की इच्छा से संचालित है और न भौगोलिक परिस्थितियो या जातीय (रेशियल) विशेषताओं से नियमित है। वास्तव में जीवन की परिस्थितियाँ ही इतिहास की ऊर्ध्वोन्मुखी गतिविधियो का नियमन करती है। इनमें भौगोलिक परिस्थितियों का महत्त्व आनुषंगिक ही है, क्योकि वे समाज के विकास में केवल सहायक या बाधक हो सकती है, उसका मूल कारण नही बन सकती। जीवन की परिस्थितियों में भौतिक मूल्यों को पैदा करने वाली, मनुष्य की 'उत्पादन-प्रणाली' ही ऐतिहासिक विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण और निर्णायक कारण है। 'उत्पादन-प्रणाली' के अन्तर्गत 'उत्पादन की शक्तियाँ' भी आती है और 'उत्पा-

दन-सम्बन्ध' भी, अर्थात् इसमें उत्पादन-यन्त्र और अपने अनुभव और श्रम-कौशल से इन उत्पादन-यन्त्रों को बनाने और प्रयोग में लाने वाले मनुष्य भी शामिल है और उत्पादन-सम्बन्ध भी, अर्थात् मनुष्य का यह सामाजिक जीवन, जिसके पारस्परिक सहयोग या वर्ग-शोषण पर आधारित समाज-सम्बन्धों में एक-दूसरे से बँधकर मनुष्य भौतिक मूल्यों के उत्पादन-कार्य में अनिवार्यत: संगठित होते है ।

इस सतत् परिवर्तनशील उत्पादन-क्रिया और समाज-सम्बन्धों में पडकर ही मनुष्य वास्तविकता के सत्य का बोध करने वाली ऐन्द्रिक चेतना का विकास करता है और राजनीतिक संगठनों, विचार-धाराओं, सिद्धान्तो, कलाओं, साहित्यो और संस्कृतियों को जन्म देता है । जीवन की परिस्थितियाँ ही विचारो को जन्म देती है, लेकिन इससे विचारो का महत्त्व कम नही हो जाता । 'विचार' चाहे इतिहास की गतिविधि के निर्णयकारी तत्त्व न हों, किन्तु अपनी प्रचण्ड शक्ति से उसकी प्रगति में साधक या बाधक बन सकते है और बनते है । इस प्रकार समाज का इतिहास उत्पादन-प्रणाली के विकास का इतिहास है, श्रम में लगे मनुष्य या जन-समूह का इतिहास है, क्योकि वही भौतिक मूल्यों का निर्माण करता है, और अन्त मे, जीवन के सामाजिक और वैचारिक क्षेत्रों मे अविराम होते आने वाले परिस्थिति-जन्य वर्ग-सघर्ष का इतिहास है जिसके माध्यम से ही अब तक इतिहास का ऊर्ध्वोन्मुखी विकास सम्भव हुआ है और उत्पादन की शक्तियों ने इतनी उन्नति कर ली है कि एक ओर यदि वर्ग-समाज के उत्पादन-सम्बन्ध और उसके पोषक विचार अब इतिहास की प्रगति के मार्ग मे बाधक बन गए है, तो दूसरी ओर एक ऐसे वर्गहीन, शोषण-हीन समाज की स्थापना हकीकत बन गई है जो मनुष्य की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए अनुकूल सामाजिक परिस्थितियों का निर्माण कर सके । मनुष्य का इतिहास अब तक मानव-मुक्ति के इस लक्ष्य की ओर ही ऊर्ध्वोन्मुखी विकास करता आया है, और कर रहा है ।

साहित्य के इतिहास की समस्या के प्रसंग मे इस भूमिका की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि सामान्य इतिहास-सम्बन्धी धारणाएँ और दृष्टिकोण साहित्य, कला, संस्कृति, दर्शन, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों के विशिष्ट इतिहासों के अध्ययन को भी प्रभावित करते हैं । और यदि प्रचलित दृष्टिकोण एकागी हो तो उस दृष्टि से लिखा गया साहित्य का इतिहास भी एकागी होगा—वह न साहित्यिक आन्दोलनो और प्रवृत्तियों का ही सही विवेचन कर पायगा और न प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों का वैज्ञानिक मूल्याकन ही कर सकेगा । किन्तु साहित्य के इतिहास के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने का तात्पर्य यह नही कि ऐतिहासिक तथ्यो को किसी पूर्व-निर्धारित योजना या विचार-सूत्रों की परिधि के भीतर ठूँस-ठाँसकर भर दिया जाय । या समाज और साहित्य का सीधा सम्बन्ध निर्धारित करने के लिए यह सिद्ध किया जाय कि समाज का सामान्य आर्थिक-राजनीतिक विकास जिस स्तर तक हो चुका होता है, साहित्य और कला का विकास भी उसी स्तर का होता है । या साहित्य के वर्ग-आधार को उद्घाटित करने के लिए प्राचीन

काल के या आधुनिक काल के श्रेष्ठ लेखकों को शोषक वर्गों की विचारधारा का ही प्रतिबिम्बन करने वाला सिद्ध किया जाय, या अवसर के अनुकूल उनकी साधारण जन की आर्थिक समस्याओं या विषमताओं से सम्बन्ध रखने वाली इक्की-दुक्की उक्तियों के उद्धरण देकर उन्हें प्रगतिशील और क्रान्तिकारी ठहराया जाय। इतिहास के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण की अनिवार्यता आज इसलिए पैदा हो गई है कि हिन्दी में अधिकतर एकांगी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण ही प्रचलित है। शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण से तो इतिहास नहीं लिखे गए, लेकिन न्यूनाधिक मात्रा में एकांगी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण आचार्य शुक्लजी से लेकर आज तक अपनाए जाते रहे हैं, चाहे ये समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण राष्ट्रीय विचारधारा से प्रेरित हों या मार्क्सवादी विचारधारा से। हिन्दी के उदीयमान आलोचक श्री नामवरसिंह ने अपने निबंध 'इतिहास का नया दृष्टिकोण' में हिन्दी-साहित्य के प्रमुख इतिहास-ग्रन्थों की खूबियों और खामियों का वैज्ञानिक विवेचन किया है और हिन्दी-साहित्य के इतिहास की समस्याओं का भी अत्यन्त सूक्ष्मता से निदर्शन कराया है। हमें उनके तर्कों को दुहराने की जरूरत नहीं।

समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोणों के अपनाये जाने के सम्बन्ध में केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि हमारे राष्ट्रीय जीवन की सामान्य परिस्थितियों ने ही अब तक इन दृष्टिकोणों को औचित्य प्रदान किया है। सभी जानते हैं कि देश की अन्य प्रमुख भाषाओं के आधुनिक साहित्यों की ही तरह हिन्दी का आधुनिक साहित्य भी हमारे राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार है। या कहें कि राष्ट्रीय जागरण ही आधुनिक युग में 'भारतीय सांस्कृतिक नवनिर्माण' (रिनेसाँ) की अन्त प्रेरणा बना है। हिन्दी में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की लहर भारतेन्दु के समय से ही वास्तविक रूप में शुरू हुई। तभी से नई राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप साहित्य के इतिहास की खोज और लेखन का कार्य शुरू हुआ। इतिहास की यह खोज कभी निरुद्देश्य नहीं रही। साधारण जनता को ही अपने देश की गौरवशाली तथा जीवन्त 'सांस्कृतिक विरासत' का वास्तविक उत्तराधिकारी होने की घोषणा चाहे पहले-पहल प्रगतिशील लेखक-आन्दोलन ने ही की हो और इस विरासत की रक्षा करने का बीड़ा भी उठाया हो, लेकिन यदि देखा जाय तो भारतेन्दु के समय से ही हिन्दी के देशभक्त लेखक अपनी-अपनी समझ-बूझ के अनुसार इस कार्य को, इतने स्पष्ट शब्दों में घोषित किये बिना ही, करते आ रहे थे। राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ-साथ 'सांस्कृतिक विरासत' को सुरक्षित करने तथा उसे जन-साधारण तक पहुँचाने की क्रिया अधिक व्यापक आधार खोजती गई। शिवसिंह 'सरोज' से लेकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तक हमारे साहित्य के इतिहासकारों ने चाहे मध्ययुगीन (?) हिन्दी कवियों के वृत्त एकत्र किये हों, चाहे अतीत के रत्नों को खोजकर उन्हें पाश्चात्य देशों के साहित्यकारों से अधिक महान् और गौरवशाली सिद्ध किया हो, चाहे साहित्य की प्रवृत्तियों का निर्धारण करके इतिहास को व्यवस्था और नियम देकर उन प्रवृत्तियों की कारणभूत सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों का आकलन किया हो, चाहे 'लोक-मंगल' की कसौटी पर साहित्य

की प्रवृत्तियों और कवियों को परखा हो, या चाहे हिन्दी-साहित्य के विकास की भूमिका की खोज मे वैदिक-काल से लेकर अपभ्रश-काल तक की सम्पूर्ण भारतीय चिन्ता-धारा के विविध प्रभावो के ताने-बाने का उद्‌घाटन किया हो, अन्तत इन सभी विचारको का व्यक्त या अव्यक्त उद्देश्य सास्कृतिक विरासत पर स्वतन्त्रता-सग्राम मे भाग लेने वाली जागरूक भारतीय जनता के उत्तराधिकार को प्रमाणित करना ही था। यह दूसरी बात है कि वर्ग-चेतना के अभाव मे, इस विरासत मे कौन से तत्त्व प्राणवन्त और प्रगतिशील हैं और कौन-से अपनी उपयोगिता खोकर निर्जीव और प्रतिक्रियावादी हो चुके हैं, उनको एक-दूसरे से विलगाने की वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि इन देशभक्त इतिहासकारो के पास नही रही। अतीत के भण्डार मे जो-कुछ था वह सब उन्होने सहेजकर जमा कर लेना चाहा। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विद्यार्थी इन तथ्यो से परिचित है कि स्वय शुक्लजी ने भी चाहे प्राचीन लेखको के काव्य-तत्व का विवेचन क्यो न किया हो, पर उनके काव्य की विचार-वस्तु को वास्तविकता की कसौटी पर नही परखा। इसीलिए प्राचीन लेखको का सम्यक् मूल्याकन नही हुआ, केवल उनकी काव्य शक्ति का विवेचन और अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताओ के अनुसार उनकी भक्ति-भावना की प्रभाववादी ढग से प्रशसा ही की गई। अधिक-से-अधिक इतना अवश्य स्वीकार किया गया कि मध्ययुग मे सामन्ती वर्ग की नैतिकता और सामाजिक रूढियो के विरुद्ध जन-चेतना धार्मिक आन्दोलनो के रूप मे फूट पडी थी, और भक्ति-काव्य इसी लोक-चेतना का परिणाम था।

इसीलिए, आज भी मनुष्य के सामान्य इतिहास के ऊर्ध्वोन्मुखी विकास की दृष्टि से और विशेषकर अपने देश के राष्ट्रीय जागरण से प्रेरित 'सास्कृतिक नवनिर्माण' की दृष्टि से, जिसकी प्रक्रिया को अभी पूरा होना शेष है, स्थायी विश्व-शान्ति, जनवादी समाज और मुक्त-जीवन के लिए सघर्ष करने वाले सर्वसाधारण के हित मे अतीत से प्राप्त 'सास्कृतिक विरासत' को सुरक्षित करने का प्रश्न हिन्दी-साहित्य के इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या है, ताकि जनता इस स्फूर्तिदायी और चेतनाविकासी विरासत से वचित न रहे। अत सास्कृतिक विरासत के प्रश्न को पूरी गम्भीरता से यहाँ उठाना ही हमारा उद्देश्य है, क्योकि इस प्रश्न का समाधान करके ही हिन्दी-साहित्य के इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है। अन्य प्रश्न, जैसे काल-विभाजन की समस्या या हिन्दी मे खोज-कार्य की समस्या आदि, महत्त्वपूर्ण होते हुए भी गौण हैं।

अपनी पुस्तक 'A Contribution to the Critique of Political Economy' मे यूनान की देवमाला या पुराण-कथाओ पर टिप्पणी देते हुए कार्लमार्क्स ने 'सास्कृतिक विरासत' का प्रश्न उठाया था। यह बताते हुए कि कला के कई सर्वोच्च विकास-कालो का सीधा सम्बन्ध न समाज के सामान्य विकास के साथ रहा है और न उसके भौतिक आधार और ऊरी ढाँचे के सगठन के साथ, मार्क्स ने ग्रीक (यूनानी) कला का उदाहरण दिया था। और यह स्पष्ट करते हुए कि चूँकि ग्रीक-कला की विचार-वस्तु ग्रीक-जीवन से ही ली गई थी और वह सीधी उस जीवन की ही पैदावार थी, इसलिए

पौराणिक विचारो पर आधारित कला की आवृत्ति इस औद्योगिक युग मे निश्चय ही नही हो सकती, मार्क्स ने प्रश्न उठाया था, "इस विचार को समझने मे कठिनाई नही है कि ग्रीक-कला और महाकाव्य सामाजिक विकास के एक विशेष युग की पैदावार हैं और उसी से बँधे है। कठिनाई तो यह समझने मे आती है कि वह आज भी हमारे अन्दर सौन्दर्य-बोध कराके आनन्द देने मे क्यो समर्थ है और कई अर्थो मे उन्होने कला के ऐसे प्रतिमान और नमूने पेश किये है जिनकी श्रेष्ठता को पा लेना असम्भव है।"

यह निश्चित है कि मनुष्य के भावो की चिरन्तन सत्ता का दावा करके इस प्रश्न का वैज्ञानिक या इतिहास-सगत उत्तर नही दिया जा सकता। इसका उत्तर पाने के लिए हमे, 'कला क्या है' इस प्रश्न को समझना होगा और सामाजिक जीवन से कला के सम्बन्ध-सूत्रों को खोज निकालना होगा। तभी विगत युगो की श्रेष्ठ कलाकृतियो की चिरन्तन महानता का रहस्य उद्‌घाटित हो सकेगा और सास्कृतिक विरासत का प्रश्न अपने सही रूप में समझा जा सकेगा। इस प्रकार यदि देखे तो साहित्य के इतिहास की समस्या बहुत-कुछ साहित्य के समीक्षा-शास्त्र की ही समस्या है।

साहित्य और कला वस्तु-चित्रों तथा मानव-चरित्रो की भाषा मे जीवन के वैविध्य-पूर्ण और परस्पर-विरोधी सम्बन्धो और अन्तर्सम्बन्धो के यथार्थ को उसके गर्भ में विकासमान सम्भावनाओ की दृष्टि से मूर्त और कलात्मक रूप में प्रतिबिम्बित करती है। साहित्य और कला की कृतियाँ इसका परिणाम होती हैं। जगत् और जीवन के सत्य को जिस प्रकार विज्ञान 'विचारो' के माध्यम से सिद्ध और प्रमाणित करता है, कला वास्तविकता के सत्य या अन्तर्द्वन्द्व को मर्म-छवियो (इमेज) के माध्यम से दर्शनीय बना-कर इन्द्रियगम्य बनाती है। इस प्रकार वर्ग-समाज की कला या साहित्य—और अब तक की कला और साहित्य का निर्माण वर्ग-समाजो मे ही हुआ है—सत्ताधारी वर्गो की चेतना-मात्र का प्रतिबिम्बन नही है, जिसके कारण कला-साहित्य का वर्ग-आधार खोजने के लिए कलाकारो-साहित्यकारो को शोपक वर्गो की विचारधारा का प्रतिनिधि सिद्ध किया जाय। यह तो सभी जानते हैं कि एक वर्ग-समाज की समाज-व्यवस्था शोपक-शोषित के सम्बन्धो से नियमित होती है। फलत शोषक-वर्ग की विचारधारा ही ऐसे समाज मे नीति और न्याय-सम्मत विचारधारा होती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि शोषित वर्गो की अपनी विचारधारा होती ही नही। इन दोनो विचार-धाराओ के निरन्तर सघर्ष और सम्पर्क तथा विगत के संचित ज्ञान से मिलकर ही किसी वर्ग-समाज की जीवन-परिस्थितियो के अनुसार सोचने-विचारने की पद्धतियाँ बनती हैं। कलाकार या साहित्यकार को भी अन्य लोगो की ही तरह जन्म के साथ ही समाज की प्रचलित वर्ग-विचारधाराओ और अतीत के सचित ज्ञान का कोप उपलब्ध होता है। परन्तु सच्चा कलाकार या साहित्यकार अपनी वस्तुनिष्ठा और सवेदना के सहारे समाज-लब्ध वर्ग-विचारधारा और विचार-सूत्रो के ही माध्यम से सामाजिक और व्यक्ति-जीवन की वास्तविकता को अभिव्यक्ति देता है, और इस प्रकार सामाजिक सत्य का उद्‌घाटन

करता है। उदाहरण के लिए तुलसीदास के लिए तत्कालीन समाज में प्रचलित सामन्ती दृष्टिकोण के कारण नारी चाहे 'सहज अपावन' और 'ताड़न की अधिकारी' ही क्यो न रही हो, किन्तु उन्होने 'रामचरितमानस' में या अन्यत्र नारी के जो मूर्त्त चित्र खीचे है, उनमें नारी का चरित्र अपनी पूर्ण मानवीय गरिमा के साथ उभरकर सामने आया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वर्ग-समाजों के बन्धनों में जकडी रहने पर भी श्रमिक जनता ही वास्तव मे भौतिक मूल्यो का उत्पादन करती आई है और इस प्रकार अपना रक्त-स्वेद बहाकर समूचे मानव-समाज को वर्गहीन समाज के लक्ष्य की ओर आगे बढाती लाई है, उसी प्रकार वर्ग-समाजो की परिस्थितियो से उत्पन्न विचार-शृंखलाओं या जीवन-जगत् को देखने की दृष्टि-सीमाओ से आबद्ध कलाकार और साहित्यकार भी वास्तविकता के सत्य को रूपायित करते आए है। नये मानव-मूल्यों की सृष्टि करते हुए मनुष्य के सास्कृतिक अथवा कहें मानवीय आध्यात्मिक विकास को वे पग-पग आगे बढाते आए है तथा मनुष्य के हृदय मे वर्ग-समाज के शोषण-सम्बन्धों का अन्त करके मानवीय समाज-सम्बन्धो की स्थापना करने की मुक्ति-कामी आकाक्षा जगाते आए है। इसीलिए उनकी कृतियो में मानवीय हृदय का स्पन्दन और श्वास की गरमाई है, जो सहज ही मनुष्य के भविष्य मे विश्वास जगाती है और विगत और वर्तमान की समस्याओं को उनके वास्तविक रूप मे समझने की अन्तर्दृष्टि देती है। उनकी या किसी भी युग के कलाकार और साहित्यकारों की प्रतिभा, ईमानदारी और उनकी कृतियों की कलात्मक श्रेष्ठता को परखने की वैज्ञानिक कसौटी भी यही है कि जाँच करके यह देखा जाय कि अपने जीवन-काल की ऐतिहासिक परिस्थितियो द्वारा प्राप्त अनिवार्य विचार-सीमाओ के होते हुए भी उन्होने एक सच्चे कलाकार की सत्यान्वेषी वस्तुनिष्ठा से अपने युग-जीवन की वास्तविकता या सत्य का कितना यथार्थ और मूर्त्त चित्रण किया? अर्थात् उन्होंने अपने जीवन-काल की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों से उत्पन्न निर्णयकारी सामाजिक समस्याओं को और उनके प्रति समाज के सभी वर्गों की स्थिति को खुली आँखों से देखकर कहाँ तक एक कलाकार के वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से, व्यक्ति-चित्रो के माध्यम से, समाज के सभी वर्गों के अन्तर्सम्बन्धो को चित्रित किया है? साहित्य-कला की यह कसौटी साहित्य-कला के इतिहासो, महान् साहित्यकारों-कलाकारों की श्रेष्ठ कृतियों की परम्परा से निर्धारित है। कला चूंकि वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है इसलिए उसमें व्यक्त किसी भी विचार की सचाई वास्तविकता से तुलना करके ही जाँची जा सकती है।

इतिहास की यह वस्तुवादी दृष्टि ही सांस्कृतिक विरासत का सही मूल्याकन कर सकती है और शोषक समाज में 'प्रगति' के सही अर्थ से हमें परिचित करा सकती है। जिस तरह प्राचीन काल के लेखक अपने जीवन-काल की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों से उत्पन्न व्यापक सामाजिक जीवन के सत्-असत् और मंगल-अमंगल पक्षों से तटस्थ नही रहे, बल्कि उन्होंने अपने हृदय की पूरी करुणा और समवेदना से शोषित जनता की जीवन परिस्थितियों का चित्रण किया और सत्य और न्याय का पक्ष लिया, उसी प्रकार आज का

इतिहासकार भी समाज के ऊर्ध्वोन्मुखी विकास के प्रति तटस्थ नही हो सकता। तटस्थ होकर वह न प्राचीन लेखकों की महान् कृतियों का मूल्याकन कर सकता है और न 'सांस्कृतिक विरासत' की रक्षा ही। इसलिए आज साहित्य के इतिहासकार के सामने प्रश्न केवल इतना ही नही है कि केवल भक्ति-काव्य, रीति-काव्य या आधुनिक काल की छायावाद, यथार्थवाद आदि प्रवृत्तियो को उन विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियो के प्रसंग में रखकर जाँचे, जिन्होने इन धाराओं को जन्म दिया तथा जिन्हे इन धाराओ ने प्रतिबिम्बित करके प्रभावित किया, बल्कि उसके सामने यह समस्या भी है कि वह—यदि हिन्दी-साहित्य की सीमा में ही रहे तो—चन्द, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, देव, पद्माकर, घनानन्द, मतिराम, भूषण आदि प्रमुख भक्त और रीतिवादी कवियो तथा राष्ट्रीय जागरण-युग के भारतेन्दु, श्रीधर पाठक, रत्नाकर, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पन्त आदि साहित्यकारों की कृतियो के अध्ययन से उनकी वास्तविक महत्ता को उद्घाटित करे कि किस प्रकार वर्ग-समाज के इन प्रह्लादों ने वर्ग-समाज की विशिष्ट परिस्थितिजन्य विचार-सीमाओ में आबद्ध रहते हुए भी अपनी प्रतिभा से मनुष्य के गत जीवन या वर्तमान जीवन के सजीव चित्र अंकित किये है, जिनका कलात्मक सौन्दर्य, अर्थ-गाम्भीर्य और उदात्त मानववादी नैतिक अन्त स्वर वर्तमान जीवन की विडम्बनाओ से सघर्ष करने वाले आधुनिक पाठक को भी प्रेरणा, स्फूर्ति, आशा और नई अन्तर्दृष्टि प्रदान करते है। हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का सघर्ष जितना ही तीव्र होता जाता है, 'सास्कृतिक विरासत' के सही मूल्याकन का प्रश्न भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता जाता है और इस समस्या को हल करने के लिए साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास की अनिवार्यता भी बढती जाती है।

—नवम्बर १९५२

३

राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण की समस्या

'साहित्य के इतिहास की समस्या' का सूत्र जहाँ छोडा था वहाँ से फिर पकडे। अन्तिम वाक्य था "हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का सघर्ष जितना ही तीव्र होता जाता है, 'सास्कृतिक विरासत' के सही मूल्याकन का प्रश्न भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता जाता है, और इस समस्या को हल करने के लिए साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास की अनिवार्यता भी बढती जाती है।" 'आलोचना' के दोनो अंको[1] मे हिन्दी के लगभग चालीस कृती आलोचको ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास, साहित्य की मुख्य-मुख्य युग-धाराओ और प्रवृत्तियो, हिन्दी साहित्य पर पडे बाह्य और आन्तरिक प्रभावो, भाषा-सम्बन्धी प्रश्नों और हिन्दी साहित्य की पाँच सर्वोत्कृष्ट प्राचीन तथा आधुनिक कृतियो आदि का अपने ढग से पुनर्परीक्षण और मूल्याकन किया है। इससे हिन्दी साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास की कोई सुनिश्चित रूपरेखा बन गई है, यह तो हम दावे के साथ नही कहेगे, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से इस दिशा मे आगे भी सामूहिक और व्यक्तिगत प्रयत्न जारी रहने चाहिए, इसकी अनिवार्यता अवश्य सिद्ध हो गई है।

खोज और मूल्याकन द्वारा अपने साहित्य की मूलत मानववादी 'सास्कृतिक विरासत' को सुरक्षित रखने और उसे जन-साधारण तक पहुँचाने का कार्य तो पहले से और भी अधिक तत्परता से जारी रहना चाहिए, क्योकि विचारो को स्फूर्ति, कर्म की प्रेरणा, सामयिक समस्याओ की चेतना और आनन्द देने या सौन्दर्य-बोध और मानव-बोध बढाने के अतिरिक्त नये साहित्य के निर्माण की दृष्टि से उसका आत्यन्तिक उपयोग इसलिए भी है कि वस्तु और रूप दोनो के लिए वर्तमान अतीत पर ही निर्भर करता है। यह ठीक है कि केवल परम्परा ही वर्तमान जीवन को अपनी ओर से प्रभावित और नियन्त्रित करती जाती है ऐसी एकतरफा बात नही होती। मनुष्य अपने वर्तमान क्रियाशील जीवन की चेतना और अनुभव द्वारा परम्परा को निरन्तर बदलता भी जाता है। हर युग के साहित्यकार अपने पूर्ववर्ती युग के देशी-विदेशी साहित्यकारो की कृतियों से सीखते है, उनसे वस्तु और रूप भी उधार लेते है, पर साथ ही वे परम्परा से लिये माध्यमो द्वारा अपने युग-जीवन की वैविध्यपूर्ण वास्तविकता और इतिहास-निर्धारित बुनियादी समस्याओ का चित्रण करके इस परम्परा की सुरक्षा ही नही करते, बल्कि उसका युगानुरूप नया

---

१ इतिहास विशेषांक और शेषांक।

संस्कार भी करते है, और अपनी मौलिक कृतियो से मनुष्य की सास्कृतिक विरासत को उत्तरोत्तर समृद्ध बनाते जाते है। तात्पर्य यह कि रचना के क्षेत्र मे आवृत्ति या अनुकरण से परम्परा निर्जीव और अर्थहीन होती है, समृद्ध और विकसित नही होती। इसलिए इतिहास और परम्परा का अध्ययन-विवेचन-मूल्याकन तभी सार्थक है जब वह वास्तविक रूप से साहित्य की रचनाशील शक्तियो को अनुप्रेरित करे और अपने सामाजिक जीवन के यथार्थ को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के मार्ग मे उठने वाली वस्तु-रूप-शैली और टेकनीक आदि से सम्बन्धित समस्याओ का उपयुक्त समाधान खोजने मे उन्हे नई दृष्टि दे, ताकि वे मौलिक और श्रेष्ठ कृतियो की रचना कर सके—ऐसी कृतियो की जो अपनी आन्तरिक शक्ति और सौन्दर्य से अपने राष्ट्रीय जीवन की इतिहास-निर्दिष्ट समस्याओ का यथार्थ-चित्रण करते हुए भी (या कहे कि इस कारण ही) विश्वजनीन (यूनिवर्सल) और सर्वकालिक महत्ता प्राप्त कर सके। यही पर राष्ट्रीय कला और साहित्य के निर्माण की समस्या उठ खडी होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास और भावी विकास की मुख्य दिशा को समझने के लिए इस समस्या पर विचार कर लेना जरूरी है।

साहित्य के सम्बन्ध मे 'राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग हिन्दी के इतिहासकारो ने भी किया है, किन्तु सकुचित अर्थ मे ही। सन् २० से ४२ के बीच जो राष्ट्रीय आन्दोलन मुखर था, उससे सम्बन्धित या उसको प्रतिबिम्बित करने वाले साहित्य को ही राष्ट्रीय कहा जाता है। ऐसा साहित्य चूँकि राजनीतिक आन्दोलनो की सामयिक उत्तेजना के समय ही प्रिय लगता था और उन आन्दोलनो के मन्द पडते ही या समझौतावादी पथ पर अग्रसर होते ही इस साहित्य की उपयोगिता और अपील भी खत्म हो गई, इसलिए अच्छे लेखक 'राष्ट्रीय' शब्द से ही चौकन्ने हो जाते है। जो कवि आज भी 'राष्ट्रगीत' या राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रतिबिम्बित करने वाली रचनाएँ लिखते है, वे बेजान तुकबन्दियो या 'इन्दुमती' जैसे उपन्यास से अधिक कुछ निर्माण नही कर पाते। साहित्य और कला मे 'राष्ट्रीय' शब्द का इतना सकुचित अर्थ ग्रहण करना सर्वथा गलत है। इसका तो यह मतलब हुआ कि राष्ट्रीय साहित्य कुछ विशेष प्रकार की राजनीतिक रचनाओ का ही नाम है, कि यह साहित्य केवल विद्रोह का साहित्य है और केवल गुलाम देशो मे ही पैदा हो सकता है—जो देश स्वतन्त्र है वहाँ राष्ट्रीय साहित्य और कला सम्भव ही नही, कि आजादी के लिए सघर्ष करने वाले गुलाम देशो मे भी राष्ट्रीय साहित्य की धारा मुख्य धारा नही है, कि इस प्रवृत्ति की स्फुट रचनाएँ क्षणकालिक महत्त्व की ही हो सकती है, कि ऐसी रचनाओ के करने वाले ही राष्ट्रीय कवि या लेखक है, अन्य लेखक और कलाकार राष्ट्रीय नही है। राष्ट्रीय का यह सकुचित अर्थ लगाया जाता है, इसका स्पष्ट उदाहरण यह है कि मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, 'नवीन' या 'दिनकर' को तो राष्ट्रीय कवि कहा जाता है, किन्तु कबीर, तुलसी, सूर, प्रसाद, पन्त, निराला आदि भक्त और छायावादी कवियो को राष्ट्रीय कवि कहने की बात कल्पना मे भी नही उठती। इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा का कारण सिर्फ़ यह है कि लोग राष्ट्रीय (नेशनल) और राष्ट्र-

वादी (नेशनलिस्ट) मे भेद नही करते।

इसीलिए राष्ट्रीय शब्द का उच्चारण होते ही लोग सतर्क हो जाते है। साहित्यकार या सभ्रान्त पाठक इसे निन्दा की दृष्टि से देखते है। दरअसल राष्ट्रीय साहित्य का विरोध तीन दिशाओ से होता है। एक तो उन रीति-ग्रन्थो की परम्परा के पुजारी अध्यापको की ओर से जो श्रेष्ठ साहित्य की रचना के लिए शास्त्रीय नियमों का पालन अनिवार्य समझते है। दूसरी ओर साहित्य में राष्ट्रीय गुणों की अवहेलना वे लोग करते है जो शैली और रूप मे कला के तथाकथित विश्वजनीन मापदण्डों का प्रयोग करना प्रगति का लक्षण समझते है। 'शेखर', 'नदी के द्वीप' और हिन्दी की नई प्रयोगशील कविता मे शैली और अभिव्यक्ति की कृत्रिमता इसी कारण इतनी मुखर है क्योकि उनमे राष्ट्रीय गुणों को तिरस्कृत किया गया है। साहित्य-कला मे राष्ट्रीय आन्दोलन का तीसरी दिशा से विरोध करने वाले वे सकीर्ण प्रगतिवादी है जो राष्ट्रीय शब्द को बुर्ज्वा राष्ट्रवाद का पर्याय समझकर हेय मानते है। वे हर कविता मे वियतनाम, कोरिया, मलाया, चीन, रूस आदि का नाम गिना-गिनाकर सकेतात्मक भाषा मे बात करते है, शैली और रूप-विधान में मायाकोवस्की और जुलियस फ्यूशिक की नकल करते है। उनकी कविताएँ भी अधिकतर बेजान तुकबन्दियाँ होती है या केवल अलकारिक गर्वोक्तियाँ। कुछ दिन पहले राष्ट्रीय शब्द से उनकी चिढ इस सीमा तक बढी थी कि देश-प्रेम की भावना को भी वे सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। परम्परा के प्रति भी उनका आदरभाव कृत्रिम है, क्योंकि परम्परा में वे केवल उन्ही लेखको को शामिल करते है जो अब नही रहे, जो है, वे परम्परा से बाहर, वर्ग-स्वार्थों से आक्रान्त, प्रतिक्रियावादी साहित्यकार ही उन्हे नज़र आते है।

ये मध्यवर्गीय भावना के प्रतिनिधि दृष्टिकोण है, जो राष्ट्रीय आजादी के सघर्ष और राष्ट्रीय साहित्य को केवल राष्ट्रवाद और नस्लवाद के रूप मे ही देखते है, और उसे अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य का विरोधी समझते है।

हम इस भ्रान्ति का निराकरण जरूरी समझते है, क्योकि स्वस्थ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य के विकास मे ये दिग्भ्रान्त प्रवृत्तियाँ बाधक है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य में कोई आन्तरिक विरोध नही है और न राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रवादी साहित्य का पर्याय ही है। 'राष्ट्रीय' का अर्थ बहुत व्यापक है।

इसीलिए 'साहित्य के इतिहास की समस्या' मे हमने लिखा था : "सभी जानते है कि देश की अन्य प्रमुख भाषाओ के आधुनिक साहित्यो की ही तरह हिन्दी का आधुनिक साहित्य भी हमारे राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार है। या कहें कि राष्ट्रीय जागरण ही आधुनिक युग में भारतीय सास्कृतिक नव-निर्माण (रिनेसा) की अन्तर्प्रेरणा बना है।" आगे चलकर हमने यह भी स्पष्ट किया था कि इस सास्कृतिक नवनिर्माण (रिनेसा) की प्रक्रिया को अभी पूरा होना शेष है। किन्तु 'भारतीय सास्कृतिक पुनर्निर्माण' (रिनेसां) की प्रक्रिया कब राष्ट्रीय जागरण के साथ ही शुरू हुई ? हमारी उक्त स्थापना में निश्चय ही ऐसी संकीर्णता ध्वनित है, क्योंकि इतिहास की साक्षी कुछ और है। 'आधुनिक

साहित्य' को तो जिसका आरम्भ भारतेन्दु से हुआ, राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार कहा जा सकता है, लेकिन वास्तव में यह भारतीय रिनेसा का द्वितीय उत्थान है। प्रथम उत्थान तो सम्भवत: भक्त-कवियों—कबीर से शुरू होता है। अर्थात् हिन्दी-क्षेत्र को दृष्टि में रखकर हम कह सकते हैं कि भारतीय रिनेसा के प्रवर्तक कबीर है, भारतेन्दु नही। कहने का तात्पर्य यह कि समूचा हिन्दी साहित्य (और इसी प्रकार देश की अन्य जातीय भाषाओं का साहित्य भी) भारतीय रिनेसा के प्रथम और द्वितीय उत्थानो की पैदावार है—यह नव-जागृति और सास्कृतिक नव-निर्माण का राष्ट्रीय (नेशनल) साहित्य है। इन दोनो उत्थानो के बीच ह्रास और अधोगति का काल भी आया, किन्तु इस कारण ही प्रथम उत्थान को भारतीय संस्कृति के इतिहास मे उसके वास्तविक गौरव से वचित करके 'मध्यकालीन' कह देना सगत नही दीखता।

यूरोप मे राष्ट्रीयता का विचार मध्ययुग के बाद सास्कृतिक नव-जागरण के आरम्भ मे पैदा हुआ। तब तक जातीय आधार पर राष्ट्रो का निर्माण नही हुआ था, लेकिन व्यापारी वर्ग की शक्ति बढने लगी थी और सामन्तवाद का ह्रास हो चला था। इन नये परिवर्तनों ने सांस्कृतिक जागरण के लिए व्यापक परिस्थितियाँ तैयार की और यूरोप के विभिन्न देशों में राष्ट्रीय साहित्य और कला का निर्माण शुरू हुआ। राष्ट्रीय कला या साहित्य से तात्पर्य उस कला और साहित्य से है जो जन-साधारण की भाषा, लोक-वार्ता, लोक-साहित्य, पौराणिक आख्यानो और जन-श्रुतियो से गुम्फित उस जातीय मुहावरे का प्रयोग करता है, जो एक राष्ट्र के लोगों मे समान रूप से प्रचलित होता है। यह मुहावरा सामान्य विश्वासो और सामान्य मनोभूमि को प्रतिबिम्बित करता है, जिससे सहज ही प्रेषणीय होता है। इसीलिए जब तक जातीय या राष्ट्रीय एकता की भावना का उदय नही हुआ तब तक राष्ट्रीय कला और साहित्य का विकास भी नही हुआ। मध्यकाल में उनके विकास की सम्भावनाओं के बीज सर्वसाधारण के बीच अपने स्थानीय और अन-गढ़ ग्राम्य रूपों में लोक-साहित्य और लोक-कला के माध्यम से पनपते रहे।

हमारे देश मे भी राष्ट्रीय एकता की भावना मध्य-युग के अन्त मे और सास्कृतिक पुन: निर्माण के आरम्भ मे पैदा हुई। मध्ययुग मे वैदिक और अवैदिक धर्म-साधनाओ का विरोध बढ़ता रहा और अनेक तान्त्रिक प्रभाव भारतीय साधना को नया रूप और सस्कार देते रहे। उन दिनों धर्म ही लोक-चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम था। सामाजिक जीवन का वैषम्य, उच्च वर्णों और नीच जातियो का आन्तरिक द्वन्द्व—अर्थात् उस युग का वर्ग-संघर्ष, मनुष्य की चेतना मे अनेक परस्पर-विरोधी धर्म-साधनाओ के माध्यम से लड़ा जा रहा था। इस संघर्ष मे जन-साधारण की लोक चेतना के प्रतीक तान्त्रिक प्रभाव ही प्रबल सिद्ध हुए।

इस बीच उत्तर भारत में विदेशी आक्रमण लगातार होने लगे थे जिससे समाज के नैतिक और धार्मिक जीवन में उच्च जातियों का नियन्त्रण ढीला पड़ने लगा था और जब कई शताब्दियों की राजनीतिक अव्यवस्था और उलट-फेर के बाद सुलतानों का राज्य

स्थापित हुआ और दिल्ली मे केन्द्रीय शासन, केन्द्रीय कानून, केन्द्रीय कर-व्यवस्था और केन्द्रीय सेना की सुरक्षा मे व्यापार चलने लगा तो इन सबके परिणामस्वरूप देश की विभिन्न जातियो (नेशनेलिटीज) मे अपनी जातीय चेतना उद्‌बुद्ध हुई। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता की भावना और राष्ट्रीय साहित्य और कला का जन्म हुआ। इसी काल मे कागडा और राजपूताना की चित्रकलाएँ और अन्य-अन्य जातियों के नृत्य और सगीत के विभिन्न राष्ट्रीय रूप लोक-वार्ता, लोक-भाषा और लोक-कला का आधार लेकर विकसित हुए। दस्तकारियो ने भी लोक-जीवन की जातीय विशेषताओ को ग्रहण करके एक अभिनव सौष्ठव प्राप्त किया। इसलिए यह सास्कृतिक जागरण चतुर्मुखी था। इसका आधार जातीय था। इसने देश की अलग-अलग जातिओ मे अपनी जातीय एकता की भावना जाग्रत की और उनमे जातीय प्रगति और आजादी की आकाक्षा उत्पन्न की।

इन तथ्यो की ओर हम केवल इसलिए सकेत कर रहे है कि साहित्य और कला में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति जो सकुचित धारणा इस बीच बन गई है, वह निर्मूल हो जाय, और इस सामान्य तथ्य को हमारे इतिहास लेखक और साहित्यकार पहचानने लगे कि हर देश की कला और साहित्य मे राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात और उसका विकास तभी होता है जब जनसाधारण अपनी भाषा, अपना मुहावरा और चरित्रिक गुणों के साथ उसमें प्रवेश करते है, और उनके जातीय इतिहास की स्मृतियाँ, उनके लोक-जीवन की सामान्य मनोभूमि और उनका प्रकृति-प्रेम उनकी अपनी भाषा के माध्यम से व्यक्त होने लगता है। इस दृष्टि से इतिहास का अध्ययन करने पर ही हम इस तथ्य की स्थापना कर सकते है कि हिन्दी मे राष्ट्रीय-साहित्य का निर्माण कबीर से प्रारम्भ होता है, वे ही हमारे सास्कृतिक पुनर्जागरण के प्रवर्तक है।

मध्य-युग से पहले या मध्य-युग मे भी, सस्कृत भाषा ही साहित्य-रचना का माध्यम थी, परन्तु सन्त कवियो ने इस शास्त्रीय परम्परा को त्यागकर जन-भाषाओ का आश्रय लिया और लोक-कला और लोक-साहित्य की परम्पराओ से प्रेरित ऐसे रूप-विधानो की सृष्टि की जिसमें जनता के जीवन और उसकी समस्याओ का पूरा चित्र उद्‌घाटित हो जाय। कबीर और सूर के पदो, और जायसी और तुलसी के महाकाव्यो मे उस समय के जन-जीवन का पूरा चित्र मिलता है। चूँकि उनकी कला का आधार लोक-साहित्य और लोक-वार्ता की परम्पराएँ है, इसीलिए वे न केवल सामान्य पाठको के लिए प्रेषणीय हो सकी और जातीय-भावना जगाने मे समर्थ हुई बल्कि इस कारण ही वे सार्वदेशिक महत्त्व भी पा सकी।

रीतिकाल के कवियों ने यद्यपि लोकवार्ता और लोक-काव्य के रूपो का सर्वथा त्याग तो नही किया लेकिन उन्हें शास्त्रीय-विधानो में बाँधकर रीति-बद्ध करने की कोशिश की जिसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि भाषा का मार्जन होता रहा लेकिन राष्ट्रीय-काव्य के वे 'एपिक' रूप उपेक्षित हो गए जिनका निर्माण करके भक्त कवियो ने अपने युग के समग्र जीवन को चित्रित कर उसके ऐतिहासिक सत्य का उद्‌घाटन किया था। रीति-

कालीन कवि राष्ट्रीय साहित्य की व्यापक आधारभूमि से हटकर जीवन के एकांगी चित्रों की आवृत्ति मे ही रमे रहे।

भारतेन्दु के समय मे एक विदेशी शासन के स्थापित होने के विरुद्ध राष्ट्रीय भावना की जागृति से कला और साहित्य मे फिर एक उन्मेष आया और राष्ट्रीय साहित्य का दूसरा उत्थान शुरू हुआ।

इस उत्थान मे देश के विभिन्न भाषा-क्षेत्रो मे राष्ट्रीय साहित्य और कलाओ का जैसा अभूतपूर्व और सर्वतोमुखी विकास हुआ, उसके इतिहास से तो सभी पाठक परिचित है। यह विकास कुछ वैसा ही महान् था, जैसा पुश्किन के समय से लेकर टॉलस्टॉय और गोर्की तक रूप मे हुआ था और जिसने वहाँ पर राष्ट्रीय साहित्य और कला के एक नये उत्थान की भूमिका भी तैयार की। हमारे यहाँ हिन्दी, उर्दू, बगाली, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि, देश की अन्यान्य भाषाओ मे इस बीच अनेक ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि, कथाकार और नाटककार हुए है जिनकी कृतियाँ देश के विभिन्न भाषा-भाषी पाठको मे ही लोकप्रिय नही है, बल्कि उनमे से जिनका अनुवाद यूरोपीय भाषाओ मे हो सका है, वे अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व भी पा गई हैं। इसी तरह इस बीच विभिन्न प्रदेशो के जातीय सगीत, नृत्य, चित्रकला तथा अन्य कलाएँ, जिनका विकास अवरुद्ध पडा था, राष्ट्रीय-जागरण का अनुकूल वातावरण पाकर पुन विकसित हुईं, और प्रत्येक क्षेत्र मे महान् प्रतिभाओं का विकास हुआ। भारतेन्दु, बकिम, रवीन्द्र, इकबाल, जोश, प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला, जैनेन्द्र, अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल बोस, जैमिनी राय, उदयशकर, विष्णु दिगम्बर, फैयाज खाँ और उस्ताद इनायतअली खाँ आदि इस युग के साहित्यकार और कलाकार इसलिए महान् और अमर नही है कि उनकी कृतियो मे देश-काल की परिस्थितियो और राष्ट्रीय जीवन से असलग्न कोई ऐसी कल्पित विश्वजनीनता है या मनुष्य-मात्र के ऐसे अमूर्त गुणो का आकलन करने का प्रयत्न है, जो शाश्वत और कालातीत है। ऐसी अमूर्तता उनकी कृतियो मे नही है। कवि-गुरु रवीन्द्र की उक्ति के अनुसार 'ससीम मे ही असीम' को, राष्ट्रीय मे ही विश्वजनीन को प्रतिबिम्बित करने की साधना उन्होने की है। सौभाग्य से राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता ने इस युग मे प्रत्येक प्रादेशिक भाषा-क्षेत्र मे बसने वाली जनता के जातीय सास्कृतिक जीवन मे अपने अतीत इतिहास के गौरव से परिचित होने की जिज्ञासा, अपनी वर्तमान दुरवस्था के कारणो को समझने की उत्कण्ठा, आजादी, प्रगति और एकता की बलवती आकाक्षा, और विश्व की अन्य जातियो की संस्कृतियो मे जो-कुछ सामान्य है और जो विशिष्ट है, अर्थात् मानव-प्राणियो की मूल समानता और नाना रूपात्मक विभिन्नता को स्वीकार करने की उदार विश्व-बन्धुत्व की भावना जाग गई थी, जिससे प्रबुद्ध पाठको और दर्शको की माँग अधिकतर ऐसे साहित्य और कलाकृतियो के लिए ही होने लगी जो इन विषयो की गम्भीरतम चेतना जगा सके, उन्हें नई रोशनी, नई अन्तर्दृष्टि और नई प्रेरणा दे सके और राष्ट्रीय एकता की भावना को मजबूत कर सकें। देश के सास्कृतिक जीवन का वातावरण कला-

निर्माण के लिए अनुकूल पाकर हमारे साहित्यकार और कलाकार एक नये उत्साह से सभी क्षेत्रों में कला के राष्ट्रीय आधार खोजने की ओर उन्मुख हुए। राष्ट्रीय विरासत, राष्ट्रीय मुहावरे और राष्ट्रीय रूप-विधानो को अपनाने की कोशिश हुई। लोकवार्ता, इतिहास और पुराण-कथाओं के माध्यम से राष्ट्रीय-जीवन की समस्याओं का उद्घाटन किया गया। ये समस्याएँ नैतिक, सामाजिक और कभी-कभी धार्मिक और राजनीतिक स्तरों पर भी उठाई गई।

किन्तु रवीन्द्र, शरत्, इकबाल और प्रेमचन्द की पीढी समाप्त होते ही हमारे देश की विभिन्न भाषाओं और कलाओं में जैसे यह द्वितीय उत्थान भी समाप्त हो गया। सम्भवतः इसका मुख्य कारण यह था कि एक ओर तो राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी आन्तरिक असंगतियो के कारण विच्छिन्न होकर विपरीत दिशाओ मे चल निकला, और दूसरी ओर इस वैषम्य के परिणामस्वरूप देश के सास्कृतिक जीवन की एकता भी छिन्न-भिन्न हो गई। प्रगतिवादियो ने इस ह्रास को रोकने की कोशिश की, लेकिन वे स्वयं समस्या के ऊपरी रूप से ही परिचित थे, उसके वास्तविक रूप को पहचानने की अन्तर्दृष्टि उनमे उस समय न थी। इस व्यापक विशृखलता के दौर में हमारे अनेक प्रतिभाशाली साहित्यकार और कलाकार भी राष्ट्रीय कला के पथ से हटकर पाश्चात्य देशो मे नित्य नये-नये नामो से प्रचार पाने वाली साहित्य और कला की ह्रासोन्मुखी तथा मात्र रूपवादी प्रवृत्तियो को ही विश्वजनीनता और आधुनिकता की कसौटी मानकर उनकी ओर आकृष्ट हुए और नाम, जगह और वेश बदलकर उनकी अनुकृतियाँ तैयार करने लगे। अपनी कृतियो के लिए विश्वजनीन और सर्वकालिक महत्ता पाने की कोशिश मे पाश्चात्य की अधुनातन प्रवृत्तियो का अनुकरण ही उनका साधन और साध्य बन गया। परन्तु यह प्रयत्न निष्फल ही होता, इस तथ्य को हृदयगम कराने के लिए तात्त्विक विवेचन की अपेक्षा हो सकती है, लेकिन हम यहाँ पर एक उदाहरण देकर ही सन्तोष करेगे। गत वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म प्रदर्शनी के अवसर पर 'बाइसिकिल थीफ' (चोर) के प्रसिद्ध इतालवी दिग्दर्शक ने भारतीय फिल्मों के बारे मे अपना मत प्रकट करते हुए कहा था कि भारतीय फिल्मो में हालीवुड की नकल होती है। इसी कारण टैकनिकल खूबियों के होते हुए भी उनका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व नही हो सकता, क्योकि उनमें भारत के विशिष्ट राष्ट्रीय जीवन की झाँकी नही मिलती। हालीवुड की नकल करके भारतीय फिल्म-कला का अपना वैशिष्टय और व्यक्तित्व नही रहता, कि अन्य देशो के दर्शक भारतीय जीवन का अन्तरंग परिचय पाने के लिए उन्हे देखने को उत्सुक रहा करें।

राष्ट्रीय तत्त्व का तिरस्कार करके एक थोथी विश्वजनीनता की ओर दौडने की प्रवृत्ति फिल्म-व्यवसाय की ही विशेषता नही है। साहित्य-कला के अन्यान्य क्षेत्रो में भी व्यवसायी-वर्ग की ओर से ऐसी अनुकरण-वृत्ति को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, अर्थात् राष्ट्रीय कला और साहित्य की विचार-वस्तु और रूप-विन्यास, इन दोनो का क्षेत्र संकीर्ण और कृत्रिम बनाया जा रहा है। फलतः इस प्रतिकूल वातावरण मे भारतीय सास्कृतिक

पुनर्जागरण के तृतीय उत्थान का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो रहा है।

हिन्दी-साहित्य के प्रसंग में रखकर विचारे। हमारे यहाँ रचनात्मक प्रयोगो और प्रयत्नों की कमी नही, और प्रतिभाएँ भी विरल नही। हर ओर नवीनता-ही-नवीनता के दर्शन होते है। कविता का मुहावरा और शब्द-विन्यास, उपमाओ और प्रतीको की योजना नवीन है; कहानियो के विषय और पात्र, घटनाएँ और समस्याएँ नवीन है, नाटको की शैली और रचना-तन्त्र नवीन है, उपन्यासो की तो बात ही निराली है। उनको खोलकर पढ़ने की ज़रूरत भी नही। उनका बहिरग और कलेवर तक नवीन है। जिन पाठको ने शरत्, रवीन्द्र, प्रेमचन्द, और जैनेन्द्र की दुबली-पतली कृतियाँ पढकर ही सिर धुना था, वे गत दस-पन्द्रह वर्षो में प्रकाशित हजार पृष्ठो की ड्यौढी पार करने मे कटिबद्ध दीखते बृहदाकार हिन्दी-उपन्यासो पर नजर पड़ते ही कुछ खो-से जाते है। आशा बँधती है कि भारी-भरकम डील-डौल से टॉलस्टॉय, ह्यूगो, डिकेन्स, बाल्ज़क और रोम्याँरोलाँ की महाकृतियो को चुनौती देने वाले इन उपन्यासो मे शायद इस युग के भारतीय जीवन का 'एपिक' चित्रण होगा। किन्तु पढकर जब ज्ञात होता है कि लेखक की विचार-पूँजी की कमी के अनुपात मे ही इन उपन्यासो का विस्तार भी अधिक हुआ है और लेखक किसी के प्रति अपने निजी पूर्वग्रह, घृणा या प्रेम को व्यक्त करने के लिए ही किसी पाश्चात्य कृति की शैली और टेकनीक की नकल करके कठपुतली पात्रो की सृष्टि कर रहा है, या उसने जो-कुछ देखा-सुना है उसे ब्यौरेवार बयान करके अपना आत्म-प्रदर्शन करने पर तुला है, तो इस सारी नवीनता के प्रति वितृष्णा ही नही होती, प्रतिभा के इस विराट् अपव्यय पर क्षोभ से हृदय छिदने भी लगता है। यही सामान्य स्थिति है। अपवाद भी है, पर अपवाद तो अपवाद ही हुए। साहित्य की विचार-वस्तु की दृष्टि से इसी कारण हमने 'यथार्थ और साहित्य'[1] का प्रश्न उठाया था, क्योकि इन दिनो सामान्य प्रवृत्ति जीवन के यथार्थ से हटकर औसत जीवन की औसत घटनाओ के प्रकृत चित्र खीचने की ओर है। भ्रमवश केन्द्रीय विचार-वस्तु से रहित इस यथातथ्य, असम्बद्ध चित्रण को ही हमारे साहित्यकार यथार्थवाद या जीवन का यथार्थ चित्रण समझते है। आज हमने राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण का प्रश्न भी इसी कारण उठाया है, क्योकि एक भ्रामक विश्वजनीनता के मोह में वे साहित्य को अधिक सीमित और आत्म-केन्द्रित बनाते जा रहे है, और विश्व-साहित्य के इतिहास के इस व्यापक सत्य को भूल रहे है कि मानव-जीवन के विश्वजनीन सत्य उसके विशिष्ट ऐतिहासिक और राष्ट्रीय जीवन के माध्यम से ही उद्घाटित हो सकते है; कि कला मे राष्ट्रीय तत्त्व जितना ही गहरा होगा, उसे विश्वजनीन स्वीकृति मिलने में उतनी ही आसानी होगी।

इसलिए राष्ट्रीय साहित्य और कला के निर्माण की समस्या के दो पहलू है: (१) ऐसी परिस्थितियों को पैदा करना जिनमे राष्ट्रीय कला और साहित्य अकुंठित रूप

---

१. इस संग्रह में अन्यत्र प्रकाशित निबन्ध।

से विकास कर सके, अर्थात् समाज का सांस्कृतिक जीवन ऐसा बनाएँ जो कला-सर्जन में प्रेरक बने, बाधक नही। (२) विश्व की कला, और विज्ञान की विरासत से जो कुछ सीखा जा सकता है, सीखकर ऐसी कृतियो का निर्माण करने का प्रयत्न करना जिनमें इस युग ने हमारी जनता के सामने जो नैतिक और सामाजिक प्रश्न उठा दिए है उनको कलात्मक अभिव्यक्ति देने तथा अपनी जनता के चारित्रिक गुणो का उद्‌घाटन करने की समस्या का समाधान पा सके। ऐसी कृतियाँ ही अपनी विचारोत्तेजक शक्ति से जनता की सास्कृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकती है और साथ ही अन्य देशो की जनता के आगे हमारे राष्ट्रीय जीवन का सही-सही प्रतिनिधित्व करके एक-दूसरे को अधिक निकट लाने मे योग दे सकेगी। ऐसी कृतियाँ ही वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वजनीन महत्ता प्राप्त करती है।

राष्ट्रीय साहित्य और कला के तृतीय उत्थान के लिए यही व्यावहारिक समस्याएँ हमारे सामने है। आज की प्रतिकूल परिस्थितियो मे राष्ट्रीय-सास्कृतिक जीवन एक व्यग्यपूर्ण हकीकत बन गया है, जिसमे उच्चकोटि का साहित्य और कला का फलना-फूलना सम्भव नही दीखता। इसलिए तृतीय उत्थान के लेखक और कलाकार को पाश्चात्य देशो की ह्रासोन्मुखी सामयिक प्रवृत्तियो का आकर्षण छोड यथार्थ जन-जीवन के सत्यो को उद्‌घाटित करने वाली श्रेष्ठ कलाकृतियो का निर्माण भी करना है और अनुकूल सास्कृतिक जीवन के लिए संघर्ष भी।

—फरवरी १९५३

४

साहित्य में पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा

'युगवाणी' के एक गीत मे कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने माँग की है :

आज मनुज को खोज निकालो !
जाति वर्ण संस्कृति समाज से
मूल व्यक्ति को फिर से चालो !
... ...
खंड मनुज को फिर से ढालो !

किन्तु यह एक खेदजनक स्थिति है कि प्रेमचन्द के बाद हिन्दी मे जिस साहित्य की सृष्टि हुई है—चाहे वह प्रगतिवादियो द्वारा रचा गया हो या प्रतीकवादियो, प्रयोगवादियो छायावादियो और प्रकृतिवादियो द्वारा—उसमे हमारे असख्य अन्तर्विरोधो से ग्रस्त वर्ग-समाज के सघर्षशील मानव के समग्र व्यक्तित्व का चित्रण नही हो पाया है। ऊपर से यह रचनाएँ किसी भी विचारधारा से अनुप्रेरित क्यो न हो, उनके अन्तर मे एक दृष्टिसाम्य तो मिलता ही है कि उनमे 'खड मनुज को फिर से ढालने' या 'मनुज को खोज निकालने' की यथार्थवादी प्रवृत्ति का न्यूनाधिक अभाव है। उनमे ऐसे समग्र मानव को 'खोज निकालने' की प्रवृत्ति और स्पर्धा का अभाव है जो हमारी गुलामी, सामन्ती और पूँजीवादी वर्ग-सम्बन्धो की क्रूरता, अनैतिकता, अन्याय, साम्प्रदायिक द्वेष, अशिक्षा, भुखमरी, चोर बाजारी, महामारी—मनुष्य के व्यक्तित्व को भौतिक और नैतिक अन्धकार मे आवेष्टित करके खण्ड-खण्ड, विकृत और विकलाग बनाने वाली वर्तमान जीवन की समस्त आधि-व्याधि, दु:ख-दैन्य, अनिश्चितता और दुर्निवार कठिनाइयो—से पग-पग पर ठोकरे खाकर भी निराश और हताश नही है, जो सघर्षों से पराङ्मुख नही है, जो युग-पुरुष है, एक 'टाइप' है अर्थात् जो सम और विषम परिस्थितियो मे यथार्थ और सभाव्य, व्यष्टि और समष्टि की मार्मिक समन्विति का युगानुरूप जीवन्त प्रतिनिधि है।

प्रतीकवादी या प्रयोगवादी लेखक नये प्रयोगो—नवीनता, उक्ति-वैचित्र्य और मनोवैज्ञानिकता—के नाम पर साहित्य मे मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व के पुनर्निर्माण की समस्या को तिलांजलि देकर उसे और भी एकागी, असामाजिक और विकृत बनाने मे दत्त-चित्त रहे है और उनमे से कुछ अनेक सत्याभासो की आड लेकर साहित्यिक प्रतिक्रियावाद को प्रश्रय देते रहे है। इसके विपरीत प्रगतिवादी और समाज का यथातथ्य, फोटो-चित्र उपस्थित करने वाले प्रकृतिवादी या तो यथार्थवाद से पथ-भ्रष्ट होकर और अपने को

प्रचार-साहित्य की सकीर्ण सीमाओ मे बाँधकर सामयिक जीवन-वास्तव को अपने मनचाहे ढग से ही देखने के आदी रहे है या इतिहास की सम्भावनाओ से उसका विच्छेद करके, केवल उसके वर्तमान कुत्सित रूप को ही नि सग, निष्क्रिय दर्शक की भाँति देखते रहे है, अर्थात् जो उसके अन्धकार के ही चित्रकार है, [illegible] पर उगते प्रगति-सूर्य की रश्मियो के नही। इस प्रकार यह दोनो प्रवृत्तियाँ भी मनुष्य के व्यक्तित्व के एकागी और विकृत रूप को ही पेश करती आई है, उसके सम्पूर्ण, सक्रिय, मूर्त्त वास्तविक रूप को नही। निस्सन्देह, साहित्य और सस्कृति को सर्व-जन-सुलभ बनाने वाले उत्पादन-साधनो (फिल्म, रेडियो, प्रेस) के उत्तरोत्तर विकास और हमारी राष्ट्रीय आवश्यकताओ के दबाव से, इस बीच, हमारे देश मे साहित्यिक निर्माण मे परिमाण-वृद्धि तो अवश्य हुई है, परन्तु महान् और स्थायी मूल्य के साहित्य की रचना अपेक्षया बहुत कम हुई है। अन्य क्षेत्रो की ही तरह कला-साहित्य-सस्कृत के क्षेत्र मे भी उसके प्रचार-साधनो के सचालको का उद्देश्य मुनाफा कमाना ही है, जनता को सस्कृत बनाना नही, जिससे इस बीच जनता की कलारुचि विकृत और सस्ती हुई है और अपवादो को छोडकर साहित्य का सामान्य स्तर भी नीचा हुआ है।

ऐसे सर्वव्यापी सकट के समय 'अज्ञेय' की तरह इस ह्रास और गतिरोध को, लेखको के सरकारी नौकरियो मे चले जाने या राजनीतिक पार्टियो और विचारधाराओ से सम्बद्ध हो जाने के कारण बताकर हम एक आलोचक के दायित्व से छुटकारा नही पा लेना चाहते। हमारे देश की ऐतिहासिक परिस्थितियो का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हमारी राष्ट्रीय भाषाओ के अनेक लेखक और विद्वान् सरकारी और अर्ध-सरकारी विभागो मे लगेगे ही, और जब तक भारतीय जनवादी क्रान्ति पूर्णत सफल नही हो जाती, उस समय तक और उसके बाद भी, हमारे अधिकाश लेखक विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओ मे से किसी-न-किसी को अपनाते ही जायँगे, क्योकि हमारे साहित्यकार 'त्रिशकु' के वशज नही है—सामाजिक प्राणी है, सामाजिक जीवन के सघर्ष और पुनर्निर्माण के कार्य से तटस्थ 'कला के लिए कला' वादी नही है और सामाजिक दायित्वो को ठुकराकर व्यक्ति की काल्पनिक 'स्वतन्त्रता' की घोषणा करने वाली अहम्मन्यता भी उनमे नही है। प्रतिभाएँ अगर 'मर' रही है या नई प्रतिभाएँ जन्म नही ले रही तो इसका कारण केवल लेखको का 'सरकारीकरण' या राजनीति मे उनकी सक्रिय रुचि नही है। प्रतिभाओ का गला घोटने वाले कारणो को समझने के लिए वर्ग-समाज की क्रूर वास्तविकता की सजग जाँच करनी चाहिए, जिसमे रहकर और जिसके विरुद्ध अविराम सघर्ष करके ही प्रतिभाएँ आज तक उभरी है। सरकारी नौकरी मे दाखिल होते ही एक ईमानदार और वस्तुनिष्ठ कलाकार के लिए इस सघर्ष का अत नही हो जाता (कठिनतर चाहे हो जाय)। और राजनीतिक चेतना तो उसे कही भी रहकर सघर्ष के लिए नया मनोबल और प्रेरणा ही दे सकती है।

इसी प्रकार शचीरानी गुर्टू की तरह आत्म-प्रवचना मे पड़कर विश्व-साहित्य के अनेक निर्माताओ—जैसे ब्राउनिग, शैली, राबर्ट बर्न्स, क्रिस्टिना रोज़ेटी, चेखब, मेरीडिथ आदि—का वर्तमान हिन्दी लेखको के रूप मे एक साथ और एक ही समय 'पुनर्जन्म' कराके

हम एक आलोचक के दायित्व से छुटकारा नही पा लेना चाहते। क्योंकि हकीकत यह है कि इस समय विश्वजनीन प्रतिभाओ की बात तो दूर, पन्त, निराला, जैनेन्द्र, यशपाल, राहुल और हजारीप्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त हमारे साहित्य मे ऐसी रचनाशील प्रतिभाएँ भी विरल ही है जिनका कृतित्व उर्दू, बगाली, तामिल, तेलुगु, गुजराती, मराठी--हमारे देश की अन्य प्रमुख भाषाओ के श्रेष्ठ लेखको और कवियो के बराबर हो--जो प्रतिभाएँ अखिल भारतीय महत्ता पा गई हो, अर्थात् जिनकी रचनाओ के अन्य भाषाओ मे केवल अनुवाद ही न हुए हो, बल्कि जिन्होने रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरच्चन्द्र, इकबाल और प्रेमचन्द की तरह देश की अन्यान्य भाषाओ के साहित्यो को समग्र रूप से प्रभावित किया हो, और उनमे नई साहित्यिक प्रवृत्तियो और प्रतिभाओ को जगाकर उन्हे अपनी प्रान्तीय सीमाओ से बाहर निकलने की प्रेरणा दी हो।

'अज्ञेय' की तरह हम निराश नही है, न सशय और भ्रम के बीज बोने के पक्ष मे है, और न ही लेखको को समाज के 'त्रिशकु' बन जाने के लिए प्रोत्साहन देने के हक मे है। यह साहित्यिक प्रतिक्रिया का मार्ग है।

साथ ही, शचीरानी गुर्टू की तरह शिशु-सुलभ विस्मय-भावना से प्रत्येक लेखक को विश्व के किसी-न-किसी महान् साहित्यकार का 'अवतारी' मानकर साहित्य के वर्तमान सकट और गतिरोध से आँख मीच लेने के पक्ष मे भी हम नही है। यह आत्म-प्रवचना का मार्ग है।

हिन्दी-साहित्य मे इस समय जो भी रचनाकार है या पैदा हो रहे है—वह जीविकोपार्जन के लिए चाहे जहाँ काम करते हो, और चाहे जिस जनवादी विचारधारा या साहित्यिक आदर्श को मानने वाले हो, उनकी प्रतिभा चाहे जिस कोटि की हो--वही तो हमारे साहित्य की पूँजी है--हमारे साहित्य की आशा है। मुख्यत उन्हे ही उन तमाम अवरोधों से लड़ते जाना है जो उनकी प्रतिभा को बेडियाँ पहनाते है। और साथ ही, उन्हे ही साहित्य मे जीवन के वस्तु-सत्य को मूर्त, सम्पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करने और मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण करने के लिए भगीरथ प्रयत्न करना है--तभी हमारा साहित्य अपनी वर्तमान सकीर्ण सीमाओ को तोडकर एक विपुल शक्ति बन सकेगा। एक आलोचक की हैसियत से हम अपनी भाषा के सामयिक साहित्य का सही-सही मूल्याकन करके, उसके स्थायी और अस्थायी मूल्यो और उसके सामाजिक उपलक्ष्यो का विवेचन करने तक ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नही मानते, बल्कि हम अपने साहित्यकारो मे ऐसा मुक्तिकामी और मानववादी सकल्प जगाना भी अपना कर्तव्य समझते है जिससे वे अपनी व्यक्तिगत अक्षमताओ और समाजगत कठिनाइयो के बावजूद उस भगीरथ प्रयत्न मे ईमानदारी से लग सके जिसका जिक्र हमने ऊपर किया है। इस पुनीत कार्य मे हम उनके सखा और सहयोगी बनना चाहते है।

और इसलिए आज हम विश्व-साहित्य के अध्ययन का प्रश्न विशेष रूप से उठा रहे है। विश्व-साहित्य से हमारा तात्पर्य उन महान् लेखकों की महा-कृतियों (क्लासिक्स) से

है जो चाहे जिस देश और काल की पैदावार क्यो न हों, पर जो आज भी अपना मूल्य रखती है और जो सदा अमर रहेगी और चिरकाल तक मनुष्य जाति को अनुप्राणित करती जायँगी।

इसमे सन्देह नही कि एक आलोचक की हैसियत से हमे इस सम्बन्ध मे उठने वाले अनेक प्रश्नो का वैज्ञानिक उत्तर देना है। प्रत्येक देश की जनता को विश्व के अन्यान्य देशों का प्राचीन साहित्य एक सामान्य विरासत के रूप मे मिला है। ये महान् कृतियाँ उन विचारो पर आधारित है और उन वर्गों के प्रतिनिधियो ने उनकी सृष्टि की है जो या तो समाप्त हो गए है या जिन्हे हम अपने देश मे समाप्त करने के लिए सघर्ष कर रहे है। उनकी कृतियाँ आज भी जनता को सचेतन और जागृत बनाने के लिए क्यो मूल्यवान है? वे क्यो आज भी हमारे साहित्य की प्रेरणा बनती है? वे क्यो आज भी हमारे सकल्प को बल देती है, हमारी सौन्दर्य-भावना का परिष्कार करती है, उसे गहरा और मानवीय बनाती है? वे क्यो हमारी सवेदनशीलता को उभारती है और हमारी जिज्ञासा और विवेक को जगाती है? उनका साहित्य क्यो सही अर्थो मे जन-साहित्य है? वे क्यो हमे आज भी आनन्द देती है और आगे चलकर एक वर्गहीन समाज मे भी पाठको को आनन्द देगी?

सक्षेप मे इन प्रश्नो का उत्तर देकर ही हम अपने लेखको और पाठको के सामने विश्व-साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता का पूरा अहसास करा सकते है।

इसमे सन्देह नही कि महान् लेखको की रचनाओ मे अपने-अपने काल की सामाजिक विचार-धाराएँ व्यक्त हुई है और उनकी कृतियाँ अपने समय के ऐतिहासिक वास्तव से पूर्णत. सम्बद्ध है। लेकिन इन महान् लेखको को किसी शोषक वर्ग के खूँटे से बाँधकर जाँचना व्यर्थ होगा, क्योकि उनकी रचनाओ मे अपने समय का समग्र जीवन, तमाम वर्गों के अन्त.सम्बन्ध प्रतिबिम्बित हुए है और इस प्रकार उस युग की मूल समस्याओ का उद्घाटन हुआ है। इसी कारण उनकी रचनाओ मे शोषण-दोहन की विचार-धाराओ के प्रति गहरे प्रतिवाद की मुखर ध्वनि है और आजादी और समानता की भावना के प्रति गहरा मोह है। महान् लेखक यथार्थवादी और अपने समय के आलोचक थे। वस्तुत. वे अपने काल के वर्ग-समाज के विद्रोही थे। इसलिए महान् लेखक चाहे जिस काल मे और चाहे जिस वर्ग मे पैदा हुए हो, वे मूलत. मानववादी थे। उनकी महानता का यही रहस्य है कि उन्होने 'मनुष्य' को ही प्रमाण और प्रतिमान माना, जिससे उनकी सहानुभूतियाँ मानव-मात्र तक प्रसरित हुई—विश्वजनीन बनी। आज जब वर्ग-समाज का अभिशाप इतना बढ गया है कि विराट् नरमेधो के आयोजन से शोषक-वर्ग का मुनाफ़ा सौगुना बढ़ता है, जब जनता की मुसीबतो से उसकी तिजोरियाँ भरती है और जनता के रोदन-चीत्कार से समाज के इन कापालिको का अट्टहास जगता है—ऐसे समय स्वय मनुष्य का अध्ययन करना और उसके प्रति आदर-सम्मान का भाव जगाना एक महती आवश्यकता बन गया है। मनुष्य की नैतिक और शारीरिक सुन्दरता और विशिष्टता को, और अन्य लोगो के साथ परस्पर-सहयोग करके रहने की आवश्यकता को स्वीकार किये बिना आज कोई भी समाज-व्यवस्था प्रगति-

शील और जनवादी होने का दावा नहीं कर सकती। शोषण-दोहन, ऊँच-नीच और हत्या-काण्डो पर जीवित रहने वाली व्यवस्था अवश्य ही स्थायी नही हो सकती। साहित्य की प्राचीन महाकृतियों का यह सबसे बडा सन्देश है कि उनमे मानव की प्रतिष्ठा है।

और महाकृतियों के पात्रो के रूप मे प्रतिष्ठित मानव खडित व्यक्तित्व के एकागी और विकृत मानव नही है। महाभारत के पात्रो के बारे मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "मूल कथानक मे जितने भी चरित्र है वे अपने-आप मे ही पूर्ण है। भीष्म-जैसा तेजस्वी और ज्ञानी, कर्ण-जैसा गभीर और वदान्य, द्रोण-जैसा योद्धा, बलराम-जैसा फक्कड, कुन्ती और द्रोपदी-जैसी तेजोदृप्त नारियाँ, गान्धारी-जैसी पति-परायणा, श्रीकृष्ण-जैसा उपस्थित-बुद्धि और गभीर तत्वदर्शी, युधिष्ठिर-जैसा सत्य-परायण, भीम-जैसा मस्तमौला, अर्जुन-जैसा वीर, विदुर-जैसा नीतिज्ञ चरित्र अन्यत्र दुर्लभ है।" और आगे, "महाभारत का अदना-से-अदना चरित्र भी डरना नही जानता। किसी के चेहरे पर कभी शिकन नही पड़ने पाती। पाठक महाभारत पढते समय एक जादू भरे अरण्य मे प्रवेश करता है, जहाँ पग-पग पर विपत्ति है, पर भय नही है; जहाँ जीवन की चेष्टाएँ बार-बार असफलता की चट्टान पर टकराकर चूर-चूर हो जाती है, पर चेष्टा करने वाला हतोत्साह नही होता; गलती करने वाला अपनी गलती पर गर्व करता है, प्रेम करनेवाला अपने प्रेम पर अभिमान करता है और घृणा करने वाला अपनी घृणा का खुलकर प्रदर्शन करता है। वहाँ सरलता है, दर्प है, तेज है, वीर्य है, महाभारत की नारी अपने नारीत्व पर अभिमान करती है, पुरुष इस अभिमान की रक्षा के लिए अपने को मृत्यु के हाथ सौप देता है। . "[1]

यही बात अन्य भारतीय और इतर भारतीय साहित्यो की महाकृतियो से सिद्ध है कि उनके अदना-से-अदना पात्र दुर्दमनीय साहस से जीवन की विषमताओ और विफलताओ का सामना करते है, अविचलित रहकर जीवन के समरांगण मे जूझते जाते है, विपत्तियो को झेलते ह, अपने बुद्धि-विवेक और बल से मार्ग की दुर्गम कठिनाइयो को पार करते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँचते है। उनकी इस अक्षय जीवट और वीरत्व भावना से हमे आज के कुण्ठापूर्ण जीवन मे एक नई चेतना, नया आत्म-बल और नया ढाढस मिलता है कि प्राचीन युगो मे न्याय और नैतिक आदर्शों की स्थापना के लिए उन्हे जितने भयकर तूफानो के बीच से गुजरना पडा था और जितनी वीरता दिखानी पडी थी, आज हमे सर्वदा के लिए शोषित-समाज की काल-रात्रि से बाहर निकलकर एक सच्चा मानवीय समाज स्थापित करने के लिए उससे कही ज्यादा भयानक तूफानो के बीच से गुजरना पडेगा और उनसे अधिक वीरता दिखानी होगी। इसके साथ ही इन सघर्षों मे मनुष्य ने जिन नैतिक आदर्शों और मानव-मूल्यों की स्थापना की है, वे जीवन की अन्तत. विजय और प्रगतिशीलता मे हमारी आस्था उत्पन्न करते हैं। मानव-जाति की जरूरतो और हितों की उपेक्षा करके स्वार्थवश सत्ता प्राप्त करने की चेष्टाएँ सामाजिक जीवन के स्खलन और ह्रास का कारण बनती है। मनुष्यों

---

१. हिन्दी-साहित्य की भूमिका (पृष्ठ १७८)।

और देवताओ का असम्मान करने से समाजिक जीवन विच्छिन्न होता है। बड़े-बड़े साम्राज्य और फलती-फूलती सभ्यताएँ नष्ट हो जाती है, यदि समाज के हित का तिरस्कार किया जाता है। यही पाप होता है। विश्व-साहित्य की महाकृतियो की यह सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षा है, जो मानवता को आगे बढने के लिए सतत् उकसाती रहती है।

और फिर, विश्व-साहित्य की महाकृतियाँ हमारे भीतर मनुष्य-जीवन की ऐतिहासिक परम्परा की अनुभूति जगाती ह। सीता के विलाप, भरत के क्षोभ, लक्ष्मण के क्रोध का प्रसग पढकर हमारे मन मे जब वैसी ही सहजानुभूति और उद्वेलन होता है, जब हमे यह प्रतीत होता है कि आज हम जो-कुछ अनुभव करते है, ऐसे ही अवसरो पर प्राचीन काल मे अन्य लोगो ने भी अनुभव किया था, और उनका वह अनुभव विलक्षण सौन्दर्य और सूक्ष्म-भेदी सचाई के शब्दो मे सर्वदा के लिए विजडित कर दिया गया है, तो हमे लगता है कि यह हमारी सबसे अधिक मूल्यवान सम्पत्ति है जो मनुष्य के ऐतिहासिक अतीत के साथ हमारी एकता और सम्बन्ध-सूत्रता का भाव जगाकर हमे सौन्दर्यानुभूति कराती है। विश्व हमे अपने वर्तमान गोचर जगत् से कही अधिक विशालतर लगने लगता है, साथ ही हम इस युगानुयुगीन विश्व के साथ अत्यधिक सामीप्य का भी अनुभव करते है। प्राचीन साहित्य इस प्रकार हमे अपने जीवन की क्षुद्रताओ और सकीर्णताओ से ऊपर उठने मे सहायक होता है, और देश-काल की सीमाओ को तोडकर हमे मनुष्य के समूचे विकास-क्रम की व्यापक धारा का साक्षात्कार कराता है।

ये कतिपय मानव-मूल्य है जो हमे विश्व-साहित्य की महान् कृतियो के अध्ययन से सहज ही प्राप्त होते है। ये कृतियाँ आज हमारी जनता मे इस विश्व-सकट के समय शान्ति, आजादी और जनवाद के सघर्ष मे अन्ततः विजयी होने का विश्वास जगा सकती है, और हमारे साहित्यकारो को पूर्ण मानव-चरित्रो की सृष्टि करने मे योग दे सकती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विश्व की माहान् कृतियो ने मनुष्यो के दिमागो को गुलाम नही बनाया, उन्हे नया उत्साह और नई प्रेरणाएँ ही दी है, क्योकि महान् कलाकार और उनकी कृतियाँ मूलत क्रान्तिकारी होती है। विज्ञान की ही तरह कला भी मनुष्य की स्वतन्त्रता का अस्त्र है। विश्व-विख्यात मार्कसवादी आलोचक जार्ज लूकाक्स के शब्दो मे, अतीत के महान् लेखको ने "मानवीय विकास के महान् युगों के सर्वाङ्गीण और समुचित चित्र हमे दिये है और साथ ही वे आज मनुष्य के अखडित व्यक्तित्व की पुनर्स्थापना करने के विचार-सघर्ष मे हमारे लिए आलोक-दीप का भी काम देते है।" इसलिए यदि हमारे साहित्यकार अपने युग की चेतना लेकर विश्व के महान् लेखकों की अनुपम कृतियों से सीखेगे तो निश्चय ही वह आज के जीवन-वास्तव का अधिक व्यापक और मूर्त चित्रण कर पायेंगे और आये दिन के साहित्यिक फैशनो से अभिभूत होकर पथ-भ्रष्ट न होगे।

अगर हम अपने समय की समस्याओं को हल करने मे असफल रहे तो सम्भव है कि इस बार हम ही नही, बल्कि महा-युद्ध की लपटो मे विश्व-मानवता द्वारा अपने रक्त-स्वेद से बनाई हर चीज भस्म हो जायगी। महाभारत के इतिहास की विश्व-व्यापी पुनरा-

वृत्ति समग्र मानव-जीवन, सभ्यता और सस्कृति के लिए भय कर होगी। साहित्य की प्राचीन महाकृतियाँ जहाँ हमारा मनोरजन करती है, हमारी चेतना का सीमा-विस्तार करती है, हमारी मानवता का विकास करती है, वहाँ वे हमारे अन्दर केवल यह भाव ही नही जगाती कि मानव-मात्र एक है और उनका इतिहास देश-काल की अनेकरूपता के होते हुए भी प्रगति-पथ पर एकोन्मुख है, बल्कि वे हमारे अन्दर कर्म की प्रेरणा भी जगाती है ताकि हम अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर सघर्ष-क्षेत्र मे कूद पडे और समय रहते हुए प्रतिक्रियावादी शक्तियो को विश्व की शान्ति भग करने से रोक दे, ताकि हम आप, ससार के सभी मनुष्य जीवित रह सके, और अपनी बुद्धि और अपने श्रम से एक स्वतन्त्र, जनवादी समाज का निर्माण कर सके। साहित्य मे पूर्ण-मानव की प्रतिष्ठा का सघर्ष इस व्यापक जन-सघर्ष का ही महत्त्वपूर्ण अग है।

—अक्तूबर १९५१

५

क्या साहित्य प्रॉपैगैण्डा है ?

प्रगतिवादियों के विरुद्ध यह आरोप किया जाता है कि वे साहित्य को केवल प्रचारात्मक बना देना चाहते हैं। श्री इलाचन्द्र जोशी[1] तथा उनकी ही तरह साहित्य की समस्याओ पर विचार प्रकट करनेवाले अनेक छोटे-बडे आलोचक केवल इसी बात को लेकर प्रगतिवाद को अपने उचित-अनुचित प्रहारो का निशाना बनाते रहे है। साहित्य के साथ प्रॉपैगैण्डा शब्द का प्रयोग करना विशषकर, जबकि साहित्य मे 'अमर कलाकारो' की भरमार हो और हमारा सारा साहित्य 'विश्वजनीन' और 'शाश्वत' हो, उनकी दृष्टि मे ऐसा जघन्य अपराध है जिसके लिए पाठक प्रगतिवादियो को कभी क्षमा नही कर सकते। यह एक 'हेरेसी' है जो सच्चे साहित्य की जडे खोदना चाहती है, अत असह्य तथा दयनीय है !

प्रॉपैगैण्डा शब्द का प्रयोग कई अर्थो मे हो सकता है, हुआ है, और आज भी होता है। प्रगतिवादियो ने जब कभी भी उसका प्रयोग किया है तब ऐसे सामान्य अर्थ मे कि उससे किसी को विशेष आपत्ति नही हो सकती, क्योकि साहित्य को प्रॉपैगैण्डा कहकर उन्होन उसके उत्कृष्ट भावना-प्रधान, कल्पनाजन्य और कलात्मक गुणो की अवहेलना नही की, न उनका बहिष्कार ही आवश्यक समझा है। मेरा तात्पर्य यह नही है कि मै साहित्य की इस व्याख्या से सहमत हूँ अथवा यह दृष्टिकोण सही है—इसका विवेचन मै आगे करूँगा। किन्तु जोशीजी और उनकी तरह से सोचनेवाले आक्षेपकर्त्ता, खेद है, प्रगतिवादियो के दृष्टिकोण को समझने की कोशिश न कर उसे ऐसे भद्दे अर्थ पहना देते है कि वह निन्दनीय दीख उठता है। मुझे यह स्वीकार करने मे जरा भी आपत्ति नही कि यदि मुझे इन लोगो के लेखो द्वारा ही प्रगतिवाद के दृष्टिकोण का परिचय मिलता, तो मै उसे इतना वीभत्स और कुत्सित, प्रगतिविरोधी और असाहित्यिक समझता कि मुझे अनायास ही प्रगतिवाद से घृणा हो जाती। मै समझता कि प्रगतिवाद कला और साहित्य की कलात्मकता और साहित्यिकता तथा अन्य सभी उन गुणो को जो इन्हे सजीव, मधुर और सुन्दर बनाते है, नष्ट कर उनके स्थान पर नीरस 'वादो' की व्याख्या, हडताल करने के ऐलान और मजदूर-किसान सभाएँ या अन्य पार्टियाँ सगठित करने के कार्यक्रम और प्रदर्शनों में गाने योग्य गीत और नारे भरना चाहता है। किसी भी व्यक्ति को साधारणतया यह मान्य नहीं हो सकता, मुझे भी कैसे मान्य होता ? और मै श्री इलाचन्द्र जोशी के उपकार को

---

१ साहित्य सर्जना—इलाचन्द्र जोशी

मानता हुआ कि उन्होने प्रगतिवाद के चक्कर मे पडने से पहले ही मेरी आँखे खोल दीं, प्रगतिवादियो को 'असाहित्यिक पेशेवर प्रॉपैगैण्डिस्ट', 'गड्डलिका-प्रवाह-पन्थी','उच्छृङ्खलतावादी', 'धूर्त'[1] आदि दुर्वचनो से सुबह-शाम उनकी स्तुति करता रहता। सौभाग्य या दुर्भाग्य से मैं, या हिन्दी के अधिकाश तरुण लेखक, आज इस प्रकार की रचनाओ के मिर्च-मसालेदार साहित्यिक खाद्य से मानसिक-भोजन प्राप्त कर साहित्य-क्षेत्र मे नही आये है, इस कारण प्रगतिवाद के प्रति जोशीजी की घृणा के कीटाणु हमारे दिमागो मे घुसकर बीमारी नही फैला पाते। लेकिन मुझे आश्चर्य इस बात का है कि लोग कितनी सरलता-पूर्वक न्यस्त-स्वार्थ मनोवृत्ति द्वारा उत्पन्न भ्रमो का प्रचार[2] करने लगते है। क्योकि इस दृष्टिकोण का उद्देश्य प्रगतिवाद द्वारा उठाई समस्याओ, उसके वक्तव्यो और उसके दृष्टिकोण को समझकर अपनी रचनात्मक आलोचना देना नही है, बल्कि उसपर कल्पित आरोप लगाकर ऐसे भ्रमो की सृष्टि करना है जो प्रगतिवाद को बदनाम कर दे, उसके स्वाभाविक विकास को रोक दे और वर्तमान पूँजीवादी समाज की साहित्यिक अराजकता और मानसिक विशृङ्खलता को भी ज्यो-का-त्यो कायम रक्खे। 'प्रचारात्मकता' के नाम पर प्रगतिवाद के विरुद्ध स्वर ऊँचा करने वाले ये महाशय अपने कथनो के अर्थारोप स्वयं नही समझते या जानकर भी वे अनजान बने है, अत 'क्या साहित्य प्रॉपैगैण्डा है ?' प्रश्न पर विचार करते समय हम इन प्रगतिवाद-विरोधी सज्जनो के आक्षेपो और मतो पर ध्यान न देगे क्योकि तर्क के अभाव के कारण वे समस्या को समझने मे मदद नही देते। इसमे सन्देह नही है कि अधिकांश प्रगतिवादियो का[3] यह मत रहा है कि साहित्य प्रॉपैगैण्डा है या प्रॉपैगैण्डा का साधन है, किन्तु वे प्रॉपैगैण्डा शब्द का प्रयोग किन अर्थो मे करते है, यह स्थापना सही है या गलत है, इसपर हमे स्वतन्त्र रूप से विचार करना चाहिए।

१ साहित्य-सर्जन—इलाचन्द्र जोशी

२ खेद है कि 'प्रचार' प्रॉपैगैण्डा का पर्याय है और जोशीजी तथा उनके सहधर्मियों द्वारा प्रतिपादित बातों को 'प्रचार' कहकर मैं उनके प्रति असम्मान प्रकट नहीं करना चाहता, तो भी किसी अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव मे इस 'गर्हित-वर्जित' शब्द का आश्रय लेना पड़ रहा है।—लेखक

३ प्रगतिवादियों से मेरा अभिप्राय यहाँ उन लेखकों से है जो किसी-न-किसी रूप में मार्क्सवाद को स्वीकार करते हैं या उसके प्रति सहानुभूति रखते हैं। मार्क्सवाद को स्वीकार करना एक प्रगतिवादी के लिए आवश्यक है या नहीं, यह एक दूसरा विषय है, और यहाँ इस बहस में पड़ने से विषयान्तर होगा। केवल इतना कहना पर्याप्त है कि प्रचारात्मकता का आरोप विशेषकर इसी दृष्टिकोण से प्रभावित प्रगतिवादियों पर किया जाता है, अन्यथा श्री इलाचन्द्र जोशी स्वयं अपने को प्रगतिवादी समझने में अपना गौरव समझते हैं। फ्रायड और युङ्ग के मनोविश्लेषण-शास्त्र के आधार पर उन्होंने जो अधकचरे साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्त (?) 'प्रतिपादित' किये हैं और इन्हीं विचारकों द्वारा एकत्र

'समस्त साहित्य प्रॉपैगैण्डा है' यह मत कैसे और किसके द्वारा प्रतिपादित किया गया और आगे चलकर किन लेखको ने क्यो इसकी पुष्टि की, इसका क्रमबद्ध विवरण देना कठिन है और आवश्यक भी नही है। लेकिन मुझे जहाँ तक याद पडता है, रूस की क्रान्ति के अवसर पर यह नारा लगाया गया कि 'साहित्य वर्ग-युद्ध का एक हथियार है।' यह एक गलत नारा था। किन्ही खास परिस्थितियो मे कोई नारा किस प्रकार उठाना चाहिए, यह साधारण कार्य नही है क्योकि उन परिस्थितियो की तात्कालिक आवश्यकताओ के अनुकूल कार्य-सगठन करने के उद्देश्य से जन-समूह को प्रेरित करने के लिए ही केवल नारा नही लगाया जाता—ऐसा नारा तात्कालिक आवश्यकताओं से इतना आबद्ध रहेगा कि परिस्थितियो के बदलने पर वह एकदम बेकार हो जायगा और कदाचित् नई परिस्थितियो के विपरीत पडकर वह उनके विकास मे बाधक हो उठे। भावो और विचारो मे मनुष्य के मस्तिष्क मे चिपके रहने की ऐसी आदत होती है कि नई तथा विपरीत परिस्थितियो के उत्पन्न हो जाने पर भी उनका उन्मूलन नही हो पाता। अत केवल सम-सामयिक उपयोग के नारे आगे के विकास मे बाधाएँ भी डाल सकते है। सही नारा वही होता है जिसके आधार पर नई परिस्थितियो के अन्दर प्रयोग मे लाने के लिए नई नीति का विकास किया जा सके, अर्थात् जिसमे भावी वास्तविकता की सम्भावनाएँ अन्तर्निहित हो तथा जो जन-समूह मे ऐसी मिथ्या आशाएँ न उत्पन्न करे, जिनकी कभी पूर्ति नही की जा सकती। इस दृष्टि से देखने से यह नारा दोषपूर्ण ठहरता है, क्योकि जबतक रूस मे वर्ग-युद्ध था उसी समय तक उसका उपयोग भी था, यद्यपि उस अवस्था मे भी उसने साहित्य और कला की समस्याओ को बहुत हल्का करके तोलने की कोशिश की थी। इस नारे को मान्य मानकर प्रत्येक लेखक के लिए यह जरूरी हो गया कि वह केवल पूँजीपति और मजदूर, श्वेत सेना या लाल सेना, जारशाही और बॉल्शेविक पार्टी, कुलक और किसान के सङ्घर्षों का, शोषित वर्गो की विजय-कामना प्रकट करते हुए, ज्यो-का-त्यो तथा सीधा राजनैतिक वर्णन ही करे। मेरे कहने का यह अर्थ नही कि इन सङ्घर्षो का वर्णन करके उत्कृष्ट साहित्य की रचना नही की जा सकती; की जा सकती है और उसके उदाहरण मौजूद है। परन्तु वहाँ ऐसी कृत्रिम स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि लेखक यदि मजदूर के व्यक्तिगत जीवन के प्रेम और विरह, आशा और निराशा आदि पहलुओ का वर्णन करता था तो चूँकि उसमे सीधे रूप से शोषकवर्ग पर आक्रमण न किया जाता था, इस कारण यह समझा जाने लगा कि वह वर्ग सङ्घर्ष के हथियार को कुन्द बना रहा था। इसके अतिरिक्त इस नारे मे विरासत रूप मे मिले प्राचीन साहित्य के प्रति एक नकारात्मक भाव भी था जिससे सामाजिक विकास के साथ-साथ बढनेवाली साहित्य

किये विकृत मन के रोगियों के जीवन-चरितों को जोड़-तोड़कर जोशीजी ने अपने उपन्यासों में जिन विक्षिप्त चरित्रों का निर्माण किया है—इस सारे कृतित्व के बल पर वे अपने को 'सच्चा प्रगतिवादी' घोषित करते हैं। यह 'सच्चा प्रगतिवाद' वास्तव मे कहाँ तक 'सच्चा' है इस पर भी यहाँ कुछ कहना अनुपयुक्त होगा।—लेखक

की ऐतिहासिक परम्पराओ का तिरस्कार किया गया क्योकि वे आज की क्रान्ति मे वर्ग-युद्ध का तेज हथियार न बन सकती थी। इस प्रकार इस नारे ने साहित्य और कला की उपयोगिता को बहुत सीमित करके देखा। फलत इस नारे को अपनाकर लेखको की सस्था R. A. P P. ने रूस के लेखको पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये, जिसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि प्रोलेतेरियन (श्रमजीवी) साहित्य प्रॉपैगैण्डा-प्रधान हो गया। गोर्की, स्टालिन तथा अन्य कई लेखको ने इस गलत नारे के दुष्परिणामो का अनुभव किया और R. A P P. तोड दी गई और लेखको का एक नया सङ्गठन बनाया गया जिसने 'समाजवादी यथार्थवाद' का (समाजवादी रोमैण्टिसिज्म भी जिसके अन्तर्गत है) नारा बुलन्द किया। समाजवादी यथार्थवाद साहित्य के एक विशिष्ट दृष्टिकोण और उसकी एक विशिष्ट शैली का द्योतन करता है अर्थात् वह साहित्य या कला की वस्तु और रूप-योजना दोनो को घेर लेता है। इसके अतिरिक्त उसमे प्राचीन साहित्य की सजीव परम्पराओ को ग्रहण करने, नई परिस्थितियो के अनुकूल उनका विकास करने एव कला और साहित्य को एक ऐसा मार्ग देन की सम्भावनाएँ मौजूद है जिसकी अगली मजिले भविष्य के गर्भ मे है। किन्तु अबतक 'साहित्य प्रॉपैगैण्डा है' का नारा विस्मृत नही हो सका है, और आवेश मे आकर हमारे लेखक इसे दुहराते जाते है। यहाँ तक कि अमेरिका के प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक जोजेफ फ्रीमेन ने भी 'सयुक्त राष्ट्र मे श्रमजीवी साहित्य' पुस्तक की भूमिका मे एक स्थान पर कुछ ऐसे ही विचार प्रकट किये है। उन्होने लिखा है कि 'कला का, जो वर्ग-युद्ध का एक साधन-यन्त्र है, मजदूर-वर्ग को अपने एक हथियार के रूप मे विकास करना चाहिए।' उनका कहना है कि कला 'अनुभव का विनिमय' करती है। लेकित 'अनुभव' शब्द के अन्दर उसकी पकड छिपी है। पूँजीजीवी विचारक या आलोचक मजदूर वर्ग के जीवन की अभिव्यञ्जना को अनुभव के अन्तर्गत नही मानते, बल्कि किसी स्त्री के उरोजो की उपमाओ से भरे वाक्य-चमत्कारो को ही 'अनुभव' मानते है। फ्रीमेन के पूरे लेख को पढने से यह धारणा तो निर्मूल हो जाती है कि वे इस नारे के अर्थ मे साहित्य को वर्ग-युद्ध का हथियार मानते है। फ्रीमेन का केवल यह कहना है कि साहित्य का प्रयोग चूँकि पूँजीपति वर्ग अपने स्वार्थो की रक्षा के निमित्त कर रहा है, ऐसी दशा मे श्रमजीवी वर्ग को भी उसका उपयोग अपने हितो की रक्षा और सघर्ष के विकास मे करना चाहिए। इसका अर्थ यह नही कि समूचा साहित्य मात्र वर्ग-युद्ध का हथियार है अथवा उसे होना चाहिए। तो भी ऐसे वाक्यो का प्रयोग यदि सावधानी से किया जाय तो अच्छा है यद्यपि इससे, खेद है, हमारे बहुत से पूँजीजीवी आलोचको की मौके-बेमौके फ़तवा देने की रोजी छिन जायगी।

चूँकि योरॅप के अन्य देशों मे वर्ग-युद्ध ने एक सफल क्रान्ति का रूप धारण न कर पाया अतः वहाँ साहित्य को वर्ग-युद्ध का हथियार घोषित करने की उतनी आवश्यकता प्रतीत नही हुई जितनी प्रचार का साधन बनाने की, जिससे मजदूर वर्ग का सङ्गठन किया जा सके, उसके अन्दर समाजवाद और क्रान्ति की चेतना फैलायी जा सके। शायद इसीलिए यहाँ किसी ने यह नारा ईजाद किया कि समस्त साहित्य प्रॉपैगैण्डा है या होता है। पाठको

ने सम्भव है, अमेरिका के प्रसिद्ध समाजवादी उपन्यासकार अप्टन सिन्क्लेयर की पुस्तक 'Mammonart' पढी हो। आलोचना-साहित्य की दृष्टि से पुस्तक साधारण कोटि की है और वह प्रगतिवाद के समीक्षा-सिद्धान्तो का प्रतिनिधित्व नही करती। लेकिन उसमे प्रारम्भ से लेकर रूस की समाजवादी क्रान्ति तक के योरॅप और अमेरिका के सभी महान् लेखको और कलाकारों की कृतियो का मूल्याङ्कन इस दृष्टिकोण को सामने रखकर ही किया गया है कि वे अपने समय के किसी-न-किसी वर्ग की भावनाओ का प्रॉपैगैण्डा करती थी। अप्टन सिन्क्लेयर के अनुसार समस्त साहित्य प्रॉपैगैण्डा है, सार्वभौम तथा अनिवार्य रूप से, कभी अज्ञात रूप से, अन्यथा अधिकतर ज्ञात रूप से। कला जीवन की अभिव्यक्ति है जो कलाकार के व्यक्तित्व से प्रभावित होती है और उसका उद्देश्य अन्य व्यक्तियो को प्रभावित करना और उन्हे भाव, विश्वास और कार्य-परिवर्तन के लिए प्रेरित करना होता है। महान् कला का जन्म तभी होता है जब जीवन्त तथा महत्त्वपूर्ण प्रॉपैगैण्डा कलात्मक नैपुण्य के साथ किसी कला-विशेष के माध्यम द्वारा किया जाता है। सिन्क्लेयर का कहना केवल इतना है कि यह दावा करना कि कला मे पॉपैगैण्डा को स्थान नही है तथा कला का स्वतन्त्रता और न्याय की भावनाओ से कोई सम्बन्ध नही है, एक प्रवञ्चना है, एक ऐसा भ्रम है जिसे न्यस्त स्वार्थ वाले वर्गों ने फैला रखा है। इसके विपरीत उनके अनुसार कला मे प्रॉपैगैण्डा ही प्रधान प्रेरणा है। क्योकि साहित्य और कला की प्रत्येक रचना किसी-न-किसी भाव, विचार, विश्वास या दृष्टिकोण को व्यक्त करती है, और चूँकि अब तक समाज दो या दो से अधिक परस्पर-विरोधी वर्गों मे बटा रहा है, इस कारण यह भाव, विचार, विश्वास या दृष्टिकोण किसी-न-किसी वर्ग के अनुकूल या प्रतिकूल अवश्य रहते है और जब तक मनुष्य वर्गहीन समाज नही बना लेता तब तक कला-साहित्य का प्रधान गुण प्रॉपैगैण्डा ही रहेगा। यदि सिन्क्लेयर की प्रॉपैगैण्डा की इतनी व्यापक व्याख्या स्वीकार करली जाय तो प्रॉपैगैण्डा कला और साहित्य का एक सीमा तक सामान्य गुण कहा जा सकता है। पर केवल एक सीमा तक ही।

सामान्यत· जो लोग आजकल प्रगतिवादियो पर प्रॉपैगैण्डा के नाम से दोष मढते है वे प्रॉपैगैण्डा के इतने ही व्यापक अर्थ समझते है यद्यपि उसका जो पहलू प्राचीन साहित्य और पूँजीवादी साहित्य पर लागू होता है उसे मानने को तैयार नही होते। इन व्यापक अर्थो मे प्रॉपैगैण्डा शब्द से शायद पुराने लेखक और कलाकार इतना न चिढते, वे शायद इसे स्वीकार भी कर लेते।

वीरगाथा-काल के कवियो को यह स्वीकार करने मे क्या सकोच होता कि वे अपने शासक या नरेश के वैभव और पराक्रम की गाथाएँ लिखकर उनका प्रभाव बढाना चाहते ह, और क्या यह प्रॉपैगैण्डा न हुआ ? आल्हा, पृथ्वीराज रासो तथा तत्कालीन काव्य-ग्रन्थों मे क्या प्रॉपैगैण्डा नही है ? और यह बात भी नही है कि चन्दबरदाई को निम्नकोटि का कवि समझा जाता हो। इसी प्रकार भक्ति-कालीन कवियो ने वैष्णव तथा सूफ़ी मतो का प्रचार किया था। तुलसीदास जी की रामायण में ऐसे कितने स्थल नही है जहाँ उन्होंने पाठकों को राम की भक्ति और उपासना करने के लिए प्रेरित किया है और राम से विमुख जानेवालों

के लिए रौरव नरक की भीषण यातनाओं की तसवीर खीची है ?[1]

मीरा और सूरदास के पदो मे भी प्रचार की मात्रा कम नही है। फिर भूषण तो, जिन्हे हमारे आलोचक महाकवि स्वीकार करते है, यद्यपि यह विवादास्पद है, अपनी रचनाओ द्वारा खुलेआम महाराज शिवाजी का प्रॉपैगैण्डा करते थे। उनकी शिवा-बावनी आदि से अन्त तक प्रॉपैगैण्डा-प्रधान है। इसी प्रकार आधुनिक लेखको की रचनाओ मे किसी वर्ग या सम्प्रदाय का प्रॉपैगैण्डा साबित किया जा सकता है। प्रेमचन्द, शरच्चन्द्र, टैगौर और इकबाल की कृतियो मे भी, जो इस युग के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार हुए है, प्रॉपैगैण्डा की कमी न मिलेगी। कहने का तात्पर्य यह कि इस दृष्टिकोण से देखने से कला और साहित्य की सभी कृतियो मे प्रॉपैगैण्डा दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है। पुराने जमाने के लेखक इसे स्वीकार करने से कभी इन्कार न करते, क्योकि वे इस बात से इन्कार न कर सकते थे कि साहित्य और समाज मे अविच्छिन्न सम्बन्ध है या कि साहित्य-समाज का एक अङ्ग है और वह जीवन की अभिव्यञ्जना करता है—यद्यपि साहित्य के उपयोग और उद्देश्य के बारे मे किसी सामाजिक दृष्टिकोण से साहित्य का मूल्य आँकने की भाषा से वे अवगत न थे। किन्तु आज के लेखक अक्सर इसे स्वीकार नही करते। इसके दो कारण है। पहला तो यह कि कलाकार समाज की क्रियाशीलता से इतना दूर होगया है कि उसके मस्तिष्क मे 'कला कला के लिए' की भ्रामक पूँजीवादी धारणा ने स्थान जमा लिया है। दूसरा यह कि आज वर्ग-सघर्ष इतना तीव्र हो गया है कि इसे स्वीकार करने के अर्थ है कि या तो लेखक यह मान ले कि वह पूँजीपति वर्ग का प्रॉपैगैण्डा करता है, जो कि एक श्रेष्ठ लेखक कभी कहना मजूर न करेगा, क्योकि पूँजीपति वर्ग ने उसका भी शोषण कर रखा है, या फिर वह यह स्वीकार करले कि वह श्रमजीवी वर्ग का प्रॉपैगैण्डा करता है, जो कि कहना उसके लिए अनेक कष्टो और यातनाओ और अभिजात वर्ग की उपेक्षा और निन्दा का कारण हो सकता है। अत· आज लेखक 'सघर्ष से परे रहने' या तटस्थ रहने का उपक्रम करता है, यद्यपि वह ऐसा कर नही पाता। विगत युगो के लेखक इस प्रकार दो परस्पर-विरोधी अवस्थाओ से उत्पन्न मानसिक द्वन्द्व से बचे रहते थे। उन युगो मे वर्गो का सघर्ष अपने ऐतिहासिक विकास की उस प्रारम्भिक अथवा मध्य अवस्था मे था जब लेखक या कलाकार के सामने दो मे से एक वर्ग का दामन पकडना अनिवार्य न हो गया था। अत प्रगतिवादियो ने यदि कभी साहित्य को प्रॉपैगैण्डा माना है तो इसी अर्थ मे, किसी दूसरे अर्थ मे नही। यहाँ यह बात विचारणीय है कि हमारे ये कतिपय आलोचक चन्दबरदाई या भूषण की कविता मे अथवा अपनी रचनाओ मे व्यक्त उद्गारो मे किसी वर्ग का प्रॉपैगैण्डा नही देखते। यदि कोई राजकुमारो

---

१. तुलसीदास जी के इस वर्णन को प्रॉपैगैण्डा न मानकर यदि 'शाश्वत सत्य' मान लिया जाय तो मुझे भय है कि आजकल के भौतिकवादी युग में रौरव-नरक के बन्दियों की संख्या इतनी बढ़ गयी होगी कि यमराज को ब्रिटिश सरकार की तरह 'डिटेन्शन कैम्प' खुलवाने पड़ रहे होंगे ! —लेखक

और राजकुमारियो, कोमलाङ्गियों और सूट-बूटधारी पुरुषों के विषय में लिखता है तो वह उनकी दृष्टि मे प्रॉपैगैण्डा नही है किन्तु यदि कोई किसान, मजदूर या मुफलिसों की बस्तियों के बारे मे लिखता है तो वह प्रॉपैगैण्डा है।[1] अतः यदि कुछ आलोचक प्रगतिवादियो पर यह आरोप लगाते हैं कि वे समीक्षा-सिद्धान्तो को तिलाञ्जलि देकर प्राचीन-साहित्य अथवा आधुनिक-साहित्य के अन्दर शासक-वर्गो की भावनाओ की अभिव्यक्ति ढूंढ कर उसे प्रॉपैगैण्डा कहते हैं तो प्रगतिवादी भी न्यायपूर्वक उनपर आरोप लगा सकते हैं कि वे प्रगतिवादी साहित्य को प्रॉपैगैण्डा कहते हैं। और खेद इस बात का है कि साहित्य-समीक्षा की प्रणाली की अवहेलना पर रोष प्रकट करने वाले ये आलोचक ही उस प्रणाली का तिरस्कार करने का सबसे पहला अपराध करते हैं। प्रगतिवादी यदि पूँजीपति वर्ग के प्रॉपैगैण्डा का आरोप करते हैं तो आलोचक मजदूर वर्ग केप्र ॉपैगैण्डा का। प्रगतिवादियो मे कम-से-कम इतनी ईमानदारी तो अवश्य है कि समस्त साहित्य को प्रॉपैगैण्डा कहकर वे समस्त साहित्य की राशि मे शामिल अपने साहित्य को भी प्रॉपैगैण्डा स्वीकार करत है, तथा प्रॉपैगैण्डा को अपने मे एक बुरी चाज नही मानते। बुरा मानते है तो केवल शोषक वर्गो के प्रॉपैगैण्डा को, क्योकि वह शोषण के कायम रखने का साधन बनता है। इसके विपरीत प्रगतिवादियो के विरोधी प्रॉपगैण्डा को हेय मानते है, लेकिन पूँजीपति वर्ग की भावनाओ की अभिव्यक्ति को प्रॉपैगैण्डा नही मानते, उन्हे मनुष्य की शाश्वत भावनाएँ मानते है, और मजदूर वर्ग की भावनाओ को प्रॉपैगैण्डा कहते हैं अर्थात् उसे हेय समझते है। लेकिन यह तो एक विवाद की बात हुई। वास्तव मे क्या सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है ? यदि सारा साहित्य प्रॉपैगेण्डा है तो निश्चय ही पूँजीपति वर्ग की अपेक्षा मजदूर वर्ग का प्रॉपैगैण्डा ज्यादा अच्छा है।

अमेरिका के एक दूसरे प्रसिद्ध आलोचक-उपन्यासकार जेम्स० टी० फेरेल ने, जो समाजवादी है, अपनी पुस्तक 'A Note on Literary Criticism' मे इस प्रश्न पर अपने विचार प्रकट किये है। उनका कहना है कि हमे सबसे प्रहले प्रॉपैगैण्डा शब्द की व्याख्या निश्चित कर लेनी चाहिए। लेनिन की पुस्तक 'What Is To Be Done ?' से एक उद्धरण देकर उन्होने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रॉपैगैण्डा किन्ही सिद्धान्तो, योजनाओ तथा विचारो का प्रचार होता है ताकि किसी कार्यक्रम के अनुसार शीघ्र ही अमल किया जा

---

१. किसान, मज़दूरों या मुफ़लिसों की बस्तियों के बारे में लिखना वे वर्जित नहीं बताते और यदि इस वर्णन में किसी मजदूर से मिल-मालिक की लड़की की या जमींदार के बेटे से किसान की बेटी की शादी करके 'लोक-कल्याण' की भावना का पोषक, गाँधी जी की भाषा में 'हृदय परिवर्तन', कर दिया जाता है तो ये आलोचक उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते भी नहीं थकते। प्रॉपैगैण्डा का लेबिल तभी चिपकाया जाता है जब इस वर्णन में अन्त तक वर्ग-संघर्ष का निर्वाह रहता है, जैसे विद्युत-यन्त्रों के आस-पास 'खतरा है' की नोटिस टाँग दी जाती है। इस प्रकार तह में घुसने पर प्रॉपैगैण्डा के प्रश्न के नीचे दृष्टिकोण का प्रश्न छिपा हुआ है।—लेखक

सके। फ़ेरेल का कथन है कि यदि इस व्याख्या को स्वीकार किया जाय तो साहित्य को प्रॉपैगैण्डा नही कहा जा सकता, क्योकि मार्क्स का 'कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो' प्रॉपैगैण्डा की चीज होकर भी न केवल विचार-परिपाक का सुन्दर नमूना है बल्कि एक श्रेष्ठ साहित्यिक रचना भी है; इसके विपरीत आन्द्रे मालरो का उपन्यास 'Man's Fate' यद्यपि एक उत्कृष्ट साहित्यिक रचना है, तथापि प्रॉपैगैण्डा की दृष्टि से उसके विचार विवादास्पद है। अत. साहित्य और प्रॉपैगैण्डा दो भिन्न चीजे है, यद्यपि दोनो का किसी भी रचना मे सम्मिश्रण भी होता रहता है। फेरेल ने इससे यह सिद्ध किया है कि साहित्य के अपने अलग नियम होते है जिनसे उसकी उत्कृष्टता का अन्दाजा लगाया जाता है। साहित्य मे केवल सामयिक तत्व ही नही होते, बल्कि कुछ ऐसे भी तत्व होते है जो उसे सापेक्ष्य स्थायित्व का गुण प्रदान करते है। अत. फेरेल की राय है कि 'सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है' इस नारे को त्याग देना चाहिए और उसके स्थान पर 'साहित्य सामाजिक-प्रभाव का अस्त्र है' रखना चाहिए।

जेम्स टी० फेरेल से मै कहाँ तक सहमत हूँ, यह ज्यादा महत्त्व की बात नही है, यद्यपि यह स्वीकार करने मे मुझे कोई आपत्ति नही है कि मै फेरेल द्वारा की गयी प्रॉपैगैण्डा की व्याख्या से सहमत हूँ। महत्त्व की बात यह प्रश्न है कि साहित्य की ऐसी समाज-शास्त्रीय व्याख्याओ की आवश्यकता क्यो पडती है और ये व्याख्याएँ चाहे जितनी सर्व-मान्य क्यो न हो, कहाँ तक साहित्य की परिभाषा के रूप मे स्वीकार की जा सकती है, अर्थात् कहाँ तक वे हमे साहित्य का मूल्याङ्कन करने मे सहायता देती है, अत हमारे समीक्षा-शास्त्र के अन्तर्गत सम्मिलित की जा सकती है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त की 'पल्लव' की भूमिका का यह वाक्य कि 'हम ब्रज की जीर्ण-शीर्ण छिद्रो से भरी पुरानी छीट की चोली नही चाहते, इसकी सकीर्ण कारा मे बन्द हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है' विचारणीय है। इस वाक्य की शैली चाहे आज कितनी ही अलकृत और पुरानी क्यो न लगे—या अनुपयुक्त भी कह सकते है—लेकिन यह समीक्षा-प्रणाली के एक नये विकास की ओर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्देश करता है। पहले जब सामन्ती काल मे कविता मनोरञ्जन या आनन्द प्रदान करने के लिए लिखी जाती थी, तब कविता का 'उद्देश्य' केवल रस का उद्रेक करना था। और समाज का सङ्गठन ऐसा था कि कविता या साहित्य के 'उपयोग' का कभी प्रश्न ही नही उठता था। 'उद्देश्य' के अन्दर ही 'उपयोग' शामिल था, अर्थात् दोनो को एक ही मान लिया गया था। और इस 'उद्देश्य' या उसमे शामिल 'उपयोग' की सीमाएँ बहुत सकीर्ण थी। इस कारण इस 'उद्देश्य' की प्राप्ति के लिए इसी सीमित परिधि के अन्दर प्रयोग किये जाते थे और इन प्रयोगो को सफल बनाने के प्रधान अस्त्र थे : अलकार, ध्वनि, शब्द-शक्तियाँ, वक्रोक्ति, गुण आदि। जहाँ तक समाजशास्त्र, दर्शन या मनोविज्ञान का सम्बन्ध था, उनके अपने अलग बाडे थे, और यह आवश्यक न समझा जाता था कि इन सब बाडो मे यातायात की आवश्यकता है। यह रीतिकाल की बात है। उसके पहले भी भक्तिकाल मे जब काव्य की आत्मा के स्थान पर धर्म और नैतिकता विराजमान थे, आलोचना-पद्धति

किसी सामाजिक दृष्टिकोण का अवलम्बन लेकर काव्य का मूल्यांकन नहीं करती थी। छन्द-शास्त्र और अलंकार-शास्त्र, ये ही काव्य-समीक्षा रथ के दो पहिये थे; और रसवाद का सिद्धान्त उसके लक्ष्य या उद्देश्य की ओर एक अस्पष्ट इशारा-मात्र करता था। भाव या रूप के 'सौन्दर्य' का कुछ नियमों के अनुसार निरूपण करना ही शास्त्रीय समीक्षा का उद्देश्य था। काल-स्थित समाज मे काव्य या साहित्य का क्या उपयोग है, और उसके अनुकूल उसका क्या उद्देश्य है, अर्थात् उसका संविधायक पहलू क्या है, इस ओर किसी का ध्यान न जाता था मानो ये प्रश्न साहित्य या कला के मूल्याकन मे असङ्गत हो; और न कविता या साहित्य की सृष्टि के मानसिक उद्गम तक पहुँचने की कोशिश होती थी, अर्थात् मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण की आवश्यकता न समझी जाती थी—सत्य तो यह है कि यह शास्त्र उस समय न हमारे यहाँ था और न योरॅप मे ही। अत. कुछ मनस्थितियो या मनोविकारो के वर्णन तक ही समीक्षा सीमित थी, जिसमे शृगार या वात्सल्य, वीर या रौद्र, अद्भुत या वीभत्स, करुण या हास्य रसों के, जो मनस्थितियो का द्योतन करते है, परिपाक को दिखाकर विश्रान्ति ले ली जाती थी। इस प्रकार हमारी प्राचीन समीक्षा-प्रणाली का क्षेत्र इतना सकीर्ण था कि समाजशास्त्र और मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण शास्त्र के विकास के साथ—यद्यपि इन दोनों शास्त्रो का विकास योरॅप मे हुआ—उसकी सकीर्ण सीमाओ का टूटना आवश्यक हो गया, और कविता या साहित्य जो अब तक प्राचीन समीक्षाशास्त्र की शृङ्खलाओ मे जकडा था, उसको भी नये ज्ञान के साथ अपना सीमा-विस्तार करने की आवश्यकता पडी। यदि इन बातो को ध्यान मे रखकर पन्तजी के उद्धरण को देखे तो उसका महत्त्व और भी बढ जाता है। ब्रज-काव्य-प्रणाली की 'सकीर्ण कारा मे बन्द हो' 'वायु की न्यूनता' से 'आत्मा का सिसक उठना' और 'शरीर का विकास रुक जाना' इस अनुभूति का द्योतक है कि काव्य और साहित्य का विकास तब तक रुका रहेगा जब तक उनका सीमा-विस्तार नही किया जाता, और यह सीमा-विस्तार समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के नये दृष्टिकोण का भी सूचक है, कि समीक्षाशास्त्र को भी 'छीट की चोली' का रङ्ग-बिरङ्गापन ही नही देखना चाहिए बल्कि यह भी देखना चाहिए कि 'वायु की न्यूनता' से आत्मा और शरीर का विकास तो नही रुकता। इस साकेतिक शब्दावली को हटा दे तो इसका अर्थ है कि काव्य और साहित्य के उद्देश्य और उपयोग को हमे फिर से जाँचना चाहिए और उनके जाँचने के लिए हमे सामाजशास्त्र और मनोविज्ञान के मापदण्डों का भी प्रयोग करना चाहिए। तो कहने का तात्पर्य यह कि समाजशास्त्र के मापदण्डो से मूल्याकन करने की प्रथा का श्रीगणेश प्रगतिवादियों के पहले ही शुरू हो गया था। साहित्य के संविधायक पहलू पर विचार किया जाने लगा था। और 'सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है', साहित्य के इसी सविधायक दृष्टिकोण का एक एकागी और यान्त्रिक उत्तर है। लेकिन यहाँ हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि सारे साहित्य को प्रॉपगैण्डा या सामाजिक-प्रभाव का अस्त्र कहकर आज के समाज मे उसके एक महत्त्वपूर्ण संविधायक पहलू का ही निर्देश किया जाता है, और केवल इस दृष्टि से खरी उतरने वाली कोई रचना अपने में श्रेष्ठ रचना नही हो

जाती। उसकी श्रेष्ठता का निरूपण करते समय उसकी सौन्दर्यानुभूति, उसकी रूप-योजना, शैली और प्रौढता, वाक्य-रचना, शब्द-प्रयोग आदि अनेक दूसरी कसौटियो पर भी उसे कसना आवश्यक है, और प्रगतिवादी इन सब कसौटियो पर किसी भी काव्य या साहित्य-कृति का कसना आवश्यक समझते है, उनके महत्त्व को जानत है, यद्यपि आज के सक्रमण-काल मे वे साहित्य के सविधायक पहलू को दृष्टि मे रखकर उनका सामाजिक दृष्टिकोण से विवेचन करना अधिक आवश्यक समझते रहे है। इसके अनेक कारण है। पहला तो यह कि आज के समाज मे कला-साहित्य का उपयोग अनेक राजनीतिक और आर्थिक हितो को दृष्टि मे रखकर किया जा रहा है, और जो समाज-व्यवस्था को बदलने मे सलग्न शक्तियाँ है वे कला-साहित्य के प्रभाव को समझ कर भी उन्हे इस विश्वव्यापी सघर्ष मे प्रगतिशील शक्तियो के शक्ति-वर्धन का साधन न बनाये यह उनकी बुद्धिमत्ता का प्रमाण न होगा—यह भाव कला या साहित्य के प्रति अवज्ञा या उपेक्षा का सूचक नही, वरन् उनके महत्त्व और उनकी शक्ति के प्रति स्वीकृति का द्योतक है, न यह भाव इस बात का सूचक है कि प्रगतिवादी कला और साहित्य के सौन्दर्यगत मूल्य की कद्र नही समझते, और न इसका यह अर्थ है कि प्रगतिवादी साहित्य के सविधायक पहलू पर जोर देकर लेखको से इस बात की अपेक्षा करते है कि कलात्मक दृष्टि से उनकी रचनाएँ चाहे न कुछ हो लेकिन आज की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओ पर उनके वक्तव्य चौकस होने चाहिएं। दूसरा यह कि प्रगतिवादी यह जानते है कि केवल रचना-कौशल के कारण ही, और वाक्य-विन्यास या शैली और कला के कारण ही कोई रचना श्रेष्ठ नही बन सकती, न पहले कभी बनी—चाहे तब समीक्षक इस पहलू से अवगत न हो, या उसे आवश्यक न समझते हो—न आज बन सकती है, और उसका मूल्याङ्कन करने के लिए उसमे व्यक्त विचार-वस्तु और सामाजिक दृष्टिकोण को जॉचना भी आवश्यक है, अर्थात् कला या साहित्य को सामाजिक उद्देश्य और उपयोग से अलग नही किया जा सकता, ये दोनो उसके आवश्यक अङ्ग है। प्रगतिवादियो पर यदि किसी बात का न्यायोचित आरोप किया जा सकता है तो केवल इस बात का कि वे कला और साहित्य के सामाजिक दृष्टिकोण अर्थात् उसके उद्देश्य और उपयोग को ठीक-ठीक स्पष्ट रूप से आक लेना चाहते है और कोरी वायवी, या काल्पनिक, या आदर्शवादी, भावुकता-प्रधान स्थापनाओ से सन्तुष्ट नही है। साहित्य को इतने विस्तृत चौखटे के अन्दर रखकर देखने का प्रयत्न तो अभी शुरू ही हुआ है, अत. प्रगतिवादी इस नये दृष्टिकोण को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाने की ओर प्रयत्नशील है, अभी या कभी वे अन्तिम निर्णय पर पहुँच जायेगे, ऐसा कोई भ्रम उन्हे नही है। लेकिन सत्य को अधिकाधिक प्राप्त करने का एकमात्र यही तो तरीका है कि हम नित्य नये अनुभव से अपनी स्थापनाओ को समृद्ध बनाते जाये।

इन विचारो की दृष्टि मे यदि हम पुन 'क्या साहित्य प्रॉपैगैण्डा है ?' प्रश्न को जॉचे तो हमे उस पर नयी रोशनी पडती दिखायी देगी। 'सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है' की स्थापना को अब हम आसानी से अस्वीकृत कर सकते है, क्योकि इस स्थापना मे प्रॉपैगैण्डा की

व्याख्या के अनुसार प्रॉपैगण्डा और अभिव्यक्ति को पर्याय मान लिया गया है। लेकिन योजना पर अमल करने या अमल कराने के लिए जनसमूह या उसके किसी अङ्ग को प्रेरित करना एक चीज है और व्यक्ति या समूह के विचारो या भावनाओ की अभिव्यक्ति करना एक दूसरी चीज है। पहला प्रॉपैगैण्डा है, दूसरा प्रॉपैगैण्डा नही है। यदि साहित्य मे अनिवार्यत विचारो या भावनाओ की अभिव्यक्ति मिलती है तो उसे प्रॉपैगैण्डा नही कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि सामाजिक क्रियाशीलता की अभिव्यजना का साहित्य पाठक को भी उसकी अनुभूति कराता है पर इससे वह प्रॉपैगैण्डा का पर्याय नही बन जाता। लेकिन फेरेल की यह स्थापना भी उपयुक्त नही है कि 'साहित्य सामाजिक प्रभाव का अस्त्र है।' यह एक स्वय-सिद्ध है, उसी तरह की कि आदमी बुद्धि-धारी जानवर होता है, और 'अस्त्र' जोड देने से वह स्वय-सिद्धि न तीव्र हो जाती है न प्रभावपूर्ण। उसके स्थान पर 'साधन', 'चीज', आदि भी उपयुक्त रहते। इसके अतिरिक्त 'सामाजिक प्रभाव' लडा कमजोर वाक्याश है, क्योकि 'प्रभाव' शब्द को सीधे तौर पर सामाजिक प्रगति की अपेक्षा मे मापना कठिन है और सामाजिक प्रगति मे इस प्रभाव की क्या सक्रिय भूमिका रहती है इसका बहुत क्षीण आभास इस शब्द मे मिलता है। जिस क्रान्तिकारी युग मे हम रहते है, उसकी वास्तविकता के मुकाबले मे यह अभिव्यक्ति अत्यन्त लचर है। फिर साहित्य केवल सामाजिक प्रभाव का ही अस्त्र नही है वह सामाजिक परिवर्तन का भी अस्त्र है। सामाजिक परिवर्तन मे साहित्य वह भाव-प्रधान चेतना-शक्ति उत्पन्न करता है जो मनुष्य के भाव-जगत को परिवर्तित कर इतना विस्तृत बना देती है कि वह हमारे अन्दर देखने और अनुभव करने की क्षमता पैदा कर हमे विगत तथा पुरातन के विकसित-परिवर्तित रूप आगत तथा नवीन को ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करती है। चेतना और भाव-जगत का यह परिवर्तन भौतिक जीवन की आवश्यकताओ से प्रभावित होता है और पुन वह भौतिक जीवन को बदलकर एक उच्च धरातल पर सङ्गठित करने की शक्ति प्रदान करता है। यह भाव-जगत की क्रिया-प्रतिक्रिया मनुष्य की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की जीवन-क्रिया का एक अनिवार्य अङ्ग है। श्रेष्ठ साहित्य इस क्रिया मे सहायक होता है, सहायक ही नही उसका साधन भी बनता है। श्रेष्ठ कला या साहित्य का यह गुण है। अत यदि हमे साहित्य की कोई सविधायक स्थापना करनी ही है, और यह कहना मुश्किल है कि आज की सघर्षपूर्ण परिस्थिति मे उसकी अनिवार्य आवश्यकता नही है, तो हमे स्वर्गीय कॉडवेल की स्थापना स्वीकार करनी चाहिए कि 'साहित्य या कला मनुष्य की स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक साधन है।' इसमे 'स्वतन्त्रता' शब्द विवादास्पद है अवश्य, और उसका उत्तर विज्ञान और दर्शन देने का प्रयत्न कर रहे है लेकिन उसमे अन्य स्थापनाओ के दोष नही है, और उत्कृष्ट कला या साहित्य के प्रति तो असीम श्रद्धा का भाव है।[1] —अक्तूबर १९४१

१. 'मनुष्य की स्वतन्त्रता' हमारी प्राचीन 'लोक कल्याण' की धारणा से अधिक मूर्त्त और सक्रिय धारणा है, अत: अधिक अर्थगर्भित है। वह आधुनिक विज्ञान और दर्शन के जीवन-व्यापी दृष्टिकोण से सम्पर्कित है और मनुष्य की आकांक्षाओं को साकार रूप भी देती है।—लेखक

६

प्रगतिशील साहित्य

प्रारम्भ मे ही इस साधारण, पर अब तक अनदेखे भेद को समझ लेना लाभप्रद होगा कि प्रगतिशील साहित्य और प्रगतिवाद ये दोनो एकार्थक नही है, और न प्रगतिशील लेखक का प्रगतिवादी होना ही जरूरी है। पक्ष और विपक्ष मे दिये गए तर्को मे अब तक इनको अवसर एक ही समझने की भ्रान्ति रही है।

एक प्रगतिवादी आलोचक ने अपने दृष्टिकोण के दक्षिणपन्थी दौर मे समाजशास्त्रीय दृष्टि से प्रगतिशील साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखा था—"प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढाता है, मनुष्य के विकास मे सहायक होता है।"[1] अपने उग्रपन्थी दौर मे इस विद्वान आलोचक ने प्रगतिशील साहित्य की क्या व्याख्या की, इसका उल्लेख हम नही करेंगे, क्योकि इस दौर की गलतियो और सकीर्णताओ का निराकरण करने के लिए उग्रपन्थियो ने दौडकर नई स्थापनाएं कर डाली है। इस आलोचक ने भी ऐसा किया है, इसलिए उनकी नई स्थापना को ही ले। उनके अनुसार अब "प्रगतिशील साहित्य भारतीय जनता की सास्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास है।" यह एक विचित्र सूत्र है और मार्क्सवादियो के उस औचित्यपूर्ण दावे का स्मरण दिलाता है जो वह एक वर्गमुक्त समाज (सोवियत समाज) की 'साम्यवादी सस्कृति, कला-साहित्य' और दर्शन, समाजशास्त्र, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे स्वय 'मार्क्सवाद' की द्वन्द्वात्मक प्रणाली के बारे मे पेश करते है। किन्तु भारत या किसी अन्य पूंजोवादी, अर्ध-पूंजीवादी देश के प्रगतिशील साहित्य पर ऐसा दावा थोपना एक सकीर्ण मतवादी प्रवचना को जन्म देना ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार के और भी सूत्र इस निबन्ध मे है, जिनके लम्बे-लम्बे भाष्य करके लेखक ने आदेशात्मक शैली मे प्रगतिशील लेखको के कर्तव्य गिनाये है। "प्रगतिशील साहित्य स्वाधीनता, शान्ति और जनतन्त्र का साहित्य है।" "प्रगतिशील साहित्य देश से साम्राज्यवाद, सामन्तवाद की सस्कृति को निकालने के लिए सघर्ष करता है।" आदि स्थापनाओ से स्पष्ट है कि लेखक ने प्रगतिशील साहित्य का अर्थ अपनी नई परिभाषा मे सकुचित करके उसे हमारे देशकाल की विशिष्ट सामयिक परिस्थितियो मे ही नही, बल्कि एक विशेष राजनीति, पार्टी और प्रोग्राम के साथ भी बाँध दिया है। इससे यह निष्कर्ष अनिवार्यत निकलता है कि 'आज' जो इस प्रोग्राम, राजनीति और आदेश को पूरी तरह मानने को तैयार

---

१ डॉ० रामविलास शर्मा 'प्रगति और परम्परा' पृ० ४६।

नही है, वे प्रगतिशील लेखक नही हो सकते। प्राचीन लखको का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योकि उनके सामने ये विशिष्ट प्रोग्राम और राजनीतिक समस्याएँ न थी जिन पर लिखना ही इस सकुचित दृष्टि से प्रगतिशीलता का मूल-मन्त्र और कसौटी है। फिर किसी सगत तर्क से न प्राचीनो को, न आधुनिक साहित्य के निर्माताओ को––भारतेन्दु, बकिम, रवीन्द्र, शरत्, इकबाल, आचार्य शुक्ल, प्रेमचन्द आदि को और न पन्त, निराला, महादेवी, दिनकर, राहुल, जैनेन्द्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, यशपाल, अश्क आदि जीवित सक्रिय प्रतिभाओ को ही––हम प्रगतिशील कह सकते है। इन सब को खारिज करके इस कसौटी पर खरा उतरने वाला 'भारतीय जनता की सास्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास' रूपी वह प्रगतिशील साहित्य कहाँ है, और कौन उसके निर्माता है?––यह बात निश्चय ही सारे पाठक जानने को उत्सुक होगे, क्योकि स्थापनाएँ उसके ही आधार पर की जाती है जो मौजूद है, न कि कल्पित सम्भावनाओ के आधार पर।

इस तरह का सकीर्ण मतवाद चाहे जिस छद्मवेश मे प्रकट हो, चाहे जिस पदावली का प्रयोग करे, घातक ही होगा, इतना तो सहज ही अनुमेय है। सम्भवत भविष्य मे ऐसी भ्रान्तियाँ पैदा हो जाने के डर से ही अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सघ के प्रथम अधिवेशन के सभापति पद से भाषण देते हुए प्रेमचन्द ने स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि, " 'प्रगतिशील लेखक सघ', यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार मेरे विचार से स्वभावत प्रगतिशील होता है।" कहने की आवश्यकता नही कि प्रेमचन्द का आशय सच्चे और ईमानदार लेखक और कलाकार से था, वस्तु-सत्य के प्रतिबिम्ब को विकृत करके प्राणहीन, फरमाइशी साहित्य (?) तैयार करने वाले से नही। किन्तु फिर भी साहित्य और लेखक के आगे 'प्रगतिशील' शब्द का प्रयोग बदस्तूर जारी रखा गया। आज भी जरूरी है, और प्रगतिवादी विशेषरूप से इसका प्रचार और प्रयोग करते आये है, क्योकि राष्ट्रीय आजादी के सघर्ष की सफलता और फासिज्म और युद्ध की बर्बरता से विश्वशान्ति और मानव-सस्कृति की रक्षा के लिए अपनी जनता के भावी योग-क्षेम की दृष्टि से उस समय हमे यह अभीष्ट था, और आज भी है कि जाति-द्वेष, भाग्यवाद, निराशावाद, अनैतिकता और शोषण का प्रचार करने वाले प्रतिक्रियावादी हीन साहित्य से उस श्रेष्ठ प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य का अलगाव जाहिर करे जो मनुष्य मे मानवीय सवेदना, सौन्दर्य-बोध, कर्म-चेतना और तर्क-बुद्धि जगाता है, आशा का सचार करता है और अपने व्यक्तिगत जीवन की क्षुद्रताओ से ऊपर उठाकर हमे उदात्त और नैतिक मानव बनाता है। हमे अभीष्ट था कि श्रेष्ठ साहित्य की इस प्रगतिशील परम्परा को अपनी नई कृतियो से और समृद्ध करे और सामूहिक प्रयत्न द्वारा जनता की रुचि का इतना परिष्कार करे कि प्रतिक्रियावादी साहित्य का प्रचलन बन्द हो जाय। परन्तु जब प्रगतिवादी ही इस व्यापक उद्देश्य को छोडकर सकीर्ण मतवादी बन गए तो उनके इस भ्रान्त दृष्टिकोण का विरोध करने वाले साहित्य के अन्य गम्भीर विचारको की शकाओ का निवारण कौन करता?

इसलिए इस तथ्य को कुछ जोर देकर कहने की जरूरत है कि प्रगतिशील साहित्य

'प्रोलेतेरियन' या 'सोवियत-साहित्य' का पर्याय नही है, वह कोई 'आज' की, किसी विशेष 'युग', 'वर्ग' या 'देश' की चीज नही है, किसी विशेष सिद्धान्त या पार्टी-नीति के अनुसार लिखा गया साहित्य नही है, वह 'सास्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास' नही, बल्कि स्वय सास्कृतिक विरासत है--चिरजीवी प्राणवान् साहित्य की। यह विरासत प्रगतिशील है, क्योकि उसने मनुष्य की आध्यात्मिक और सास्कृतिक उन्नति मे योग दिया है, दे रही है। और इस युग मे भी जो साहित्य जीवन के यथार्थों को गहराई और कलात्मक सचाई से प्रतिबिम्बित करता है, वह प्रगतिशील है, चाहे उसकी रचना करने वाले लेखको का व्यक्तिगत दृष्टिकोण आदर्शवादी हो या मार्क्सवादी।

प्रगतिवाद की दृष्टि से कला या साहित्य (जिसका तात्पर्य हमेशा श्रेष्ठ कला या साहित्य ही होता है) और प्रगतिशील कला या प्रगतिशील साहित्य की दो भिन्न परिभाषाएँ नही हो सकती, क्योकि वस्तुत दोनो एक है। उनमे किसी अन्तर्विरोध या भेद का तो प्रश्न ही नही उठता। कला और साहित्य के आगे 'प्रगतिशील' विशेषण लगाने का उपयोग केवल तब है जब हम कला या साहित्य के आनन्ददायी मूल्यो का नही बल्कि विशेषरूप से चेतना-विकासी नैतिक मूल्यो का ही निर्देश करना चाहे, अन्यथा इस विशेषण को जोडे बिना भी काम चल सकता है। अन्य देशो के प्रगतिवादी भी किसी विशेष सन्दर्भ मे बात करते समय ही 'प्रोग्रेसिव' शब्द का प्रयोग करते है अन्यथा साधारणतया यह स्वीकार किया जाता है कि प्रगतिशीलता भी सच्चे साहित्य का सामान्य गुण है। वहाँ विशेष सन्दर्भो मे ही 'बुर्जुआ', 'प्रोलेतेरियन' या 'सोवियत्' आदि विशेषणो को कला-साहित्य के साथ जोडा जाता है--तभी जब यह निर्देश करना हो कि वह 'बुर्जुआ' या 'सोवियत्' समाजो मे रचे जाने के कारण बुर्जुआ अथवा सोवियत् समाज के यथार्थो को प्रतिबिम्बित करता है। ये विशेषण मूल्य-निरूपक नही है।

—जुलाई १९५२

७

प्रगतिवाद

साहित्य के मार्क्सवादी दृष्टिकोण के लिए 'प्रगतिवाद' शब्द का प्रयोग सबसे पहले किस ने किया यह तो निश्चित याद नही, लेकिन अब इसका इतना प्रचलन हो गया है कि किसी भी तात्त्विक मीमासा से इस शब्द की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता सिद्ध करना व्यर्थ है। इसे एक रूढ प्रयोग मान लेना ही उचित है, जिस तरह रोमाण्टिक काव्य-धारा के लिए हिन्दी मे 'छायावाद' जैसा अनुपयुक्त शब्द भी प्रचलित होकर रूढ हो गया।

प्रगतिवाद साहित्य की धारा नही, साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण है, जैसे रस-सिद्धान्त साहित्य की धारा नही, साहित्य का प्राचीन आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। अत 'प्रगतिवाद' को सौन्दर्यशास्त्र (ईस्थेटिक्स)-सम्बन्धी मार्क्सीय दृष्टिकोण का हिन्दी नाम-करण समझना चाहिए। हम निश्चित रूप से यह नही बता सकते कि भारत की अन्य भाषाओ मे मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्र के लिए मूल-शब्द का ही प्रयोग किया जाता है या 'प्रगतिवाद' का। हिन्दी मे इस अर्थ मे इस शब्द के व्यापक प्रचलन से यह परिणाम निकाल लेना भूल होगी कि मार्क्सीय दृष्टिकोण से हमारे साहित्य मे किसी सर्वाङ्गीण सौन्दर्य-सिद्धान्त का विकास हो गया है, या साहित्यालोचन के वैज्ञानिक मान-मूल्य निर्धारित किये जो चुके है। ऐसा सम्भवत विश्व की किसी भी भाषा मे अभी पूरी तरह नही हो पाया है। कला-साहित्य-सम्बन्धी अनेक स्थापनाएँ अभी तक विवादग्रस्त है। परन्तु फिर भी भौतिकवादी दृष्टिकोण से कला-साहित्य-विषयक व्यापक समस्याओ और उनके इतिहास का अध्ययन किस वैज्ञानिक रीति से करना चाहिए, इसकी मर्यादाएँ बहुत-कुछ निश्चित हो चुकी है।

कला और साहित्य क्या है ? वह मानव-समाज और प्रकृति से समन्वित सतत् परिवर्तनशील पदार्थ जगत् से उद्भूत मनुष्य की चेतना का विशिष्ट रूप है और उसके ही सत्य को प्रतिबिम्बित करता है, या समाज से बाहर भी उसका अस्तित्व है और वह केवल शाश्वत आध्यात्मिक सत्यो को प्रतिबिम्बित करता है ? यह 'प्रतिबिम्ब' वस्तु-चित्रो या मर्म-छवियो की भाषा मे जीवन के वैविध्यपूर्ण और परस्पर-विरोधी सम्बन्धो और अन्तर्सम्बन्धो के यथार्थ का उसके गर्भ मे विकासमान सम्भावनाओ की दृष्टि से मूर्त्त, सक्रिय, सर्वाङ्गीण और सामञ्जस्यपूर्ण चित्रण करने से 'कलात्मक' बनता है, जिसमे विषय-वस्तु और उसका रूपायन एक विशेष द्वन्द्वात्मक समन्विति मे अन्योन्याश्रित हो, या केवल बाह्य रूप-शिल्प, रीति और अलकारो की सहायता से विषय-वस्तु के यथातथ्य, अमूर्त्त, एकागी चित्रण से भी 'कलात्मक' बन सकता है ? किसी रचना की महानता या श्रेष्ठता नापने का पैमाना क्या

है--उसमे प्रतिबिम्बित जीवन-यथार्थ की कलात्मक मूर्त्तता, व्यापकता, गहराई, सर्वाङ्गीणता और सत्यता या केवल उसमे व्यक्त अमूर्त्त विचारो की अच्छाई-बुराई ? बिना प्रतिभा के, केवल वैज्ञानिक विचारो की चेतना और अभिव्यक्ति से ही कला का निर्माण क्या सम्भव है ? यदि नही, तो कलाकार या साहित्यकार की प्रतिभा की कसौटी क्या है ? कला और साहित्य का कोई स्पष्ट सामाजिक-राजनीतिक प्रयोजन होता है या जीवन का यथार्थ और मूर्त्त चित्रण होने के कारण ही कला मे प्रगतिशील राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक मूल्य, प्रभाव और प्रयोजन निहित होते है, क्योकि ये वस्तुएं भी यथार्थ जीवन से ही उद्भूत है जिसे कला समग्र रूप मे प्रतिबिम्बित करती है ? सत्य, शिव और सुन्दर का समन्वय कला मे कैसे होता है ? कला मे साधारणीकरण और प्रेषण की समस्या क्या है और विशेष कैसे सामान्य और सामान्य कैसे विशेष बनता है ?--इन अनेक बुनियादी प्रश्नो के साथ-साथ, कला और साहित्य के ऐतिहासिक विकास से उत्पन्न अनेक समस्याओ--जैसे साहित्य और कला की परम्परा के मूल्याकन के मानदण्ड क्या हो, कला के विभिन्न रूपो का विकास कैसे हुआ, और युग-विशेष के भौतिक शिक्षा-ज्ञान और दर्शक-पाठक-श्रोतावर्ग ने इस विकास को कैसे प्रभावित किया, कला मे रूढि, लोकपरम्परा, राष्ट्रीय और सार्वभौम तत्त्वो का समन्वय कैसे होता है और इन्होने एक-दूसरे को कैसे प्रभावित किया है, कला-निर्माण की शैलियाँ, युग-धाराएं और रुचियाँ किन सामाजिक कारणो और स्वय अपनी ऐतिहासिक परम्पराओ से प्रभावित होकर बदलती रही है--आदि प्रश्नो का अध्ययन अनेक गम्भीर मार्क्सवादी विद्वानो ने सोवियत रूस और दूसरे पश्चात्य देशो मे किया है। इन सारी गवेषणाओ, विश्लेषणो और सिद्धान्त-निरूपणो के परिणामस्वरूप एक सागोपाग भौतिकवादी सौन्दर्यशास्त्र की मोटी रूप-रेखा तो बन गई है, लेकिन अभी इसे सम्पूर्ण शास्त्र कहना उचित न होगा। रूस के गोर्की और लीफ-शित्स, हगरी के जार्ज लूकाक्स, इगलिस्तान के क्रॉडवेल, रेल्फ फॉक्स, जार्ज थॉम्पसन, अमरीका के सिडनी फिन्केस्टीन और लुई हैरप आदि अनेक प्रतिभावान मार्क्सवादी आलोचको ने इस शास्त्र के विकास मे योग दिया है। लेकिन विज्ञान-क्षेत्र के न्यूटन और आइन्स्टीन, दर्शन-समाजशास्त्र-अर्थविज्ञान आदि क्षेत्रो के कपिल, कणादि, शकराचार्य, अरस्तू, हीगल, डार्विन, मार्क्स और काव्य-शास्त्र (या Aesthetics) क्षेत्र के अरस्तू, भरत मुनि आदि जैसी किसी युग-प्रवर्त्तक प्रतिभा की अभी प्रतीक्षा है, जो ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से अपने मे सम्पूर्ण एक वैज्ञानिक सौन्दर्य-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर सके। किन्तु तब तक विभिन्न देशो के विभिन्न मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तको द्वारा अपनी जातीय कला और साहित्य के इतिहास और सौन्दर्य-सिद्धान्तो के गहन अध्ययन और मूल्याकन का विशेष मूल्य और उपयोग है, क्योकि कोई भी सम्पूर्ण सौन्दर्य-शास्त्र विश्व के विभिन्न जातीय साहित्यो और कलाओ के विशिष्ट और सामान्य तथ्यनिरूपणो के आधार पर ही रचा जा सकेगा।

हमारे देश मे, विशेषकर हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचको ने, इन पाश्चात्य विद्वानो की कृतियो से प्रेरणा तो ली है, लेकिन अपने देश के साहित्य और सास्कृतिक परम्परा के आधार पर उन्होने अब तक इस दिशा मे मौलिक खोज का कार्य नही के बराबर ही किया

है। दुर्भाग्य से मार्क्सीय सौन्दर्य-सिद्धान्तो और भारतीय परम्परा का उनका ज्ञान इतना एकागी और सतही रहा है कि वे चन्द गढे-गढाये सूत्रो को ही दुहराते आए है और उन्हे अपने साहित्य की पम्परा पर ज्यों-का-त्यो आरोपित करते रहे है। अक्सर ऐसा हुआ है कि प्रारम्भिक दौर की जिन कुत्सित समाजशास्त्रीय मान्यताओ को सोवियत रूस और दूसरे देशो के मार्क्सवादी आलोचक अवैज्ञानिक और अनैतिहासिक सिद्ध करके तिरस्कृत कर चुके है, उनको हमारे आलोचको ने और भी अधिक दुराग्रह से अपनाया है, जिससे आम तौर पर प्रबुद्ध पाठकों और उदारचेता विचारको मे यह धारणा बन गई है कि प्रगतिवादी दृष्टिकोण वैज्ञानिक नही बल्कि सकीर्ण और एकागी है, और प्राचीन अथवा अर्वाचीन साहित्य का मूल्याकन करने मे सर्वथा असमर्थ है। अर्थात् किसी कृति के अच्छे या बुरे होने की पहचान करने की उसकी कसौटी इतनी साम्प्रदायिक है कि केवल प्रगतिवादियो की लिखी रचनाएँ ही उसे 'अच्छी' लगती है, चाहे वह कितनी भी कुघड और भोडी क्यो न हों। एक प्रगतिवादी हर रचना मे अपने प्रिय राजनीतिक सिद्धान्तो का अविकल प्रतिपादन ही पसन्द करता है और यदि वह कभी-कभी भारतीय परम्परा, सूर, तुलसी, वाल्मीकि, कालिदास का गुणगान करने लगता है तो केवल अपने तात्कालिक राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए अवसरवादी ढग से इन मनीषियो पर अपनी मन्यताएँ थोपकर ही, उनकी कृतियो को मर्मज्ञ की तरह समझकर नही। अपने प्रगतिवादियो के वक्तव्यो और आचरण को यदि ध्यान मे रखे तो ये शकाएँ और भ्रान्तियाँ अकारण और निराधर नही लगेगी। पर इस अवाञ्छित स्थिति को ही ठीक मान लेना किसी भी जन-प्रेमी लेखक और विचारक के विवेक को शोभा नही देता। प्रगतिवादी सौन्दर्य-सिद्धान्तो का सर्वांगीण विकास और निर्धारण हमारे देश मे साहित्यिक प्रगति की नई सम्भावनाओ के द्वार ही खोलेगा, ऐसा हमारा मत है। क्योंकि साहित्यालोचन की जो शास्त्रीय परम्परा हमारे देश मे प्रचलित है, वह अपने मे सम्पूर्ण और महान होते हुए भी अब सीमित उपयोग की ही वस्तु रह गई है। केवल इतना ही नही कि उस पर आध्यात्मिक दर्शनो का प्रभाव है, और उसका सौन्दर्य-दर्शन शाश्वत् आध्यात्मिक सत्यो पर निर्भर करता है और इस प्रकार वह अवैज्ञानिक है, और उसके स्थान पर एक वैज्ञानिक, भौतिकवादी सौन्दर्यदर्शन का विकास अपेक्षित है, बल्कि इसलिए कि प्राचीन तथा सामयिक साहित्य का सही-सही मूल्याकन करने की सामर्थ्य भी अब उसमे नही रही। प्रश्न है कि क्या प्रगतिवादी प्रगतिवाद को सचमुच प्रगतिवाद बनाने का दायित्व संभालेंगे और सकीर्ण, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण त्यागकर ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनायेंगे ?

क्या आज भी यह दुहराने की जरूरत है कि मार्क्सीय सौन्दर्य-शास्त्र का दृष्टिकोण समाज-शास्त्रीय नही बल्कि ऐतिहासिक भौतिकवादी है ? समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण प्राचीन अथवा आधुनिक साहित्य का सही मूल्यांकन करने मे असमर्थ रहा है। उसने अक्सर ऐसी एकागी क़सौटियाँ गढ़ी हैं, जिनसे प्रगतिवादी विचारधारा को हानि ही पहुँची है। प्राचीन

कलाकारो की सच्ची महत्ता और आधुनिक साहित्य और कला की श्रेष्ठ कृतियो की श्रेष्ठता पहचानने की क्षमता इस सकीर्ण दृष्टिकोण मे नही है। फिर प्रगतिवाद से समाजशास्त्रीयता का गठबन्धन कराने की कुत्सित चेष्टाएं क्यो ?

—जुलाई १९५२

८

प्रगतिवाद का प्रवृत्ति-निरूपण

बधुवर महेन्द्रजो,

आपके दो पत्र मिले, किन्तु कुछ अपनी व्यस्तताओ के कारण तो कुछ आपके आदेश की गुरुता के कारण, न उत्तर दे सका और न आदेश का पालन ही कर सका।

आपने साहित्य-सन्देश के 'आधुनिक काव्याङ्क' के लिए 'प्रगतिवाद की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ' पर लिखने को कहा है। यो तो किसी भी शीर्षक के अन्तर्गत कुछ न कुछ लिखा जा सकता है--और जो न लिख सके वह लेखक ही क्या ?--लेकिन शीर्षक का चयन इतना अचिन्तनीय विषय नही है। विद्वानो का कहना है कि क्या और कसे और ? का चिह्न लगा कर कोई भी प्रश्न गढ लेना तो बहुत आसान है, लेकिन क्या हर प्रश्न वास्तव मे सही प्रश्न है, यह असन्दिग्ध रूप से नही कहा जा सकता। कोई प्रश्न तभी सही अर्थो मे प्रश्न बनता है, जब उसके द्वारा वस्तुओ, घटनाओ आदि के वास्तविक सम्बन्ध या रिश्ते के बारे मे जिज्ञासा प्रकट की जाये या परीक्षण-प्रयोग-उद्घाटन किया जाये। इसलिए प्रश्न भी अपने मौलिक रूप मे सही या गलत, वास्तविक या काल्पनिक हो सकते है। जिस तरह जिज्ञासु को--और हम मे से कौन जिज्ञासु नही है--अपने अनुभव और अध्ययन-मनन से सही प्रश्न पूछने की शिक्षा मिलनी चाहिए, उसी तरह उत्तर देने या शङ्का-समाधान करने वाले व्यक्ति मे भी इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह गलत प्रश्न को तुरन्त ताड सके और या तो प्रश्न को सही रूप मे प्रस्तुत करके बताये या उसकी आधारभूत गलती को समझाए। यह सब इसलिए कि गलत प्रश्न का हमेशा गलत उत्तर ही दिया जा सकता है, सही नही। उदाहरण के लिए यदि कोई पूछे कि भगवान ने इस ससार की कब सृष्टि की, तो अनेक धार्मिक साम्प्रदायो मे प्राचीन काल से प्रचलित अन्ध-विश्वासो के अनुसार यह उत्तर देना सही नही है कि जल-प्रलय के बाद भगवान ने सृष्टि रचना की। मै आस्तिको की श्रद्धा पर चोट नही करना चाहता, लेकिन इस प्रश्न के मूल मे एक भूल छिपी हुई है, वह यह कि भगवान के अस्तित्व की इसमे अन्ध-स्वीकृति है। इसलिए इस प्रश्न की सचाई ही सन्दिग्ध है, और इस प्रश्न मे छिपी मान्यताओ को मान लेने के बाद तो अटकलबाजी से चाहे जितने उत्तर दिये जा सकते है, जैसा कि प्राचीन काल से होता आया है, लेकिन कोई तर्क-सिद्ध, प्रयोग-सिद्ध वैज्ञानिक उत्तर नही दिया जा सकता। इसलिए सही उत्तर पाने के लिए प्रश्न को सही बनाना अनिवार्य होता है।

"प्रगतिवाद की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ" का इस प्रश्न और उत्तर के झमेले से

क्या सम्बन्ध है ? सम्बन्ध बहुत सीधा है। आपने जो इस विषय पर लिखने को कहा है तो एक प्रश्न हो तो पूछा है कि "प्रगतिवाद की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ" क्या है ? इस प्रश्न के मूल मे एक मान्यता है जो निराधार और भ्रामक है। वह मान्यता यह है कि अतर्क्य रूप मे यह स्वीकार कर लिया गया है कि 'प्रगतिवाद' हिन्दी काव्य की किसी विशेष प्रवृत्ति का नाम है, जब कि सत्य यह है कि प्रगतिवाद एक विशेष जीवनदर्शन (मार्क्सवाद) या दृष्टिकोण का नाम है। इस जीवनदर्शन या दृष्टिकोण को मानने-अपनाने वाले अनेक लेखक, कवि, कथाकार, नाटककार और आलोचक है लेकिन उनकी रचनाओ मे न्यूनाधिक दृष्टि-साम्य पाकर ही उनकी कविता को 'प्रगतिवाद' की कविता कहना भ्रामक होगा। यदि लेखको या कवियो की व्यक्तिगत आस्थाओ और जीवन-दर्शनो के आधार पर ही आँख मूँद कर काव्य या साहित्य की धाराओ का निरूपण किया जा सकता तो इससे आलोचक का काम चाहे आसान हो जाता, लेकिन साहित्य और कला का अपना कोई सुसम्बद्ध इतिहास न होता। फिर तो धर्म और सम्प्रदाय, विचारदर्शन और पद्धति, कहने का अर्थ यह कि मनुष्य विभिन्न देशो मे जितने फिरको मे बँटा रहा है और बँटा हुआ है, उन सबके आगे 'वाद' को जोडकर काव्य और साहित्य की धाराओ का निरूपण कर लिया जाता--शायद तब दार्शनिक और समाजशास्त्री ही सच्चे आलोचक होते। लेकिन यह सकीर्ण दृष्टिकोण है। हम धर्मो के आधार पर ईसाई, हिन्दू, बौद्ध और मुस्लिम काव्य का नाम नही लेते, अद्वैत-वाद, द्वैतवाद या विशिष्टाद्वैतवाद के नाम पर, इन साधनाओ के अनुयायी कवियो के काव्य की परिगणना नही करते। आज भी हमारे देश मे मार्क्सवाद या प्रगतिवाद की अपेक्षा गाँधी-वाद या गाँधी जीवन-दर्शन से प्रभावित कवियो की सख्या अधिक है, लेकिन साहित्य की गोष्ठियो मे, जहाँ उन कवियो की कविता का विवेचन अभिप्रेत हो, हम 'गाधीवाद की प्रेर-णाएँ और प्रवृत्तियाँ" पर बहस नही करते। आप इस शीर्षक से किसी गोष्ठी मे चर्चा कर देखे। अधिकतर लोगो के वक्तव्य सत्य और अहिंसा की ऊहापोह करते दिखाई देगे, कोई वक्ता आधुनिक हिन्दी काव्य की उस प्रवृत्ति का सम्भवत उल्लेख भी न करेगा, जिसे आप गलती से 'गाँधीवाद' की सज्ञा दे बैठे है। आप सोचेगे कि न जाने क्या माजरा है कि सभी वक्ता विषय से हटकर बोल रहे है, यद्यपि सच यह है कि वक्ता अपने विषय की निर्दिष्ट सीमा का कही अतिक्रमण न कर रहे होगे। तो मूल गलती प्रश्न मे है, उत्तर मे नही। यही गलती 'प्रगतिवाद' को आधुनिक हिन्दी काव्य की एक प्रवृत्ति मान लेने मे है।

कैसी व्यङ्ग्यपूर्ण स्थिति है ? जरा सोचिए, कोई गाँधीवादी (अर्थात् ऐसा कवि जिसका जीवन-दर्शन गाँधीवाद है, न कि जिसकी कविता 'गाँधीवादी' है) घोर प्रकृतवादी है--उसकी कविताओ मे केवल नीरस चित्रण ही चित्रण रहता है, कोई यथार्थवादी है, कोई प्रतीकवादी है, कोई छायावादी, तो कोई मात्र रुचिवैचित्र्यवादी--कोई प्रेम गीत लिखता है, कोई अतीत के गौरवमय इतिहास से प्रसग चुनकर आख्यान-काव्य लिखता है, कोई धार्मिक और पौराणिक कथाओ से सामग्री चुनकर महाकाव्य रचता है तो कोई राष्ट्रीय जीवन की समस्याओ पर उद्बोधनात्मक तुकबन्दियाँ गढता है। अब आप क्या

कहेगे, कि 'गाँधीवाद' मे प्रकृतवाद, प्रतीकवाद, छायावाद, रुचिवैचित्र्यवाद आदि प्रवृत्तियाँ है और गाँधीवाद की प्रेरणाओ के स्रोत स्वच्छन्द प्रेम की भावना, असामाजिक व्यक्तिवाद, इतिहास की गौरवमयी कल्पना, धर्म की आस्था और राष्ट्रीय जन-आन्दोलन है ? यह प्रश्न इसलिए सगत है कि 'प्रगतिवाद' (काव्य-धारा के अर्थ मे) की भी ऐसी ही सन्दिग्ध स्थिति है। प्रगतिवाद (मार्क्सवाद) को जीवन-दर्शन के रूप मे मानने वाले ऐसे अनेक कवि है जिनकी कविताएँ शैली, शिल्प और वस्तु की दृष्टि से छायावाद, प्रतीकवाद, प्रकृतवाद, यथार्थवाद आदि सभी प्रवृत्तियो मे बाँटी जा सकती है, उनमे व्यक्तिवादी और साम्यवादी दोनो प्रकार के दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति मिलती है। तब क्या कहेगे ? प्रगतिवाद की प्रेरणाएँ व्यक्तिवाद और साम्यवाद है और प्रवृत्तियाँ छायावाद, और प्रकृतवाद है। स्पष्ट है कि यह उत्तर हास्यास्पद नही तो बेतुका और अप्रत्याशित तो लगता ही है।

मै यह नही कहता कि गाँधीवादी या प्रगतिवादी काव्य हो ही नही सकता, या हिन्दी मे उसकी रचना नही हुई। मगर इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा। जैन-काव्य, बौद्ध-काव्य और सिद्ध-काव्य की चर्चा हमने साहित्य के इतिहास मे सुनी है। तो गाँधीवादी या प्रगतिवादी काव्य भी हो ही सकता है। लेकिन जैन-काव्य या सिद्ध-काव्य को 'काव्य' नही माना जाता। किसी विचार-दर्शन को पद्य-बद्ध कर देने वाली कविता कविता नही पद्य-रचना ही होती है। केवल इतने से ही उसे ललित 'काव्य' की श्रेणी मे नही बिठाया जा सकता। यह बात निर्विवाद है, क्योकि उसमे सृष्टि नही, मात्र अनुकृति होती है। इस तरह गाँधीवाद या मार्क्सवाद के दार्शनिक सिद्धान्तो को पद्य-बद्ध करके गाधीवादी या मार्क्सवादी (प्रगतिवादी) कविता तो तैयार की जा सकती है, लेकिन तब उसे न काव्य की सज्ञा दी जा सकती है, न साहित्य के इतिहास मे कोई अलग स्थान ही। साहित्य के ह्रास और विकास पर ऐसी साम्प्रदायिक पद्य-रचना (या तुकबन्दी) का कोई प्रभाव नही पडता। बात साफ है कि ऐसी रचनाओ को लेकर 'प्रवृत्तियो' की बहस तो चल ही नही सकती, क्योकि भिन्न प्रवृत्तियाँ तो मौलिक रचना मे ही हो सकती है, अनुकृति या अनुवाद मे नही। उनकी सफलता तो मूल-वस्तु, विचार-दर्शन को अविकल रूप मे, बिना तोडे-मरोडे, काटे-छाँटे या जोडे ज्यो-का-त्यो, केवल आलङ्कारिक भाषा मे उपस्थित कर देने मात्र मे है। इसलिये काव्य की कसौटी उन पर नही लागू होती। पद्यकार ऐसे मे स्वतन्त्र कब होता है ? वह अपने अनुभव, अपने चिन्तन, अपनी कल्पना और अपनी विषयीगत प्रतिक्रियाओ के माध्यम से वास्तविकता को प्रतिबिम्बित कब करता है कि उसकी रचना सृष्टि बन जाय और विश्वबोध मे संवृद्धि करे ? वह तो बस जो है, उसे ही पद्य-बद्ध करने को बाधित है, नही तो मूल दर्शन की तर्जुमानी नही हो सकती। ऐसे पद्यकार को न हम व्यक्तिवादी कह सकते है, न साम्यवादी, न आशावादी न निराशावादी, न स्वस्थ और न अस्वस्थ। ये सब गुण-अवगुण उसके अपने नही होते, बल्कि उस जीवन-दर्शन के होते है जिसको वह पद्यबद्ध करता है। एक शब्द में, ऐसा पद्यकार स्रष्टा और कवि नहीं माना जा

सकता।

इन बातो का यह अर्थ कदापि नही कि वास्तविक काव्य के रचने वाले कवि का अपना जीवन-दर्शन या दृष्टिकोण नही होता और उसकी रचना उस दृष्टिकोण से प्रभावित नही होती। आधुनिक हिन्दी-काव्य मे पडे गाँधीवाद और मार्क्सवाद के प्रभाव को साहित्य का कोई साधारण विद्यार्थी भी खोजकर बता सकता है। केवल इनका ही नही, अनेकानेक दृष्टिकोणो के प्रभाव एक ही कवि की कृतियो मे ढूँढे जा सकते है। इससे खोज करने वाले विद्यार्थी अपनी-अपनी दृष्टि से कवि को इस विचार या उस विचार का मानने वाला सिद्ध करने की कभी सार्थक तो अधिकतर निरर्थक ऐचातानी कर सकते है, लेकिन उसकी कृतियो का मूल-स्वर क्या है उसको नही पकड सकते। यानी उसके काव्य की आत्मा तक नही पहुँच सकते। स्पष्ट है कि अनुसन्धानकर्त्ता की दृष्टि और आलोचक की दृष्टि सदा एक ही नही होती।

मेरे कहने का यह भी तात्पर्य नही कि प्रगतिवाद (मार्क्सवाद) यदि एक जीवन-दर्शन है और काव्य की धारा के रूप मे उसका निरूपण गलत है, तो साहित्य के सम्बन्ध मे प्रगतिवाद का कोई विशिष्ट दृष्टिकोण नही हो सकता। दुर्बुद्धि से ही ऐसा परिणाम निकाला जा सकता है। मार्क्सवाद यदि एक जीवन-दर्शन है और अपने मे सम्पूर्ण है तो सौन्दर्यशास्त्र की समस्याओ, साहित्य और कला की सृजन-प्रकिया, विवेचन, मूल्याङ्कन और प्रयोजन के सम्बन्ध मे उसका मौन होना ही वास्तव मे आश्चर्य की बात हो सकती है। खैरियत है कि इन सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर मार्क्सवाद मौन नही है, बल्कि एक सुसम्बद्ध और सुसङ्गत वस्तुवादी सौन्दर्य-सिद्धान्त के विकास मे उसने प्रेरणा दी है। इसे ही प्रगतिवाद की सज्ञा दी जाती है। प्रगतिवाद शब्द मार्क्सवाद का पर्यायवाची तो नही है, लेकिन हमारी भाषा मे मार्क्सवादी सौन्दर्य-दृष्टि या साहित्य-कला-परक वस्तुवादी सिद्धान्तो के अर्थ मे रूढ हो गया है। इस अर्थ मे प्रगतिवाद की प्रेरणाओ और प्रवृत्तियो का निरूपण-विवेचन भी किया जा सकता है। ऐसी प्रवृत्तियाँ है भी। कुछ प्रगतिवादी आलोचक साहित्य-कला के शैली, रूप विधान और सौन्दर्य-पक्ष पर अधिक जोर देते है, कुछ उसकी विषय-वस्तु और तात्कालिक प्रयोजनीयता पर। और काफी कुछ ऐसे भी है जो अत्यन्त सङ्कीर्ण मनोवृत्ति से प्रगतिवाद को अवसरवादी बनाने पर तुले है और मार्क्सवादी दृष्टिकोण को कुत्सित समाज-शास्त्री बनाने के निमित्त ही अपनी लौह-लेखनी उठाते है। किन्तु इन सब प्रवृत्तियो का विवेचन काव्य की किसी धारा का विवेचन न होगा, बल्कि एक विशेष साहित्य-सिद्धान्त और आलोचना-पद्धति की प्रवृत्तियो का विवेचन होगा। किन्तु ऐसा करना यहाँ विषयान्तर होगा, क्योकि आप तो काव्य की चर्चा ही चाहते है।

सबसे ताज्जुब की बात तो यह है कि हमारे कई प्रगतिवादी आलोचक 'प्रगतिवाद' को काव्य की धारा के रूप मे मनवाना ही अधिक पसन्द करते है। यह सारा भ्रम तो इस कारण भी कुछ अधिक फैल गया है। किन्तु ऐसा 'प्रगतिवादी काव्य' कहाँ है, मै नही जानता। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे पन्तजी ने अवश्य 'श्रमिक-वर्ग', 'मध्यवर्ग', 'पूँजीपति

वर्ग' और 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के नाम से कुछ कविताओं की रचना की है, जिनमे उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को पद्य-बद्ध किया है। इसे 'प्रगतिवादी काव्य' चाहे तो वे खुशी से पुकार सकते हैं। लेकिन ये रचनाएँ प्रगतिवादी ही हे. काव्य नही। शङ्कर शैलेन्द्र, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और गोरा-बादल या अन्य छद्म नामो से रामविलास शर्मा ने कम्यूनिस्ट पार्टी की नीति को यथावसर पद्य-बद्ध करने की जो चेष्टाएँ की है, उन्हे भी 'काव्य' के अन्तर्गत नही रखा जा सकता, यद्यपि वहाँ छन्दो का प्रयोग भी है और व्यङ्गो और कटूक्तियो की भरमार भी। इन्हे नारेबाजो की कविताएँ ही कह सकते हे। इन कवियो ने साहित्यिक अर्थ मे भी कविताएँ लिखी हे, लेकिन वे प्रवृत्ति और प्रेरणा की दृष्टि से अलग से विवेच्य चाहे हो, प्रगतिवाद के अन्तर्गत नहीं आती।

आप कहेगे कि प्रगतिवाद न सही, प्रगतिशील कहकर सही, इन लोगो की कविताओ का प्रवृत्यात्मक विवेचन तो कीजिए, नाम म क्या धरा है? लेकिन वास्तव म यहाँ नाम ही महत्त्वपूर्ण है, नही तो हम कही-के-कही जा पहुँचते हैं। प्रगतिवाद और प्रगतिशील मे भेद है, यह स्पष्ट होना ही चाहिए, अन्यथा गलत शब्दो का प्रचलन जारी रहेगा, आप कहेगे कुछ और लोग समझेगे कुछ।

प्रगतिशील कविता का जब प्रश्न उठता है तो उसके पीछे किसी विशेष दार्शनिक 'वाद' की मान्यता का आग्रह नही किया जा सकता। एक प्रगतिशील कवि गाँधीवादी भी हो सकता है, मार्क्सवादी भी और द्वैत-अद्वैतवादी भी। जो साहित्य पाठक को स्वस्थ प्रेरणाएँ देता है, मनोविकृतियो को और उभार कर व्यक्ति को असामाजिक और मानव-द्रोही नही बनाता, जीवन-सग्राम म आगे बढने का बल और साहस देता है और मनुष्य की चेतना को गहरा, व्यापक और मानवीय बनाता है, हिसा और द्वेष को नही बढाता और जो वास्तव मे जीवन की मार्मिक और सारगर्भित स्थितियो का चित्रण करता है अर्थात् जिसमे कला-सौष्ठव और गहराई हे, वह सब प्रगतिशील ही तो है। फिर प्रगतिशील हिन्दी-कविता का विवेचन केवल नागार्जुन, शङ्कर शैलेन्द्र, केदारनाथ अग्रवाल, और गोरा-बादल नामधारी रामविलास शर्मा या इस तरह के दो-चार छोटे-मोटे कवियो की एक विशेष प्रकार की पद्य-रचनाओ और तुकबन्दियो तक ही कैसे सीमित रखा जा सकता है? सभव ही नही, निश्चित है कि हिन्दी कविता के विकास मे ऐसी कोरी नारेबाजी की रचनाओ का मूल्य नगण्य है। इसलिए केवल उनको लेकर प्रवृत्तियो और प्रेरणाओ की चर्चा करने बैठ जाना निरर्थक है। प्रचार-साहित्य की दृष्टि मे उनका प्रचुर मूल्य हो सकता है, लेकिन साहित्य म किसी कवि की कीर्ति केवल उनके सहारे एक क्षण को भी नही ठहर सकती। यह बात मै पहले भी कई बार कह चुका हूँ, इसलिए नही कि प्रचार-साहित्य या नारेबाजी के साहित्य की महत्ती आवश्यकता नही समझता, बल्कि इसलिए कि ऐसी रचनाओ के लिए साहित्य की बहसो मे सर्वोच्च जगह माँगने का दावा पेश किया जाता है, जो गलत है।

खैर, प्रगतिवाद का प्रवृत्ति-निरूपण न सही, इस पत्र मे यदि कुछ भ्रम-निवारण ही हो जाय तो मै अपने प्रयत्न को सार्थक समझूँगा। —जनवरी १९५४

६

यथार्थ और साहित्य

यथार्थ और साहित्य के प्रश्न को एक समस्या के रूप मे प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। कारण, हम एक ऐसे सक्रान्ति-युग की पैदावार है जिसके यथार्थ की ह्रासोन्मुखी और विकासोन्मुखी प्रवृत्तियो का द्वन्द्व अपनी चरम अवस्था मे पहुँच गया है। एक ओर सकट और ह्रास है तो दूसरी ओर अभिनव विकास है, एक ओर पुराने वर्ग-समाज का ढाँचा चरमराकर टूट रहा है तो दूसरी ओर एक नये वर्ग-मुक्त मानव-समाज का निर्माण हो रहा है। एक ओर वर्ग-समाज की अनैतिकता, हिसा, अनाचार, अन्याय और शोषण-दोहन की यातनाओ मे पीडित, सत्रस्त, कुण्ठित मानवो की चीत्कार और आह-कराह है तो दूसरी ओर नये मानव-समाज के निर्माण का उल्लास और उत्साह है या विश्व-शान्ति, समता, आजादी और जनवाद के सिद्धान्तो पर आधारित नये मानव-समाज के लिए सघर्ष करने वालो के दु ख-दर्द, त्याग, बलिदान और जीवनकाक्षा से भरे हौसले और अरमान है, एक ओर वर्ग-मान्यताएँ और वर्ग-नैतिकता हिसा, शोषण और युद्धो का समर्थन करने वाली बर्बरता को गौरवान्वित करके मनुष्य के व्यक्तित्व को खण्डित कर रही है तो दूसरी ओर नये समाज के लिए सघर्ष करके, या जहाँ नया समाज बन चुका है वहाँ के मुक्त वातावरण मे पलकर एक ऐसे 'मनुष्य' का सस्कार हो रहा है जिसकी नैतिकता, आशावाद, जीवनासक्ति, मानव-प्रेम, न्याय, समता और शान्ति पर आधारित है और जो केवल जीवन के प्रति सक्रिय आस्था ही नही उत्पन्न करती बल्कि मनुष्य को उसकी सच्ची महत्ता और गौरव प्रदान करके सही अर्थो मे पूर्ण मानव बनने की निर्बाध प्रेरणा भी देती है। सक्षेप मे, एक ओर वर्ग-समाज का अन्तिम युग (पूँजीवाद) इतिहास-पट पर अपनी अन्तिम लीला समाप्त करते समय कुछ देर और टिके रहने के लिए यदि अपनी अन्तिम रण-चेष्टाएँ कर रहा है तो दूसरी ओर इस समस्त पीडा, वेदना, आशा, निराशा और दु ख-दर्द के बीच एक नये मानव-युग (समाजवाद) का उद्‌भव हो रहा है।

यही इस युग की केन्द्रीय वास्तविकता है। इस वास्तविकता को इतिहास और जीवन की मूर्त्त भाषा मे, उसके समस्त वैविध्य और गम्भीर वेदन के साथ साहित्य और कला मे प्रतिबिम्बित करने की समस्या इस युग के साहित्यकार की सबसे बुनियादी समस्या है। मूलत इस बाह्य वास्तविकता के साथ लेखक और कलाकार का सम्बन्ध क्या और कैसा है, यह इस तथ्य का निर्णय करने की समस्या है। यथार्थ और साहित्य का प्रश्न इसी-लिए प्रासगिक है कि उसका समाधान प्राप्त करके ही हमारे प्रतिभासम्पन्न लखक युगानु-

रूप महान् साहित्य की सृष्टि कर सकते है और इस युग के दायित्वों को निभा सकते है। चूँकि ऐसा नही हो पा रहा है, और चूँकि इस बीच देश की प्रतिकूल परिस्थितियो और ह्रासकालीन पाश्चात्य तथा अमरीकी साहित्य की प्रवृत्तियो का अनुकरण करने के कारण हमारे लेखक अक्सर अपनी राजनीतिक चेतना के बावजूद यथार्थवाद से हटकर काव्य मे प्रतीकवाद और कथा-साहित्य मे प्रकृतवाद तथा फ्रायडवाद-जैसी आत्मनिष्ठ, कुण्ठाग्रस्त रूपवादी साहित्यिक प्रवृत्तियो और फैशनो की ओर उन्मुख रहे है, इसलिए यथार्थ और साहित्य के प्रश्न का आज और भी गम्भीर महत्त्व है।

इस प्रसग मे यह दुहराने की जरूरत है कि वर्ग-समाज का आधार ही एक वैषम्य पर टिका हुआ है, जिससे जीवन के हर क्षेत्र, हर स्तर और हर व्यापार मे वैषम्य का पैदा हो जाना स्वाभाविक है। जिस तरह प्रत्येक वर्ग-समाज के व्यापक ढाँचे मे दो विरोधी सस्कृतियो, दो विरोधी दर्शनो, दो विरोधी साहित्य और कला की परम्पराओ और दो विरोधी नैतिकताओ मे परस्पर द्वन्द्वात्मक सघर्ष चलता आया है, उसी तरह वर्ग-समाज के वैषम्य ने साहित्य और कला के प्रति भी दो विरोधी दृष्टिकोण पैदा किए है। वस्तुत वर्ग-समाज की देन ही यह है कि उसने मनुष्य के व्यक्तित्व और जीवन को खण्डित कर डाला है, जिससे विशेष का साधारण से, व्यक्ति का समष्टि से, कलाकार और लेखक का जन-समाज से, सौन्दर्य का सत्य से, रूप का वस्तु से, राजनीति का वर्ग-सम्बन्धो से, नैतिकता का जन-हित से सम्बन्ध या तो विच्छिन्न हो गया है या इस सम्बन्ध पर परदा डालने के लिए एक ऐसे कृत्रिम द्वैत और कृत्रिम विरोध की कल्पना को प्रचारित किया गया है, कि यदि कोई वस्तुओ के प्रत्यक्ष और तात्कालिक रूपो को ही देख पाने की क्षमता रखता है, तो उसे इनमे कोई द्वन्द्वात्मक समन्विति और निर्भरता सभव ही नही लगती। इसका ही परिणाम है कि वर्ग-समाजो द्वारा प्रसारित सस्कृतियो मे साहित्य और कला के रूप (फॉर्म) से सम्बन्ध रखने वाली प्रवृत्तियो को ही निरतर सराहा गया है और उनकी विषय-वस्तु (कण्टेण्ट) को गौण महत्त्व दिया गया है। कला-साहित्य के विषय मे जितने भी नये-पुराने सौन्दर्य-सिद्धान्त और मान-दण्ड है, वे भी अधिकतर उनके रूप पर ही जोर देते है, विषय-वस्तु, साहित्य और समाज के सम्बन्ध पर नही। रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलकार आदि हमारे प्राचीन् सिद्धान्त और शास्त्र मुख्यत साहित्य के रूप से ही सम्बन्ध रखते है। रोमाण्टिसिज्म, प्रतीकवाद, चित्र-कल्पनावाद, अतियथार्थवाद, रुचि-वैचित्र्यवाद, अभिव्यजनावाद, प्रकृतवाद या फ्रायडी मनोविज्ञानवाद आदि पाश्चात्य सिद्धान्त और साहित्य-कला की प्रवृत्तियाँ साहित्य के रूप से ही मुख्यत सम्बन्धित है। इतना ही क्यो, यथार्थवाद को भी, जो महान् कला और साहित्य की एक-मात्र कसौटी है—क्योकि वह महान् कला और साहित्य की मूल प्रकृति और गुण है—बूर्ज्वा सौन्दर्य-शास्त्री कला का एक विशेष रूप या एक शैली ही कहकर प्रचारित करते आए है, और इस प्रकार यथार्थवाद ही नही बल्कि सत्य, यथार्थ और साहित्य को समझने की एकागी कसौटियाँ ही गढते आए है।

इसीलिए इस तथ्य को रेखाकित करना जरूरी है कि महान् साहित्य और कला

सदा, निर्विकल्प रूप से, जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है, अतः उसकी एक-मात्र कसौटी भी उसका यथार्थवाद ही है। केवल किसी एक या अनेक रसो की सृष्टि ही, या व्यग्य और वक्रोक्तियो की भरमार ही, या अलकारी रूप-सज्जा ही, या ध्वनियो का सामजस्य ही, या उपचेतन-अवचेतन मनोदशाओ की मनगढ़त दृष्टान्त-कल्पना ही, या घटनाओ का यथातथ्य, यात्रिक, अतिसाधारण अथवा औसत चित्रण ही—इनमे से किसी एक या सबको मिलाकर गढे गए मानदण्डो से महान् कला या साहित्य का मूल्याकन सम्भव नही है, क्योकि इन सबका सम्बन्ध कला के रूप से है, उसके मौलिक सत्य, विषय-वस्तु से नही। इन विविध दृष्टियो से जो मूल्याकन किये जाते है वे एकपक्षीय और एकागी तो होते ही है, साहित्य की विषय-वस्तु को केवल आनुषगिक महत्त्व देकर, या नितान्त महत्त्वहीन समझकर, साहित्यकार को भी विषय-वस्तु के प्रति अर्थात् जीवन-सत्य या वास्तविकता के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरणा देते है।

इसका यह अर्थ कदापि नही कि यथार्थवाद के लिए अभिव्यक्ति, टेकनीक और शैली का कोई महत्त्व ही नही है, या यह कि वास्तविकता को जान-समझ लेना ही पर्याप्त है, और शैली, अभिव्यक्ति और टेकनीक चाहे बचकानी, भोडी और व्यग्य और गर्वोक्तियो की बैसाखियो पर चलने वाली लगडी ही क्यो न हो। यथार्थवाद कलाहीन, मानव अनुभूतियो से शून्य, नीरस, साहित्य की रचना नही है, न राजनीतिक इश्तहारबाजी का नाम ही यथार्थवाद है। विश्व-साहित्य का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि यथार्थवादी साहित्य महान्, दिग्गज प्रतिभाओ की ही सृष्टि है, प्रतिभा के बिना वास्तविकता का वैविध्यपूर्ण, मूर्त्त और सारवान् कलात्मक चित्रण असम्भव है, ऐसे पात्रो की सृष्टि करना असम्भव है जो अपने युग के प्रतिनिधि हो और उनके जीवन-व्यापारो से ऐसी नैतिकता को जन्म देना असम्भव है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अपने युग की प्रगतिशील मानवता के मगल की साधक हो, बाधक नही। देश-काल की परिस्थितियो और प्राप्त सुविधाओ के अनुरूप या कलाकार-विशेष की रुचि के अनुसार साहित्यकारो और कलाकारो की शैलियाँ सदा भिन्न रही है, उनकी कृतियो का टेकनीक भिन्न रहा है, रचना-तन्त्र और रूप-विधान भी भिन्न रहे है, लेकिन यथार्थवादी प्रणाली के अतिरिक्त कला-सृष्टि की कोई अन्य प्रणाली कभी नही रही। कलाकारो ने सदा वास्तविकता के असम्बद्ध, असमन्वित उपकरणो मे से ही चयन करके उसके सार-तत्त्व का समन्वित और परिमार्जित रूप उपस्थित किया है। कला इसी कारण वास्तविकता के सामयिक तत्त्वो से अधिक स्थायी महत्त्व की होती है, और मनुष्य को सत्य की अनुभूति कराने का माध्यम बनती है। सच्चा और ईमानदार कलाकार स्वय सत्यान्वेषी होता है।

वास्तविकता एकागी कभी नही होती। यदि एकागी होती तो वह एक जड और स्थिर अवस्था होती। वास्तविकता परिवर्तनशील है। जो कल था, वह आज नही रहा, जो आज है, वह कल नही रहेगा। यह परिवर्तन निरन्तर और अविराम है। परिवर्तन ही शाश्वत सत्य है। अतः जीवन-वास्तव का सत्य भी परिवर्तनशील और युग-सापेक्ष्य होता है। प्रत्येक

महान् कलाकार इसी युग-सत्य का अन्वेषी होता है। यह सत्य क्या है ? हिंसा और बल-पूर्वक अपने को स्थायी और चिरन्तन बनाये रखने के बर्बर प्रयत्नो के बावजूद जो शक्तियाँ इतिहास-मच पर अपनी भूमिका समाप्त करके विलीन हो रही है, वे जीवन-वास्तव के असत्य की प्रतिनिधि होती है, और भीषण दमन, सघर्ष और अवरोधो के बावजूद जो शक्तियाँ इतिहास-मच पर नये युग की भूमिका का आरम्भ करती हुई आगे बढती आती है, वे ही युग-सत्य की प्रतिनिधि है, क्योकि जो अपनी उपयोगिता समाप्त करके मिट रहा है, वह असत्य है और जो उभर रहा है वही सत्य है। सत्य की यही सरलतम व्याख्या और कसौटी है। नैतिकता की भी यही कसौटी है, क्योकि नैतिकता के मानदड सत्य से ही बनते है। विश्व के महान् कलाकार इसी कारण सत्य के अन्वेषी रहे है, और इसी कारण प्रत्येक महान् कलाकृति मे तत्कालीन वर्ग-समाज की मान्यताओ और नैतिकता के प्रति गहरा प्रतिवाद मिलता है और अपने-अपने युग की विकास-सम्भावनाओ की सीमा मे एक नई मानवीय नैतिकता के निर्माण के प्रति गहरा मोह प्रकट होता है। साहित्य और कला इसीलिए नैतिक होती है। कोई भी लेखक असत्य और अनैतिकता के गारे से महान् कला की इमारत खडी नही कर सकता। आज जो लेखक तात्कालिक प्रलोभनो मे फँसकर युद्ध, साम्राज्यवाद और प्रतिक्रिया के समर्थक हो गए है, वे रचना-चातुर्य के बावजूद अपनी कृतियो मे प्राण नही फूंक पाते, क्योकि उन्होने असत्य और अनैतिकता को वरण करके अपनी कला का स्वय गला घोट दिया है।

सच तो यह है कि वास्तविकता के सत्य की कलात्मक अनुभूति सरल कार्य नही है, क्योकि यह सत्य कोरा राजनीतिक या विचारगत नही है, बल्कि उतना ही वैविध्यपूर्ण और नाना रूपात्मक है जितना कि मनुष्य का जीवन। मनुष्य के अन्तर और बाह्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और स्तर मे यह सत्य उभरने के लिए असत्य से द्वन्द्वात्मक सघर्ष मे गुँथा हुआ है। वास्तविकता का मूर्त्त और सम्पूर्ण चित्रण मनुष्य के अन्तर और बाह्य-जीवन के प्रत्येक व्यापार को घेर लेता है। यह सम्पूर्ण चित्रण नैतिक धरातल पर भी हो सकता है और सामाजिक-राजनीतिक धरातल पर भी। और चूँकि जीवन-वास्तव का चित्रण मनुष्य के जीवन और सघर्ष से ही सम्बन्धित होता है, इस कारण यह चित्रण व्यक्तियो के माध्यम से ही सम्भव है। इसीलिए ऐसे पात्रो की सृष्टि का प्रश्न यथार्थ और साहित्य की समस्या का प्रमुख प्रश्न है, जो प्रतिनिधि (टाइप) हो, जिनके व्यक्तित्व मे विशेष और साधारण का गत्यात्मक समन्वय हो, जिनका जीवन समाज के जीवन से आगिक रूप से सम्बद्ध हो, जिनकी भाव-भूमि और मनोभूमि समाज की चरमस्थितियो को उद्‌घाटित करती हो, जो लेखक की कल्पना मे जन्म लेकर उसकी कृति मे प्रस्तुत की गई परिस्थितियो से क्रिया-प्रतिक्रियात्मक रूप से सम्बद्ध हो, अर्थात् स्वय अपना सक्रिय अस्तित्व रखते हो, न कि लेखक के हाथ की कठपुतली हो।

जीवन-वास्तव का सम्पूर्ण, यथार्थ और मूर्त्त चित्र अकित करने के लिए यह ज़रूरी है कि हमारे साहित्यकार जन-जीवन के साथ और गहरा सक्रिय सपर्क स्थापित करे, केवल

उसके तटस्थ, निरपेक्ष द्रष्टा ही न बने रहे। यह सच है कि जन-जीवन से सक्रिय सम्बन्ध स्थापित कर पाना केवल लेखक की अपनी इच्छा पर ही निर्भर नही करता। कभी-कभी युग की परिस्थितियाँ ऐसी प्रतिकूल होती है कि साहित्यकार अपनी सजग दृष्टि और इतिहास और राजनीति की चेतना के बावजूद जन-जीवन से सम्बन्ध स्थापित नही कर पाता। उदाहरण के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भिक उत्थान मे बकिमचन्द्र, रवीन्द्र, इकबाल, शरत् और प्रेमचन्द जैसी प्रतिभाएँ पनप सकी। ये साहित्यकार सहज ही समग्र भारतीय जनता के रागतन्तुओ को छू सके, और उनकी रचनाएँ सबके लिए प्रेषणीय बन सकी। इसका मुख्य कारण यह है कि अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण के बावजूद वे अपने युग की समस्याओ और अपने युग के यथार्थ के तटस्थ दर्शक नही थे। इन सबकी सहानुभूति ह्रासोन्मुखी सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के प्रति न होकर जनता के व्यापक सघर्ष, पीडा और वेदना के प्रति थी। उनके यथार्थवाद की सीमाएँ है। वे ऐतिहासिक दृष्टि से अपने युग का चित्रण न कर पाए, न भूत और भविष्य के व्यापक सत्य को, जिसका उस समय तक समाज के गर्भ मे प्रारम्भिक रूप ही निखर पाया था, वे वर्तमान के सत्य से सबद्ध कर पाए। फिर भी जो सामाजिक परिस्थितियाँ मनुष्य के गौरव का हनन कर रही थी, उसकी महत्ता को कलुषित कर रही थी और मनुष्य के रूप को खण्डित कर रही थी, उन परिस्थितियो का यथार्थ चित्रण उन्होने किया और राष्ट्रीय चेतना और जन-सघर्ष के फलस्वरूप मुक्ति पाने की और विकास की जो सम्भावनाएँ आकाक्षा बनकर जनता का हृदय आलोडित कर रही थी, उनसे उत्पन्न आशावाद और जीवनासक्ति उनके साहित्य मे प्रचुर मात्रा मे मिलती है। आज वह परिस्थितियाँ नही है। राष्ट्रीय आन्दोलन का विघटन हो चुका है। अनेक कारणो से जनवादी शक्तियो मे ही फूट पड गई है, जिससे जनपक्ष की शक्तियाँ अभी तक सयुक्त होकर पुन एक ऐसे विशाल राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म नही दे पाई है जो देश के समूचे वातावरण को ही बदल दे। जब तक यह वातावरण नही बदलता, उस समय तक किसी भी लेखक के लिए जनता से गहरा सम्बन्ध स्थापित करना कठिनतर कार्य बना रहेगा ऐसा सम्पर्क, जो लेखक को जीवन के सम्पूर्ण यथार्थ को चित्रित करने की प्रेरणा दे सके। इसलिए आज लेखक का दायित्व और भी बढ गया है। उसे यथार्थ को चित्रित करने की कला-सम्बन्धी समस्याओ से ही नही उलझना है, बल्कि जन-पक्ष की बिखरी हुई शक्तियो को एकजुट करने मे भी सहायक होना है, ताकि हमारे राष्ट्र-सघर्ष मे एक नया जनवादी उभार आए और देश मे वह अनुकूल वातावरण पैदा हो सके, जिसमे लेखक को समूची जनता के रागतन्तु छूने मे कठिनाई न हो, ताकि लेखक सहज ही इतिहास की उभरती हुई शक्तियो को देख सके और ऐसे पात्रो की सृष्टि कर सके जो युग की वास्तविकता के सच्चे प्रतिनिधि हो, ताकि लेखक साहित्य मे एक नई उदात्त मानववादी नैतिकता का स्वर भर सके। लेखक के सामने यथार्थ और साहित्य की आज यही समस्या है।

—अप्रैल १९५२

१०

प्रतीकवाद : त्रिशंकुओं का साहित्य ?

'अज्ञेय' के नये उपन्यास 'नदी के द्वीप' को पढकर जैनन्द्रजी ने मुझे पत्र लिखा है, वह इतना मार्मिक और प्रस्तुत प्रसग के लिए सगत है कि उसे ज्यो-का-त्यो उद्धृत करना आवश्यक हो गया है

भाई शिवदान जी,

यह 'नदी के द्वीप' की आपकी प्रति आपको आती है। अभी पढकर चुका हूँ। सोच मे हूँ कि क्या समझूँ ? बडी उसमें बारीकी है, बडी ज्ञानवत्ता। और भी बडी-बडी दक्षताएँ होगी। क्योकि लेखक बडे है। लेकिन मै क्या सोचूँ, समझ नही आ रहा है। अपने को खाली हाथ पाता हूँ। सोचता हूँ, पढते हुए कही मै भीगा क्यो नही ? डूबा क्यो नही ? लेकिन यह शिकायत किससे ? आखिर यह शिकायत मेरी मुझ पर ही लौट आती है। क्योकि लेखक ने साढे चार सौ पन्नो मे अपना मर्म-ही-मर्म देना चाहा दीखता है। इससे लगता है मैं ही अभागा हूँ। पढते समय मुझे दीखता रहा है कि किताब का 'भुवन' बहुत ही खास है, 'रेखा' और 'गौरा' प्रियाएँ उसी की हो सकती है। उनका प्रेम सबका नही है, सब जैसा नही है, साधारणगत (साधारणीकृत ?) होने के लिए नही है। वह कुछ इतना 'दो-के-बीच-का निजीय' है कि अपनी अतिशयता मे ही उसे बन्द माना जाय। अत' वह गोपनीय है। मानो उन-दो मे (मिथुन मे) ही उसकी चरितार्थता है। मैथुन कहाँ दुर्लभ है ? कौन उसके भोग का साधन नही हुआ ? पर प्रत्येक मैथुन मिथुन से बाहर व्याप्ति नही पाता। उस (विशिष्ट) मिथुन को समाकर और उसमे आप समकर ही रह जाता है। बाहर किसी:को वह छू नही पाता। शायद इसी से उक्ति बनी—'आहार निद्रा भय मैथुन च···।' एक के खाने से दूसरे के पेट का सम्बन्ध असम्भव होता है। इससे यह चीजे सबके पास होकर भी सबको अलग रखती है। किसी के पास इनमे से किसी दिशा का नैपुण्य एव कौशल विशेष हो, यह निस्सन्देह सशरीर के लिए स्पृहा और ईर्ष्या का विषय है। किन्तु उससे आगे वह क्या है, यह मेरी समझ मे नही आ रहा है।

लेकिन छोडिए। इन वाक्यो को अनलिखा समझिए। वे अनधिकृत है। किन्तु उनमे आलोचना नही, याचना ही है।

कृपया पुस्तक की पहुँच स्वीकार कीजिए और इस सामयिक दान के लिए मेरी परम कृतज्ञता।

ऋषि-भवन,
१३-१-५२,

स्नेहाधीन आपका
जैनेन्द्रकुमार

'दूसरा सप्तक' की भूमिका मे अज्ञेय ने प्रतीकवाद की प्रयोगात्मकता से प्रभावित कवियो के समर्थन मे लिखा है कि "सभी को ऐसी उपलब्धि हुई है, जो प्रयोग को सार्थक करती है।" और एक स्थान पर, इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कि प्रयोगशील कवि साधारणीकरण के सिद्धान्त को नहीं मानता, उन्होने लिखा है "उसे अभी कुछ कहना है, जिसे वह महत्त्वपूर्ण मानता है, इसलिए वह उसे उनके लिए कहता है जो उसे समझे, जिन्हे वह समझा सके, साधारणीकरण को उसने छोड नही दिया है पर वह जितनो तक पहुँच सके उन तक पहुँचता रहकर और आगे जाना चाहता है, उनको छोडकर नही।"

जैनेन्द्र जी कोई 'साधारण' पाठक नही है। वे स्वय बडे लेखक और उपन्यासकार है। अज्ञेय कम-से-कम जैनेन्द्रजी जैसे सवेदनशील और भावुक पाठक तक तो पहुँच ही जाना चाहेंगे, जिन्हे अपनी बात समझा सके। आश्चर्य है कि फिर भी जैनेन्द्रजी को 'नदी के द्वीप' को पढकर कोई 'उपलब्धि' नही हो पाई, और न अज्ञेय उन्हे वह 'महत्त्वपूर्ण' बात ही समझा पाए, जिसे सबल और चमत्कारिक ढग से कह पाने के लिए उन्होने दस-पन्द्रह वर्ष से काव्य और उपन्यास मे प्रतीकवादी शैली के प्रयोग किये है।

जैनेन्द्रजी की 'याचना' अन्ततः हिन्दी के निन्यानवे प्रतिशत पाठको की 'याचना' है, जिनको 'छोडकर' प्रतीकवादी कवि और उपन्यासकार केवल एक प्रतिशत तक ही पहुँच सकना चाहकर साधारणीकरण की समस्या का हल खोजता है। इस कारण ही, 'प्रयोग' और 'प्रयोगशीलता' के नाम पर 'प्रतीकवाद' (सिम्बोलिज्म) और 'बिम्बवाद' (इमेजिज्म)[१] की जो मिली-जुली प्रवृत्ति, विशेषकर इन दिनो, हिन्दी-काव्य की एक विशेष धारा बनती जा रही है, एक आलोचक की हैसियत से उसकी जॉच-परख करने का दायित्व हम पर है।

देवराज उपाध्याय ने 'दूसरा सप्तक' मे प्रकाशित अज्ञेय के वक्तव्य को 'सारगर्भित' कहा है। लेकिन उसका 'सार' अर्ध-सत्यो से निर्मित हुआ है, जिससे वह एकागी है, और साहित्य मे नये 'प्रयोगो' की मूल समस्याओ को अशतः उठाकर भी अन्ततः उनसे कतरा जाता है। इन अर्ध-सत्यो को मनवाने के लिए अज्ञेय ने एक तर्क-प्रणाली अपनाई है जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति, जो उनकी 'सरल' और 'सीधी' बात से इन्कार करना चाहे तो उसे अपने को 'दुराग्रही', 'परम्परा की दुहाई' देने वाला, 'आरोपित पूर्वग्रहो की मैली ओट' से देखने वाला समझकर ही ऐसा करने का दुस्साहस करता होगा। इसलिए साहित्य या कला मे 'प्रयोग' के प्रश्न पर सबसे पहले अपना दृष्टिकोण उपस्थित करना अपेक्षित है।

अज्ञेय के इस कथन से हम सहमत है कि 'प्रयोग निरन्तर होते आए है और प्रयोगों के द्वारा ही कविता या कोई भी कला, कोई भी रचनात्मक कार्य, आगे बढ सका है।" कि

---

१. 'प्रगतिवाद' नाम की पुस्तक में प्रकाशित निबंध 'कविता की आधुनिक व्याख्या' में 'इमेजिज्म' के लिए मैंने 'चित्र-कल्पनावाद' शब्द का प्रयोग किया था। हिन्दी में अभी तक 'इमेजिज्म' के लिए कोई एक शब्द रूढ़ नहीं हुआ, इसलिए सुविधानुसार दोनों का प्रयोग होता चल रहा है।—लेखक

"···केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना को काव्य नही बना देती।" "पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नही।" फिर, गुप्त, प्रसाद, निराला, पत, महादेवी, बच्चन, दिनकर आदि की पीढी के बाद के तरुण कवियो की कविता को ही 'प्रयोगशील' कहने की आवश्यकता क्यो पड गई ? क्या इसलिए कि ये नये कवि "यह दावा नही करते कि काव्य का सत्य उन्होने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते है।" (**तार-सप्तक की भूमिका, पृष्ठ ५**) और उनमे 'भाषा का परिमार्जन और अभिव्यक्ति की सफाई' अपेक्षया कम है और उन सबकी कविता मे 'अटपटेपन की झाँकी न्यूनाधिक मात्रा में' पाई जाती है ? या इसलिए कि इन कवियो से पहले के कवि 'प्रयोग' नही करते थे, या 'प्रयोग' पर इतना कम ध्यान देते थे कि वह नही के बराबर होता था, जिससे उनकी 'कविता' कविता न होती थी, उसमे 'कला' नही, 'शिल्प' और 'हस्त-लाघव' ही होता था, जिससे वह कविता (छायावादी) अपने समय की 'वास्तविकता', अपने समय के 'जीवित-सत्य' को उतनी सबल, कलात्मक अभिव्यक्ति न दे पाई, जितनी सबल और कलात्मक अभिव्यक्ति नई प्रयोगशील कविता 'आज की वास्तविकता' और आज के 'जीविन सत्य' को दे रही है ?—'भले ही अटपटे शब्दो मे।' या फिर यह सारा शब्द-जाल इसलिए बिछाया गया है कि उसमे फँसकर पाठक यह मान ले कि एक विशेष प्रकार की कविता ही, एक विशेष प्रवृत्ति भाव-धारा और विचार-कोण ही, एक विशेष शैली और गठन ही 'प्रयोगशील' होती है—मेरा तात्पर्य प्रतीकवादी कविता और साहित्य से है। प्रयोगशीलता की ओट मे अज्ञेय 'प्रतीकवादी' विचारधारा को साहित्य मे प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा करते रहे है। इसका प्रमाण यह है कि 'तार-सप्तक' की भूमिका मे उन्होने यह कहने के बाद कि अन्वेषी का दृष्टिकोण सातो कवियो को समानता के सूत्र मे बाँधता है, लिखा था "इसका यह अभिप्राय नही है कि प्रस्तुत सग्रह की सब रचनाएँ प्रयोगशीलता के नमूने है, या कि इन कवियो की रचनाएँ रूढि से अछूती है, या कि केवल यही कवि प्रयोगशील है और बाकी सब घास छीलने वाले है।" उन्होने 'प्रयोगशीलता के नमूने' के रूप मे किसी विशेष कविता का हवाला नही दिया है, इसलिए मै उनकी कविताओ को ही ऐसा नमूना मानने के लिए बाध्य हूँ, और उनकी कविता प्रतीकवादी है।

अज्ञेय का यह कहना सर्वथा सही है कि "प्रयोग अपने-आप मे इष्ट नही है, वह साधन है।" साधन किसका ? सत्य को कलात्मक अभिव्यक्ति देने का, 'सत्य को जानने' का नही, जैसा कि उनका दावा है। प्रयोग को सत्य का ज्ञान प्राप्त करने का साधन मानकर वे साहित्य मे सत्य से आँख-मिचौनी ही खेल सकते है, वस्तुतः खेलते आए है। प्रतीकवाद उसका परिणाम है, यद्यपि वादो से ऊपर सिद्ध करने के लिए वे अपने को 'प्रयोगशील', किसी मंजिल तक पहुँचे हुए या किसी राह के राही नही बल्कि 'राहों के अन्वेषी' ही घोषित करते है, जिससे प्रतीकवाद 'प्रयोगशीलता' के छद्मवेष मे तरुण प्रतिभाओ को आकर्षक और ग्राह्य लगे। इसलिए अज्ञेय के हाथ मे पडकर 'प्रयोग' सत्य को अभिव्यक्ति देने या 'जानने' (?) का साधन नही रहा, बल्कि उसे तिरस्कृत कहने का साधन बनता गया है और उनकी

देखा-देखी या उनसे प्रभावित होकर प्रतीकवाद की शैली को अपनाने वाले अन्य तरुण तथा प्रगतिशील चेतना के कवियो के लिए भी वह पाठको तक पहुँचने के मार्ग मे एक बाधा बन गया है।

प्रयोग निरन्तर होते आए है, होते जायँगे। प्रत्येक युग मे, नई ऐतिहासिक परिस्थितियो मे कला के युगानुरूप रूपो का जन्म होता है या प्रचलित रूपो मे ही विकास होता है जिससे वह उस युग के समाज-सम्बन्धो—वस्तुसत्य को समग्र रूप से प्रतिबिम्बित करने मे समर्थ हो सके। इस प्रकार मनुष्य की भौतिक परिस्थियाँ ही शिल्प और रूप-सम्बधी विकास के मार्ग खोलती है। कला या साहित्य की जब कोई विशेष परम्परा अपने माध्यम से समाज के जीवन-सत्य को पूरी तरह अभिव्यक्ति देने के योग्य नही रह जाती तो उस समय के प्रमुख क्रियाशील प्रतिभाएँ नई टेकनीक, नई शैली और नये रूपो का विकास करके उनका उपयोग करती है। सामाजिक जीवन के समान ही साहित्य की परम्पराएँ भी बदलती है। "उनके विकास और परिवर्तन की गति समान रूपसे एक-सी नही होती, सामाजिक परिवर्तनो की प्रतिक्रिया के रूप मे उनका क्रमिक विकास भी होता है और विप्लवी परिवर्तन भी। परम्पर के भीतर जो सघर्ष चलता है, प्रयोग उसका तात्कालिक साधन बनता है। समाज के क्रान्तिकारी युगो मे प्रयोगशीलता कला और साहित्य के क्षेत्र मे एक क्रान्तिकारी सकट के लिए मार्ग भी प्रशस्त करती है और उस सकट को तीव्रतर बनाकर निकट भी लाती है। यह स्थिति उस समय तक रहती है जब नक कि प्रयोग कला या साहित्य की स्वीकृत परम्परा नही बन जाते, जिस प्रकार कि सामाजिक परिवर्तन स्वय समाज की प्रस्तुत और सामान्य स्थिति नही बन जाता।" (**सोशल रूट्स ऑफ द आर्ट्स, पृ० सं० ६८**)। ऐसे समय कलाकार या लेखक रूढिवादियो के विरोधो के बावजूद जनता के साथ सम्पर्कित होता है। किन्तु साथ ही कभी-कभी ऐसा भी होता है जबकि कला और साहित्य के रूपो मे शैलीगत या टेकनीक-सम्बधी परिवर्तन समाज के क्रान्तिकारी युगो से उत्प्रेरित होकर नही होते, बल्कि सामाजिक जीवन मे उत्पन्न हो गए सक्रामक रोगो की निशानी होते है। ऐसे समय समाज से कलाकार या लेखक का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। और 'प्रयोग' समाज के नये सत्यो, नये सम्बन्धो को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए नही, बल्कि उनको नकारने और कलाकार के रोगी मानस की झाँकी देने के निमित्त ही किए जाते है। 'प्रतीकवाद' ऐसे ही रोग की निशानी है।

साहित्य का इतिहास इन दोनो प्रवृत्तियो से भरा पडा है। किसी समय कला का कोई रूप ही क्यो विकसित होता है या किसी विशेष शैली को ही क्यो माँजा-निखारा जाता है और शैलीगत या शिल्पगत विकास की अन्य सम्भावनाओ का उपयोग क्यो नही होता, इसका रहस्य शिल्प या टेकनीक की आन्तरिक सम्भावनाओ को स्वय-विकसित होने वाली मानकर नही जाना जा सकता, बल्कि उन मूलभूत भौतिक परिस्थितियो का विश्लेषण करके ही समझा जा सकता है जो इस विकास का कारण बनती है। इससे यह भी सिद्ध है कि विषय-वस्तु और रूप-विधान का अन्तरंग सम्बन्ध है, कि नई विषय-वस्तु को अभि-

व्यक्ति देने के लिए ही नए कला-रूपों का जन्म होता है या पुराने माध्यमों मे नये प्रयोग होते है। कला मनुष्य-जीवन और मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों को देश-काल की ऐतिहासिक परिस्थितियो के बीच प्रतिबिम्बित करती है। कला का कोई एक रूप या शैली अपने आप मे किसी दूसरे रूप या शैली से अधिक मूल्यवान या उपयोगी नहीं होती; क्योकि उसकी उपयोगिता इस पर ही निर्भर करती है कि वह अपने समय की आवश्यकताओ की किस सीमा तक पूर्ति कर सकती है। किसी रूप या शैली के बारे मे यह भी नही कहा जा सकता कि उसमे अधिक बन्धन है या वह अधिक रूढि-ग्रस्त है, क्योकि इसकी कसौटी भी यही है कि वह किस सीमा तक अपने समय की आवश्यकताओ और पाठको या दर्शको से सम्बद्ध है। वस्तुत: किसी समाज मे कलाकार और दर्शक या पाठक के परस्पर आदान-प्रदान के लिए जो क्षेत्र और मार्ग खुलते है, उनके द्वारा ही कला के नये रूपो का जन्म होता है। इस युग मे ही उपन्यास और फिल्म के कला-माध्यमो या 'छायावादी' और बाद मे प्रगतिवाद से प्रभावित कविता और शैलियों का विकास इसका प्रमाण है। एक कवि या कलाकार इन कला-रूपो और शैलियो मे प्रयोग करते हुए किस सीमा तक निपुणता या सिद्धि प्राप्त करता है, अर्थात् इन रूपो को सरलता और सामञ्जस्य देने की उसमे कितनी क्षमता है, यह तो इस बात पर ही निर्भर है कि उसके पाठक या दर्शक जिन ऐतिहासिक सघर्षों मे बरबस जूझ रहे है और इससे उनके अपने जीवन मे जो नैतिक और सामाजिक समस्याएँ उठ खडी हुई हैं—इस जीवन-सत्य की किस सीमा तक कलात्मक अनुभूति करके वह अधिक-से-अधिक लोगो के लिए उसे प्रेष्य बना सकता है। इसलिए कला के सामने या प्रयोगशील कवियो के सामने यह प्रश्न नही होना चाहिए कि उनकी कविताएँ रूढि और परम्परा से कितनी 'अछूती' है, बल्कि यह कि नये प्रयोग कवि और पाठक के बीच भाव-विचारो को स्वच्छन्द रूप से प्रेषित करने के और भी नये तथा व्यापक मार्ग खोले। इसलिए कविता या किसी कला-रूप के माध्यम मे सार्थक प्रयोगो की एकमात्र कसौटी यह है कि वह अपने प्रयोजन की पूर्ति करने मे समर्थ हो। "अगर कोई कलाकार समाज और मानव-प्राणियो के बारे में सत्यो का उद्‌घाटन करना चाहता है तो वह आवश्यकतावश कला के ऐसे रूपो और शैलियो को ही अपनाना चाहेगा जो उसके अभीष्ट को पूरा करने मे सहायक हो, जिस पाठक या दर्शक-वर्ग तक वह पहुँचना चाहता है, उसे यथासम्भव निकट लायें और उसे अपने विचारों को अभिव्यक्ति देने की अधिकाधिक स्वतन्त्रता दे। अपने लिए किसी कला-रूप या शैली को चुनते समय कलाकार के लिए यह बात ही निर्णयकारी होती है, न कि किसी कला-रूप का 'प्रकृत' या रूढियों से मुक्त नजर आने वाला गुण।" (**आर्ट एण्ड सोसाइटी—ले० सिडनी फिन्केलस्टीन, पृष्ठ १०६**)।

इसी प्रकार नये प्रयोग क्या जीवित सत्य को अभिव्यक्ति देते है—इसके लिए हमे केवल यही नहीं देखना चाहिए कि जीवन के किसी अनुभव की पुन: सृष्टि करने मे वे कितने सक्षम है, बल्कि यह कि उस अनुभव की मानवी वस्तु कैसी है, उस कला मे किस प्रकार का अनुभव व्यक्त हुआ है। अर्थात् अपने समय के समग्र सामाजिक जीवन की अपेक्षा मे

वह अनुभव कितना सारवान और सगत है, उसमे व्यक्त भावनाएँ और विचार कितने मानवीय हैं, किस प्रकार के मनुष्यो को कला मे प्रविष्ट किया गया है। और अन्त मे हमे देखना चाहिए कि नये प्रयोग जीवन का जो आकलन करते हैं, वह कैसा है, अर्थात् समाज के भीतर मानव-सम्बन्धों के बारे मे लेखक या कलाकार का दृष्टिकोण क्या है। ये कतिपय कसौटियाँ हैं, जिन पर किसी भी नये प्रयोग को परखना आवश्यक है। इन प्रश्नो को बिना उठाये, केवल प्रयोग को आत्यन्तिक महत्त्व देना—चूंकि प्रयोग निरन्तर होते आए हैं—परम्परा से ही विच्छेद करना नही है, बल्कि पाठको से भी विच्छेद कर लेना है, और प्रयोगो को भी निरर्थक बना देना है।

ज्ञान के 'विशेषीकरण' को बहाना बनाकर अज्ञेय ने एक कृत्रिम अन्तर्विरोध की कल्पना की है और इस प्रकार साधारणीकरण के प्रश्न से कतराकर प्रयोगशील कविता और साहित्य की दुर्बोधता और दुरूहता को समाज के 'विभाजित सत्य को समूचा' देख सकने के लिए अनिवार्य और स्पृहणीय बताया है। ('दूसरा सप्तक' के अधिकाश कवि उनके इस मत से सहमत नहीं दीखते।) इस सम्बन्ध मे इतना कहना ही अलम् होगा कि नये समाज-सम्बन्धो और नई परिस्थितियो (बाह्य वास्तविकता) के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके उसका साधारणीकरण करने की समस्या आदि काल से लेकर आज तक प्रत्येक युग के कलाकारो के सामने रही है। इस समस्या से जूझकर और इसका कलात्मक समाधान खोजकर ही उन्होंने महान् कला की सृष्टि की है। इसके लिए उन्होने स्थापित समाज की अवहेलना और उपेक्षा भी सहन की है और अकथ यातनाएँ और कठिनाइयाँ भी झेली है। प्राचीन काल मे अनेक कलाकार प्रसिद्धि नही पा सके, उनका घोर विरोध भी हुआ और वे गरीबी और मुफलिसी का जीवन बिताते हुए मरे। लेकिन उनकी रचनाएँ अपने समय के पाठक या दर्शक-वर्ग (अथवा आम जनता) के लिए दुर्बोध और अगम्य रही हो, इतिहास इसका साक्षी नही है। अज्ञेय के दुराग्रह को सिद्ध करने के लिए हमे इतिहास के तथ्तों को अनदेखा करके एक आत्म-प्रवचक [illegible] होगा कि मिल्टन और गालिब की कविता, शेक्सपियर और इब्सन के नाटक, तालस्तॉय और डिकेन्स उपन्यास, बीथोविन और मोजार्ट का सगीत, रेम्ब्रॉ और वानगोग के चित्र अपने समय के सर्वसाधारण द्वारा नही समझे जाते थे, या यह कि ये सही अर्थों मे 'प्रयोगशील' कलाकार न थे, केवल घास छीलने वाले थे और उनकी कला मे 'कला' नही केवल 'शिल्प' और 'हस्त-लाघव' था। वस्तुत: प्राचीन युगो के महान् कलाकारो की रचनाएँ, उनके नये प्रयोग सर्वसाधारण के लिए सर्वथा बोधगम्य होते थे। उनके नये प्रयोगो या उनकी नई शैलियों का विरोध हुआ तो केवल इस कारण कि वे कलाकार तात्कालिक रूढियो और मान्यताओ से विच्छेद करके चले थे, न कि इसलिए कि उनकी बाते दुर्बोध थी। दरअसल सत्ताधारी वर्गों या न्यस्त स्वार्थों के लोगो की ओर से उन पर आक्रमण होता ही इस कारण था कि उनके विप्लवकारी विचार सर्वसाधारण को बोधगम्य और ग्राह्य होते थे, और यह उन्हे प्रिय न हो सकता था।

अपने युग की श्रेष्ठ कला को इने-गिने लोग ही समझ सकते हैं, और सच्चा कलाकार

अपने समय मे नही समझा जाता, इसीलिए वह भावी सन्तति के लिए ही कला सृष्टि करता है, "क्योकि आज का प्रयोग तब की परम्परा हो" जाती है—यह धारणा तो पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध मे ही—अनेक सामाजिक-ऐतहाहिसक कारणो के सयोग से—योरॅप (फ्रास) मे पैदा हुई, और इसके पीछे छिपी कलाकार की नक्कूशाही (फिलिस्टीन) अहम्मन्यता और बौद्धिक आभिजात्य से उत्पन्न दयनीय निस्सहायता सर्वसाधारण (पाठक और दर्शक) से उसके सम्बन्ध-विच्छेद की सूचना देती है और इस बात की सूचना देती है कि पूँजीवाद के ह्रास-काल मे एक व्यक्तिनिष्ठ और सामाजिक जीवन से तटस्थ कलाकार किस प्रकार अपना सच्चा आत्म-गौरव खोकर एक असामाजिक प्राणी—त्रिशकु बन जाता है।

अज्ञेय ने अपने वक्तव्य मे परम्परा का प्रश्न भी उठाया है और परम्परा का कवि के लिए तभी कोई अर्थ माना है जब वह उसे 'आत्मसात्' करके अपना 'गहरा सस्कार' बना ले। ऐसी 'सस्कार देने वाली परम्परा' ही उनकी दृष्टि मे 'कवि की परम्परा' हो सकती है। इससे हम असहमत नही है। और अज्ञेय की कविता और साहित्य की जडे किसी पूर्व-परम्परा मे न हो, ऐसा भी नही है। फ्रास के प्रतीकवादियो, टी० एस० इलियट और ऐसी ही अधुनातन असामाजिक प्रवृत्तियो और लेखको की परम्परा से वे सम्बद्ध है, वस्तुत हिन्दी साहित्य मे वे उनकी ही तर्जुमानी करते है। उनकी रचनाओ मे विचित्रता, अनबूझता और नयापन (मुक्तदायी ताजगी और मानवीय भवनाओ और विचारो की व्यापकता और बुलन्दी नही) जो पाठको को दिखता है, वह पाश्चत्य साहित्य के अध्येता के लिए उतना मौलिक और नया नही है। तो अज्ञेय परम्परा को बात तो उठाते है, और एक सीमा तक सही ढग से भी, लेकिन एक प्रयोगशील कवि के लिए परम्परा का वास्तविक महत्त्व क्या है, इस प्रश्न से वे उसी तरह कतरा जाते है जिस तरह साधारणीकरण के प्रश्न से। इसलिए नये प्रयोग करने वाले कवि या कलाकार के लिए परम्परा का क्या महत्त्व है, इसे समझ लेना ज़रूरी है। वर्तमान को वस्तु और रूप के लिए विगत पर ही निर्भर करना होता है। ये वस्तुएँ या उपकरण और रूप-विधान वर्तमान की जीवित सामाजिक परिस्थितियो के मध्य परिवर्तित और विकसित होते जाते है और साथ ही उन सामाजिक परिस्थितियो को भी प्रभावित करते जाते है। कलाकार के लिए परम्परा से अवगत होने का अर्थ उस पुँजीभूत शिल्प और टेकनीक का पूरा-पूरा ज्ञान और नैपुण्य प्राप्त कर लना है, जो विगत युगो मे कला-क्षेत्र मे विकसित हुई है। इसका तात्पर्य यह नही कि कलाकार विगत का अनुकरण करे। कोई भी सच्चा कलाकार अपने को सीखी-जानी टेकनीक की सीमाओ मे ही बाँधकर नही रखता। वह इस शिल्प-ज्ञान और टेकनीक को अपने समय की विषय-वस्तु को अभिव्यक्ति देने योग्य बनाने के लिए तोडता-मरोडता और बदलता है। इस प्रकार पुरानी टेकनीक नये सत्य की अभिव्यक्ति करते समय स्वय ही नही बदल जाती बल्कि बदल कर नये सत्य को युगानुरूप नया रूप-विधान भी प्रदान करती है। "कोई भी कवि या कलाकार जब अपनी सामग्री को कलात्मक रूप देने की चेष्टा करता है तो वह सर्वथा नई

वस्तु नही पैदा करता । वह प्रचीन से, अपने अनुभव से, समाज के पुञ्जीभूत अनुभव से प्राप्त सामग्री का उपयोग करता है लेकिन उसके हाथ मे पडकर वह समाज की तात्कालिक आवश्यकताओ और परिस्थितियो के साथ एक नये सम्बन्ध मे गठित हो जाता है, और यदि यह प्रयोग सफल हुआ तो परिणामत एक मौलिक कलाकृति की सृष्टि होती है, अत परम्परा की आधार-शिला पर (जिसका निर्माण मनुष्य-जाति शताब्दियो मे करती है) पाँव जमाकर ही एक कलाकार अपने जीवन के लघु वर्षो मे भी एक महान् सृष्टा की बुलन्दी तक ऊपर उठ जाता है।" (**सोशल रूट्स ऑफ द आर्ट्स--पृ० ६९**) परम्परा के अन्तर्गत कल और आज की परम्पराएँ भी शामिल है और गत शताब्दी या आदिकाल से लेकर अब तक के किसी भी देश और काल की परम्पराए भी। साहित्य या कला को सच्चे अर्थो मे राष्ट्रीय साहित्य की महानता और व्यापकता देने के लिए विगत की कौनसी परम्परा को नई कला या साहित्य मे आत्मसात् करना चाहिए, इसका निर्णय तो प्रत्येक कलाकार या लेखक सामाजिक जीवन और सघर्षो की अपनी चेतना के अनुसार स्वय करता है। प्रेमचन्द ने टॉल्स्टाय, गोर्की, डिकेन्स आदि यथार्थवादी लेखको से प्रेरणा ली। अज्ञेय की प्रेरणा के स्रोत बोदलेयर, मलार्मे, प्रूस्त, टी० एस० इलियट, अल्डूस हक्सले, इजरा पाउण्ड, जा पाल सार्त्र आदि प्रतीकवादी, बिम्बवादी और अस्तित्ववादी कवि और उपन्यासकार ही बने, जो ह्रासकालीन पूँजीवाद की विशृङ्खलता, अराजकता और जन-विरोधी व्यक्तिनिष्ठा के प्रतिनिधि है।

तो अज्ञेय की 'प्रयोगशीलता' का नकाब उतारकर हम उसके असली 'प्रतीकवादी' रूप को समझ लेना चाहिए, क्योकि इस विशेष प्रकार की 'प्रयोगशीलता' के पीछे कविता, उपन्यास, कहानी और नाटक आदि के माध्यम से हमारी समूची जनता और कौम की विरासत और सामूहिक जीवन को, उसके समस्त वैविध्य और अन्तर्विरोधो के साथ कलात्मक रीति से प्रतिबिम्बित करने का आग्रह नही है। प्राचीन काल के कलाकारो की तरह नई परिस्थितियो से प्राप्त नई विषय-वस्तु को मूर्त, सक्रिय और सम्पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करने के निमित्त प्रयोग करना छोडकर केवल रूप-विधान और शैली को जान-बूझकर अधिकाधिक निजीय, जटिल और दुरूह बनाने की चेष्टा ही नई प्रयोगशील कविता की विशेषता है, क्योकि, जैसा हम कह चुके है, यह प्रवृत्ति 'प्रतीकवाद' और 'बिम्बवाद' से प्रभावित है। और जब अज्ञेय कहते है कि "प्रस्तुत सग्रह की सब रचनाएँ प्रयोगशीलता के नमूने" नही है तो प्रच्छन्न रूप मे कवियो से (जो अधिकतर प्रगतिशील जनवादी दृष्टिकोण के है) उनका यही आग्रह होता है कि 'आपकी कविता मे अभी प्रेषणीयता के गुण वर्तमान है, अभी तक आपने "चेष्टा-पूर्वक ध्यान रखकर" अपनी शैली को इतना प्रतीकात्मक नही बना पाया कि उसमे व्यक्त भाव-विचारो के सकेत केवल आपके लिए ही सार्थक हो, अन्य के लिए वे अगम्य हो--अर्थात् आप अभी तक अन्य मनुष्यो के साथ कवि के रूप मे सपर्क स्थापित किए हुए है, पूरे त्रिशंकु नही बने ! पूरे त्रिशकु बन जाने पर आप किस राजनीतिक दल या विचारधारा का समर्थन करते है, यह हमारे लिए चिन्ता का विषय नही होगा! '

हमे प्रयोगशीलता-बनाम-'प्रतीकवाद' से इसी बात पर आपत्ति है, इस पर नही कि प्रतीकवादी 'प्रतीको' का प्रयोग करते है--क्योकि भाव और विचारों से गुम्फित अनुभव को प्रक्षेपित करने के लिए प्रतीको का प्रयोग तो कवि आदि काल से करते आये है। इस प्रसग मे हमने जो नुक्ते उठाये है, हिन्दी-आलोचको का कर्तव्य है कि उनको दृष्टि मे रखकर वे इस नई धारा की समूची कविता, उपन्यास और कहानियों का सही-सही मूल्याकन करे और 'प्रयोगशीलता' के नाम से भ्रान्ति मे पडकर 'प्रतीकवाद' और 'बिम्बवाद' की शैलियो को अपनाने वाले कवि और लेखको का कर्तव्य है कि वे एक कलाकार की ईमानदारी से सोचे कि वे अपनी जनवादी विचारधारा के बावजूद कलाकार के रूप में कही जन-समाज के त्रिशकु तो नही बनते जा रहे ?

—२० जनवरी, १९५२

११

कविता में 'प्रगति' और 'प्रयोग' की समस्या

हिन्दी कविता मे 'प्रगति' और 'प्रयोग' शब्दो का इस्तेमाल लगभग दस-पन्द्रह वर्षो से होता आ रहा है—प्राय इस रूप मे जैसे ये दोनो सर्वथा भिन्न वस्तुएँ हैं। हमारी साहित्यिक विचारणा मे इन शब्दो को इतनी धूमधाम से प्रवेश कराने वाले चिन्तको और रचनाकारो के अपने-अपने आग्रहो-दुराग्राहो और उनको लेकर चलने वाली निरतर की तनातनी के परिणामस्वरूप पाठको मे यह व्यापक धारणा बन गई है कि 'प्रगति' का सम्बन्ध कविता की वस्तु (कन्टेट) से है और 'प्रयोग' का सम्बन्ध कविता के बाह्य रूपाकार (फार्म) से है।

किसी गहरी अनुभूति की कलात्मक अभिव्यजना के बिना भी, कविता मे यदि 'सही' मानववादी दृष्टिकोण या 'सही' वामपक्षीय राजनीतिक विचार पद्यबद्ध है, तो उन हल्की-फुल्की तुकबन्दियो को 'नये युग' की कविता घोषित करने मे हमारे कतिपय प्रगतिवादी आलोचक सकोच नही करते, और समझते है कि कोरे साधारणीकृत विचारो, सिद्धान्तो और वक्तव्यो मे 'आगे बढते जाने' या 'लडते जाने' के गर्वोक्तिपूर्ण उद्‌गारो और 'अँधेरा-सबेरा' की टकसाली चित्र-कल्पनाओ को यात्रिक ढग से जोडकर तुको की बन्दिश मे बाँध देने या मुक्त-छन्द के रूप मे लिख देने भर से ही कविता मे 'प्रगति-तत्व' पैदा हो जाता है। ऐसी स्थिति मे काव्य की किसी भी सौन्दर्य-परक कसौटी पर इन पद्यात्मक रचनाओ को परखने का प्रश्न नही रहा, क्योकि अमूर्त्त विचार-वस्तु की शुष्क और यथातथ्य नीरस व्यजना भी उनकी दृष्टि मे स्पृहणीय दिखाई देती है। 'सही' सिद्धान्त-कथन ही इन रचनाओ का जैसे औचित्य हो। गत पन्द्रह वर्षों मे प्रगतिवादी कवियो की कविताओ के अनेक सग्रह छपे है। उनमे कुछ श्रेष्ठ और सशक्त कविताएँ भी है, किन्तु अधिकतर ऐसी है, जिन्हे पढकर यह धारणा ही पक्की होती है कि इन कवियो ने काव्य के रूपाकार (फार्म) को विकृत और सतही बनाने मे जैसे एक दूसरे से होड लगा रखी है।

प्रयोगवादी, इसके विपरीत, 'प्रयोग' का सम्बन्ध केवल कविता के रूपाकार (फार्म) तक ही सीमित रखने पर जोर देते आये है। यह सच है कि रूपगत प्रयोगो को ही वे 'साध्य' घोषित नहीं करते, किन्तु ये प्रयोग किस विशेष 'वस्तु-सत्य' की अभिव्यक्ति के 'साधन' है, इसे वे कभी खुलकर बताते भी नही और न 'वस्तु' और 'रूप' के अगागि सम्बध पर जोर ही देते। वे अपने को 'राहो का अन्वेषी' तो कहते है, लेकिन राजनीतिक विश्वासो की भिन्नता के आधार पर कम्युनिस्ट से लेकर अमरीकी साम्राज्यवाद तक के हिमायती इन प्रयोगवादी

कवियो की विभिन्न 'राहे' उन्हे कहाँ, किस ओर ले जाती है, उनका गन्तव्य क्या है, यह गन्तव्य उनके काव्य के रूपगत प्रयोगो से निर्णीत होगा या काव्य-वस्तु से, इन सभी सगत प्रश्नो पर वे अपनी व्याख्याओ मे मौन ही रहते आये है। अपने पन्द्रह-वर्षो के 'प्रयोगो' और 'राहो के अन्वेषणो' के फलस्वरूप उन्होने आज तक साहस करके यह नही कहा कि उनकी कविता मे 'युग-सत्य' की अभिव्यक्ति होने लगी है। लगता है जैसे वे समझते है कि काव्य-वस्तु की ओर से उदासीन रहकर भी, केवल नये शब्द-चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य, चित्रो और ध्वनियो की अभिनव योजना के सहारे ही कविता मे 'प्रयोग' को सार्थक बनाया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे काव्य ओर सौन्दर्य की किसी भी वस्तु-परक कसौटी पर इन 'प्रयोगो' को परखने का प्रश्न नही रहा, क्योकि अभिव्यक्ति मे किसी भी प्रकार की सार्थक अथवा निरर्थक नवीनता ही उनकी दृष्टि मे स्पृहणीय दिखायी देती है, साहित्य के श्रेय-प्रेय से परे की यह रूपगत नवीनता ही इन कविताओ का जैसे औचित्य हो। गत पन्द्रह वर्षो म प्रयोगवादी (?) कविताओ के जो कतिपय सग्रह छपे है, उनमे कुछ कविताएँ सार्थक और सफल भी है, किन्तु अधिकतर ऐसी है, जिन्हे पढकर पाठको की यह धारणा ही पक्की होती है कि इन कवियो ने काव्य-परम्परा मे विच्छेद करने के साथ ही काव्य-वस्तु (कन्टेन्ट) को विकृत और सतही बनाने मे एक-दूसरे से होड लगा रखी है।

हिन्दी कविता, इस प्रकार, दोनो दिशाओ से एकागी बनती जा रही है। 'प्रगति' और 'प्रयोग' के समर्थको की काव्य-दृष्टियो मे और भी अनेक मौलिक भेद है, किन्तु यहाँ केवल इतना सूचित कर देना ही हमे अभीष्ट है कि 'प्रगति' या 'प्रयोग' के नारे उठाकर हमारे तरुण कवियो ने कविता के साथ गत वर्षो मे जैसा खिलवाड किया है, वह हिन्दी-पाठको को दायित्वहीन और एक सीमा तक उच्छृखल भी लगा है। इन कविताओ मे उन्हे न रस मिलता है, न कोई गहरा व्यापक अनुभव ही, जो उनकी मूक भावनाओ और वस्तु-सत्य की अरूप अनुभूतियो को वाणी और रूप देकर प्रकाशित कर दे। यहाँ कविता की सरलता और दुरूहता का प्रश्न नही है, न कवि के समष्टिवादी या व्यष्टिवादी दृष्टिकोण का, न पुरानी या नयी पद्धति का और न बहुसख्यक पाठको मे रुचि की गिरावट या समान-धर्मा अभिजात वर्गीय पाठको की अल्प सख्या का हो। यह सब प्रश्न तभी उठते है जब कविता वास्तव मे 'कविता' हो—अमूर्त्त विचारो की तुक-बन्दी या कोरा वाग्वैचित्र्य न हो।

इस युग मे कविता का स्तर गिर गया है और पाठक उससे विमुख हो गये है। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (इगिलिस्तान) ने अपनी रिपोर्ट मे स्वीकार किया है कि अग्रेजी के पाठको ने जैसे सर्वसम्मति से कटिबद्ध होकर आधुनिक कविता से (जो इजरा पाउण्ड, टी० एस० ईलियट और उनसे प्रभावित कवियो की प्रयोगवादी कविता है) पीठ फर ली है। कविता अब बिकती ही नही। अमरीका के बारे मे भी लुई अन्टरमियर की ऐसी ही रिपोर्ट है। दक्षिणी अमरीका के बारे म चिली के नोबल पुरस्कार-विजेता कवि ग्रैबीता मिस्त्राल का कहना है कि वहाँ भी कविता ह्रास-ग्रस्त है क्योकि कोई महान प्रतिभा का नया कवि नही पैदा हो रहा, और कविता का स्तर दिनोदिन गिरता जा रहा है। सोवियत

रूस मे भी मायाकोव्स्की के बाद अभी तक कोई बडी प्रतिभा का नया कवि नही पैदा हुआ। हमारे यहाँ भी, प्रसाद, पत, निराला के बाद, 'प्रयोग' या 'प्रगति' की समस्याओ मे जूझने वाले नये कवियो की पीढी मे कोई वास्तविक प्रतिभा का नया कवि नही पैदा हुआ। यह गिरावट सार्वत्रिक है। और विचित्र बात तो यह है कि इस गिरावट का कारण दोनो विचार-कोणो के समर्थक केवल वाह्य ही बताते है, वह भी जो समष्टिवादी है और वह भी जो व्यष्टिवादी है। दोनो ही इस गिरावट की जिम्मेदारी समाज के कन्धो पर डालकर अपनी अक्षमताओ के लिए औचित्य ढूंढ लेते है।

'प्रगति' के समर्थक, जो अधिकाशत साम्यवादी है, समाज-विज्ञान के अध्येता है, जिन्होने व्यक्ति और समाज तथा कला और समाज के पारस्परिक सम्बध की सारी गुत्थियो को वैज्ञानिक रीति से सुलझाकर ऐसे सटीक फार्मूले तैयार कर लिए है कि कोई बात उन की चेतना मे अस्पष्ट या व्याख्यापेक्षित नही रही, उनका कहना है--और अपनी जगह पर सही कहना है--कि वर्तमान पूंजीवादी समाज के वैषम्यपूर्ण वर्ग-सबन्धो की आधार-शिला मनुष्य द्वारा मनुष्य का श्रम-शोषण करके मुनाफा कमाना है। वर्तमान समाज की चरम-सीमा पर पहुँची हुई इस व्यवसायिक वृत्ति के कारण ही कविता और कलाओ मे ह्रास हो रहा है। विज्ञान-युग के सास्कृतिक साधनो (रेडियो, फिल्म, प्रेस) पर पूँजीपतियो की इजारेदारी है, जो अपने मुनाफे के लिए और अपने वर्ग का अस्तित्व कायम रखने के लिए इन साधनो के द्वारा जैसा साहित्य और जैसी कला को प्रोत्साहन दे रहे है, वह जनता की वस्तु-सत्य की चेतना को कुठित करती है, उसकी कला-रुचि को विकृत और अश्लील बनाती है, उसके मनमे बुर्जुआ-भ्रमो की जडे पक्की करती है। लेखक और कलाकार भी इस 'बाजार' के ही आश्रित है और ऐसी कृतियो की रचना करने के लिए विवश है, जो इन साधनो के स्वामियो को अधिक-से-अधिक लाभ दिला सके। ऐसी स्थिति मे कला का स्तर गिर जाना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त, लेखक और कलाकार स्वय पूँजीवादी भ्रमो और मनोवृत्तियो से मुक्त नही हुए है, और वे वर्तमान समाज की कलाघाती व्यवसायिक वृत्ति और वर्ग-वैषम्य के प्रति पूरी तरह सचेत भी नही है, अर्थात् समाजवाद के लिए सघर्ष करने वाली जनता के साथ नही है।

किन्तु कविता की जिन धाराओ की हम यहाँ चर्चा कर रहे है--प्रगति और प्रयोग की धाराएँ--उन पर यह वैज्ञानिक विवेचन पूरी तरह लागू नही होता। सबसे पहले, 'प्रगति' के समर्थक तो सचेतन कवि और लेखक है, वर्ग-समाज के वैषम्य की जाँच-पडताल मे ही उनका अधिकाश समय बीतता है, और उन्हे इस बात पर गर्व भी कम नही है कि वे पूंजीवादी भ्रमो और मनोवृत्तियो से अपने को मुक्त करके जनता के साथ एकजुट होकर समाजवाद के लिए सघर्ष कर रहे है। किन्तु फिर भी, उनकी कविता--केवल भारत मे ही नही, बल्कि वहाँ भी जहाँ मनुष्य पूंजीवाद के वर्ग-सम्बन्धो को मिटाकर नये समाज का निर्माण कर रहा है--एक बडी सीमा तक रसहीन और रूपहीन है, सो क्यो ? कम-से-कम उनकी कविता को तो पूंजीवादी व्यवसायिकता से उत्पन्न ह्रासोन्मुखता का अपवाद होना

चाहिए था। दूसरी बात यह कि, 'प्रयोग' के समर्थक कवियों ने, वे चाहे जिस शैली के हों—प्रतीकवादी, रूपचित्रवादी या अभिव्यजनावादी—वे सब पूंजीवादी मनोवृत्ति और दृष्टिकोण से चाहे जितने आक्रान्त हो, उन्होने व्यवसायिक लाभ के लिए क्वचित ही कभी लिखा है। उनकी कविता 'पॉपुलर' नही है, जिस तरह सनसनीखेज उपन्यास होते है। बल्कि सच तो यह है कि फ्रास, इग्लैण्ड या स्वय हमारे देश मे भी, व्यवसायिक लाभ की दृष्टि से रचे गये 'पॉपुलर साहित्य और कला' की तीव्र प्रतिक्रिया के रूप मे ही 'कला-कला के लिए' का नारा उठाया गया था, जो आगे चलकर अनेक रूपवादी शैलियो का जनक बना। रूपगत प्रयोग ही मुख्यत इस प्रतिक्रिया के माध्यम बने। सभी जानते है कि प्रयोगवादी रचनाएँ प्रकाशको के लिए मुनाफे की वस्तु नही रही। इसलिए 'प्रगति' के समर्थको का वैज्ञानिक तर्क वर्तमान काल मे कविता के स्तर की गिरावट का सही-सही निदान करने मे समर्थ नही है।

'प्रयोग' के समर्थक, जो अधिकाशत व्यष्टिवादी है, मनोविज्ञान (विशेषकर फ्रॉयडी मनोविश्लेषण शास्त्र) के मननशील अध्येता है, जिन्होने व्यक्ति के अचेतन मानस की ज्ञात और अज्ञात कन्दराओ मे (आत्मापेक्षण द्वारा) घुसकर मनुष्य के जैवी-स्तर की पाशविक वृत्तियो और अन्धी काम-वासनाओ का साक्षात्कार किया है, जो वास्तविकता को अपने मन के भीतर ही देखते है, जो व्यक्ति मानस को ही समस्त घटनाओ और सघर्षो का केन्द्र और कारण मानते है, जो व्यक्ति-साक्षेप विशिष्ट अनुभूतियो को ही निरपेक्ष सत्य समझते है, जिनके लिए कला केवल व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति का ही साधन और साध्य है, जिन्हे अपनी कला पर समाज और उसकी नैतिकता की छाया पड जाना भी स्वीकार नही है, उनका भी कहना है कि वर्तमान युग मे विज्ञान की ईजादो और युद्ध की विभीषिकाओ ने व्यक्ति की सत्ता को आमूल झकझोर दिया है। विज्ञान ने धर्म और ईश्वर की जडो पर कुठाराघात करके मनुष्य से उसकी आस्था का सम्बल छीन लिया है और इसके बदले मे व्यक्ति को इस अनन्त ब्रह्माण्ड मे मनुष्य-जीवन की अकिचनता का आभास देकर उसकी चेतना को अवसन्न कर डाला है। जड प्रकृति के इस अनन्त आँचल मे कण-तुल्य मनुष्य के अस्तित्व का मूल्य ही क्या ? मानव-समाज के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करने के ये सब सपने, योजनाएँ, सघर्ष और क्रान्तियाँ किस हेतु है, जब कि जीवन-मात्र एक आकस्मिक घटना है और अचेतन प्रकृति के एक ही आकस्मिक आलोडन मे सदा के लिए उसका अन्त हो सकता है ? युद्ध की विभीषिकाओं, क्रान्तियो और नये सर्व-सहारी अणु-अस्त्रो के निर्माण ने मानव-सभ्यता और सस्कृति को ही नही, व्यक्ति-जीवन के अस्तित्व और उसकी सम्भावनाओ तक को भी अनिश्चित बना दिया है। इस अनिश्चितता ने समाज मे मरण-भावना के प्रति गहरी आसक्ति पैदा कर दी है। मरण-भावना यों भी, मनोविज्ञान के अनुसार, मानव-मन की एक मूल-वृत्ति है। किन्तु आज अणु-बम या प्रकृति के कोप से मरने का त्रास ही व्यक्ति को नही सता रहा। फ्रायडी मनोविज्ञान ने व्यक्ति को जीते जी मरने के—एक बार नही बल्कि अनेक बार—त्रास के प्रति भी सचेत कर दिया है, अर्थात

पुसत्वहीनता के भय के प्रति, जो युद्ध, क्रान्ति या महामारी मे मरने से कही भयकर है। इसलिए इस युग में व्यक्ति के लिए अपने अस्तित्व की चिन्ता ही सबसे बड़ी और मौलिक चिन्ता है। पुसत्वहीनता का भय ही सबसे बडा भय है। इस चिन्ता और भय के विरुद्ध अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित करने के लिए आज लेखक और कलाकार विवश है। नैतिकता-अनैतिकता का प्रश्न उसके सामने नही है। उसे इस बात से प्रयोजन नही कि उसकी कला स्वस्थ है या अस्वस्थ, सरल है या दुरूह, क्योकि वह ईमानदारी से अपने मन की प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लिए प्रयोग करता है। अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का मार्ग उसके पास और है भी क्या ? अपने को स्वस्थ, आस्थाशील, मानववादी या नैतिक दिखाने के लिए वह अपनी कला पर किसी बाहरी सिद्धान्त या दृष्टिकोण का रग नही चढाता, क्योकि ऐसा करके वह अपने प्रति ईमानदार नही रह सकता और न अपनी आत्मा के सत्य को व्यक्त करके अपने व्यक्तित्व को ही प्रमाणित कर सकता है। वह किसी और की बोली मे क्यो बोले ? वह किसी भी समाज-स्वीकृत भावना, विचार, रूढि या नीति का पिष्ट-पेषण या चर्वित-चर्वण क्यों करे ? इसलिए उसके प्रयोग मुख्यत: कला के रूप तक ही सीमित है—ऐसे रूप की सृष्टि तक जो व्यक्ति कलाकार की विशिष्ट मानसिक स्थितियो की सश्लिष्टता को झलका सके। उसकी कविता समाज-वास्तव द्वारा आरोपित बाध्यताओ और विवशताओ की कविता है। आलोचक यदि कहते है कि यह कविता का ह्रास है तो वे जाने, कवि इसमे परेशान नही। साधारण पाठक यदि उसकी कविता को नही समझ पाते, तो यह उसे अभीष्ट नही। समान-धर्मा अभिजातवर्ग का एक छोटा-सा वर्ग भी उसे समझ जाय तो उसके प्रयोगो का औचित्य है। (सच तो यह है कि समान-धर्मा पाठक भी कवि के मन की विशिष्ट प्रतिक्रियाओ को ठीक-ठीक नही समझ सकते, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के विशिष्ट अनुभव की अपेक्षा मे ही किसी अन्य की बात को समझता है, अत एक प्रयोगवादी कवि की विशिष्ट मानसिक प्रतिक्रियाओं को प्रत्येक समान-धर्मा पाठक भी अपने ढग से ही समझेगा, जो कि सम्भव है कवि के मन्तव्य और मनोभाव से बिल्कुल भिन्न हो।)

किन्तु 'प्रयोगवादी' जब इस प्रकार की बौद्धिक दलीले देता है तो स्वय अपने व्यक्तिवाद की कब्र खोदकर उसमे कूद पडता है। यह मान लेने पर कि विज्ञान की ईजादो और युद्ध की विभीषकाओ ने अनिश्चिता और भय का वातावरण पैदा कर दिया है, जिससे समाज मे कुठा, निराशा, मरण-भावना, हिसा, पर-पीडन, अनास्था, यौन-उच्छृंखलता, स्वार्थपरता और मानवद्रोह की भावनाएँ ऊपर से नीचे तक व्याप्त हो गई है, क्या प्रयोगवादी कवि का केवल अपनी आत्मा के सत्य को व्यक्त करने या अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का यह सारा आडम्बर एक भयकर आत्म-प्रवचना का प्रमाण नही देता ?—क्योकि प्रयोगवादी कविता मे अधिकतर इन भावनाओ की ही अनुगूंज रहती है। व्यक्ति-कलाकार की आत्मा के विशिष्ट सत्य जैसी कोई चीज इन रचनाओं मे कौन-सी होती है ? माना कि य भावनाएँ सामाजिक नही है, नैतिकता की दृष्टि से अ-सामाजिक,

अ-नैतिक और अ-मानवीय है, किन्तु प्रयोगवादियो के ही कथनानुसार वे समाज मे व्यापक रूप से प्रचलित तो है और सामाजिक कारणो से ही तो उत्पन्न हुई है ? तो क्या उनका अ-सामाजिक, अ-नैतिक और अ-मानवीय होना ही उनकी 'विशिष्टता' का प्रमाण है, जिससे प्रयोगवादी उन्हे अपनी 'आत्मा का विशिष्ट सत्य' बनाने के लिए इतना उतावला रहता है। उसका ईमानदारी का सबूत क्या मनुष्य की पशुता को उघाडने मे ही है ? अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का यही तरीका उसके पास शेष रहा है ? इन प्रश्नो से कतराने के लिए वह केवल 'प्रयोग' पर जोर देता है, ताकि पाठक भ्रम मे पडकर केवल वचन-भगिमा, शब्दो की विचित्र योजना, उक्ति की वक्रता और लय की नवीनता को ही, अर्थात् अभिव्यक्ति के विशिष्ट ढग को ही उसकी 'आत्मा के विशिष्ट सत्य' और अपने 'व्यक्तित्व को प्रमाणित' करने का पर्याय मान ले और उसकी कविता मे निहित मानव-जीवन और जगत के प्रति कवि के वक्तव्य, भाव, स्वर और अन्तर्दृष्टि के वास्तविक स्वरूप को पहचानने की चेष्टा न करे, अर्थात् उसकी वस्तु को न जाचे। दूसरे, जिन सामाजिक बाध्यताओ और विवशताओ का प्रयोग-वादी उल्लेख करते है, वे गत पन्द्रह वर्षों या बीसवी शताब्दी की कोई आकस्मिक् उपज नही है। अनेक युगो मे, अनेक बार लोगो को अपने समय की चेतना की अपेक्षा मे प्रत्यक्षत दुर्निवार समस्याओ और सकटो का सामना करना पडा है। वर्ग-समाज की विषमताओ के बीच प्रगति करने वाले मनुष्य के सामने सघर्ष, युद्ध और क्रान्तियाँ कब नही रही ? किन्तु जितनी बडी समस्याएँ रही, उनका मुकाबला करने के लिए सामूहिक रूप से मनुष्य उतनी ही बडी शक्ति को उत्पन्न करने मे भी समर्थ होता रहा। उन युगो के महाकवियो और कलाकारो ने अपने व्यक्तिगत सुख-दु खो की सकीर्णताओ से उतना ही ऊपर उठकर चेतना-प्रेरक, प्राणवान् और जीवनाकाक्षी काव्य और कला की महान कृतियो का निर्माण किया—आखिर समस्याएँ और सकट भी तो मानवकृत ही थे और आज भी है। आज भी मनुष्य युद्ध की विभीषकाओ से बचने और अणु-शक्ति के विध्वसक उपयोग को रोकने के लिए सामूहिक रूप से शान्ति-सघर्ष मे अपनी अपार शक्ति को तोल रहा है। समाज-वास्तव का यह भी तो एक पहलू है—अधिक सत्य, चेतन और आशामय, जो कुठाओ से मेघाच्छन्न नही है। इसलिए 'प्रयोग' के समर्थको की बौद्धिक दलीले वर्तमान काल मे कविता के स्वर की गिरा-वट का सही-सही निदान करने मे समर्थ नही है।

इस प्रसग मे एक बात और उल्लेखनीय है—सामान्य पाठको के प्रति दोनो वर्ग के कवियो और आलोचको का आत्मश्लाघा से भरा तिरस्कारपूर्ण, नक्कूशाही दृष्टिकोण, जिसे अग्रेजी मे 'स्नॉबरी' कहते है। दोनो के पाठक अलग-अलग 'बन्द दायरे' के विशिष्ट पाठक है—प्रगतिवादी कवि केवल वर्ग-संघर्ष मे भाग लेने वाले कार्यकर्त्ताओ तक ही अपनी रचनाओ को प्रेषित करते है, क्योकि केवल वे ही अपनी उत्तेजित मनोदशा मे इन पद्यबद्ध वक्तव्यो को पढकर पुलकित होते है। उन्हे कविता या साहित्य से कोई स्थायी मूल्य का अनुभव पाने की अपेक्षा नही रहती, इसलिए वे अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के प्रति प्राय उदा-सीन होते है। उन्हे तो अधिकतर कामचलाऊ चीज़े चाहिएँ, जिनका उपयोग वे तुरत किसी

मच पर कर सके। इस तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति करके ही 'प्रगति' का समर्थक कवि अपने को पाँच सवारो मे गिनने लगता है, चाहे साधारण पाठक (जो अधिकाशत शोषित वर्गों के ही है) स्वतत्र रूप से उसकी रचनाओ को पढकर द्रवित और रस-विभोर न होते हो। इन कवियो के अहकार को प्रोत्साहन देने और साधारण पाठको के सहज विवेक और सौन्दर्यबोध को कुठित करने के लिए 'प्रगति' के वकील (ऐपॉलोजिस्ट) आलोचको और सम्पादको का एक गिरोह पैदा हो गया है। उनका तर्क-जाल इन कवियो को भी गुमराह करता है और पाठको मे भी हीन भावना पैदा करके एक विकृत और छिछली कला-रुचि फैलाता है। उनके तर्को का सार यह है---'तुम्हे (साधारण तथा प्रबुद्ध पाठको को) ये प्रगतिवादी कविताएँ पसन्द नही है ? इन मे रस नही मिलता ? तो निश्चय ही तुम प्रतिक्रियावादी हो, तुम्हारे सस्कार बुर्जुआ है, तुम 'कला कला के लिए' के समर्थक हो, कलावादी हो, रूपवादी हो, जनता से विमुख हो, जनता की अनलकृत भाषा के विरोधी हो। तुम सत्य नही चाहते, केवल शब्दो का इन्द्रजाल तुम्हे रुचता है। क्या कहा ? सत्य चाहते हो, जनवादी हो ? तो फिर इन कविताओ मे 'सत्य' ही तो व्यक्त है ! ये कवि ही तो सच्चे जनवादी है ! कबीर, तुलसी और भारतेन्दु अपने समय के सच्चे जनवादी कवि थे, उन्होने जनभाषा मे लिखा, उनकी परम्परा को वर्तमान युग की आवश्यकताओ के अनुसार ये कवि ही तो विकसित कर रहे है। ये कविताएँ तुम्हे अभी नही रुचती, क्योकि तुम अभी इस युग की समस्याओ के प्रति सचेत नही हो, लेकिन भविष्य की कविता पलायनवादी और कल्पना-लोक मे विहार करने वाली नही होगी, बल्कि उसमे जीवन के ठोस यथार्थों की अभिव्यक्ति होगी, जो इन कविताओ मे पर्याप्त है।' इस प्रकार के युक्ति-युक्त लॉछनो और उपदेशो को सुनकर इस कविता को तुच्छ और रद्दी कहने का साहस किसे होगा ? साधारणतया कोई व्यक्ति अपने को प्रतिक्रियावादी नही मानना चाहता।

इसके ठीक विपरीत, प्रयोगवादी कवि अभिजातवर्ग के उन अल्पसख्यक पाठको तक ही अपनी कविता को प्रेषित करते है, जो एक ओर तो अपने उपजीवी और निठल्ले जीवन के कारण भावना से उच्छृ खल और दायित्वहीन है, दूसरी ओर वर्तमान पूँजीवादी समाज के अन्तत ह्रास की आशका से सत्रस्त और उद्भ्रान्त भी है। ऐसे ('समानधर्मा') पाठको को सार्थक या निरर्थक रूपगत प्रयोगो की पहेली-बुझौवल से एक विशेष प्रकार की मानसिक तृप्ति मिलती है। उन्हे कविता या साहित्य से कोई गहरा मानवीय अनुभव पाने की अपेक्षा नही रहती। इसलिए कविता की वस्तु के प्रति वे प्राय उदासीन रहते है। उन्हे तो अक्सर ऐसी वक्र उक्तियाँ और चुटकले चाहिए, जिन्हे वे अपनी ऊब और कुठा दूर करने के लिए अपने वर्ग के बीच बैठकर व्यग-विनोद करने, एक-दूसरे पर फब्तियाँ कसने, मुँह बिचकाने या सामाजिक भावनाओ और नैतिकता की खिल्ली उडाने के लिए तुरत इस्तेमाल कर सके, या जो उनकी मानवद्रोही अनास्थाशील और यौन-उछृ खलतावादी भावनाओं का औचित्य सिद्ध करके तत्काल के लिए उनके अन्त करण को मुक्त कर दे। इस तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति करके ही 'प्रयोग' के समर्थक कवि अपने को बहुत बड़ा

तीसमारख़ाँ गिनने लगते है, चाहे सामान्य पाठक (जिनमे प्रबुद्ध, सस्कृत और सवेदनशील पाठकों की कमी नही है) स्वतत्र रूप से उनकी रचनाओ को पढ़कर विरक्ति और ग्लानि का ही अनुभव क्यो न करते हो। वे अपने को सूर, तुलसी, गालिब, रवीन्द्र, इक़बाल, प्रसाद, पत, निराला से किसी भी अश मे कम नही मानते। इन कवियो के अहकार को प्रोत्साहन देने और साधारण पाठको की सहज मानवीय भावनाओ और वस्तु-बोध को कुठित करने के लिए 'प्रयोग' के वकील (एपॉलोजिस्ट) आलोचको, सम्पादको और आध्यापाको का एक गिरोह पैदा होता जा रहा है (पाश्चात्य देशो मे तो इस गिरोह मे बडे-बडे नामवर लोग है) जो उक्ति-वैचित्र्य, शब्द-चयन, ध्वनि-चित्र के टेकनिकल स्तर तक ही प्रयोगवादी कविता के विवेचन को सीमित रखकर सामान्य पाठको मे एक विशेष प्रकार की हीन-भावना पैदा करने की उद्धत चेष्टा करते है। उनके तर्कों का सार यह है—'तुम्हे (साधारणतया प्रबुद्ध पाठको को) ये प्रयोगवादी कविताएँ पसन्द नही है। तुम्हे ये दुरूह लगती है? तुम इसे अनर्गल प्रलाप कहते हो? तो तुम निश्चय ही रूढिपन्थी हो, समय से पिछडे हुए हो, तुम्हारी रुचि का आधुनिक सस्कार नही हुआ, तुम मतवादी हो, पूर्वग्रहो से ग्रस्त हो! तुम्हारी भावनाएँ दकियानूसी और असस्कृत है। तुम कविता की कृत्रिम रूप से गढी हुई रंगीन भाषा के आदी हो, जिसके भाव, चित्र, अलकार और उपमान पुराने और टकसाली हों। पुराने के प्रति मोह मनुष्य का स्वभाव है, क्योकि दीर्घ परिचय के कारण वह बोधगम्य होता है, लेकिन पुराने भावो को व्यक्त करने मे मौलिकता कहाँ है? और नये भाव पुरानी भाषा मे कसे व्यक्त हो सकते है? कविता का विकास परम्परा से आबद्ध रह कर नही हो सकता। फिर इतनी सकीर्णता क्यो? क्या कहा, तुम पिछडे नही हो, दकियानूसी नही हो, आधुनिक चेतना के मनुष्य हो? तो फिर यह 'प्रयोगवादी कविता' ही तो अधुनातन कविता है, परम्परा से सर्वथा मुक्त। वास्तव मे यही 'सच्ची' कविता है, क्योकि इतिहास मे पहली बार कवि ने ईमानदारी से अपने मन की जटिल और विशिष्ट प्रतिक्रियाओ को अभिव्यक्ति दी है—वह अपने अन्नदाता की प्रशस्तियाँ गाने वाला राजकवि और चारण-भाट नहीं रहा, वह नैतिक बन्धनों के कारण 'ढुलमुल चाटुता से वासना को झलमला कर' गाने वाला भक्त कवि नही है, वह 'कल्पना का लाडला' छायावादी भी नही है, जो 'निपट भावावेश से निर्वेद' अवस्था मे पहुँचकर जीवन-यथार्थ से ही विमुख हो गया था। यह प्रयोगवादी कवि ही सच्चा कवि है, जो बिना किसी लाग-लपेट के जीवन की वीभत्सता, कुत्सा और निस्सारता का सही चित्र अकित कर देता है। पुराना काव्य, इसीलिए, कोरा शब्द-जाल है, थोथा कौशल है, केवल बाह्य की अनुकृति है। उसमे प्रौढ़ता नही, कवि के व्यक्तित्व का प्रकाश नही। सौन्दर्य के पुराने मान-दण्डो से इस नई कविता को मत जाँचो! यह मत देखो कि कवि ने क्या कहा है, क्योकि यह जानना महत्त्वपूर्ण नही है, और ऐसा करने से अनिवार्यतः तुम व्यर्थ के नैतिक पचडों में फँस जाओगे। तुम्हे तो सिर्फ यह देखना चाहिए कि कवि क्या कहना चाहता है—वह चाहे जो हो, तुच्छ या महान, नैतिक या अनैतिक—और जो कहना चाहता है, वह ठीक से, निर्भीकता से, ईमानदारी से कह पाया ह

या नहीं। नई कविता का सौन्दर्य कवि की इस ईमानदारी में है जो उसके कहने के ढंग में व्यक्त होती है।' इस प्रकार के युक्ति-युक्त लांछनो को सुनकर इस कविता को मानवद्रोही और खोखला कहने का साहस किसे होगा ? साधारणतया कोई व्यक्ति अपने को मूर्ख, असस्कृत और समय से पिछडा हुआ नही मानना चाहता। तो दोनो ही अपने नक्कूशाही दृष्टिकोण से साधारण पाठक के सत्य-परक विवेचन और सौन्दर्य-बोध को मूछित करना चाहते है। इतिहास मे जान-बूझकर, केवल इतने विशिष्ट पाठको तक ही अपनी कविता को प्रेषित करने की चेष्टा रचनाकारो ने कभी नही की। गत युगो के सभी महान कवियो ने अपने वर्गगत सस्कारो के बावजूद, अपनी जान मे तो मनुष्य-मात्र तक अपनी कविता को प्रेषित करने का ही प्रयत्न किया, जिसके कारण भी उनकी कविताएँ सर्वजन-सवेद्य बन सकी। वाल्मीकि, कालिदास, होमर, शेक्सपियर और गेटे की कविता रसार्द्र करने के लिए किसी पाठक से विशिष्ट राजनीतिक दृष्टिकोण या अभिजातवर्गीय अनास्था और कुठा की अपेक्षा नही रखती।

आधुनिक पाठक जैसे कविता के बीहड जगल मे फॅस गया है, जहाँ समाज को दोषी ठहराने वाली कर्कश आवाजे तो सुनाई देती है, लेकिन कविता की रसधारा नही बहती। स्वय उस बेचारे को प्रतिक्रियावादी, दकियानूसी या मूर्ख कहकर लाछित तो किया जाता है, लेकिन उसकी विश्व-बोधिनी चेतना को गहरी अन्तर्दृष्टि और उसकी भावनाओ को गहरा मानवीय सस्कार नही दिया जाता। ऐसे मे यदि पाठक का दम घुटता है और वह इस जगल से जान छुडाकर निकल भागने को छटपटाता है, तो इसमे आश्चर्य की कौन सी बात है ? कविता के स्तर की गिरावट के लिए समाज की व्यावसायिकता जिम्मेदार है, विज्ञान की ईजादे, युद्ध की विभीषकाएँ और आधुनिक युग की अनास्था जिम्मेदार है और इन विपरीत परिस्थितियो मे भी जो कविता रची जा रही है, उसको नापसन्द करने या समझ न पाने के लिए पाठको की बुर्जुआ मनोवृत्ति या उनकी रूढि-प्रियता और मूर्खता जिम्मेदार है--आधुनिक कविता के पाश्चात्य वकीलो की किताबो से रट-रटाकर, इन तर्को की आवृत्ति और पुनरावृत्ति करते फिरना तो एक फैशन-सा बन गया है, लेकिन क्या कभी किसी ने पाठक का मत भी जानना चाहा है ? आज का प्रबुद्ध पाठक भी तो आधुनिक युग की चेतना मे ही पला है--विज्ञान-मनोविज्ञान के अन्वेषणो-विश्लेषणो, युद्धो-अणुअस्त्रो की विभीषिकाओ, साम्राज्यवाद-फैसिज्म के अत्याचारों, आर्थिक-सकट-बेरोजगारी की अनिश्चितताओ-यातनाओ, स्वतत्रता-सग्रामो, समाजवादी क्रान्तियो और शान्ति-आन्दोलनो के विप्लवकारी परिवर्तनो के बीच ही उसके विश्व-बोध और भाव-प्रतिक्रियाओं का विकास हुआ है, जिनकी दुहाई देकर हमारे नये कवि अपनी कलागत् अक्षमताओं या मानवद्रोही भावनाओ के लिए बौद्धिक औचित्य खोजते फिरते है, मानो इस युग की यातनाओं और उथल-पुथल के एकमात्र वे ही भुक्त-भोगी दृष्टा रहे है, और मानो पाठक किसी प्राचीन अन्धकार-युग के निर्द्वन्द्व वातावारण मे रहते आये है। किन्तु आधुनिक कवि की आत्म-प्रवचनाओं के कवच को छेदकर प्रबुद्ध पाठक पूछता है--उसे पूछने का अधिकार

है, क्योंकि इन कविताओ के लिए वह अपनी कमाई के पैसे ही नही खर्च करता, बल्कि उन्हे अपने गले से नीचे उतारने के लिए भी बाध्य किया जाता है---इसलिए वह पूछता है कि कविता-क्षेत्र की इस समस्त धाँधली के लिए क्या कवि की जिम्मेदारी कुछ भी नही है ? जो कवि विषय-वस्तु पर ही जोर देते है और अभिव्यक्ति और रूप (फार्म) के प्रति प्राय उदासीन रहते है, वे क्या रूप (फार्म) से मुक्त कविता की सृष्टि कर सकते है ? रूप-सौन्दर्य और व्यजना-तत्व की अवहेलना करने से क्या बडे-से-बडा विचार स्वय विकृत होकर क्षुद्र नही बन जाता ? उसका कलात्मक मूर्तीकरण क्या अन्तत रूप के ही आश्रित नही है ? इसलिए अनगढ, रुक्ष और अविकसित रूप (फार्म) मे क्या विचार-वस्तु, विश्व-बोध, भाव, स्वर सभी कुछ सकीर्ण और क्षुद्र बनकर नीरस और निर्जीव नही दिखता ? और जो कवि केवल रूप (फार्म) पर ही जोर देते है और विचार-वस्तु के प्रति प्राय. उदासीन रहते है, या उसकी चर्चा से कतराते है, वे क्या वस्तु से मुक्त रखकर किसी शुद्ध रूप की सृष्टि कर सकता है ? विचार-वस्तु की अवहेलना करने से क्या रूप-निर्माण की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेष्टाएँ खोखली और बेढगी नही बन जाती ? रूप की रेखाएँ क्या वस्तु की व्यजना मे ही नही अनिवार्यत उभरती-निखरती ? इसलिए तुच्छ और उलझी विचार-वस्तु और क्षुद्र और कुत्सित भावनाओ से, कुशल प्रयोगो के बावजूद, क्या रूप भी विकृत होकर भोडा नही दिखता ? ऐसी एकागिता क्या दोनो प्रकार की कविता को समान रूप से नीरस, निरर्थक, कुरूप और अ-प्रेष्य नही बना देती ? क्या इस एकागिता के लिए भी कवि की जिम्मेदारी कुछ नही है ?---तो कवि का मानस क्या ग्रामोफोन का चक्का है जिस पर सिर्फ राजनीतिक पार्टियो के वक्तव्यो के रिकार्ड ही बजाये जा सकते है, या मात्र एक ऐसी विशिष्ट फोटो-प्लेट है जिस पर समाज मे व्याप्त कुत्साओ, वासनाओ और क्षुद्रताओ के रूप ज्यो-के-त्यो उतर आते है, और वास्तविकता के अन्य सविधायक पहलू उस पर अपना अक्स नही छोड पाते ? 'कवि क्या कहना चाहता है', केवल इतने तक ही पाठक अपनी जिज्ञासा को सीमित क्यो रखे ? पाठक अन्तर्यामी तो नही है जो कवि के अवचेतन मन की 'उलझी सवेदनाओ' को भाँप जाये ? किसी कविता मे कवि ने क्या कहा है, जो कहा है वह मनुष्य के परम्परागत अनुभव की अपेक्षा मे कैसा है, किस कोटि का है---नवीनता, गहराई, व्यापकता जीवन-बोध और मानवीय रागात्मकता की दृष्टि से---इन सब सौन्दर्यपरक, नैतिक और दार्शनिक स्तरो पर भी उसके कथन को वह क्यो न जाँचे-परखे ? केवल 'कैसे कहा है'---शिल्प-टेकनीक के स्तर की इतनी जाँच-परख ही क्या पर्याप्त है ? क्या इतने से ही कविता का सम्पूर्ण अर्थ ग्रहण कर पाना सम्भव है ? आधुनिक पाठक की चेतना भी इस युग के अनुसार ही सश्लिष्ट है, अत किसी भी कविता को पढते समय शब्द-चमत्कार और ध्वनि-सौन्दर्य के प्रारम्भिक मूर्त्त-स्तर से लेकर नैतिक और दार्शनिक चेतना के उच्चतर अमूर्त्त स्तरो तक की प्रक्रियाएँ एक साथ ही उसके मन मे अनायास चालू हो जाती है---उस कविता के सम्पूर्ण अनुभव को ग्रहण करने के लिए---उनके सम्मिलित निर्णय के आधार पर ही पाठक उस कविता का मूल्य आँकता है। आधु-

निक कविता को समझने का प्रयत्न करते समय वह इन उच्च-स्तर की जिज्ञासाओ को बरबस क्यो दबा रखे ?

किन्तु इन उच्च-स्तर की जिज्ञासाओ का जिक्र आते ही पाठक के 'पूर्वग्रहो' को रसास्वादन की क्रिया मे विघ्न डालने वाले दस्युओ के रूप मे घसीट लाना क्या आधुनिक कविता के वकीलो (ऐपॉलोजिस्ट्स) को शोभा देता है ? कवि के पूर्वग्रह क्या नही होते, और वे उसकी कविता मे क्या अनिवार्यत व्यक्त नही होते ? पाठक के पूर्वग्रह निन्दनीय है तो कवि नामधारी व्यक्ति के पूर्वग्रह किस दैवी पुण्य के कारण वन्दनीय है, जो पाठक उन्हे अतर्क्य श्रद्धा-भाव से अपने सिर-माथे स्वीकार करता जाय ? आखिर ये 'पूर्वग्रह' है कौनसी बला, जिनसे कोई भी व्यक्ति मुक्त नही है––कभी नही रहा––और जो किन्ही दो व्यक्तियो को परस्पर अपने हृदय की बात कहने-सुनने-समझने के मार्ग मे सदा एक दुर्लघ्य दीवार बनकर खडे हो जाते है ? वास्तव मे 'पूर्वग्रह' ऐसी कोई भयकर बला नही है, यदि होते तो ज्ञान-विज्ञान और कला का कही अस्तित्व न होता, यहाँ तक कि मनुष्य की भाषा तक का विकास न होता। 'पूर्वग्रह' मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक अनुभव और ज्ञान के मार्ग से विकसित होने वाली चेतना, नैतिक-सस्कार, सौन्दर्य-भावना और विश्व-बोध का अनिवार्य परिणाम है, जो व्यक्ति की निजी धारणाओ, मान्यताओ और सहानुभूतियो के रूप मे व्यक्त होते है। किन्तु ये 'पूर्वग्रह' व्यक्ति की ऊपर से निजी दिखने वाली धारणाएँ, मान्यताएँ, और सहानुभूतियाँ, युग-चेतना के विकास और व्यक्तिगत तथा सामाजिक रूप से वस्तु-सत्य के नये अनुभव की अपेक्षा मे स्वत बदलते भी रहते है। कला, तथा विज्ञान, जीवन और जगत के सत्य का अपने-अपने ढग से उद्घाटन करके, मनुष्य के विश्व-बोध को व्यापक बनाते है तो साथ ही उसके पूर्वग्रह भी सकीर्णता त्यागकर अधिक व्यापक और मानवीय होते जाते है। फिर 'पूर्वग्रहो' का भूत खडा करके प्रयोगवादी कवि अपने और पाठक के बीच किसी गहरे चेतनाप्रद अनुभव के आदान-प्रदान की सम्भावना को ही बन्द क्यो कर देना चाहते है ? गत युगो के महान कवियो की तरह (जो स्वय अपने पूर्वग्रहो, अपने युग की चेतना और शिल्प-ज्ञान की सीमाओ से मुक्त नही थे) जीवन-वास्तव और मानव-सम्बन्धो के सत्य की गहरी चेतना देने वाली मार्मिक कविता रचकर आधुनिक कवि भी मनुष्य के सकीर्ण, क्षुद्र, असस्कृत, पिछडे, असामाजिक पूर्वग्रहो को तोडने और उस की सहानुभूतियो को और अधिक व्यापक तथा मानवीय बनाने मे क्यो योग नही देते ? या फिर स्वय उनकी सहानुभूतियाँ, उनके 'पूर्वग्रह' इतने सकीर्ण, आत्म-केन्द्रित और असामाजिक है कि वे अपने रुग्ण मानस के बाहर निकलकर वास्तविकता को देख-समझ ही नही सकते, और शायद इसी कारण उनकी पर्दापोशी के लिए वे पाठक के 'पूर्वग्रहो' का भय दिखाते है ताकि पाठक की उच्च स्तर की जिज्ञासाओ की अन्तर्भेदी दृष्टि के आगे उन्हे अपनी क्षुद्र और मानवद्रोही आत्मा की 'नगाझोरी' देने के लिए बाध्य न होना पडे ? पर उनकी इस दयनीय स्थिति की जिम्मेदारी किस पर है ? सकीर्णता पाठक की है या आधुनिक कवि की, जो या तो जीवन-वास्तव के प्रति निपट

असंवेदनशील है, या यदि संवेदनशील है तो केवल उस अग के प्रति ही जो ह्रासोन्मुखी है, और जिसे सम्पूर्ण सत्य मानकर, उच्छृखलता और गैर-जिम्मेदारी की झोक मे, वह अपनी रही-सही मानवीय सहानुभूतियो का गला घोटने पर उतारू हो गया है ?

जीवन पर सकट के बादल छाये हे, किन्तु मनुष्य ने क्या उसके आगे घुटने टेक दिये है ? क्या स्वय हमारे देश की आवाज, जो छत्तीस करोड जनता की आवाज है, इस सकट से मनुष्य जाति का उद्धार करने के लिए इतिहास और जीवन का आग्रह लेकर विश्व मे गूंजकर लोगो मे नई आशा का सचार नही कर रही है ?

इस आवाज के प्रति कवि क्यो कर्ण-बधिर होकर बैठ गया है या उसको मुँह क्यो बिचकाता रहता है ? क्या अपनी आध्यात्मिक रकता और पुसत्वहीनता का ढिढोरा पीट कर किसी भी शाब्दिक तिलिस्म से वह अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित कर सकेगा ?

प्रबुद्ध पाठक के प्रश्नो का अन्त नही है, किन्तु हम इस सूची को अनावश्यक रूप मे लम्बा नही बनाना चाहते। इन प्रश्नो की गम्भीरता केवल इस तथ्य को ही रेखाकित करती है कि दोनो पक्षो के प्रवक्ता और कवि 'प्रगति' और 'प्रयोग की समस्या को जिस एकागी दृष्टि से समझते हे और आधुनिक कविता मे जो गिरावट दिखाई देती है—एक ओर विशेषकर शिल्प-सौन्दर्य और दूसरी ओर भाव-विचार-वस्तु की—उसके बारे मे प्रचलित प्रवादो, मतवादो और फैशनो के चक्कर मे न पडकर नये कवि अपने महान दायित्वो को समझे। प्रगति और प्रयोग की समस्या को वे समग्र रूप मे देखे। और जिनमे प्रतिभा है वे उसको, परिस्थितियो की विषमता के बावजूद, 'सच्ची' कविता के सृजन मे लगाये। इसी मे कवि का गौरव है और देश का गौरव है।

—फरवरी, १९५५

१२

आधुनिक कविता की समस्याएँ

आधुनिक कविता मे कई प्रवृत्तियाँ और दृष्टिकोण है और इसके कई रूप है। लकिन उसकी जो प्रवृत्ति और शैली इन दिनो तीव्र विवाद का विषय बनी हुई है, वह है प्रयोगवादी धारा। प्रयोगवादी कवि अपनी कविता को ही हिन्दी की नई या आधुनिक कविता मानते है। इसलिए मै इस सक्षिप्त विवेचन मे प्रयोगवादी कविता पर ही विचार करूँगा।

हिन्दी मे प्रयोगवादी कविता विश्व-काव्य मे कोई अन्यतम या अभूतपूर्व विकास नही है। काव्य ही क्यो, साहित्य और कला के अन्य रूपो और माध्यमो, जैसे उपन्यास, नाटक, चित्र, सगीत और स्थापत्य मे भी इस शताब्दी मे नई प्रवृतियाँ मुखरित हुई है और उनके बारे मे भी समीक्षको, पाठको और दर्शको मे तीव्र मतभेद और विचार-सघर्ष चल रहा है। यह सब जीवन और जाग्रति का लक्षण है। उनके समर्थन या विरोध मे जो कुछ कहा-सुना जा रहा है, उसमे सारा-का-सारा अनर्गल नही है। दोनो ओर कुछ सत्य है और कुछ असत्य है। इस समस्त ऊहापोह, विरोध और विचार-सघर्ष का परिणाम यह है कि दोनो ओर के असत्य का छिलका उतर रहा है और सत्य उभर कर एक नये सन्तुलन की माँग करने लगा है।

वर्तमान युग को सक्रान्ति युग कहा गया है, यानी हमारा जीवन पुराने के दायरे से निकल कर नये के दायरे मे सक्रमण कर रहा है। हर सक्रान्ति युग विकट सघर्ष, वैषम्य, सकट और सत्यान्वेषण का युग होता है। उसमे मनुष्य के पुराने समाज-विधान का ढाँचा ही नही टूटता, बल्कि उसके विश्वास, उसकी नैतिकता, उसके विचार और भाव प्रतिक्रियाएँ भी बदलने लगती है, और जो कुछ पुराना है, उससे टकराती है। मनुष्य का समूचा विश्व-बोध एक नये परिवर्तन के भवर मे पड जाता है। ऐसे युगो के कवि और कलाकारो की कृतियो मे व्यक्तिगत अभिव्यक्ति या पात्रो के चरित्र-चित्रण के माध्यम से वस्तुत. मनुष्य के नये विश्व-बोध और तत्कालीन जीवन की पुरानी मान्यताओ का विराट् सघर्ष प्रतिबिम्बित होता है।

इस शताब्दी के आरम्भ से ही विश्व-मानव अपने जीवन मे एक नये युगान्तर का अनुभव करने लगा है। आधुनिक समाज भयकर असगतियो से ग्रस्त है। विज्ञान ने सस्कृति के व्यापक प्रसार के लिए प्रेस, सिनेमा, रेडियो, टेलिविजन जैसे सर्वजन-सुलभ साधन मनुष्य को प्रदान किये है। प्रजातन्त्र ने शिक्षा को भी सर्वजन-सुलभ बनाने की कोशिश की है। लेकिन साक्षरता जितनी ही बढ़ती है, लोग उतने ही अशिक्षित होते जाते है। जीवन

के उच्चतर मूल्यो के प्रति उनकी आस्था कम होती जाती है और साहित्य तथा कला की श्रेष्ठ कृतियो के प्रति उनकी उदासीनता बढती जाती है। आज के यान्त्रिक युग मे शिक्षित व्यक्ति दैनिक समाचार पत्रो या अधिक-से-अधिक रोमान्टिक कहानियो और सनसनीखेज उपन्यासो का पाठक बनता जा रहा है। दूसरी ओर सिनेमा प्राय अधिकतर सस्ते मनोरजन का साधन बन गया है। जीवन की विषम और कठोर वास्तविकता से एक क्षण के लिए पलायन करके मन बहलाने का साधन।

इन सबके ऊपर, विज्ञान ने ऐटम की शक्ति का पता लगाकर विश्व को एक नये त्रास के दु:स्वप्न से आक्रान्त कर दिया है। राजनीतिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक और वर्ग सगठनो और समूहो के बीच व्यक्ति-मानव खो गया है। व्यक्ति-मानव ही क्यो, समूह या समष्टि का जीवन भी आज निरापद नही है। वह भी एक अमूर्त्त इकाई है, जिसे उद्जन बमो से बिना किसी हार्दिक वेदना का अनुभव किये मिटाया जा सकता है।

आधुनिक कविता को समझने के लिए वर्तमान विश्व-जीवन के इन तथ्यो को ध्यान मे रखना चाहिए, क्योकि आधुनिक कविता के पीछे इन परिस्थितियो की ही प्रबल प्रेरणा है। आधुनिक मानव-समाज जिन असगतियो से ग्रस्त है, उसमे जो सगठित शक्तियाँ एक दूसरे से जूझ रही है और इन समस्त वैज्ञानिक आविष्कारो, राष्ट्रीय आन्दोलनो, वर्ग सघर्षो और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाओ, वैमनस्यो और युद्धो के बावजूद या उनके परिणाम स्वरूप वह जिस दिशा म अग्रसर है, उसकी गति-विधि को प्रभावित करना व्यक्ति-मानव की सामर्थ्य के बाहर हो गया है। कवि और कलाकारो की आवाज नक्कारखाने मे तूती की आवाज बन गई है। इसलिए वे इस विराट उथल-पुथल के निरुपाय दृष्टा बनते जा रहे है। वे विश्व-रगमच के सक्रिय अभिनेता नही रहे। कम-से-कम वे तो ऐसा ही अनुभव करते है।

वर्तमान विश्व-जीवन की यह तस्वीर काफी निराशाजनक और भयकर है। इसीलिए आधुनिक कविता मे खीज, झुझलाहट, कुठा, अनास्था, निराशा और मानवद्रोही भावनाओ की इतनी तीव्र अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि जब 'अज्ञेय' की आत्मा चीत्कारती है—

"यह दीप अकेला स्नेह भरा
है, गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी ? पक्ति को दे दो।"

या जब सर्वेश्वर दयाल सक्सेना इस समाज मे अपने व्यक्तित्व की उपेक्षा का मार्मिक चित्र खीचते हुए कहते है—

पोस्टर
जो दूसरो की बात कहते है
जिनके हृदय नही है पर प्यार का सन्देश देते है
जो एक आकार है महज आकार

जिसकी कोई सीमा नही है
जिनके भाव दूसरे के है
वे आज के युग मे
आदमी से अधिक बडे सत्य है
उन्हे सब पहचानते है
वे ही महान है ।

या जब नेमीचन्द जैन अपनी मृत आकाक्षाओ की समाधि पर खडे होकर चीड के सनसनाते हुए पेड से उनकी आत्मकथा सुनने की याचना करते है--

ओ चीड के पेड
मै हूँ मरुस्थल
मैदान जलता हुआ सा
पडा है शिखर के चरण से बहुत दूर
जलता सुलगता--

या जब नरेशचन्द्र वर्मा अपना आत्म-परिचय देते हुए कहते है

हुआ क्या ?
जो भी है देख लो
मै नग्न हूँ--नग्न
गति लीन--
--अति प्रच्छन्न
--हृदय की धडकन--
और जीवन--
बारेसी है गरीब की
--आँच नही
जल--------
जल रे जल

तब उनके व्यक्तिगत उद्‌गार के पीछे वर्तमान समाज के सत्य का वह पहलू प्रतिध्वनित होता है जिसका उल्लेख मै अभी कर चुका हूँ । समूह और सगठन, यानी समष्टि व्यक्ति को रौद रही है, उसके अभिप्रायो और उसकी आकाक्षाओ को निर्ममता पूर्वक घोट रही है, इसकी तीव्र अभिव्यक्ति इन सभी कविताओ मे मिलती है । यह सत्य है, किन्तु क्या आधुनिक विश्व-जीवन का यही समग्र सत्य है ? क्या आज की वास्तविकता का यह पहलू मात्र नही है ? आधुनिक-मानव का नया विश्व-बोध क्या इस वैषम्य की एकागी चेतना तक ही सीमित है ? आधुनिक कविता से मेरा विरोध इस प्रश्न को लेकर ही है, जो वास्तव मे उतना विरोध नही, जितना दृष्टि-परिधि को युग के सम्पूर्ण सत्य तक विस्तारित करने का आग्रह और सुझाव भर है ।

आधुनिक कविता काव्य-शास्त्र की प्राचीन रीतियों को त्याग रही है। उसके 'छन्द बन्ध और प्रास के रजत पाश' टूट रहे है। शब्द-चयन, वाक्य रचना, अलकार विधान, सभी कुछ बदल रहे है। कविता तुक-ताल के बधनो से मुक्त होकर नये आशय को स्पष्ट करने, अभिव्यक्ति को सघन और तीव्र बनाने के लिए नई भाषा, नई लय, नई शैली और नई टेकनीक का प्रयोग कर रही है—यह सब बाते मुझे या किसी भी प्रबुद्ध पाठक को चिन्तित नही करती। इतिहास के सभी सक्रान्ति युगो मे, यहाँ तक कि हर युग की कला मे, नये रूप-विधानो या अभिव्यक्ति के नये प्रकारो की खोजबीन होती है। जिसके पास कहने को कुछ भी नया है, ऐसा हर कवि और कलाकार रूपगत प्रयोग करता है। अभिव्यक्ति की रूढ शैलियो के प्रति मोह जीवन और प्रगति का लक्षण नही है। छायावाद की शैली मे युग-सत्य को आज अभिव्यक्ति नही दी जा सकती तो उसे बदलने से किसे आपत्ति होगी? केवल शास्त्रीय ढग अध्यापक ही इसका विरोध करते है, क्योकि नई शैली की कविता को किसी शास्त्र-सम्मत वर्गीकरण के अन्तर्गत रखना उनके लिए कठिन हो जाता है। लेकिन जो खुली आँख से युग-सत्य को देखना-समझना चाहते है, वे भाषा और शैली सम्बन्धी रूपगत प्रयोगो को गलत या अनावश्यक नही मान सकते, यदि वे प्रयोग वास्तव मे युग-जीवन के सत्य को अधिक स्पष्ट, मार्मिक, गम्भीर, मूर्त्त, उदात्त और तीव्र अभिव्यक्ति देने म समर्थ है, जिससे पाठक के जीवन-बोध की सीमाओ का विस्तार होता है। यदि उनमे कोरा आत्म-प्रदर्शन और चमत्कार-विधान का शब्दाडम्बर ही न हो तो नये सत्यो को अभिव्यक्ति देने के लिए नये रूप या फार्म की खोज अनिवार्य है।

आधुनिक कविता मे जो नये प्रयोग हो रहे है, उनमे कुछ सार्थक है तो कुछ निरर्थक। कुछ गम्भीर है तो कुछ उच्छृखल। यह भी कोई आशका की बात नही है। सभी युगो मे ऐसा हुआ है। कला का निर्माण अन्तत व्यक्ति लेखक या कलाकार की प्रतिभा का आश्रित है। जिनमे प्रतिभा नही है, उनके प्रयोग चमत्कार-विधान या उच्छृखल आत्म-दर्शन से अधिक और कुछ नही हो सकते। समय की कसौटी पर वे स्वय खोटे सिद्ध हो जायेगे। आधुनिक कविता मे अभी तक अधिक सख्या यदि खोटी रचनाओ की है, और जो थोडे से गम्भीर कवि है, उनकी प्रतिभा यदि रवीन्द्र, प्रसाद, निराला और पत की ऊँचाई को नही पा सकी है, तो मेरे निकट यह भी विशेष चिन्ता का विषय नही है। यह अनिवार्यत कविता के ह्रास का सूचक ही हो, सो भी नही कहा जा सकता। यदि एकागी दृष्टि और एकागी मतवादो से व्यक्ति-कवि सम्पूर्ण युग-सत्य को देखने और अभिव्यक्ति देने की सामर्थ्य पथ-भ्रष्ट और एकागी न हो जाय, जिसका खतरा इस युग मे अत्यधिक है, तो प्रतिभा का अकुर कही और किसी समय भी फूट सकता है।

आधुनिक कविता से मुझे आपत्ति है तो केवल इतनी कि उसमे अपवादो को छोडकर अभी तक युग-सत्य की एकागी अभिव्यक्ति पर ही जोर है। उसको पढकर लगता है जैसे उद्जन बम, युद्ध, यान्त्रिकता, आशका, अनास्था, रूढ़ियो का बन्धन, व्यक्ति की सत्ता की उपेक्षा करने वाले सगठनो की सर्वशक्तिमानता, मानवद्रोही भावनाए, अनैतिकता, भ्रष्टा-

चार आदि वर्तमान जीवन मे ऐसी असख्य कुत्साएँ, विकृतियाँ और भय ही व्याप्त है। लेकिन अगर यही सम्पूर्ण युग-सत्य हो तो मनुष्य जिये किस आशा को लेकर ? ये सब विकृतियाँ मनुष्यकृत है, और मनुष्य ही इन सबके विरुद्ध सघर्ष-शील है। मनुष्य ही आज एक नये मानवतावादी समाज के निर्माण के आकाक्षी है, जिसमे ये असगतियाँ और कुत्साएँ न हो, जिसकी नैतिकता मानव-सम्बन्धो मे व्यष्टि और समष्टि के अन्तर्विरोध को यदि सपूर्णत. न मिटा सके तो उसे इतना दुखदाई तो न रहने दे। ये सारी मानवीय आकाक्षाएँ और प्रयत्न ही आज मनुष्य-जीवन के भावी-विकास की आशा और सभावनाएँ है। इसलिए आधुनिक कवि जब एक विचित्र और बहुधा छिछोरे ढग की मानवद्रोही अनास्थाशीलता से या सकीर्ण मतवादी दृष्टि से मनुष्य की इन पुनीत आकाक्षाओ और उसके प्रयत्नो का मखौल उडाने या उनकी कमजोरियो को ही उघाडने की चेष्टा करते है, तब मुझे ऐसा लगता है कि ये कवि 'पुराने' या 'जो है' के अध-विरोध की झोक मे अपनी सहज मानवता से भी हाथ धो बैठे है। यदि ऐसा न होता तो 'पीस पैगोडा' जैसी कविता की रचना करके कोई जिम्मेदार कवि विश्व-शन्ति की माँग करने वाले आन्दोलनो की खिल्ली नही उडाता, न कोई कवि उद्जन बम गिराये जाने पर प्रतिवाद का स्वर ऊँचा करने वाले जनता के प्रदर्शन को 'कार्टूनो का जुलूस' कहकर उसे हेय दृष्टि से देखता।

समष्टि और व्यष्टि के अन्तर्विरोध को आत्यन्तिक और दुर्निवार मानकर चलने का यही परिणाम है। इस एकाकी दृष्टि से मनुष्य की हर प्रगतिकामी चेष्टा सशय ही पैदा करेगी। अपने से अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति पर विश्वास करना असभव हो जायगा। इस नकारात्मक दृष्टिकोण से हर चीज को, चाहे वह पुरानी हो या नयी, नगा ही किया जा सकता है, नये सत्य को स्वीकृति नही दी जा सकती। ऐसा करने से नये और पुराने के सघर्ष को यथार्थ रूप मे प्रतिबिम्बित करने का दावा निरर्थक हो जायगा। समष्टि और व्यष्टि की समस्या किसी न किसी रूप मे हमेशा रहेगी, क्योकि व्यक्ति-मानव का जीवन सहयोग पर निर्भर है। कोई प्रचड से प्रचड व्यक्तिवादी भी समष्टि को मिटाकर जीने की कल्पना नही कर सकता। इस लिए दोनो के वर्तमान अन्तर्विरोध का समाधान किसी नये सतुलन की माँग करता है, जिसमे जीवन के हर स्तर पर और हर क्षेत्र मे व्यष्टि-समष्टि का परस्पर विकास सहयोगपूर्ण ढग से सभव हो सके। नये मानववाद की यही समस्या है। आधुनिक कविता मे सत्य का आग्रह एकागी या मतवादी नही होना चाहिये। नैतिकता का कोई नया, अधिक उदात्त मानववादी मानदड तो रखना ही पडेगा, क्योकि वर्तमान युग के समस्त वैषम्य और त्रास के बावजूद आधुनिक मानव अपने शान्तिपूर्ण विकास का मार्ग निकाल कर ही रहेगा। मै नही समझता कि मानव समाज का अत निकट है, इसलिए अभी से 'सृष्टि के आखिरी आदमी' का मर्सिया लिखने का प्रयत्न बचकाना है। ऐसी कष्ट-कल्पनाओ मे कोई बडा आशय नही व्यक्त होता। बडे आशय के लिये बडा हृदय चाहिए, जो अपनी व्यक्तिगत कुठाओ से ऊपर उठकर युग के गरल को शिवकी तरह पचा सके और अमृत को मानव-प्राणियो मे बाँट सके। नये कवियो को उदात्त भावना से चिढ़ है। उनके एक प्रवक्ता ने लिखा कि नया कवि उदात्तीकरण के स्थान

पर भावो मे घनत्व और तीव्रता लाने की चेष्टा करता है। लेकिन उदात्त भावना तो बडे आशय वाले, सत्यान्वेषी कलाकार की आत्मा का सहज गुण है, जो उसकी अभिव्यक्ति मे बिना किसी प्रयास के ही प्रकट होती है। वह भाषा का अलकार या अभिव्यक्ति का प्रकार नही है। आधुनिक कवियो मे इस उदात्त भावना की कमी और दृष्टि की एकागिता दो ऐसे दोष है, जिनके कारण उनकी कविता अभी तक युग-सत्य का विश्वसनीय वाहक नही बन सकी है। इन दोषो को दूर करके ही आधुनिक कविता युग-मानस को वैसी सबल और सूक्ष्म चेतनादायी प्रेरणाएँ दे सकेगी जैसी प्रेरणा कभी छायावाद या उसके बाद एक सीमा तक प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित कविता ने दी थी। आधुनिक कविता के आगे जो समस्याएँ है उनका समाधान एक व्यापक मानववादी दृष्टिकोण से नये प्रयोगो को सबद्ध करके ही सभव होगा। और कोई मार्ग नही है।

—अगस्त १९५५

१३

आधुनिक कविता में प्रयोगवाद

प्रयोगवादी कवि अपनी कविता को ही हिन्दी की नई या आधुनिक कविता मानते है। प्रयोगवादी कविता विश्व-काव्य मे कोई अन्यतम या अभूतपूर्व विकास नही है। काव्य ही क्यो, साहित्य और कला के अन्य रूपो और माध्यमो, जैसे उपन्यास, नाटक, चित्र, सगीत और स्थापत्य मे भी इस शताब्दी मे नई प्रवृत्तियाँ मुखरित हुई है और उनके बारे मे भी समीक्षको, पाठको और दर्शको मे तीव्र मतभेद और विचार-सघर्ष चल रहा है। यह सब जीवन और जागृति का लक्षण है। उनके समर्थन या विरोध मे जो कुछ कहा-सुना जा रहा है, उसमे दोनो ओर ही कुछ सत्य है और कुछ असत्य है। इस समस्त ऊहापोह, विरोध और विचार-सघर्ष का परिणाम यह है कि दोनो ओर के असत्य का छिलका उतर रहा है और सत्य उभर कर एक नये सन्तुलन की माँग करने लगा है।

वर्तमान युग मे हमारा जीवन पुराने दायरे से निकलकर नये दायरे मे सक्रमण कर रहा है। हर सक्रान्ति-युग विकट सघर्ष, वैषम्य, सकट और सत्यान्वेषण का युग होता है। इसमे मनुष्य के पुराने समाज-विधान का ढाँचा ही नही टूटता, बल्कि उसके विश्वास, उसकी नैतिकता, उसके विचार और भाव-प्रतिक्रियाएँ भी बदलने लगती है, और जो कुछ पुराना है, उससे टकराती है। मनुष्य का समूचा विश्व-बोध एक नये परिवर्तन के भँवर मे पड जाता है। सक्रान्ति-युग के कवि और कलाकारो की कृतियो मे व्यक्तिगत अभिव्यक्ति या पात्रो के चरित्र-चित्रण के माध्यम से वस्तुत मनुष्य के नये विश्व-बोध और जीवन की पुरानी मान्यताओ का विराट सघर्ष प्रतिबिम्बित होता है।

आधुनिक समाज भयकर असगतियो से ग्रस्त है। विज्ञान ने सस्कृति के व्यापक प्रसार के लिए प्रेस, सिनेमा, रेडियो, टेलिविजन आदि सर्वजन-सुलभ साधन दिये है। प्रजातन्त्र ने शिक्षा को सर्वजन-सुलभ बनाने की कोशिश की है। लेकिन साक्षरता जितनी ही बढती है, लोग उतने ही 'अशिक्षित' होते जाते है। जीवन की उच्चतर मान्यताओ के प्रति उनकी आस्था कम होती और साहित्य तथा कला की श्रेष्ठ कृतियो के प्रति उदासीनता बढती जाती है। शिक्षित व्यक्ति, मात्र दैनिक समाचार पत्रो या अधिक-से-अधिक रोमाटिक कहानियो और सनसनी खेज उपन्यासो का पाठक बनता जा रहा है। सिनेमा प्राय: सस्ते मनोरजन का साधन बन गया है।

विज्ञान ने अणु शक्ति का पता लगाकर विश्व को बहुत ज्यादा डरा दिया है। राजनैतिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक और वर्ग-सगठनो और समूहो मे ही मानव का व्यक्तित्व

घुल गया है। लेकिन समूह या समष्टि का जीवन भी आज निरापद नहीं है। उसे भी एक अमूर्त्त इकाई जानकर उद्जन बमो से निर्मम और निर्दय बनकर मिटाया जा सकता है।

आधुनिक कविता को समझने के लिए वर्तमान विश्व-जीवन के इन तथ्यों को ध्यान मे रखना चाहिए, क्योकि, आधुनिक कविता के पीछे परिस्थितियो की ही प्रबल प्रेरणा है। आधुनिक मानव-समाज जिन असंगतियो से ग्रस्त है, उसमे जो सगठित शक्तियाँ एक दूसरे से जूझ रही है और समस्त वैज्ञानिक आविष्कार, राष्ट्रीय आन्दोलन, वर्गसघर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाओ, वैमनस्य और युद्ध के बावजूद वह जिस दिशा मे अग्रसर है उसकी गति-विधि को प्रभावित करना व्यक्ति-मानव की सामर्थ्य के बाहर हो गया है। कवि और कलाकारो की आवाज नक्कारखाने मे तूती की आवाज बन गई है। इसलिए वे इस विराट उथल-पुथल के निरुपाय दृष्टा बनते जा रहे हे। वे विश्व-रगमच के सक्रिय अभिनेता नही रहे। कम-से-कम वे ऐसा ही अनुभव करते है। इसलिए आधुनिक कविता मे खीज झुझलाहट, कुठा, अनास्था, निराशा और मानवद्रोही भावनाओं की इतनी तीव्रता समूह और सगठन यानी समष्टि व्यक्ति को रौद रही है, उसकी आकाक्षाओ को मिटा रही है—इसी अनुभूति की तीव्र अभिव्यक्ति इन सभी कविताओ मे मिलती है। माना कि यह सत्य है, किन्तु क्या आधुनिक विश्व-जीवन का यही समग्र सत्य है? क्या वास्तविकता का यह एक पहलू मात्र नही है? आधुनिक मानव का नया विश्व-बोध क्या इस वैषम्य की एकागी चेतना तक ही सीमित है। क्या हमे अपनी दृष्टि-परिधि को युग के सम्पूर्ण सत्य तक नही बढाना चाहिए?

आधुनिक कविता काव्य-शास्त्र की प्राचीन रीतियो को त्याग रही है। उसके छन्द बंध और "प्रास के रजत पाश" टूट रहे हे। शब्द चयन, वाक्य-रचना, अलकार विधान, सभी कुछ बदल रहे है। कविता तुक-ताल के बधनो से मुक्त होकर नये आशय को स्पष्ट करने, अभिव्यक्ति को सघन और तीव्र बनाने के लिए नयी भाषा, नयी लय, नयी शैली और नयी टेकनीक का प्रयोग कर रही है। इतिहास के सभी सक्रान्ति कालो मे, यहाँ तक कि हर युग की कलाओ मे, नये रूत्र-विधानो या अभिव्यक्ति केन ये प्रकारो की खोजबीन होती रही है। अभिव्यक्ति की शैलियों के प्रति मोह जीवन और प्रगति का लक्षण नही है। केवल शास्त्रीय ढग के अध्यापक ही नयी कविता का विरोध करते है, क्योकि नयी शैली की कविता को किसी शास्त्र सम्मत वर्गीकरण के अन्तर्गत रखना उनके लिए कठिन हो जाता है। लेकिन जो खुली आँख से युग-सत्य को देखना-समझना चाहते है, वे भाषा और शैली सम्बन्धी रूपगत प्रयोगो को गलत या अनावश्यक नहीं मान सकते, यदि ये प्रयोग वास्तव मे युग-जीवन के समग्र सत्य को अधिक स्पष्ट, मार्मिक, गम्भीर, मूर्त्त, उदात्त, तीव्र और सम्पूर्ण अभिव्यक्ति देने में समर्थ है।

आधुनिक कविता मे जो नये प्रयोग हो रहे है, उनमे कुछ सार्थक है तो कुछ निरर्थक। कुछ गम्भीर है तो कुछ उच्छृङ्खल। यह भी कोई अशंका की बात नही है। सभी युगों मे ऐसा हुआ है। काव्य और कला का निर्माण अन्ततः लेखक या कलाकार की प्रतिभा पर

आश्रित है। जिसमें प्रतिभा नहीं है, उसके प्रयोग चमत्कार-विधान या उच्छृङ्खल आत्म-प्रदर्शन से अधिक और कुछ नही हो सकते । समय की कसौटी पर वे स्वयं खोटे सिद्ध हो जायंगे । आधुनिक कविता मे यदि अभी तक खोटी रचनाओ की अधिक सख्या है, और जो थोड-से गम्भीर कवि है, उनकी प्रतिभा यदि रवीन्द्र, प्रसाद, निराला और पत की ऊँचाई को नही पा सकी है, तो यह भी विशेष चिन्ता का विषय नही है। यह अनिवार्यत: कविता के ह्रास का सूचक भी नही है। यदि एकागी दृष्टि और एकागी मतवादो से व्यक्ति-कवि की सम्पूर्ण युग सत्य को देखने और अभिव्यक्ति देने की सामर्थ्य पथ-भ्रष्ट और एकागी न हो जाय, जिसका खतरा इस युग मे अत्यधिक है, तो प्रतिभा का अकुर कही और किसी समय भी फूट सकता है।

आधुनिक कविता मे अभी तक युग-सत्य की एकागी अभव्यक्ति पर ही जोर है। उसमे उद्जन बम, युद्ध, यान्त्रिकता, आशका, अनास्था, रूढियो का बन्धन, व्यक्ति की सत्ता के उपेक्षक सर्वशक्तिमान सामूहिक सगठन, मानवद्रोही भावनाएँ, अनैतिकता, भ्रष्टाचार आदि वर्तमान जीवन की असख्य कुत्साओ और विकृतियो का भय ही व्याप्त है। लेकिन अगर यही सम्पूर्ण युग-सत्य हो तो मनुष्य जिये किस आशा को लेकर ? ये सब विकृतियाँ तो मनुष्य-कृत है, और मनुष्य ही इन सब के विरुद्ध सघर्षशील भी है। मनुष्य ही आज एक नये मानवतावादी समाज का निर्माण चाहता है, जिसमे ये असगतियाँ और कुत्साएँ न हो, जिसकी नैतिकता मानव-सम्बन्धो मे व्यष्टि और समष्टि के आन्तरिक विरोध को यदि सम्पूर्णत नही मिटा सके तो उसे इतना दुखदाई तो न रहने दे। ये सारी मानवीय आकाक्षाएँ और प्रयत्न ही आज मनुष्य जीवन के भावी विकास की आशाएँ है। इसलिए कुछ आधुनिक कवि जब एक विचित्र और बहुधा छिछोरे ढग की मानवद्रोही अनास्थाशीलता से या सकीर्ण मतवादी दृष्टि से मनुष्य की इन पुनीत आकाक्षाओ और उसके प्रयत्नों का मखौल उडाने या उनकी कमजोरियो को ही उघाडने की चेष्टा करते है, तब मुझे ऐसा लगता है कि ये कवि 'पुराने' या 'जो है', के अन्ध-विरोध की झोक मे अपनी सहज मानवता से भी हाथ धो बैठे है। यदि ऐसा न हो तो 'पीस पैगोडा' जैसी कविता की रचना करके कोई जिम्मेदार कवि विश्व-शान्ति की माँग करने वाले आन्दोलन की खिल्ली नहीं उडाता, न कोई कवि उद्जन बम गिराये जाने पर प्रतिवाद का स्वर ऊँचा करने वाले जनता के प्रदर्शन को 'कार्टूनो का जलूस' कहकर उसे हेय दृष्टि से देखता।

समष्टि और व्यष्टि के अन्तर्विरोध को आत्यन्तिक और दुर्निवार मानकर चलने का यही परिणाम है। इस एकागी दृष्टि से मनुष्य की हर प्रगतिशील चेष्टा सशय ही पैदा करेगी। अपने से अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति पर विश्वास करना असम्भव हो जायगा। इस नकारात्मक दृष्टिकोण से हर चीज को, चाहे वह पुरानी हो या नयी, नगा ही किया जा सकता है, नये सत्य को स्वीकार नही किया जा सकता। इससे नये और पुराने के सघर्ष को प्रतिबिम्बित करने का दावा निरर्थक हो जाता है। समष्टि और व्यष्टि की समस्या किसी-न-किसी रूप मे हमेशा रहेगी, क्योंकि व्यक्ति-मानव का जीवन सहयोग पर ही निर्भर है।

कोई प्रचण्ड-से-प्रचण्ड व्यक्तिवादी भी समष्टि को मिटाकर जीने की कल्पना नही कर सकता। इसलिए उनके सन्तुलन की माँग करता है, जिसमे जीवन के हर स्तर पर और हर क्षेत्र मे व्यष्टि-समष्टि का परस्पर विकास सहयोगपूर्ण ढग से सम्भव हो। नये मानववाद की यही समस्या है।

आधुनिक कविता मे सत्य का आग्रह एकागी या मतवादी नही होना चाहिए। नैतिकता का कोई नया, अधिक उदात्त और मानववादी मापदड तो रखना ही पडेगा, वर्तमान युग के समस्त वैषम्य और त्रास के बावजूद आधुनिक मानव अपने शान्तितूर्ण विकास का मार्ग निकाल कर ही रहेगा। मै नही समझता कि मानव समाज का अन्त निकट है। इसलिए अभी से 'सृष्टि के आखिरी आदमी' का मर्सिया लिखने का प्रयत्न बचकाना है। ऐसी कष्ट-कल्पनाओ मे कोई बडा आशय नही व्यक्त होता। बडे आशय के लिए बडा हृदय चाहिए, जो अपनी व्यक्तिगत कुण्ठाओ से ऊपर उठकर युग के गरल को शिव की तरह पचा सके और अमृत को मानव प्राणियो मे बाँट सके। नये कवियो को उदात्त भावना से चिढ है। उनके एक प्रवक्ता ने लिखा कि नया कवि उदात्तीकरण के स्थान पर भावो मे घनता और तीव्रता लाने की चेष्टा करता है लेकिन उदात्त भावना एक सत्यान्वेषी कलाकार की आत्मा का सहज गुण है, जो उसकी अभिव्यक्ति मे बिना किसी प्रयास के ही प्रकट होती है, वह भाषा का अलकार या अभिव्यक्ति का प्रकार नही है। आधुनिक कवियो मे इस उदात्त भावना की कमी और दृष्टि की एकागिता या सकीर्णता, ये दो ऐसे दोष है, जिनके कारण उनकी कविता अभी तक सम्पूर्ण यग-सत्य का विश्वसनीय वाहक नही बन सकी है।

१४

हिन्दी कविता का भविष्य

हिन्दी कविता का भविष्य क्या है, यह प्रश्न उठा ही क्यो ? इसीलिए न कि आज-कल उसके दुर्दिन है। अभी बीस साल पहले जब छायावादी कविता अपने उत्थान पर थी, उस समय किसी को ऐसा प्रश्न पूछने की बात ही न सूझती, क्योकि तब मन मे भविष्य के प्रति किसी आशका को ठौर ही कहाँ था ? मुझे याद है कि प्रसाद, पत, निराला, महादेवी, मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, नवीन, दिनकर, बच्चन, सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी और रामनरेश त्रिपाठी ने किसी पत्रिका के नये अक मे इस बार कौन सी कविता लिखी है, उसे पढने और पढकर सग्रह करने के लिए हम सब लालायित रहते थे, और अगली बार वे कौन सी नई कविता लिखेगे, इसकी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा करते थे। इन कवियो के कवितासग्रहो की बात ही क्या, उनके स्फुट गीत भी हर स्तर के पाठक वर्ग मे चर्चा का विषय बन जाते थे। अच्छी कविता पढकर पाठक आनन्द या वेदना से सिर धुनने लगते थे और कवि के प्रति उनके मन मे कृतज्ञता उमड आती थी। केवल कवियो की रचनाओ के प्रति ही पाठकवर्ग का ऐसा अतरग और सक्रिय भाव नही था। अन्य लेखको आदि के प्रति भी ऐसी ही जिज्ञासा, मोह और आदर का भाव था। डी० एल० राय, माइकेल मधुसूदन दत्त, बकिम, रवीन्द्र, शरत आदि बगाली तथा अनेक मराठी और गुजराती लेखको की कृतियाँ भी इस चाव से ही पढी जाती थी, जैसे मानो हिन्दी की अपनी हो, अनुवाद न हो—काव्य और साहित्य ही क्यो, नृत्य, सगीत और चित्रकला के भावक दर्शको और श्रोताओ मे भी ऐसा उत्साह लहरे मारता था। यह सामान्य स्थिति थी। भला उन दिनो कोई कविता की जन्म-कुण्डली बँचवाने क्यो जाता ?

पर आज यह स्थिति नही रही। प्रसाद, हरिऔध और सुभद्राकुमारी चौहान को छोडकर कवि और महाकवि वे सब पुराने ही है। इतना ही नही, इस बीच और अनेक प्रतिभाशाली कवि सामने आ चुके है और नवोदित कवियों की एक नई पीढी इस दशक मे पैदा हो रही है। सो कवियो की कमी नही। और यद्यपि प्रकाशक कविता की पुस्तके छापने से इन्कार करते है, फिर भी जो कवि अपनी कविताओ को पत्र-पत्रिकाओ मे ही छपाकर सन्तुष्ट नही है, वे किसी-न-किसी उपाय से अपने कविता-सग्रह भी छपा ही लेते है। सो नई-नई काव्य पुस्तको की भी कमी नही। महाकाव्य भी लिखे ही जा रहे है। तो भी, लगता है हिन्दी कविता सकट-ग्रस्त है, नही तो उसके भविष्य के बारे मे प्रबुद्ध पाठक-वर्ग इतना चिन्ताकुल न हो जाता। कुछ महीने पहले रेडियो पर एक बहस हुई थी उसमे भी कुछ ऐसी

ही अशंका एक प्रश्न बनकर उठ आई थी कि क्या कविता का युग समाप्त हो रहा है ? हिन्दी का नाम न था, लेकिन, यदि इतिहास की कोप दृष्टि से विश्व भर मे कविता का युग समाप्त हो रहा है तो हिन्दी कविता ही इस भवितव्यता से कैसे बच पायगी ? कविता की समाप्ति का यह अर्थ नही कि तुकान्त या छन्दों मे, या छन्द-मुक्त और लययुक्त भाषा मे रचनाएँ होना बन्द हो जायँगी। इसका अर्थ केवल यह है कि उनमे कविता का बाह्याडम्बर तो होगा, पर कविता न होगी; शरीर होगा, पर प्राण न होगे। वह दुरूह होगी या सरल होगी, व्यक्तिगत गुह्य प्रतीको से भरी होगी या सामाजिक प्रतीकों का प्रयोग करेगी, उसमे अलकारो और उपमाओ की छटा रहेगी या वह एक निर्धन स्त्री की तरह निर्वस्त्र होगी, वह यौन-वर्जनाओ की कुठा व्यक्त करेगी या उसकी गर्वोक्तियो मे क्रान्ति का हुकार होगा। यह सब तो होगा लेकिन उसमे कविता न होगी—वह कविता जिसे आदिकाल से मनुष्य कविता कहता आया है और जो उल्लास और वेदना के क्षणो मे हृदय का पूरा आवेग लेकर कवि के कठ से निर्झर की तरह फूट पडती है और अपने रस से सब को आप्लावित कर देती है। जो कविता आज रची जाती है उसकी विचार-वस्तु चाहे जो हो, उसकी प्रवृत्ति कुछ ऐसी ही अनुभूतिहीन और नीरस गद्यात्मकता की ओर है। उक्त बहस मे सबने इस ओर इशारा किया। किन्तु इस ह्रास के कारण क्या है और अन्तत. इसका परिणाम क्या होगा, इस बारे मे खासा मतभेद था। कविता के भविष्य के बारे मे कोई निराश था, कोई हताश था तो कोई कही आशा की एक चिनगारी भी सुलगाये जा रहा था। जो मित्र निराश थे, वे इस नतीजे पर पहुँचे थे कि चूँकि कविता हृदय और अनुभूति की वस्तु है, इसलिए विज्ञान के इस युग मे जहाँ विचार और तर्क ही प्रधान है, कविता अब हार्दिक या भावना-प्रधान नही रह सकती। उसे भी विज्ञान की अनुवर्तिनी बनना होगा। रसवती न होकर उसे भी बुद्धिप्रधान होना पडेगा, अपने आलम्बन और उपमान बदलने होगे, जैसा कि प्रयोगवादियो (प्रतीकवादियो) या प्रगतिवादियो की रचनाओ से लगता है। विज्ञान का यह बुद्धि-प्लावन अब कभी समाप्त होगा और मनुष्य पुन. अपनी सचेतनता को ही नही बल्कि अपनी हार्दिकता को भी पहले ही की तरह मूल्यवान मानेगा, ऐसी सभावना भी नही दीखती। इसलिए कविता को अपना कवितापन छोड गद्यात्मकता अपनानी होगी। इसका क्रम शुरू हो गया है, आगे भी जारी रहेगा। जो मित्र हताश थे, वे तो इस परिणाम पर पहुँचे बैठे थे कि विज्ञान ने कविता को जो क्षति पहुँचाई है, उसकी कमी को आज के वर्ग-समाज की स्वार्थ लिप्सा, विप्लव और क्रान्तियो की आँधियाँ और महायुद्धो की विभीषिकायें पूरा किये दे रही है। अधिक-से-अधिक प्रचारात्मक कविता ही लिखी जा सकती है जो आज लिखी है तो कल मर जाती है। या फिर ऐसी आत्मनिष्ठ और दुरूह कविता लिखी जा सकती है, जिसके शब्द-संकेत इतने व्यक्तिगत हो कि जिसके प्रति निवेदित हों उसके अतिरिक्त कोई और न समझे—अर्थात् जो निजी गोष्ठी के व्यक्तियो के बीच ही जीती है, समाज के बीच निरर्थक और निष्प्राण बनी रहती है। जब ये विप्लव, क्रान्तियाँ और युद्ध समाप्त हो जायेगे और एक वर्गहीन समाज की समृद्ध और आज़ाद परिस्थितियों मे शान्ति का साम्राज्य

होगा, उस समय भी कविता पुनर्जीवित हो सकेगी, ऐसा विश्वास करने का कोई लक्षण नही दीखता, क्योकि जिन देशो मे समाजवाद विजयी हो चुका है, वहाँ भी मनुष्य ने और क्षेत्रो मे चाहे जितनी बडी और अभूतपूर्व सफलताएँ पा ली हो, कविता के क्षेत्र मे कोई कालिदास या शेक्सपियर नही हुआ, न पैदा होता दीखता है। बुद्धिवाद और विज्ञान का वहाँ बोलबाला कुछ अधिक ही है। मुझे भी इस पहेली बुझौवल मे एक निश्चित राय देनी पडी। वह क्या थी, इसका उल्लेख बाद मे। इतना स्पष्ट है कि नपे-तुले समय मे यह बहस ऊपरी सतहो पर ही चल सकती थी, कविता के तत्कालीन ह्रास के बुनियादी कारणो की खोजबीन वहाँ सभव न थी।

इस सम्बन्ध मे मुझे केवल दो बाते कहनी है। पहली तो यह कि यह ह्रास कविता के क्षेत्र मे ही नही है, साहित्य और ललित-कलाओ के अन्य रूपो मे भी इस ह्रास और अवगति के लक्षण प्रकट हो रहे है। इसलिए चिन्ता का विषय केवल कविता ही नही है। साहित्य और कला के अन्य रूपो के माध्यम से जो भी रचनात्मक प्रयत्न किये जा रहे है, उनमे स्थायी मूल्य की रचनाएँ केवल अपवाद ही होती है, यद्यपि टेकनिक और रूप-सज्जा की योग्यता पहले से कम नही है और साहित्य-कला के प्रचार और प्रसार के साधन भी पहले से कही अधिक उन्नत अवस्था मे उपलब्ध है। लेकिन इस तत्कालीन, परिस्थिति-जन्य ह्रास को स्थायी मान लेना मानव-जीवन की सभावनाओ के प्रति ही अनास्था प्रकट करना होगा। कविता, साहित्य या कलाएँ मानव-जीवन और उसकी समस्याओ को प्रतिबिम्बित करती है, आदिकाल से करती आई है और आगे भी करती जायेगी, क्योकि एक विषयी और कर्त्ता के रूप मे मनुष्य को अपने सामाजिक-जीवन और उसके सम्बन्धो का मूर्त्त, सवेदनीय रूप मे ऐन्द्रिय-बोध प्राप्त करने की जरूरत प्रारम्भ से रही है, और सदा रहेगी। मनुष्य अपने जगत और जीवन का बोध केवल विज्ञान के रूप मे [illegible] कला भी मनुष्य की चेतना का ही एक विशिष्ट रूप है, विज्ञान की तरह ही अनिवार्य। मनुष्य कर्त्ता है, विषयी है। अपने मनोवेगो और रागो को अछूता रखकर वह स्थितिप्रज्ञ बनने की कल्पना तो कर सकता है, पर सभ्यता और सस्कृति, भौतिक और आध्यात्मिक मूल्यो का निर्माता नही बन सकता। इसलिए कैसा भी युग हो, कैसी भी समाज-व्यवस्था हो, कविता और कला की मनुष्य-जीवन के लिए उतनी ही अनिवार्यता बनी रहेगी, जितनी विज्ञान की। हाँ, यह अवश्य है कि जैसे व्यक्ति के जीवन मे वैसे ही काव्य, साहित्य और कला के जीवन मे भी प्रगति और अवगति, विकास और ह्रास के युग आते है। कला और साहित्य की प्रगति और अवगति अकसर समाज की प्रगति और अवगति के समानान्तर नही चलती। [illegible] की दिशाएँ विपरीत होती है। उदाहरण के लिए पूँजीवादी युग इतिहास की दृष्टि से पिछले सभी युगों से आगे बढा हुआ और विकसित युग है। लेकिन पूँजीवाद की परिस्थितियाँ कला-विरोधी है। इन तथ्यो को आज सभी लोग स्वीकार करते है। फिर भी यह स्मरण रहे कि हमारे देश मे बीस-पच्चीस वर्षों के अन्दर ही इस तरह का कोई ऐतिहासिक युग-परिवर्तन नहीं हो गया

है, केवल परिस्थितियाँ बदल गई है। उन दिनों राष्ट्रीय आन्दोलन तो जोर पर था ही, हमारे सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का द्वितीय उत्थान भी अपने चरम शिखर पर था। लेखक और पाठक का सम्बन्ध गहरा था। क्योंकि समूची जनता मे एकता की भावना, राष्ट्रीय प्रगति की आकाक्षा बलवती थी। छायावादी कवियो के गीत उस समय व्यापक सामाजिक-राजनीतिक विप्लवो से असम्बद्ध न दीखते थे, क्योकि व्यक्ति और समाज की नैतिक मान्यताओ मे वैषम्य पैदा नही हुआ था। उनकी व्यक्तिगत मार्मिक अनुभूतियो मे भी पाठक अपनी ही समस्याओ और वेदनाओ की झलक पाते थे, क्योकि तब व्यक्ति अपने मे ही समाज के नैतिक जीवन को प्रतिबिम्बित देखता था। इसीलिए सामान्य पाठको से तादात्म्य स्थापित कर लेना कवि, कथाकार या चित्रकार के लिये सहज था। इस शती के चौथे दशक का अन्त होते-होते हमारे सास्कृतिक पुनर्जागरण का तृतीय उत्थान भी परिस्थितियो के गर्भ मे पनपने लगा था और 'प्रगति' का विचार उसे नई दिशा और नया उभार देने लगा था। सहसा दूसरा महायुद्ध छिड गया और राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता कई कारणो से छिन्न-भिन्न हो गई। एक पक्ष समझौतावादी पथ पर चल पडा और एक पक्ष कभी दाहिनी ओर की तो कभी बाई ओर की सकीर्णतावादी पगडडियो पर भटकने लगा। इन सबका यह प्रभाव हुआ कि वे एकता विधायक परिस्थितियाँ न रही जिन्होने लेखक-पाठक के बीच एक सामान्य जीवनोद्देश्य और सामान्य भावभूमि का पुल तैयार किया था। इस प्रकार हमारे सास्कृतिक पुनर्निर्माण के तृतीय उत्थान की प्रगति तत्काल के लिए अवरुद्ध हो गई। हिन्दी कविता पर भी इस गत्यवरोध और वैषम्य का प्रभाव पडा। लेकिन यह प्रभाव स्थाई है, ऐसा सोचना गलत होगा। इतिहास मे ऐसे क्षणकालिक गत्यवरोध आते ही रहे है, आगे भी आवेगे, लेकिन यदि मनुष्य का जीवन और इतिहास सदा के लिए अवगति मे नही पडा रह सकता तो उसकी कविता भी सदा ह्रास के गर्त मे नही फँसी रहेगी क्योकि कविता भी मनुष्य के सास्कृतिक-सामाजिक जीवन की एक अनिवार्यता है। इसलिए यदि मनुष्य-जीवन के भविष्य मे आस्था और विश्वास बाकी है, तो हताश होने की जरूरत नही।

दूसरी बात यह है कि 'कविता' का सकुचित अर्थ लगाना ठीक नही। छन्दबद्ध, तुकान्त-अतुकान्त, एक विशेष प्रकार की रचना को ही कविता कहकर पुकारने की प्रथा रही है, यद्यपि काव्य और नाट्यशास्त्र के विवेचक प्राचीन भारतीय आचार्यो ने कविता के अन्तर्गत साहित्य के उन दूसरे रूप-विधानो को भी रखा था जो उस समय तक विकसित हो चुके थे। कालान्तर मे साहित्य के अन्य युगानुकूल रूप-विधानो का भी विकास हुआ, जैसे उपन्यास। व्यापक दृष्टि से उन्हे भी कविता के अन्तर्गत ही रखना होगा। आज के प्रबुद्ध आलोचक कविता का यह व्यापक अर्थ ही लगाते है। इसीलिए आज के सश्लिष्ट जीवन को समग्र रूप से प्रतिबिम्बित करने की क्षमता के कारण उपन्यास को इस युग का महाकाव्य कहना उचित होगा। यदि इस स्थापना को मान लें तो इस आशका के लिए, कोई स्थान नही रह जायेगा कि कविता का युग समाप्त हो रहा है। यह सच है कि इस युग ने कालिदास और शेक्सपियर

नही पैदा किये, किन्तु तॉल्स्तॉय, गोर्की, रोम्या रोला, टामस मान, शरत्, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र अवश्य पैदा किये है, जिन्होने अपने महान् उपन्यासो मे अपने देश-काल के विशिष्ट राष्ट्रीय जीवन के यथार्थ और काव्यमय चित्र उपस्थित किये है। युग की कविता अब इन नये रूप विधानो को अपना कर व्यक्त हो रही है। उसकी धारा शुष्क नही हुई, न कभी होगी, चाहे उसके रूप बदल जाये।

—मार्च १९५३

१५

प्रेमचन्द के बाद

प्रेमचन्द से पहले हिन्दी कथा-साहित्य अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे था। उस युग मे समाज-सुधार की दृष्टि से कथाओ और उपन्यासो मे सामाजिक समस्याओं का आकलन तो होने लगा था, लेकिन वह काफी उथला और सतही था। उसमे वह सम्पूर्णता और गहराई न थी जो युग जीवन के यथार्थ को कलात्मक अभिव्यक्ति दे सके। वस्तुत युग-सत्य स्वय अभी गर्भ मे था, उसका स्वरूप पूरी तरह निखर कर सामने न आ पाया था।

किन्तु प्रेमचन्द की प्रतिभा को विकास के लिए अनुकूल वातावरण मिला, जैसा कि न उनके पूर्ववर्ती और न उनके परवर्ती कलाकारो को उपलब्ध हो सका। पूर्ववर्ती कथाकारो को इसलिए नही कि उत्तर-भारत मे वह राष्ट्रीय जाग्रति का उष.काल था। राष्ट्रीय भावना उस समय तक सर्वव्यापी न हो सकी थी। जीवन की विषमताओ के प्रति शिक्षित-वर्ग का एक छोटा-सा हिस्सा ही सचेत हो पाया था और वह भी सामन्ती रूढि-ग्रस्त जीवन और साम्राज्यी दासता के बन्धनो से मुक्ति पाने के लिए अँधेरे मे रास्ता टटोल रहा था। समाज के सभी वर्गो का, और विशेषकर हमारी असख्य पीडित और सत्रस्त जनता का मूक प्रतिवाद किसी देश-व्यापी आन्दोलन के अहरह स्वर मे अपना उद्घोष नही कर पाया था। मुक्ति की सभावना ने जन-जन की आकाक्षा बनकर व्यक्ति को अपने जीवन की सकीर्णताओ से ऊपर उठकर मामूली सुधार और परिवर्तन से आगे देखने की दृष्टि और प्रेरणा नही दी थी। एक शब्द मे कहे कि अभी तक दासता की बेडियो मे जकडी जनता की एकता के सूत्र बिखरे हुए थे, जिससे युग-सत्य की कलात्मक प्रतीति और उपलब्धि किसी भी लेखक के लिए यदि असम्भव नही तो दुष्कर अवश्य थी। इसीलिए आज हम यदि भारतेन्दु (कुछ आपबीती और कुछ जगबीती—भारतेन्दु का अधूरा उपन्यास), श्रीनिवासदास (परीक्षा गुरु), बालकृष्ण भट्ट (सौ अजान और एक सुजान), किशोरीलाल गोस्वामी (चपला) आदि का सम्मान करते है तो उनके ऐतिहासिक महत्त्व के कारण ही, बकिम, रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द की तरह उनकी अमर कथाओ के कारण नही। फिर भी इन प्रारम्भिक लेखकों मे जो जिन्दादिली, सरल हास्य और व्यंग की छटा है, वह बाद के लेखको मे तो दुर्लभ ही होती गई।

प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकारो को अनुकूल वातावरण इसलिए उपलब्ध न हो सका कि उनके बाद राष्ट्रीय जीवन की एकता धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो गई। दूसरा महायुद्ध, बंगाल का अकाल, साम्प्रदायिक द्वेष और दगे तथा सर्वव्यापी आर्थिक संकट इसके मुख्य

कारण बने। किन्तु जो सबसे बडा कारण इस विघटन का है उसकी ओर हमारे आलोचकों का ध्यान बहुत कम गया है। वह है राष्ट्रीय आन्दोलन के एक बड़े अग और भारतीय समाज के पूँजीपति वर्ग का मुक्ति-सघर्ष के सामान्य पथ को त्याग कर समझौते की सँकरी गली की ओर मुड जाना। इस विघटन का जितना गहरा दुष्प्रभाव पडा है उसका सही-सही अनुमान अभी तक नही किया गया। सामाजिक जीवन का कोई क्षेत्र और स्तर इससे अछूता नही रहा। इस बीच जीवन के मूल्य नीचे गिरे हैं। राष्ट्रीय एकता की उदात्त भावना जैसे एक प्रचण्ड आघात पा अपने नैतिक शिखर से गिरकर सकीर्ण साम्प्रदायिक और मतवादी कोष्ठको मे खण्ड-खण्ड बँट गई है और उस पर भ्रान्तियो और प्रवचनाओ का ऐसा घना कुहासा छा गया है कि व्यक्तिगत, वर्गगत, जातिगत, सम्प्रदायगत या दल-गत सकीर्णताओ के पार कुछ दिखाई ही नही देता। ऐसे वातावरण मे कलाभिरुचि और कला के मान-मूल्यो मे गिरावट आ जाना, तुच्छ और औसत या तत्त्वहीन विशिष्ट को ही यथार्थ और सत्य मान लेना अस्वाभाविक नही है।

प्रतिभा और क्रान्तिकारी दृष्टिकोण रखते हुए भी प्रेमचन्द के बाद का लेखक अपने युग के साथ वह तादात्म्य और सामजस्य स्थापित नही कर पाया जो रवीन्द्र, शरत्, इकबाल और प्रेमचन्द सहज ही कर पाये थे। कहने का मतलब यह कि इस काल का लेखक अपनी समस्त भाव-विदग्धता और प्रगतिशील राजनीतिक चेतना के बावजूद भी अपने युग-जीवन का एक प्रकार से तटस्थ दृष्टा ही रहा है, उसका सक्रिय चितेरा नही बन पाया। इसीलिए कथाकारो ने प्रतिनिधि मानव-चरित्रो (टाइप्स) का निर्माण करने की जगह अपने आत्म-चरित को ही रचना-चातुरी से विशिष्ट बनाना चाहा या बाह्य-जीवन के औसत, अति-साधारण और उथल-पुथले चित्र ही खीचे या अ[illegible]यो और गर्वोक्तियो मे लपेट कर, युग-सत्य की उपलब्धि और अनुभूति के बिना ही, क्रान्ति और सघर्ष के कल्पित और नीरस चित्र गढे। इस युग मे सम्पूर्ण युग-जीवन की प्रतीति और कलात्मक अभि-व्यक्ति किसी भी लेखक के लिए दु साध्य हो गई। प्रेमचन्द के बाद के साहित्य (विशेषकर कथा-साहित्य) का अध्ययन और मूल्याकन करते समय परिस्थिति-जन्य इस प्रतिकूलता को ध्यान मे रखना चाहिए। रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द का उदात्त नैतिक स्वर, अदम्य आशावाद, अकुठित मानव-प्रेम, उनकी निश्छल देश-भक्ति, अनन्य जीवनासक्ति, न्याय-भावना और सत्यनिष्ठा जो उनके यथार्थवाद की पीठिका बनी और जो सप्राण मानव-चरित्रो की उद्भावना करके साकार हुई, वह बाद मे व्यक्तिगत और समाजिक जीवन की कुण्ठाओ से विषम, आक्रान्त और आस्थाहीन होकर प्रकृत (यथा-तथ्य, 'नेचुरलिस्टिक') या असाधारण और विशेष के चित्रण के परिसीमित घेरे मे ही सिमट-सिकुड कर केवल जीवन की ऊपरी सतहो पर रमती रही।

यही कारण है कि यद्यपि जैनेन्द्रकुमार मे अत्यन्त सक्षेप मे मार्मिक ढग से तत्त्व की बात कह देने की प्रतिभा प्रेमचन्द से अधिक है; 'अज्ञेय' मे एक विशिष्ट व्यक्ति की विशिष्ट अनुभूतियों और कुण्ठाओ के विश्लेषण की क्षमता प्रेमचन्द से अधिक सूक्ष्म और परिमा-

जित है; यशपाल मे सामयिक यथार्थ का विश्लेषण प्रेमचन्द से अधिक सचेत और शक्तिशाली है और उनके व्यग और विद्रूपो की मार भी अधिक घातक है; ... ^ .. वर्मा की प्रगल्भता सभवत प्रेमचन्द से कही अधिक है और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का रचना-शिल्प उनसे अधिक सुथरा और सयत है और भगवतीप्रसाद बाजपेयी, इलाचन्द्र जोशी, पहाडी, निराला, उग्र, विष्णु प्रभाकर, चन्द्रकिरण सोनरेक्सा, रागेय राघव, नलिन विलोचन शर्मा, राधाकृष्ण, अचल, नरेन्द्र शर्मा, प्रभाकर माचवे, रहबर और अमृतराय आदि अनेक उल्लेखनीय उपन्यासकारो और कहानी लेखको की रचनाओ मे विषय-वस्तु, शैली और रूप-रचना सम्बन्धी अनेक ऐसी विशिष्टताएँ है जो प्रेमचन्द मे न थी, सम्भवत. न हो सकती थी; और इन सब ने हिन्दी कथा-साहित्य के विकास मे अनेक दृष्टियो से और अनेक शैलियो मे योग देकर उसे बहुमुखी भी बनाया है, किन्तु फिर भी अनुकूल वातावरण न पाने के कारण किसी की प्रतिभा अकुण्ठित रूप से अपने युग के साथ पूरा तादात्म्य और सामजस्य स्थापित करके व्यक्ति और समाज के सम्पूर्ण आन्तरिक और बाह्य जीवन को कलात्मक रूप से सर्वाङ्ग प्रतिबिम्बित नही कर पाई।

यह सब कहने का मतलब यह नही कि मै प्रेमचन्द के बाद के हिन्दी कथा-साहित्य को तुच्छ या नगण्य समझता हूँ। 'सुनीता' और 'त्याग-पत्र', 'बाण भट्ट की आत्म-कथा' 'देशद्रोही' और 'मनुष्य के रूप', 'शेखर', 'गिरती दीवारें', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'टेढे-मेढे रास्ते', 'बलचनमा' आदि तुच्छ और नगण्य रचनाएँ नही है, बल्कि अनुमान है कि वे कथा-साहित्य के इतिहास मे उल्लेखनीय रहेगी। मै यहाँ उस पुरानी बहस को भी नही उठाना चाहता कि हमारे कथाकार प्रेमचन्द से आगे बढे है या पीछे हटे है, उनकी परम्परा सभाल सके है या नही —परम्परा की दृष्टि से ग्रामीण-जीवन के चित्रण को छोडकर और दूसरे सभी तत्त्व रवीन्द्र और शरत् मे प्रेमचन्द से कही अधिक ऊँचे कलात्मक और मानवीय स्तर पर मिलते है, महान् रचनाओ की तरह उनकी रचनाओ का अन्त स्वर भी अधिक उदात्त और उच्च भावनाओ का उद्रेक करने वाला है, और उनमे युग-सत्य की अभिव्यक्ति भी अधिक अतरग, मार्मिक और यथार्थ है, औसत, फालतू बाते और ओछापन उनमे नही के बराबर है, शैली, गठन और शिल्प की तो तुलना ही क्या; साथ ही हिन्दी के न होकर भी हमारे लेखको और पाठको के लिए वे हिन्दी के उतने ही अपने रहे है, जितने प्रेमचन्द। इसलिए जब प्रेमचन्द की परम्परा का प्रश्न उठाया जाता है उस समय मेरे सामने, उनके नाम से पहले नही तो साथ-साथ, रवीन्द्र और शरत् के नाम भी अनायास ही उठ आते है। तभी परम्परा की रक्षा, विकास या ह्रास का प्रश्न मन मे साकार हो पाता है, नही तो नही। अकेले प्रेमचन्द का नाम लेने पर ऐसा लगता है जैसे हमारे भीतर से कोई सकीर्ण पूर्वग्रह बोल रहा हो। चाहे तो हम शहरी जीवन के चित्रण से ग्राम-जीवन के चित्रण को अधिक तरजीह देते है (मानो युग-सत्य प्रकट होने के लिए गाँव और शहर का कृत्रिम भेद करता हो, शहर को बहिष्कृत और गाँव को उपकृत करके, एक को हेय और दूसरे को वाछित समझता हो, जिससे ग्राम-जीवन का चाहे जैसा चित्रण अपने आप मे नगर-जीवन के चित्रण से

अधिक श्लाघ्य और कलात्मक हो जाता हो!) या फिर इस बात ने कि रवीन्द्र और शरत् के पात्र अधिकतर भद्र समाज के है और प्रेमचन्द के निम्न मध्यम वर्ग के या किसान, हमारी कुत्सित समाज-शास्त्रीय रुचि को रवीन्द्र और शरत् की उपेक्षा (और भर्त्सना भी) करने का एक बहाना दे दिया है जिसका आश्रय लेकर हमारे यहाँ कुछ लोगो ने 'परम्परा की रक्षा और विकास' के नाम पर रवीन्द्र के बारे मे चुप रहने, शरत् को हेय सिद्ध करने और प्रेमचन्द की बिना समझे-बूझे विरुदावली गाने की एक प्रथा चला दी है। इन लोगो के निकट 'परम्परा की रक्षा और विकास' का प्रश्न प्रेमचन्द का नीचे स्तर पर उतरकर अनुकरण करने और औसत तथा-तथ्य चित्रण की आवृत्ति करने से अधिक अर्थवान् कदाचित् ही है (जो परम्परा की रक्षा का मार्ग कदापि नही है, क्योकि अनुकरण और आवृत्ति साहित्य-सृजन के उपकरण नही है)।

अन्त मे हमारा उद्देश्य यह भी नही है कि प्रेमचन्द के पश्चात् फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र और बाद मे जॉ-पॉल-सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभाव ग्रहण करके हमारे कथा-साहित्य मे जो असाधारण व्यक्ति-विशेष की विशेष मन स्थितियो और अनुभूतियो का चित्रण करने की एक प्रवृत्ति चल पडी है, केवल वही आधुनिक उपन्यास का सच्चा रूप है या वह कथा-साहित्य का ह्रास है,—इस प्रवाद को हम यहाँ विशेष महत्त्व दे। 'अज्ञेय' ने इस बहस को अपने एक लेख मे उठाया है और इस प्रवृत्ति के पक्ष मे दो-तीन दावे पेश किये है। पहला तो यह कि आधुनिक उपन्यास मे वृत्त और चरित्र-चित्रण की अपेक्षा अब 'दृष्टि-कोण' अधिक महत्त्व का हो गया है, क्योकि जीवन पहले से अधिक जटिल हो गया है। दूसरे आधुनिक उपन्यास मे सघर्ष और परिस्थिति का पुराना रूप बदल गया है, अर्थात् मानव उद्योग और नियति का अनवरत् सघर्ष आधुनिक उपन्यास का विषय नही रहा, बल्कि आज के व्यक्ति का मानस ही एक परिस्थिति बन गया है, जहाँ विचारो का सघर्ष और वासनाओ का द्वन्द्व अविराम जारी है। इसलिए, आधुनिक उपन्यास का लक्ष्य मानव-चरित्रो का निर्माण करके मानव-उद्योग और नियति के सघर्ष को प्रतिबिम्बित करना नही है, बल्कि विशिष्ट व्यक्ति-चरित्रो का निर्माण करके उनके विशिष्ट मानस को प्रतिबिम्बित करना ही आधुनिक उपन्यास का लक्ष्य है। और आज के अनिश्चित और आस्थाहीन युग मे लेखक अस्तित्ववाद के (अवसरवादी) विचार-दर्शन को स्वीकार करके ही ऐसा कर सकता है, क्योकि उसके सामने सबसे बडा प्रश्न 'अस्तित्व-रक्षा' का है। इस दृष्टिकोण से लिखे गये उपन्यासो को 'अज्ञेय' उपन्यास-कला का चरम विकास मानते है, और ऐसे चरम विकसित 'आधुनिक उपन्यासो' की श्रेणी मे लारेंस, आद्रेजीद, ऐल्डस हक्सले, जॉन डॉस पैसॉस और चार्ल्स मोर्गन के उपन्यासों के साथ-साथ उन्होने अपने उपन्यास 'शेखर' का नाम भी पेश किया है, [illegible]
यह अनुमान भी लगा सकते है कि हिन्दी मे केवल 'अज्ञेय' ही 'आधुनिक उपन्यास' की कसौटी पर खरे उतरते है, अन्य तो अभी प्रेमचद की पिटीपिटाई लकीर के ही फकीर है! ऐसे दावे व्यर्थ की प्रवचनाओ को जन्म देते हैं, इसलिए हम इस बहस मे यहाँ नही पडना चाहते, केवल स्पष्टीकरण के लिए इतना कह देना प्रासगिक समझते है कि प्रेमचन्द या प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती

उपन्यासकारो मे भी जीवन-दर्शन का अभाव नही है। वस्तुत: प्रत्येक कलाकृति में उसके निर्माता का जीवन-दर्शन व्यक्त होता ही है, चाहे कला के माध्यम से, या सीधे, अनगढ, अनपचे ढग से। प्रेमचन्द के बाद के कथाकारो की यह विशेषता अवश्य रही है कि जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण अधिक उभर कर सामने आया है। जीवन की वैविध्यपूर्ण वास्तविकता को सम्पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करने की अपेक्षा विचार और तर्क से प्राप्त किये 'दृष्टिकोण' को व्यक्त करने का आग्रह उनमे आवश्यकता से अधिक प्रबल रहा है, अर्थात् वास्तविकता को उन्होने यथार्थ और सत्य रूप मे न देखकर अपने विशेष 'दृष्टिकोण' पर घटित करके देखना चाहा है, जिससे वस्तु-चित्र स्वाभाविक और यथार्थ न होकर अक्सर 'दृष्टान्त' मात्र बन गये है। और फिर, 'आधुनिक' के अन्तर्गत केवल फ्रायड और सार्त्र से प्रभावित दृष्टिकोण ही नहीं है। प्रेमचन्द के समय से गाधीवाद का दृष्टिकोण तो चला ही आ रहा था, बाद मे मार्क्सवाद का दृष्टिकोण भी अनेकानेक कथाकारो का जीवनदर्शन बना और हिन्दी के अनेक आधुनिक उपन्यासों पर उसकी छाप बहुत गहरी है। इसलिए 'आधुनिकता' की कसौटी केवल 'अस्तित्ववादी' दृष्टिकोण को ही नही बनाया जा सकता। 'अज्ञेय' के दावे के पक्ष मे यदि कुछ कहा जा सकता है तो केवल इतना कि अपने दृष्टिकोण और अपने उपन्यासो की शैली, शिल्प और विशेष पात्रो की विशेष अनुभूतियो के चित्रण द्वारा वे अपने पाठको के विशृखलित मानस मे और अधिक कुण्ठा, घुटन, अनास्था और अनैतिक भावनाएँ पैदा करने मे जितने समर्थ हो सके है, उतने गाधीवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोणो को अपनाने वाले लेखक अपने पाठको मे उदात्त भावनाएँ, सत्य-निष्ठा, मुक्ति-कामना, मानव-उद्योग मे विश्वास और जीवन के प्रति आस्था पैदा करने मे समर्थ नही हो पाये है। रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द की कृतियों से यह सस्कार ग्रहण करना आज भी पाठको के लिए जितना सहज है, उतना इस युग के प्रगतिशील कथाकारो की कृतियो से नही। 'अज्ञेय' अस्तित्वरक्षा के लिए, वर्तमान जीवन की विशृखलता को ही सत्य मानकर उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर सके है, लेकिन युग-सत्य विशृखलता नही, उसके बीच से जन्म लेने वाली मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य की सभावना है। युग-सत्य नकारात्मक नही होता, नही तो सत्य-असत्य का भेद ही मिट जाय। मनुष्य का सत्य मानव-द्रोह नही, मानव-प्रेम है।

इस विवेचन को समाप्त करते हुए यह कहना आवश्यक है कि यदि हम वस्तु-सत्य का यथार्थ-चित्रण और जन-हित की उदात्त भावना को रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द की सामान्य परम्परा मान कर देखे तो हम पायेगे कि प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद प्रेमचन्द के बाद के अधिकाश कथाकार जीवन यथार्थ के भिन्न-भिन्न अगों और स्तरो का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से प्रतिबिम्बित करने की ओर सतत् प्रयत्नशील रहे है। इस अन्तरिम युग मे उनकी यह दु:साध्य कला-साधना स्वय अपने मे अभिनन्दनीय है, जिस प्रकार प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती कथाकारों की प्रारभिक चेष्टाओ को हम आज भी अभिनन्दनीय समझते है।

—सितम्बर १९५२

१६

प्रेमचन्द और गोर्की : तुलनात्मक अध्ययन की समस्या

अपने देश के लेखको की विदेशी लेखको से तुलना करने की प्रवृत्ति एक सीमा तक हमारे राष्ट्रीय जागरण की परिस्थितियो से प्रेरित रही है। कालिदास भारत के शेक्सपियर है, वाल्मीकि भारत के होमर है या वर्तमान युग मे 'निराला' हिन्दी के ब्राउनिग है और पन्त हिदी के शेली—इस प्रकार की तुलनाएँ अक्सर की गई है। इन तुलनाओ मे तथ्य-कथन कितना है, इसका विवेचन यहाँ अभिप्रेत नही है, किन्तु ये तुलनाएँ किस प्रवृत्ति की ओर सकेत करती है इसको समझने का प्रयत्न ही प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डालने के लिए जरूरी है। इस प्रवृत्ति के मूल मे दो भावना-तत्त्व एक दूसरे से गुँथे हुए थे—एक तो प्रतिवाद और राष्ट्रीय स्वाभिमान का स्वर जो यह कबूल करने को तैयार नही था कि शासित होकर भी हम सभ्यता और सस्कृति मे किसी प्रकार अपने विदेशी (अग्रेजी, पाश्चात्य) शासको से हेठे या पीछे थे। दूसरा दीर्घकालीन गुलामी से उत्पन्न हीन-भावना का स्वर था, जो सहज ही ऐतिहासिक सत्य और तथा-तथ्य का विचार छोडकर अक्सर उद्धत और गर्वोक्तिपूर्ण हो जाता था, यानी जहाँ तुलना सम्भव नही है, वहाँ भी तुलना का कोई-न-कोई मनगढन्त आधार खोजकर केवल यह सिद्ध करना चाहता था कि जिसको तुम (पाश्चात्य जगत् वाले) शीर्ष स्थान देते हो, महान् समझते हो, वह तो हमारे अमुक लेखक या कलाकार के मुकाबले मे तुच्छ है, जैसे भारतेन्दु और शेक्सपियर की तुलना (डॉ० रामविलास शर्मा—'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' मे) करके मनमाने ढग से यह सिद्ध करना कि भारतेन्दु के मुकाबले मे शेक्सपियर तुच्छ और प्रतिक्रियावादी लेखक था। हीन भावना से प्रेरित तुलनाएँ साहित्यिक मानदडो की अवहेलना तो करती ही है, ऐतिहासिक तथ्यों को भी तोड-मरोडकर पेश करती है, और इस प्रकार अन्तत प्रतिक्रियावादी होती है, यह सहज ही अनुमेय है।

पाश्चात्य देशों के कलाकारो और लेखको से तुलना करते समय ये दोनो प्रवृत्तियाँ—प्रतिवाद और हीनता की भावना—एक साथ ही उभर कर सामने आती रही है, क्योकि केवल अग्रेज-प्रभु ही नही, बल्कि पश्चिम की सभी श्वेत जातियाँ, अनेक ऐतिहासिक कारणो से आधुनिक युग में भौतिक और सास्कृतिक दृष्टि से आगे बढ़ गई और जिन्होने एशिया-अफ्रीका के देशो को गुलाम बनाकर अपने साम्राज्य स्थापित किए वे हमारे लिए न चाहने पर भी सभ्यता और सस्कृति का मानदड बन गईं। जिन कलाकारो या लेखको की पाश्चात्य जगत् मे मान्यता सार्वजनिक थी, उनसे हमने अपने कलाकारों और लेखको की तुलना की, चाहे कला, साहित्य या इतिहास की दृष्टि से तुलना का सम्यक् आधार रहा हो या न रहा हो।

यह पाश्चात्य जगत् को एक चुनौती भी थी और अपनी हीन-भावना का प्रदर्शन भी। इसी-लिए जहाँ ऐतिहासिक तथ्यो और कला के मानदडो का आग्रह सामने रखकर तुलनाएँ की गई, वहाँ तो सटीक बैठी, किन्तु जहाँ केवल मोहवश, अपनी हीन-भावना से प्रेरित औद्धत्य का प्रदर्शन हुआ और साहित्यक मानदडो को त्याग कर 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' बनने की प्रवृत्ति ने जोर पकडा, वहाँ तुलनाएँ असगत और निरर्थक सिद्ध हुई। शेक्सपियर और भारतेन्दु की तुलना इस दूसरी कोटि की ही है।

प्रेमचन्द और गोर्की समकालीन लेखक रहे है। गोर्की अक्तूबर क्रान्ति (सन् १९१७) से पहले ही पाश्चात्य जगत् मे ख्याति प्राप्त कर गये थे और सन् १९३० के लग-भग या उससे पहले ही भारतीय भाषाओ मे भी उनकी कृतियो के अनुवाद होने लगे थे। लेकिन प्रेमचन्द के जीवन-काल मे, जहाँ तक मुझे स्मरण है, किसी ने गोर्की से उनकी तुलना नही की। उन दिनो अधिक से अधिक चार्ल्स डिकेन्स या विलियम थैकरे से ही उनकी तुलना की जाती थी, वह भी कुछ रचनाओ और प्रवृत्तियो के साम्य के आधार पर ही। गोर्की से प्रेमचन्द की तुलना सबसे पहले किसने की, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, लेकिन इतना तो बहुत कुछ निश्चित है कि तुलना का यह सिलसिला इन दोनो महान् लेखको की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद ही शुरू हुआ, विशेषकर तब, जब प्रगतिशील आन्दोलन के फलस्वरूप अग्रेजी और फ्रासीसी के प्राचीन अथवा अर्वाचीन लेखकों से तुलना न करके हमे सोवियत रूस के क्रातिकारी लेखको से तुलना करने मे आत्म-गौरव का अनुभव होने लगा। अपनी हीन-भावना और चारणवृत्ति से प्रेरित होकर हमारे कतिपय लेखको ने तुलसीदास की तुलना मॉयकोव्सकी से नही की, यही आश्चर्य की बात है। शायद ऐसा प्रयत्न प्रत्यक्षत हास्यास्पद होता, इसका अहसास उन्हे भी था, लेकिन प्रेमचन्द और गोर्की की तुलना क्यो नही की जा सकती, और गोर्की को प्रेमचन्द से हीन क्यो नही सिद्ध किया जा सकता? और सबसे पहले यह सिद्ध करने का श्रेय भी डॉक्टर रामविलास शर्मा को है। सच तो यह है कि 'साहित्य' के इस 'डॉक्टर' ने एक ही तीर से विश्व के तीन 'महान्' लेखको—तॉलस्तॉय, दोस्तोव्स्की और गोर्की—को प्रेमचन्द के मुकाबले मे धराशायी कर दिया! उन्होने 'युग के साथ होने की 'जनवादी' कसौटी पर कसकर सिद्ध किया कि "अनेक दृष्टियो से ये महान् लेखक अपने युग से पिछडे थे।" (देखिए डॉ० रामविलास शर्मा कृत 'प्रेमचन्द' की भूमिका प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३) इस हिन्दी आलोचक के ही शब्दो मे गोर्की के 'पिछडेपन' का ज़रा मुलाहिजा कीजिए।

"गोर्की मे आवारापन अत्यधिक था और वर्ग-सघर्ष की उसे पूरी-पूरी जानकारी न थी। उसने अपनी डायरी मे अपनी आवारा प्रवृत्तियो का मार्मिक वर्णन किया है। अपने रोमाटिकपन के कारण वह क्राति के पश्चात् भी क्राति के पूर्व के ही पुराने चित्र बनाता रहा। प्रेमचन्द अपने युग के साथ थे और अपने युग की उथल-पुथल को उन्होने अपनी रचनाओ मे चित्रित किया है।" (वही, पृष्ठ ३)।

सभव है कि आप इन पक्तियों को स्वर्णाक्षरो मे लिखवाकर टाँगना चाहे, क्योकि

सौन्दर्य-शास्त्र, तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति, प्रगतिशीलता की कसौटी और ऐतिहासिक तथ्यो को समझने की दृष्टि के बारे मे अनेक आधारभूत स्थापनाओ और मौलिक सिद्धातो का प्रतिपादन यहाँ सूत्र रूप मे मिलता है—अर्थात् 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' का पूरा दर्शन इसमे निहित है। इस वक्तव्य के गूढार्थो मे गागर मे सागर भरा हुआ है। प्रेमचन्द इस आलोचक के आराध्य है, यह विवेचनीय नही, लेकिन जो आराध्य हो (या इससे नीचे उतर कर, मित्र या अपना समर्थक हो) उसे अपनी व्यक्तिगत रुचि, राग-द्वेष और मोह के कारण सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि तो मानना ही चाहिए, और इस 'सर्वश्रेष्ठता' को सिद्ध करने के लिए इतिहास को तोड-मरोड कर अनुकूल बनाना भी अपना कर्त्तव्य हो ही जाता है। सो जनाब, गोर्की को "वर्ग-सघर्ष की पूरी-पूरी जानकारी न थी!" 'माँ', 'तीन पीढी' और 'क्लिम सैमगिन की जीवनी' जैसे वर्ग-सघर्ष और पूँजीवाद के विकास और ह्रास की समस्या को लेकर लिखे गये महान् उपन्यासो की रचना करने वाला और असख्य लेखो और भाषणो द्वारा वर्ग-समाज की धज्जियाँ उडाने वाला गोर्की वर्ग-सघर्ष से अपरिचित था, इस बात पर आपको विश्वास कर लेना चाहिए, क्योकि कुत्सित समाज शास्त्रीयता का आलोचक यहाँ अपने आराध्य को पुनीत भाव से श्रद्धाजलि अर्पित कर रहा है। लेनिन-स्टालिन से लेकर रूस के सभी विचारको और समीक्षको ने, तथा विश्व के अधिकाश आलोचको ने (चाहे वे गोर्की और सोवियत साहित्य के प्रशसक हो या विरोधी) गोर्की को समाजवादी यथार्थवाद का प्रथम और सर्वश्रेष्ठ कलाकार माना है, लेकिन इन प्रमाणो की अवहेलना करके आपको मान लेना चाहिए कि गोर्की एक 'रोमाटिक' लेखक था! और 'रोमाटिक' लेखक होने से बडा अपराध क्या है? हमे खेद है कि इस वर्ग-सघर्ष के ज्ञाता आलोचक ने 'रोमाटिक' को 'बुर्जुआ' का पर्याय बताकर हमारी दृष्टि साफ नही की, इसलिए हम निश्चितरूप से नही कह सकते कि 'रोमाटिक' होने मात्र मे क्या बुराइयाँ है। लेकिन आगे की पक्तियो से इतना तो स्पष्ट है कि 'रोमाटिक' दृष्टिकोण होने के कारण कोई भी लेखक 'क्राति के पश्चात् भी क्रान्ति-पूर्व के ही पुराने चित्र' बनाने के लिए बाध्य होता है। इन दोनो मे कार्य-कारण सम्बध क्यो और कैसे है, इसका अनुमान करने मे आप भी अपनी कल्पना का जोर लगाये, किन्तु हमे अपनी असमर्थता स्वीकार करने मे सकोच नही है। स्वय गोर्की ने 'क्रातिकारी रोमान्टिसिज्म' को 'समाजवादी यथार्थवाद' का ही अभिन्न अग माना था, लेकिन सभव है कि गोर्की ने अपनी कमजोरियो को छिपाने के लिए सिद्धान्त का आडम्बर रचा हो। कम-से-कम इस विद्वान् आलोचक की पैनी दृष्टि को गोर्की का वाग्जाल धोखा नही दे सकता था। और यदि गोर्की का दावा एक क्षण के लिए सही मान भी लिया जाय, तो फिर वह 'क्रान्ति के पश्चात् भी क्रान्ति-पूर्व के पुराने चित्र' ही क्यो बनाता रहा? और जो लेखक अपने समय के पूर्व के चित्र बनाये, वह 'अपने युग के साथ' कैसे हो सकता है? यानी अपने युग से पिछडा हुआ। और जो लेखक 'पिछडा' है, वह अनिवार्यत छोटा तो होगा ही—कम-से-कम उसके मुकाबले मे जो 'अपने युग के साथ है' और जिसने 'अपने युग की उथल-पुथल को अपनी रचनाओ मे चित्रित किया है।' इसलिए प्रेमचन्द के मुका-

बले में गोर्की छोटा लेखक था ! (Q.E.D.) कितनी सीधी और सटीक बात है ! इस प्रसग मे शायद आपको स्मरण हो आये कि क्रान्ति से पूर्व एक दिन गोर्की ने लेनिन को रूस मे पूंजीवाद के विकास और ह्रास की समस्या को लेकर एक उपन्यास लिखने की योजना बतायी थी, और उस पर लेनिन ने सलाह दी थी कि उसे क्रान्ति के बाद ही ऐसा वृहद् उपन्यास लिखना चाहिए, क्योकि तब वह विश्व-मच पर पूंजीवाद की जीवन-लीला का उपसहार भी स्वय अपनी आँखो देख चुका होगा। गोर्की ने यह बात मान ली थी और क्रान्ति के बाद ही उसने 'तीन पीढी' और 'क्लिम सैमिगिन की जीवनी' इन दो वृहद् और महान् उपन्यासो की रचना की। तात्पर्य यह कि, क्रान्ति के बाद भी, क्रान्ति-पूर्व के चित्र बनाने के पीछे स्वय लेनिन की प्रेरणा थी ! इस बात को लेकर आप हमारे आलोचक की ले-दे न करे, क्योकि सभव है कि लेनिन ने मित्रतावश गोर्की को ऐसा करने की छूट दे दी हो। यह ठीक है कि गोर्की लेनिन का आराध्य नही था, लेकिन मित्र तो था, और मित्र के प्रति स्नेह का बन्धन और मोह तो होता ही है। इसलिए इस सापेक्षतावादी दुनिया मे लेनिन और डॉ० शर्मा के दृष्टि-भेद को आप अधिक से अधिक दो पूर्वग्रहो या अन्ध-मोहो की टक्कर ही माने। यदि सत्य इधर नही है तो उधर भी नही हो सकता, और चूँकि सत्य कही न कही तो होना ही चाहिए, इसलिए उसे डॉ० शर्मा के अन्दर ही खोजना ठीक होगा, क्योकि एक तो वे हमारे अपने हिन्दी के परम विद्वान आलोचक है, दूसरे,वे अपने देशवासी लेखको को ऊँचा उठा रहे है और तीसरे उनका यह दावा तर्कसगत भी तो दीखता है कि जो पुराने चित्र बनाये वह युग के साथ नही हो सकता। 'युग' शब्द यहाँ जरूर कुछ गडबड डालता है, उदाहरण के लिए कुछ लोग दस-बीस-पचास साल से लेकर अब तक के समय को, किसी खास ऐतिहासिक प्रक्रिया के विकास को दृष्टि मे रखकर, 'एक' ही युग मान लेते है, लेकिन इस सतत परिवर्त्तनशील संसार मे 'युग' की व्याप्ति इतनी लम्बी कैसे मानी जा सकती है ? यहाँ तो हर घटना एक नये युग मे होती है। या अगर कोई लेखक द्वितीय महायुद्ध को लेकर रचना करे तो उसे इस युग का लेखक कैसे मान सकते है, जबकि इस अन्तराल मे असंख्य घटनाएँ घट चुकी है—नाविको का विद्रोह हो चुका है, I. N. A का मुकदमा लडा जा चुका है, देश आजाद हुआ है और उसका बँटवारा भी, साम्प्रदायिक दगे हुए है, काश्मीर पर हमला हुआ है, तेलगाना हुआ है, शान्ति आन्दोलन चला है, नेहरू की नीति को फासिस्ट कहा गया है और फिर उन्हे विश्व-शान्ति का सबसे बडा समर्थक भी—गरज यह कि इस बीच इतना कुछ हो गया है कि इसको एक ही युग मे रख देने से समस्या और भी जटिल हो जाती है और उनके बीच कोई न कोई सम्बन्ध-सूत्र खोज निकालना पडता है, जो विद्वान् आलोचको के लिए तो दु साध्य कार्य है, क्योकि वे इतिहासकार नही है। इसलिए युग की व्याप्ति सूक्ष्मातिसूक्ष्म ही माननी चाहिए—यानी कल की घटना आज तभी इस युग की मानी जा सकती है, जब इन चौबीस घटो मे और कोई घटना न घटी हो। किन्तु ऐसा कब सभव है ? इसलिए 'युग' एक अव्यक्त, अमूर्त्त इकाई है, और कोई भी लेखक वास्तव मे युग के साथ नही हो सकता, यानी युग की उथल-पुथल ही को चित्रित करने मे समय का जो व्यवधान पडेगा, उस बीच और महत्त्वपूर्ण घट-

नाएँ भी तो घटित हो ही जायेंगी। इसलिए आलोचना के इस युग-सापेक्ष मानदड को जरा ढीला करके लागू करना चाहिए--अर्थात् जो लेखक जितने निकट भूत की घटना या उथल-पुथल को चित्रित करे, वह उतना ही अधिक युग के साथ, यानी बडा और प्रगतिशील है, और जो जितने पुराने समय की घटना को चित्रित करे वह उतना ही युग से पीछे, छोटा और प्रतिक्रियावादी है। यह फार्मूला बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योकि 'प्रेमचन्द' इसके कारण सहज ही गोर्की और तॉलस्तॉय से महान् सिद्ध किये जा सकते हे। गोर्की और तॉलस्तॉय ने पुराने चित्र बनाये, इसलिए दोनो अपेक्षया तुच्छ और प्रतिक्रियावादी लेखक थे। ये दोनो ही क्यो, विश्व के वे सभी उपन्यासकार, जिन्हे ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का शौक है, वस्तुत प्रतिक्रियावादी हे। समीक्षा-शास्त्र को, मनुष्य मात्र के सौन्दर्य-बोध को 'कुत्सित समाज शास्त्रीयता' का यह मूल्य-निरूपण का फार्मूला सचमुच एक महान् देन है।

लेकिन डॉ० रामविलास के पक्ष मे हम एक बात कहना नही भूल सकते कि जिस समय उन्होने गोर्की और प्रेमचन्द की तुलना मे ये पक्तियॉ लिखी थी, उस समय तक वे कम्युनिस्ट पार्टी मे नही आये थे। इसलिए बाद मे भी यद्यपि उनका साहित्यिक पाडित्य इन फार्मूलो की बैसाखी लगाकर ही कूद-फॉद मचाता रहा, लेकिन उन्होने अगर गोर्की पर ये अमर पक्तियॉ पहले न लिख दी होती तो हम उनसे वचित ही रह जाते। बाद मे आस्था का केन्द्र बदल जाने के कारण प्रेमचन्द को गोर्की से बडा नही, बल्कि अधिक से अधिक गोर्की का समकक्ष सिद्ध करने का कर्त्तव्य ही उनके पास शेष रह जाता--केवल यह सिद्ध करना कि जो गोर्की थे, वह प्रेमचन्द भी थे, पूरी तरह नही तो कुछ कम मात्रा मे और यदि किसी दिशा मे वह गोर्की से पीछे थे तो उस दिशा मे तेजी से आगे विकास कर रहे थे। यानी गोर्की अगर समाजवादी यथार्थवाद के जनक थे तो प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद भी उस दिशा मे ही प्रगति कर रहा था। गोर्की यदि सर्वहारा वर्ग के सबसे बडे पक्षधर कलाकार थे, तो प्रेमचन्द भारतीय किसान के प्रतिनिधि थे और यदि जीवित रहते और कानपुर और बम्बई के मजदूरो की हडताले देख पाते तो मजदूरो के भी उतने ही बडे हिमायती बन जाते। गोर्की ने पूँजीवादी समाज और सस्कृति की धज्जियॉ उडाई थी, तो प्रेमचन्द को भी 'महाजनी सभ्यता' की विषमताओ की पूरी चेतना थी। गोर्की विश्व-शान्ति-आन्दोलन के अग्रणी थे तो प्रेमचन्द अपने समय तक देश मे शान्ति आन्दोलन न चलने पर भी 'शान्ति के योद्धा' थे। तात्पर्य यह कि प्रेमचन्द गोर्की के ही पदचिह्नो पर चल रहे थे--अमृतराय और बाद के दूसरे प्रगतिवादियो के वक्तव्यो मे कुछ-कुछ ऐसा ही आभास मिलता है।

खैरियत है कि प्रगतिशील आन्दोलन के फलस्वरूप प्रेमचन्द को गोर्की से बडा सिद्ध करने का प्रयत्न सन् ४० के बाद ही बन्द हो गया, लेकिन उन्हे गोर्की के समकक्ष सिद्ध करने के कष्ट-साध्य प्रयत्न अक्सर हर साल उनकी बरसी पर किये जाते रहे। अब लगता है जैसे इस प्रयत्न की सार्थकता भी सदिग्ध प्रमाणित हो रही है, क्योकि अक्तूबर १९५१ के 'हस' मे एक सोवियत् आलोचक बी० एम० वेस्क्रोवनी का लेख प्रकाशित हुआ था, जिसे पढकर हमे हैराना हुई कि उक्त आलोचक ने प्रेमचन्द की तुलना गोर्की से छोटे, बड़े, बराबर के,

या उनके नेता या अनुयायी, किसी भी रूप मे नहीं की, बल्कि उन्होंने प्रेमचन्द के विचारों को टॉलस्टॉय के विचारो तक ही सीमित बताकर हमारे मित्रो की सारी कपोल-कल्पनाओ के वाग्जाल को छिन्न-भिन्न कर दिया। तब से हमारे आलोचक गोर्की और प्रेमचन्द की तुलना का कोई नया आधार नही खोज पा रहे, ऐसी स्थिति मे कुछ प्रासगिक बातो पर विचार करने का अवकाश पैदा हो गया है।

तुलना तो किन्ही भी दो लेखको मे की जा सकती है, दो भिन्न युगो, समाजो, प्रवृत्तियो और शैलियो के लेखको मे भी। क्योकि जैसे विषमता के, वैसे ही समानता के कुछ-न-कुछ तत्त्व तो सभी मे मिल सकते है लेकिन केवल मन से ही विषमता या समानता के तत्त्वो को गढकर किसी को छोटा-बडा या समकक्ष सिद्ध करने की प्रवृत्ति स्वय अपनी क्षुद्रता का प्रदर्शन मात्र है। मै यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि प्रेमचन्द के प्रति मेरे हृदय मे किसी से भी कम आदर की भावना नही है, क्योकि प्रेमचन्द चाहे जिस कोटि के उपन्यासकार क्यो न हो, कम-से-कम अभी तक हिन्दी-उर्दू के तो सर्वश्रेष्ठ कथाकार है ही, और इन भाषाओ मे आधुनिक उपन्यास और कहानी साहित्य के विकास मे ऐतिहासिक दृष्टि से उनका बडा महत्त्व है। लेकिन लेखको मे वे मेरे एकमात्र आराध्य नही है। विश्व मे ही क्यो, भारत मे भी उनसे बडे-बडे लेखक हुए है, इस युग मे ही। इस सम्बन्ध मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरत् चट्टोपाध्याय को भुला देना मेरे लिए सभव नही है। दुर्भाग्य से मै इतनी अन्ध-श्रद्धा का व्यक्ति नही हूँ कि जिस लेखक को पसन्द करूँ, उसे देवता मान लूँ, या समझ लूँ कि मनुष्य की कलात्मक सभावनाओ का उसमे आकर अन्त हो गया। यह बात मै विश्व के सर्वश्रेष्ठ लेखको शेक्सपियर, टॉल्स्टॉय, दाते, गेटे, और बाल्जाक के बारे मे भी नही सोच पाता, जो यदि छोटे-बडे के अति-सरल मापदड से ही नापे जायँ तो प्रेमचन्द से बॉसो ऊँचे कलाकार है। इसीलिए मै चाहता हूँ कि आप आँखे खोलकर प्रेमचन्द और गोर्की की तुलना के प्रश्न पर विचार करे। दोनो मे समानताएँ अधिक है, तो गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन साहित्य के विद्यार्थियो के लिए निश्चय ही लाभकर हो सकता है। किन्तु यदि विषमताएँ अधिक है, तो तुलनात्मक अध्ययन आलोचक के पूर्वग्रह के अनुसार एक को छोटा तो दूसरे को बडा या एक को प्रगतिशील तो दूसरे को प्रतिक्रियावादी आदि सिद्ध करने की निरर्थक चेष्टाओ तक ही सीमित नही रह जायगा, इस सभावना के विरुद्ध आपके पास कोई गारन्टी नही हो सकती। और ऐसी एकागी और पथभ्रष्ट आलोचना तो स्कूल के विद्यार्थियो को भी शोभा नही देती। यह तो ऐसा ही होगा जैसे कोई 'निराला' की तुलना टी० एस० ईलियट या एजरा पाउन्ड से करे, और सुभद्राकुमारी चौहान की तुलना मॉयकोवस्की से करने बैठे। आलोचक का कर्त्तव्य है कि जहाँ तक सभव हो वह इतिहास का प्रवक्ता बने, यानी किसी साहित्यकार के कृतित्व को जाँचने-परखने की उसकी अन्तर्दृष्टि, समझ, सवेदनशीलता और ईमानदारी इतनी गहरी हो कि वह अपने पूर्वग्रहो के बावजूद सही-सही मूल्याकन कर सके—ऐसा मूल्याकन जिसे आगे आने वाली पीढियाँ आसानी से रद्द न कर दे। प्लैटो कवियो का भक्त नही था, वह कविता को सत्य से कोसों दूर मानता था, और

इसी कारण अपनी आदर्श 'रिपब्लिक' से कवियों को बहिष्कृत करने का उसने विधान बनाया था। किन्तु फिर भी वह होमर के काव्य की महानता और प्रभविष्णुता से इन्कार नही कर पाया। इतिहास भी होमर-काव्य की इस शक्ति को आज तक नही झुठला सका है। अत हम कह सकते है कि प्लैटो, न चाहकर भी, इतिहास का प्रवक्ता बना। लेकिन दुर्भाग्य से हमारे ये आलोचक-बन्धु, बडे-बडे सिद्धान्तो की रसायन पीकर भी सत्य को आँख खोलकर देखने की शक्ति का सचय नही कर पाते।

आखिर प्रेमचन्द और गोर्की की तुलना का प्रश्न ही कब उठता है ? चाहे जिस दृष्टि से देखे,—दोनो की कृतियो की गठन, रचना-शैली, विषय-वस्तु, चरित्र-चित्रण, और केन्द्रीय समस्याओ की तुलना करके देखे, या दोनो लेखको के दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक दृष्टिकोणो का मिलान करे या दोनो की कृतियो के तत्कालीन राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावो को या उनके स्थायी महत्त्व को जाँचे-परखे—दोनो मे जितनी कुछ भी समानता है, अन्तर और वैषम्य निश्चय ही उसमे कही अधिक है। इन्ही बातो को ध्यान मे रखकर शायद सोवियत् आलोचक बेस्कोव्नी ने प्रेमचन्द पर लिखते समय गोर्की का नही टॉलस्टॉय का उल्लेख किया है। प्रेमचन्द अनेक दृष्टियो से अपेक्षया टॉलस्टॉय के अधिक निकट है—यद्यपि इसका अर्थ यह कदापि नही कि वे टॉलस्टॉय से बडे है, या उनकी बराबरी के लेखक है। टॉलस्टॉय से प्रेमचन्द बहुत अधिक प्रभावित थे, इसका केवल इतना ही अर्थ है। स्वय महात्मा गाधी टॉलस्टॉय से प्रभावित थे, और प्रेमचन्द मूलत गाधी जी के ही अनुयायी थे। यह उनकी अच्छाई-बुराई का प्रश्न नही है। देश-काल का परिस्थिति-भेद ही सभवत इसके लिए उत्तरदायी है। और चूँकि प्रेमचन्द की कला यथार्थवाद की ओर निरन्तर विकासशील रही, इस कारण अपनी अनेक रचनाओ मे वे गाधीवाद की सीमाओ का अतिक्रमण करते भी दीखते है। कला की दृष्टि से प्रेमचन्द की कृतियाँ गोर्की की तुलना मे नही रखी जा सकती—कम-से-कम उनके उपन्यास तो नही ही इसलिए नही कि गोर्की की अधिकाश कृतियाँ विश्व-साहित्य मे 'क्लासिक' बन गई है, और प्रेमचन्द की कुछ कृतियाँ ही तत्काल के लिए भारतीय साहित्य मे 'क्लासिक' का दरजा पा सकी है, और विश्व-साहित्य मे अभी तक उनकी मान्यता नही के बराबर है। तत्काल प्रसिद्धि पा जाना कोई महानता का लक्षण नही है। इतिहास मे ऐसे लेखको की भी मिसाले है, जिनकी महानता उनकी मृत्यु के सैकडो वर्ष बाद स्वीकार की गई। इसलिए यह कारण नही है, बल्कि यह है कि प्रेमचन्द के अधिकतर उपन्यास कला की दृष्टि से इतने कमजोर और शिथिल है कि वे कभी भी विश्व-साहित्य मे गोर्की के समकक्ष 'क्लासिक' का दरजा पा सकेगे, इसमे सन्देह है।

यहाँ पर दोनो की कृतियो का विस्तृत विवेचन करना सम्भव नही है। हसराज 'रहबर' प्रेमचन्द के भक्त और समर्थक है। प्रेमचन्द पर अपनी पुस्तक मे उन्होने मुक्त-हृदय से श्रद्धाजलियाँ अर्पित की है, लेकिन 'साहित्य पर दृष्टि' वाले परिच्छेद मे जहाँ उन्होने प्रेमचन्द के विभिन्न उपन्यासो का विवेचन किया है, वहाँ उनके निष्कर्ष इन श्रद्धाजलियो से भिन्न है और मै समझता हूँ कि सत्य के अधिक निकट है। प्रेमचन्द के पहले

उपन्यास 'रूठी रानी' के बारे मे उनका कहना है, "पात्र उभरते नही।" 'वरदान' के बारे मे उनकी राय है, "कहना नही होगा कि कथानक बहुत ही लम्बा और जटिल है। इसमें पात्र तो बहुत-से हैं, लेकिन कोई हाड-मास के मनुष्य की तरह उभर कर सामने नही आता। सभी लेखक के हाथ की कठपुतलियाँ बनकर रह गये है। जब वह उनकी उपयोगिता नही देखता, तो तोड-मरोडकर फेक देता है। अथवा अकारण मृत्यु करवा देता है। एक छोटे-से उपन्यास मे इतनी मृत्युएँ अखरती है। और घटना-प्रवाह भी स्वाभाविक नही है।" 'प्रतिज्ञा' के बारे मे उनका कहना है, "अमृतराय और प्रेमा उपन्यास के ऐसे पात्र है जिन्हे लेखक ने गढा है। उनमे जीवन का अभाव है, और एकदम निष्प्राण जान पडते है। सारे उपन्यास मे सिर्फ सुमित्रा का जीता-जागता और सप्राण चरित्र है।" और आगे, "प्रेमचन्द ने इस उपन्यास मे एक सामाजिक समस्या को सुधारवादी ढग से सुलझाने की कोशिश की है। इसलिए उन्होने वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था को, उसके रीति-रिवाज को छुआ तक नही, जहाँ-तहाँ टीप-टाप करके उसी मे सुधार करना चाहा है। इसलिए न समस्या हल हुई न पात्र उभर सके है।" प्रेमचन्द का 'सेवासदन' पहला महत्त्वपूर्ण उपन्यास है, उसके बारे मे 'रहबर' का कहना है, "उपन्यास मूलत: सुधारवादी है।" 'निर्मला' के बारे मे उनका विचार है कि "छोटी-छोटी बातो को बहुत ही बढा-चढाकर विस्तार से बयान किया गया है। भाषा और वाक्य-विन्यास सुन्दर नही है, कोई भी पात्र रक्त-मास का बना हुआ नही जान पडता और एकदम इतनी हत्याएँ अस्वाभाविक ही नही पढते-पढते मन ऊब जाता है और क्षोभ उत्पन्न होता है।" 'कायाकल्प' के बारे मे और आलोचको की राय का उल्लेख करते हुए, 'रहबर' इस परिणाम पर पहुँचे है कि "प्रेमाश्रम मे प्रेमचन्द यथार्थ के मार्ग पर जितना आगे बढ गये थे, 'कायाकल्प' मे उतना ही पीछे लौट गये मालूम होते है।" 'गबन' के बारे मे उनका मत है कि "इस उपन्यास का कथानक रमानाथ के कलकत्ते भागने तक तो ठीक चलता है। लेकिन उसके बाद कथानक का ताना-बाना उलझ जाता है और उसमे बहुत से झोल पड जाते है।" 'कर्मभूमि' की खामियो के बारे मे टिप्पणी करते हुए 'रहबर' ने प्रेमचन्द की कला की मौलिक कमजोरी की ओर इशारा किया है कि "जब वे अस्वाभाविक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने के लिए यथार्थवाद की उपेक्षा करते है, वही मनोविज्ञान का दामन भी उनके हाथ से छूट जाता है।" 'गोदान' की आद्यन्त प्रशसा करते हुए भी 'रहबर' को प्रेमचन्द के विश्व-बोध की सीमाओ को स्वीकार करके लिखना पडा है, "उन्होने अभी मजदूर वर्ग के ऐतिहासिक रोल को नही समझा था। यही उनका रूढिवाद था जो गोबर मे अकित हो गया है!" अब रह गये केवल दो उपन्यास 'प्रेमाश्रम' और 'रगभूमि'। इनमे प्रेमचन्द का सुधारवादी दृष्टिकोण उनकी कला पर कितना हावी हुआ इसकी ओर भी 'रहबर' ने सकेत किया है, यद्यपि स्पष्टत: नही। प्रेमचन्द के नाटको को 'रहबर' सर्वथा 'असफल' मानते है और उनकी कहानियो के बारे मे तो स्वय अमृतराय का कहना है कि उनमे "अनेक स्थलो पर गलत सुर बज उठता है। पाठको ने लक्ष्य किया होगा कि कभी-कभी कहानी का अन्त बाकी कहानी से बिलकुल मेल नही खाता। ऐसी दशा मे लेखक कथा

के स्वाभाविक विकास पर अपने आपको लादता-सा जान पडता है । इसका परिणाम यह होता है कि कहानी का प्रकृत विकास तो उसे एक प्रकार के उपसहार की ओर ले जाता है, और कहानीकार की पूर्व निश्चित योजना उसे भिन्न या कभी-कभी भिन्न दिशा मे जाने को विवश करती है । जब भी ऐसा हो, उसे कहानी का बहुत बडा दुर्भाग्य समझना चाहिए ।" 'रहबर' ने भी अनेक मिसाले देकर इसी तथ्य की पुष्टि की है ।

प्रेमचन्द की कला के बारे मे यह श्रद्धालु आलोचको की राय है । किन्तु गोर्की की कला मे ऐसी त्रुटियाँ आज तक उसके विरोधी आलोचको ने भी नही निकाली । यह कम महत्त्व की बात नही है । गोर्की के सभी उपन्यास स्वय अपने बल पर विश्व के श्रेष्ठ उपन्यासो की परम्परा मे अपना विशिष्ट स्थान रखते है । केवल इतना ही नही, गोर्की की यथार्थवादी कला मे कुछ ऐसे मौलिक तत्त्व भी है, जो टॉलस्टॉय मे भी नही मिल सकते, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि गोर्की ने विश्व के उपन्यास और कहानी का टॉलस्टॉय के बाद विकास किया । निश्चय ही यह विकास समाजवादी यथार्थवाद की दिशा मे था । किन्तु प्रेमचन्द की कला के लिए एक परिमित क्षेत्र मे ही ऐसा दावा किया जा सकता है--यानी उन्होने हिन्दी-उर्दू (भारतीय भी नही) उपन्यास साहित्य का विकास किया । किन्तु ये दोनो सर्वथा भिन्न बाते है । विश्व-साहित्य मे, या भारतीय उपन्यास साहित्य मे ही उन्होने कोई नया विकास किया हो, यह कहना कदाचित् सम्भव नही है । गोर्की एक श्रेष्ठ नाटककार, कवि और विचारक भी थ--श्रेष्ठ से मेरा मतलब अपने युग के शीर्ष स्थानीय नाटककारो, कवियो और विचारको की बराबरी से है । किन्तु प्रेमचन्द की प्रतिभा कथा-साहित्य के बाहर इतनी प्रखर न थी । कथा-साहित्य मे भी वे गोर्की के मुकाबले मे बहुत थोडे ही सजीव प्रतिनिधि पात्रो की सृष्टि कर पाये । वस्तुत उनकी कला को प्रौढता प्राप्त करने मे तीस-बत्तीस वर्ष लग गये, कला से मेरा तात्पर्य जीवन-वास्तव को मूर्त्त और सपूर्ण ढग से प्रतिबिम्बित करना है । गोर्की ने इतना समय नही लिया, बल्कि उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ भी कला की दृष्टि से अनिद्य है । प्रेमचन्द की अपेक्षा गोर्की का प्रारम्भिक जीवन कही अधिक सघर्षमय, अभावपूर्ण और कटु अनुभवो से भरा हुआ था । इसलिए दोनो की 'प्रतिभा' के वैषम्य को प्रेमचन्द की आर्थिक विपन्नता के मत्थे भी नही मढा जा सकता ।

मै समझता हूँ कि अब इस सम्बन्ध मे अधिक उहापोह की जरूरत नही है । प्रेमचन्द अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण रचनाकार है और गोर्की अपने स्थान पर । दोनो की कृतियो का अध्ययन अलग-अलग दृष्टियो से जरूरी है, लेकिन दोनो की तुलना का प्रश्न नहीं उठता, इतना तो स्पष्ट है ।

--नवम्बर, १९५४

१७

आलोचक का दायित्व

आजादी के इस युग मे दायित्वो की चर्चा असगत लगती है। दरअसल यह अधिकारो की माँग का युग है। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध से ही दुनिया मे दायित्वो की जगह अधिकारो की चर्चा होती आयी है। पुराने सामती सामज मे अधिकारो और दायित्वो का बँटवारा कुछ इस तरह था कि अधिकार तो मुट्ठी भर लोगो के हाथ मे थे, किन्तु दायित्वो का असह्य भार सारी जनता को ढोना पडता था, जिससे समाज का सन्तुलन हमेशा गडबड रहता था। योरप मे जब नव-सास्कृतिक जागरण की लहर फैली तो पहली बार लोग अधिकारो और दायित्वो के इस विषम सन्तुलन के बारे मे सचेत हुए। फ्रासीसी क्राति इस चेतना का परिणाम थी। अधिकारो की सत्ता समाज के एक छोर पर है तो दायित्वो का सारा भार दूसरे छोर पर ही क्यो एकत्र रहे, समाज के सभी अगो मे दोनो का समान बँटवारा क्यो न हो—इस विचार ने ही क्रान्ति का व्यवहारिक रूप धारण किया। विश्व मे तब से अधिकार पाने के लिए आन्दोलनो, सघर्षो, क्रान्तियो का सिलसिला अभी तक जारी है और तब तक जारी रहेगा जब तक अधिकारो का उपभोग समान रूप से प्रत्येक व्यक्ति नही करने लगेगा। इसीलिए अधिकारो की माँग बडे-बडे विप्लवो, क्रान्तियो और परिवर्तनो की जननी है। मनुष्य हर प्रकार के बन्धन से मुक्ति चाहता है। लेकिन अधिकारो की माँग कही-कही समाज-हित का भी अतिक्रमण करते देखी गयी है। कुछ राष्ट्र है जो मानव-सहार के लिए अणु-अस्त्रो के उत्पादन की स्वतन्त्रता चाहते है। जब देश मे अकाल और महँगाई हो, उस समय कुछ व्यापारी चोरबाजारी की खुली छूट चाहते है। जो फिल्म प्रोड्यूसर है, उन्हे अश्लील नृत्यो और गानो पर कोई प्रतिबन्ध गवारा नही होता। पहले कवि हुआ करते थे, किन्तु अब 'नये कवि' पैदा हो गये है, जो कविता न लिखकर 'नयी कविता' लिखते है, जिसका अर्थ है कि वे अपनी कविता मे लय और छन्द के बन्धनो की तो बात दूर, किसी भी प्रकार के बन्धन बर्दाश्त नही करते। उनकी 'नयी कविता' मे रस और सौन्दर्य की खोज व्यर्थ है, उसमे किसी भी स्पष्ट विचार, सामाजिक प्रयोजन, व्यापक मानवीय मूल्य आदि की माँग करते ही वे बिगड उठते है, क्योकि वे समझते है कि ऐसा करना उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर प्रहार है। वे किसी सामाजिक दायित्व को भी नही मानना चाहते। ठीक तो है, दायित्व किसे प्रिय है? दायित्व एक प्रतिबन्ध है, अनुशासन है और यदि अधिकारो और दायित्वो का बँटवारा अनुचित न हो तो दायित्व अपनी कार्य सीमा के भीतर नैतिक आचरण की सचेत स्वीकृति है। किन्तु अभी ऐसी अवस्था नही आई

कि लोग अधिकारो के साथ दायित्वों को भी खुशी-खुशी अपनाना चाहे। फिर बताइये कि एक आलोचक किसी दायित्व मे क्यो बँधना चाहेगा ? 'अधिकारो की माँग' के इस वातावरण मे यदि आप इस बात पर बहस करते कि आलोचक के क्या अधिकार है तो मै बडी खुशी से एक लम्बी सूची तैयार कर देता। लेकिन लगता है कि आप आलोचक को कोई अधिकार नही देना चाहते, उस पर दायित्वो का बोझ ही लादना चाहते है। कैसी भयानक विडम्बना है कि आप मुझसे ही पूछ रहे है कि मेरे दायित्वो की सूची कितनी लम्बी है, यानी मै अपने ऊपर कितने बन्धन कबूल करने को तैयार हूं ! मै जानता हूँ कि यह सूची अगर सक्षित हुई तो आप अप्रसन्न होगे, क्योकि आपकी प्रसन्नता इस सूची की लम्बाई के अनुपात पर ही निर्भर करेगी।

मै सचमुच एक बडे धर्म-सकट मे पड गया हूँ, क्योकि हमारे साहित्य मे सम्प्रति जैसी अवस्था है, उसमे एक आलोचक के लिए अपने सब अधिकार त्यागकर केवल अपने दायित्वो और कर्तव्यो को निभाना भी बडी जोखिम का काम बन गया है। पहले जब नगर नही थे, तब नगरपालिका कमेटियाँ भी नही थी और गाँवो मे स्त्रियाँ अपने घर का कूडा-कचरा बटोरकर स्वय घूरे पर डाल आती थी। लेकिन आज नगरो और अधिकारो की माँग के युग मे हम अपने घर का कूडा खिडकी मे से सडक पर भी डाल दे तो कोई रोकने वाला नही है। उसे उठाकर फेकने का दायित्व नगरपालिका कमेटी के जमादारो पर है। वे बेचारे रोज कूडा उठाकर ले जाते है और सडक की सफाई करते है। फिर भी हमारे बहुत से सभ्रान्त नागरिक जमादार पर लाल-पीले हो उठते है--तुमने सफाई ठीक से नही की, तुम बडे लापरवाह हो, दुर्गन्धि से नाक सडी जाती है, आदि ! प्रेम की स्वतन्त्रता और 'नयी कविता' के युग मे (खैरियत है कि अभी तक नये उपन्यास, नयी कहानी, नये नाटक लिखने वाले पैदा नही हुए) आलोचको की स्थिति इन गरीब जमादारो से भी अधिक दयनीय हो गयी है। अगर आलोचक अपने को साहित्य-जगत् का नीचातिनीच प्राणी मानकर भी चलना चाहे तो नही चल सकता। वह अगर अपने सिर पर यह दायित्व उठा ले कि हमारे साहित्य-जगत् की सडको पर लेखक नामधारी नागरिक लिखकर और प्रकाशक नामधारी नागरिक छापेखानो से छपाकर पुस्तको के रूप मे जो ढेर का ढेर कूड-कचरा रोज फेक देते है, उसे ठीक-ठिकाने लगाना ही उसका काम है, तो भी उसकी जैसी दुर्गति बनेगी, इसकी आप कल्पना नही कर सकते। यह सभी जानते है कि वर्ष मे अगर पाँच हजार पुस्तके छपती है तो उनमे अधिक से अधिक पाँच ही पठनीय तथा सग्रहणीय होती है--बाकी इसलिए छपती है कि जो अपने को लेखक मान ले उसे लिखने का अधिकार है और जो थोडी-सी पूंजी लगाकर प्रकाशक बन जाय, उसे छापने का अधिकार है। लेकिन क्या आलोचक को साहित्य-जगत् के सफाई विभाग का जमादार बनने का भी अधिकार है ? क्या वह अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए इन चार हजार नौ सौ पिचानवे पुस्तको को रद्दी की टोकरी मे फेक सकता है, ताकि साहित्य-जगत् मे व्यर्थ का कूड-कचरा न जमा हो जाय ?

प्रश्न पूछने पर तो इन चार हजार नौ सौ पिचानवे पुस्तकों के सारे लेखक भी एक

स्वर से हामी भर देगे, क्योकि ऐसे प्रश्न का कोई नकारात्मक उत्तर नही देना चाहता। इसके अतिरिक्त हर लेखक सोचता है कि उसकी कृति ही श्रेष्ठ है, एक शाहपारा है, 'क्लासिक' बनने की क्षमता रखती है, और बाकी सब कृतियाँ हेच हैं। इसलिए उसकी हामी उदारता और वस्तूनुखी दृष्टिकोण का प्रमाण नही होती, बल्कि अपने बारे मे एक भ्रामक धारणा का परिणाम होती है। अस्तु जो भी हो, आलोचक यदि सारे लेखको की स्वीकृति पाकर अपने इस दायित्व को निभाने लगता है तो पाँच तो खुश होते हैं और चार हजार नौ सौ पिचानवे लेखक नाखुश हो जाते है। इस समाज मे इतने लोगो को नाखुश करके जीना क्या सम्भव है ?

मै यह नही कह रहा कि आलोचक का मत या निर्णय हमेशा सत्य ही होता है। इतिहास मे ऐसे असख्य प्रमाण मौजूद है जब आलोचको ने श्रेष्ठ कृतियो को किसी विशेष पूर्वग्रह, मतवाद या रूढ दृष्टिकोण की झोक मे बुरा कहा है और बुरी रचनाओ को महान साबित करना चाहा है। इस तरह की सर्वथा गलत आलोचनाओ द्वारा शेक्सपियर और इब्सन, सरवान्ते और दोस्तोव्स्की तथा अनेक दूसरे महान प्रतिभा के लेखको को तत्सामयिक आलोचको ने कितना कुछ बुरा नही कहा ? रचनाकारो की प्रतिभा-क्षमता की तरह आलोचको की प्रतिभा-क्षमता का प्रश्न उठाना भी असगत नही है। जिस तरह हर लेखक श्रेष्ठ रचनाकार नही बन सकता, उसी तरह हर समीक्षक श्रेष्ठ आलोचक नही बन सकता। पुराने आचार्यों ने 'नीर-क्षीर-विवेचन' का दायित्व आलोचक को सौपा था। एक क्षण के लिए मान लीजिए कि इतिहास, दर्शन और विश्व-साहित्य के गम्भीर अध्ययन, परिष्कृत कला-रुचि और वस्तूनुखी दृष्टिकोण के कारण एक आलोचक 'नीर-क्षीर-विवेचन' की पूरी क्षमता रखता है, और किसी व्यक्तिगत सम्बन्ध या स्वार्थ से प्रभावित और प्रेरित हुए बिना ही ईमानदारी से अपनी समीक्षाएँ लिखता है। आज के वातावरण मे क्या उसे 'नीर-क्षीर-विवेचन' का भी अधिकार है, जो वास्तव मे अधिकार कम और दायित्व ही अधिक है ? मै इस प्रश्न को बार-बार उठा रहा हूँ, क्योकि अक्सर आलोचको को लेखको के आक्रोश का शिकार होना पडता है, जिससे आलोचक के कर्तव्य-पालन मे अप्रत्याशित बाधाएँ उठ खडी होती है। मै अपने व्यक्तिगत अनुभव से एक मिसाल देना चाहता हूँ। कई वर्ष पहले जब मेरे मित्र श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का उपन्यास 'गिरती दीवारे' प्रकाशित हुआ तो मैने रेडियो पर उसकी समीक्षा करते हुए उसकी काफी प्रशसा की। अश्क जी को, स्वाभाविक है कि वह प्रशसा बहुत पसन्द आई और उन्होने मेरे पीछे, जब मै काश्मीर मे था, रेडियो से पाण्डुलिपि मँगाकर वह लेख 'प्रतीक' मे छपाया और बाद मे 'गिरती दीवारे' के नये सस्करण मे परिशिष्ट के रूप मे भी छापा। जिस समय मैने 'गिरती दीवारे' की आलोचना लिखी थी उस समय तक मैने हिन्दी कथा-साहित्य मे प्रकृतवाद या नेचुरलिज्म के बढते प्रभाव की समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार नही किया था और न इस प्रवृत्ति के कला-विरोधी दुष्परिणामो पर ही सोचा था। इसे आप मेरी 'अयोग्यता' के खाते मे डाल सकते है। लेकिन सच तो यह है कि 'प्रकृतवाद' की प्रवृत्ति उस समय तक इतने भयंकर रूप

से व्यापक नही हुई थी कि मै भविष्य के बारे मे आशकित होता। इसके अतिरिक्त 'गिरती दीवारे' अपने ढग की सशक्त रचना है और प्रकृतवादी ढग से ही सही, उसमे हमारे सामाजिक जीवन के अनेक पहलुओ का व्यापक चित्रण हुआ है। इसलिए मैने उसकी प्रकृतवादी सीमाओ और सकीर्णताओ को न देखकर यही देखा कि वह एक प्रकार से प्रेमचन्द की परम्परा का श्रेष्ठ उपन्यास है। लेकिन जब अश्क जी का अगला उपन्यास 'गर्म राख' निकला उस समय तक मै हिन्दी-कथा-साहित्य मे बढती हुई प्रकृतवादी प्रवृत्ति के उस भोडे और कलाहीन प्रदर्शन से भी परिचित हो चुका था जो डा० देवराज के बृहद् उपन्यास 'पथ की खोज' मे तथा पिछले आठ-सात वर्षो के अधिकाश उपन्यासो मे हिन्दी-पाठको ने देखा था। 'गर्म राख' इस कोटि के उपन्यासो से भिन्न नही था। इसलिए जिस अन्दाज मे मैने 'पथ की खोज' की आलोचना की थी, 'गर्म राख' की आलोचना उससे भिन्न अन्दाज मे करके मै लेखक के प्रति अपना पक्षपात ही व्यक्त कर सकता था, ईमानदारी से सत्य को अभिव्यक्ति नही दे सकता था। इसलिए मैने 'गर्म राख' को जैसा पाया वैसा बताया, लेकिन इस सत्य-कथन की लेखक पर जैसी प्रतिक्रिया हुई, वह मेरे लिए एक नया अनुभव था। किसी बुरी रचना को भी बुरा कहने से उसका लेखक बुरा ही मनायेगा, यह तो मै अनेक बार अनुभव कर चुका था, लेकिन वह आलोचक की नीयत पर सन्देह करेगा, यह मै नही जानता था। दुर्भाग्य से ऐसा हुआ और यद्यपि 'अश्क' आज भी मेरे मित्र है, फिर भी वे इस बात पर विश्वास करने को तैयार नही है कि मैने बिना किसी दुर्भावना के ईमानदारी से ही वह सब लिखा था। जरा सोचिए तो कैसी विचित्र स्थिति है। आलोचक जब आपकी प्रशसा करता है, तब तो आप उसे ईमानदार और सत्य का अवतार मान लेते है, लेकिन जब आपकी कृति को बुरा बताता है तो आप उसे ईमानदार और सच्चा नही समझते! लेखको का अपनी रचना के प्रति मोह अक्सर इतना अन्धा होता है कि उनकी तुच्छ रचना को भी कोई अगर शेक्सपियर के मुकाबले की कृति कहदे तो वे उस पर विश्वास करके उसको अपना सबसे बडा हितैषी, मित्र और सच्चा आलोचक मानने लगते है, लेकिन अगर कोई साहस करके तुच्छ रचना को तुच्छ कहदे तो उस पर विश्वास करना तो दूर, उसे हर प्रकार से लाछित करने मे भी उन्हे सकोच नही होता। आलोचक का धर्म-सकट ऐसी विषम स्थितियो से ही पैदा होता है, जिससे अपना दायित्व निभाना भी उसके लिए दुष्कर हो गया है।

'आलोचक सहानुभूतिपूर्ण नही है, आलोचक नई प्रतिभाओ को प्रकाश मे नही आने देते', ऐसे अनेक आरोप हम सुनते आये है। मेरा अनुरोध केवल इतना है कि आप आलोचक के दायित्व पर विचार करते समय यह भी देखे कि रचनाकार स्वय कहाँ तक आलोचको को अपने कर्तव्य-पालन से विचलित करने का प्रयत्न करते है, और इस तरह पाठको को भी गुमराह करते है। अपनी पहली रचना पर किसी प्रसिद्ध आलोचक से भूमिका लिखाने की प्रथा चल पडी है। इस भूमिका मे आलोचक जब तक लेखक की अपरिपक्व रचना की भी भूरि-भूरि प्रशसा न करे तब तक लेखक को सतोष नही होता, और अगर वह भूमिका लिखने से इन्कार करदे तो लेखक तुरन्त दुर्वासा का रूप धारण कर लेता है। ज़रा-सी बात पर

वैमनस्य और कटुता कोई आलोचक पसन्द नही करता। इसलिए अपने अन्त:करण को इस तर्क से सतोष देकर कि वह एक नवोदित लेखक को प्रोत्साहन दे रहा है, आलोचक अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दो मे प्रशसात्मक भूमिका लिखकर अपना पिण्ड छुडा लेता है, और इस प्रकार आरम्भ से ही असत्य का प्रचार शरू हो जाता है। जब लेखक थोडी-सी भी प्रसिद्धि पा जाते है, तब वे भूमिका के लिए आलोचक का मुँह नही जोहते, स्वय ही अपनी भूमिका लिखते है और अपनी कृति को विश्व-साहित्य की महानतम कृतियो से भी महान होने का दावा करते है और इस प्रकार आलोचक को अपनी कृति जाँचने-परखने का मौका भी नही देना चाहते। और जब आलोचक इन दावो की परवाह न करके ऐसी कृतियो का सही मूल्याकन करते है, अर्थात् उन्हे निरर्थक और कलाहीन रचनाएँ बताते है तो लेखक आलोचको को बडी-बडी विचित्र चुनौतियाँ देते है। 'पथ की खोज' हिन्दी उपन्यासो की परम्परा मे भी एक निम्न कोटि की अपठनीय रचना है, इसमे सन्देह नही। अपने ऊपर जब्र करके उसके आठ-सौ पृष्ठो को पढकर मुझे यह बात लिखनी पडी। लेकिन लेखक आज भी चुनौती देता जाता है कि हिन्दी उपन्यासो से तुलना न करके उसको योरपीय उपन्यासो के मुकाबले मे रखकर देखना चाहिए! 'नदी के द्वीप' के लेखक को भी अपने आलोचको से यही शिकायत है कि वे हिन्दी-चेतना से ही उनकी कृतियो को जाँचते है! यह एक विचित्र और गुमराह करने वाला तर्क है। जो कृति हिन्दी मे अपने बल पर खडी नही हो सकती, वह विश्व-साहित्य मे खडी हो सकेगी, ऐसी प्रवचना का स्रोत कहाँ है, मे नही जानता, क्योकि विश्व-साहित्य का अध्येता होने के नाते मुझे मालूम है कि विश्व के सौ प्रथम कोटि के उपन्यासो मे अभी हिन्दी का शायद एक भी उपन्यास स्थान पाने योग्य नही है। गोदान, बाणभट्ट की आत्म-कथा, सुखदा, मैला आँचल और शेखर को दृष्टि मे रखकर ही मै यह बात कह रहा हूँ। फिर भी टॉलस्टॉय, तुर्गनेव, दोस्तोव्स्की, गोर्की, बाल्जक, ह्यूगो, डिकेन्स, स्कॉट, जेम्स ज्वायस, रोम्या रोला या टैगोर और शरत् की महानता के दावेदार हिन्दी मे बढते जा रहे है। अभी तक उपन्यास क्षेत्र मे ही ऐसे दावे किये जाते थे, किन्तु अब नाटको के क्षेत्र मे भी ऐसे दावे किये जाने लगे है——स्वय लेखको की ओर से। अश्क के एकाकियो को विश्व-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ एकाकियो के साथ रखकर देखने की माँग हाल ही मे हमारे सामने आई है। आलोचक क्या करे? क्या इन दावो का खण्डन ही करता फिरे, क्योकि वे अक्सर गलत और हास्यास्पद होते है? लेकिन अगर वह ऐसा करता है तो उस पर हीन-भावना से आक्रान्त होने का आरोप लगाया जाता है, जब कि सत्य यह है कि ये दावे स्वय एक भयकर हीन-भावना के परिणाम है। एक और प्रवृत्ति है जिसकी ओर सकेत करना जरूरी है। जिस लेखक ने भी एक उपन्यास या नाटक लिखा है या कहानी, कविता, या एकाकी का कोई सग्रह छपा लिया है या जिसकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओ मे छपने लगी है——चाहे वे किसी कोटि की भी क्यो न हों——वह चाहता है, चाहता ही नही बल्कि अपना अधिकार जताकर माँग करता है कि आलोचक अगर हिन्दी कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी या एकाकी पर कभी, कही, कोई लेख लिखे तो उसका नाम सम्मानपूर्वक जरूर गिनाया जाय, अर्थात् लब्ध-प्रति-

ष्ठित, ख्यातिनामा, प्रगल्भ, होनहार, नवोदित, तरुण, नये जैसे किसी-न-किसी विशेषण के साथ। शुक्ल जी तक को इस माँग के आगे झुकना पडा, औरो की तो बात ही क्या! लेकिन दुनियाँ म आपने कही ऐसी बात सुनी है? अग्रेजी साहित्य मे, जिससे हम सब न्यूनाधिक परिचित है, क्या आपने ऐसी बात देखी है? अग्रेजी साहित्य के आलोचक सामरसेट माम और ए जे क्रोनिक जैसे विश्व-विख्यात उपन्यासकारो तक की चर्चा अपने लेखो मे बहुत कम करते है और आलोचनात्मक पुस्तको मे तो उनका जिक्र शायद ही कही आता है। क्यो? क्योकि केवल बहुत लिखना या ख्याति पा जाना ही उन आलोचको के निकट चर्चा का विषय बन जाने के लिए पर्याप्त नही है। किसी लेखक ने अगर अपनी कला मे जीवन को प्रतिबिबित करने के नये सीमान्त नही खोले है, तो वह विवेचनीय नही बनता, कुछ ऐसी धारणा अग्रेजी के श्रेष्ठ आलोचको की लगती है। इसी कारण जहाँ अग्रेजी मे हिन्दी उपन्यासो के स्तर को ध्यान मे रखते हुए आज भी कई सौ श्रेष्ठ लेखक है, वहाँ अग्रेजी तथा पाश्चात्य उपन्यासो की परम्परा को दृष्टि मे रखते हुए एक दर्जन उपन्यासकार भी श्रेष्ठ नही है--प्रथम कोटि का तो कोई है ही नही--इसलिए आलोचना पुस्तको मे चर्चा लगभग एक दर्जन उपन्यासकारो की ही होती है। लेकिन हमारे कवि, उपन्यासकार और नाटककार हिन्दी आलोचक से अपेक्षा रखते है कि वह अपने दायित्व को भूलकर बस लेखको की नामावली तैयार करने वाला एक क्लर्क बन जाय।

हमारे 'नये कवि' चाहते है कि आलोचक अपने अनुभव, अध्ययन और जीवन-बोध से प्राप्त किसी आधुनिक या प्राचीन कसौटी पर उनकी रचनाओ को न परखे--मूल्याकन करे ही न, क्योकि मूल्य सामाजिक अनुभव और आचरण मे बनते है। वे आदेश देते है कि आलोचक सिर्फ रचना के वैशिष्ट्य को ही बताये, क्योकि वैशिष्ट्य ही उसका सबसे बडा मूल्य है। किन्तु यह वैशिष्ट्य शिव है या अशिव, सुन्दर है या असुन्दर, सत्य को अभिव्यक्ति देने मे समर्थ है या असमर्थ, इन सभी तथा अन्य कसौटियो का प्रयोग न करे, क्योकि तब इस वैशिष्ट्य की सार्थकता साहित्य और जीवन की परम्परा की अपेक्षा मे रखकर उद्घाटित करनी पड जायेगी। उनका आदेश होता है कि आलोचक को सिर्फ यही देखना चाहिए कि लेखक के मन मे वास्तविकता की प्रतिक्रिया जिस रूप मे हुई उस रूपमे ही उसे वह व्यक्त कर सका है या नही। यह आदेश आलोचक के हाथ बाँध देता है। उसे लेखक के मानसिक जगत् की प्रतिक्रियाओ का 'बैरोमीटर' बनने के लिए विवश करता है, जो केवल यह रिकार्ड करता चले कि वहाँ कुठा, अनास्था, मानव-द्रोही भावनाओ और निराशा की ठडी आँधियो का तापमान कितना है! स्वस्थ मानस वाले पुराने महान लेखक अपने आलोचक से इस तरह की माँग नही करते थे, इसी कारण उनकी कृतियो मे व्यक्त जीवन-सत्य को इतिहास और समाज-जीवन के व्यापक सन्दर्भ मे रखकर जाँचना सभव होता था। लेकिन अब हमारे तथाकथित 'नये कवियो' का आदेश है कि उनकी कुठित चेतना के अनुरूप ही आलोचना का क्षेत्र भी सकुचित और कुठित कर दिया जाय! मिसाल के लिए, अगर हमारे मित्र प्रभाकर माचवे नई कविता की बानगी के रूप मे तिब्बत के किसी बौद्ध-भिक्षु को चीनी

भाषा मे रूसी चित्र-पत्रिका को पढते देखकर लिखे कि—

"मैंने मन मे कहा, तुम्हारी मुक्ति' अभी होना है बाकी
तार कंटीले, बम, टैंकों के काले धब्बे खाकी—
जब यह माला छीन तुम्हारी, देंगे वे बन्दूक नुकीली
(शान्ति सुरक्षा !) चीवर के बदले मे वर्दी लाल व पीली !"

तब आलोचक को माचवे जी के मन की प्रतिक्रिया के वैशिष्ट्य का निस्सग विवेचन करके उनकी शैली की व्यजना-शक्ति पर खूब सिर धुनना चाहिए। लेकिन इस कविता मे जो विचार व्यक्त हुआ है वह राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय, राजनीतिक या सामाजिक दृष्टि से कितना दूषित है, 'मुक्ति' शब्द की आड मे कितना मानवद्रोही है, इसकी जाँच-परख आलोचक को नही करनी चाहिए। मजे की बात यह है कि माचवे जी के मन की यह प्रतिक्रिया विशिष्ट भी नही है—अगर हमारी राष्ट्रीय नीति और राष्ट्रीय भावना के विरुद्ध होना ही विशिष्टता की कसौटी न हो तो—क्योकि रूस-चीन और भारत की मैत्री के विरोधियो की सख्या अमरीका, ब्रिटेन, फ्रास, इटली आदि पुराने साम्राज्यवादी देशो मे पर्याप्त है। उन सबकी ऐसी ही प्रतिक्रिया होती है। प्रश्न यह है कि जब आप किसी राजनीतिक, सामाजिक या ऐतिहासिक तथ्य के बारे मे अपनी प्रतिक्रिया को विचार के रूप मे व्यक्त करते है तो राजनीति, समाजशास्त्र या इतिहास के सन्दर्भ मे रखकर आलोचक को उसे जाँचने की आजादी क्यो नही देना चाहते ? हमारे नये कवि नवीनता, वैशिष्ट्य और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के नाम पर पाठको को गुमराह करने और उनकी मानवीय भावनाओ को कुठित करने की तो पूरी आजादी चाहते है, लेकिन आलोचक को यह अधिकार नही देना चाहते कि वह उनकी रचना के पूरे अर्थों को पाठक के सामने खोलकर रखे, उसे सही मार्ग दिखाये और उसकी मानवीय सहानुभूतियो और सवेदनाओ को कुठित न होने दे। ऐसा करते ही आलोचक को सीख दी जाती है कि तुम कविता से उन मूल्यो को पाने की चेष्टा करते हो, जो उसका उद्देश्य ही नही है। साथ ही एक धमकी भी दी जाती है कि नया कवि अपनी नयी कविता को जिस दृष्टि मे देखता है उस दृष्टि से आलोचक यदि नही देखेगा तो उसे याद रखना चाहिए कि यह एक सैलाब है जो अपने विरोधियो को तिनके की तरह बहा ले जायगा। मै यह स्वीकार करने को तैयार हूँ कि यह एक सैलाब है, उसी तरह का सैलाब जैसे बरसात मे अक्सर हमारे देश मे आते रहते है और मनुष्य की खेती-बाडी और घर-द्वार को उजाड करके अपने आप हट जाते है। जीवन मे तो हम सब इन सैलाबो के अभ्यस्त हो गए है, साहित्य मे भी हो जायेगे। कुठा और मानव-द्रोही भावनाओ का यह सैलाब भी क्षणस्थायी ही सिद्ध होगा, इसमे मुझे सन्देह नही है। पानी का सैलाब विध्वस के साथ जैसे भूमि को उर्वर बना जाता है, मेरी यह भी धारणा है कि साहित्य-जगत का यह सैलाब मानव-मूल्यो को अस्थायी क्षति पहुँचाकर भी भाषा की व्यजना-शक्ति का शायद बढा ही जायगा। इसलिए किसी आलोचक को इन धमकियों से विचलित होने का जरूरत नही है।

आपको लगेगा कि लेखको के प्रति मेरे मन मे कटुता का सागर खौल रहा है, जो मै आलोचक के दायित्व का प्रश्न छोडकर लेखको पर पिल पडा हूँ। दरअसल बात ऐसी नही है। मै तो सिर्फ उस परिस्थिति से आपको परिचित कराना चाहता हूँ जिसके भीतर रहकर आलोचक को आज अपना कर्तव्य-पालन करना पडता है। आग्रह-दुराग्रह, धमकी-चेतावनी, लाछन, आदेश, आत्मश्लाघा और अमरत्व पाने की उतावली के इस वातावरण मे किसी भी ईमानदार आलोचक के लिए साँस लेना दूभर हो गया है। इसलिए दो-तीन बाते स्पष्ट कर देना जरूरी है। ईमानदार आलोचक न किसी लेखक का दोस्त होता है न दुश्मन--उसके व्यक्तिगत सम्बन्ध किसी से चाहे जैसे हो। वह अगर दोस्त है तो अच्छे साहित्य या अच्छी रचना का, और दुश्मन है तो बुरे साहित्य या बुरी रचना का--उसका लेखक प्रसिद्ध हो या अप्रसिद्ध, पुराना हो या नया। आलोचक न तो लेखको की नामावली तैयार करने वाला क्लर्क है, न लेखक के अवचेतन मनकी प्रतिक्रियाओ को अकित करने वाला बैरोमीटर ही। और सबसे बडी बात यह है कि आलोचक साहित्य-जगत् का भाग्य-विधाता भी नही है,जो चाहे तो खुले हाथो 'अमरत्व' बाँट सकता हो। किसी आलोचक मे यह शक्ति नही कि वह बुरी रचना को अपनी मुक्त प्रशसा से अमरत्व दिला सके या अपने कठोर वाक्-प्रहारो मे किसी महान् रचना को अमर होने से रोक सके। इसलिए लेखक यदि महान कृतित्व के बिना ही महानता और अमरत्व पाने की महत्वाकाक्षा पर थोडा-सा सयम रखकर आलोचक को अपने दायित्वो का पालन करने का अवसर दे, तो सम्भव है कि आलोचना के क्षेत्र मे वैसी अराजकता न रहे, जैसी कि आज दिखायी देती है।

आलोचक अधिकारो की माँग नही करता, किन्तु उसे अपने कर्तव्य-पालन का अधिकार तो कम-से-कम मिलना ही चाहिए। यदि आप आलोचक के इस प्राथमिक अधिकार को स्वीकार करने के लिए तैयार है तो 'आलोचक के दायित्व' के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना सम्भव हो सकेगा।

साहित्य का हर पाठक एक प्रकार से आलोचक होता है। वह किसी कहानी या कविता को पढते ही तुरन्त अपना मत प्रकट कर देता है कि वह अच्छी है, बुरी है या असुन्दर है। लेकिन इन विशेषणो का प्रयोग वह अनायास अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लिए करता है, जिससे आप केवल इतना ही अनुमान लगा सकते है कि किसी रचना का उस पर पढते ही कैसा प्रभाव पडा है--वह उसे रोचक लगी और वह उसमे बह गया है या वह उसे अरोचक लगी और वह उसमे बह नही सका है। लेकिन वह कृति किस कोटि की है, कितनी मूल्यवान है, इसका निर्णय करने के लिए वह नही रुकता। वह यदि रचना से प्रभावित हुआ है, तो उसे अच्छा समझने का उसके निकट यह पर्याप्त कारण है। वस्तुपरक विवेचन के झमेले मे वह नही पडता। इसीलिए प्रत्येक पाठक को हम आलोचक नही कहते। आलोचक हम उसे ही कहते है जिसमे अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया को वस्तुपरक निर्णय के साथ समन्वित करने की क्षमता हो, और जो रचना के विवेचन द्वारा अपने अनुभव-समन्वित निर्णय को स्पष्ट अभिव्यक्ति देकर साधारण पाठको की दृष्टि को भी

व्यक्तिगत प्रतिक्रिया के तल से उठाकर व्यापक और वस्तुपरक बना सके, ताकि वे रचना से उन सारे चेतना-विकासी मूल्यो को प्राप्त कर सके जो उसमे निहित है।

लेकिन आप जानते है कि आलोचको मे भी कई श्रेणियाँ है। एक आलोचक तो वह है, जो केवल पत्र-पत्रिकाओ मे प्रति मास या प्रति सप्ताह नयी प्रकाशित पुस्तको की 'रिव्यू' लिखा करते है। इन आलोचको की सख्या पर्याप्त है, क्योकि हर लेखक या प्रकाशक की इच्छा होती है कि उसकी लिखी या प्रकाशित हर पुस्तक की रिव्यू उसके छपते ही अधिक से अधिक पत्र-पत्रिकाओ मे हो जाय। इससे पुस्तक की बिक्री पर असर पडता है—इसलिए इस प्रकार की समीक्षाएँ एक प्रकार से व्यवसायिक प्रक्रिया का ही अग होती है। इन्हे आप समीक्षा रूप मे लिखे विज्ञापन कह सकते है। इनके लेखक अक्सर साधारण पाठको की कोटि के ही आलोचक होते है, जो केवल सुन्दर या असुन्दर जैसे विशेषणो द्वारा पुस्तक के बारे मे अपनी प्रतिक्रिया को ही व्यक्त करते है, साथ मे यह भी सूचित कर देते है कि पुस्तक मे क्या-क्या है, कहानियाँ और कविताएँ किस विषय की है, या उपन्यास की कहानी क्या है, नायक-नायिका का नाम क्या है, पृष्ठ कितने है और छपाई-सफाई कैसी है। जिन परिस्थितियो मे और जितनी जल्दी मे उन्हे अपनी समीक्षाएँ लिखनी पडती है, उसे देखते हुए उन पर साहित्य के गभीर मूल्याकन का भार डालना उचित नही लगता। इसलिए प्रस्तुत प्रसग मे उनका कार्य विवेचनीय नही है।

जब से हमारे विश्वविद्यालयो ने हिन्दी के विद्यार्थियो मे बताशो की तरह साहित्य के डाक्टर की उपाधि बाँटनी शुरू करदी है, तब से आलोचको का एक और वर्ग पैदा हो गया है। प्राचीन साहित्य और सस्कृति के विस्मृत तत्वो की खोज और अनुसधान का कार्य अपने आप मे एक महत् और रचनात्मक कार्य हो सकता है यदि उन तत्वो को विकासमान राष्ट्रीय साहित्य और सस्कृति के साथ समन्वित किया जाये, यदि आधुनिक चेतना के साथ ऐतिहासिक महत्त्व की कृतियो तथा वस्तुओ को एक रचनात्मक सम्बन्ध मे रख कर देखा जाये। किन्तु दुर्भाग्य से विश्वविद्यालयो मे शास्त्रीय परम्परा और रीतिवादी दृष्टिकोण के प्रति मोह इतना जबर्दस्त है कि यह सारा अनुसधान कार्य एक रूढ और मुर्दा परिपाटी के अनुसार ही चलाया जाता है, जिसके कारण बडे परिश्रम से सग्रह और सम्पादन करके हमारे विद्यार्थी जो थीसिसे तैयार करते है, वे प्राचीन ज्ञान और अनुभव की राशि से हमारे वर्तमान अनुभव को आलोकित करके समृद्ध नही बनाती, बल्कि अक्सर कोशिश यह होती है कि आज के दृष्टिकोण मे रगकर प्राचीन को देखा जाय। डाक्टर की उपाधि पाने की दीर्घ साधना मे प्राचीन ग्रन्थो की सूचियो और तिथियो का सग्रह करते-करते साहित्य के इन डाक्टरो का दृष्टिकोण और उनकी रुचि अक्सर इतनी सकीर्ण और रुढ़ि-रीतिवादी हो जाती है कि वे प्राचीन की तिथियो मे ही जीने लगते है और वर्तमान साहित्य की गतिविधि और उसकी समस्याओ मे उनकी विशेष दिलचस्पी नही रहती। इसलिए जब वे विद्यार्थियो के उपयोग के लिए साहित्य के इतिहास, साहित्य-सिद्धान्त की पुस्तके या दूसरे, आलोचना-ग्रन्थ लिखते है तो वे भी उनकी थीसिसो की तरह सग्रह मात्र

ही होते है, उनमें साहित्य का गम्भीर और मौलिक विवेचन नहीं रहता, यद्यपि शैली में प्रवश्य अध्यापकीय तत्सम-प्रियता का पूरा आडम्बर रहता है, ताकि उनकी भाषा पर प्रचलित और सजीव मुहावरे की छाया न पड जाय। प्रस्तुत प्रसग मे ये आलोचक भी विवेचनीय नही है, क्योकि उन्होने विद्यार्थियोपयोगी आलोचना तक ही अपने दायित्व का क्षेत्र सीमित कर रखा है। साधारणत उनसे यही आशा की जाती है कि वे अपने पाडित्यपूर्ण ग्रन्थो मे किसी लेखक का नाम, जन्म-तिथि और रचनाओ की सूची मे से कुछ भी छूटने नही देगे, ताकि विद्यार्थियो को यदि साहित्य का मूल्य आकने की समझ न मिले तो कम-से-कम उसके बारे मे सूचनाएँ तो सही मिल जाये!

आलोचक के दायित्व का प्रश्न केवल उनके लिए ही उठता है जो इन दोनो श्रेणियो से भिन्न श्रेणी के आलोचक है, अर्थात् जो वास्तव मे साहित्य के आलोचक है। यह कोई ऐसी भिन्न श्रेणी नही है जिसका पहली और दूसरी श्रेणी के आलोचको से कोई नाता-रिश्ता न हो। तीसरी श्रेणी के अनेक आलोचक ऐसे है जो पत्र-पत्रिकाओ मे रिव्यू भी लिखते है और साहित्य के डाक्टर भी है। सच तो यह है कि आलोचक और लेखक भी सर्वथा एक दूसरे से भिन्न नही है, अनेक रचनाकार समर्थ आलोचक है और अनेक आलोचक समर्थ रचनाकार है। इसलिए इसे आप शास्त्रीय वर्गीकरण की तरह अमिट और अलघ्य न मान ले। अस्तु। अब प्रश्न उठता है कि इस वास्तविक आलोचक के दायित्व क्या है? आलोचक रसज्ञ हो, शब्दो मे निहित अर्थ-ध्वनि-लय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यजनाओ का मर्मज्ञ हो, साहित्य के इतिहास के अतिरिक्त दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा अन्य क्षेत्रो के ज्ञान का पडित हो, साहित्य के साथ-साथ यथासम्भव अन्य कला-रूपो के ऐतिहासिक विकास और परस्पर-सम्बन्धो को समझता हो, साहित्य के विभिन्न रूप-प्रकारो--कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, एकाकी, आदि की अनेकविध रूप-गत समस्याओ और विशेषताओ से भली भाँति परिचित हो तथा शैली, शिल्प और टेकनीक के इतिहास का ज्ञाता हो और उनके सूक्ष्म भेदो को समझता हो--ऐसी अनेक बातो की अपेक्षा हम आलोचक से करते है, क्योकि कवि, उपन्यासकार और नाटककार यद्यपि जीवन और जगत् सम्बन्धी अपने अनुभव को ही प्रेषित करते है, लेकिन उनके प्रेषण के माध्यम, ढग और उपकरण भिन्न होते है। जीवन की वास्तविकता को मूर्त्त और कलात्मक ढग से प्रतिबिम्बित करने के लिए वे भाषा के साथ भिन्न-भिन्न ढगो से प्रयोग करते है और उनके शिल्प, टेकनीक और रूप मे अन्तर होता है। फिर प्रत्येक माध्यम के अन्दर भी देश-काल जनित विशिष्टताओ के साथ-साथ लेखक दर लेखक शैली और शिल्प का सूक्ष्म भेद रहता है, जो लेखक के विशिष्ट व्यक्तित्व, उसके जीवन-बोध, दृष्टिकोण और सर्जन-शक्ति का सूचक होता है। साहित्य-निर्माण की प्रक्रिया के इस वैविध्यपूर्ण इतिहास की पूरी जानकारी आलोचक को होनी चाहिए। साहित्य क्या है, समाज से उसका क्या सम्बन्ध है, मानव-क्रिया के रूप मे विज्ञान तथा अन्य कलाओ से भिन्न साहित्य का विशिष्ट प्रयोजन तथा कार्य क्या है, इन सब व्यापक प्रश्नो की समझ भी उसमे पर्याप्त होनी चाहिए--इस बारे मे दो मत

नहीं है। लेकिन इन सब बातों का ताल्लुक आलोचक की योग्यता से है, उसके दायित्व से नही। आलोचक से इन सब बातो की अपेक्षा रखने का मतलब है कि वह निरा अनाडी न हो। अनाडी होने से वह अपने दायित्व का समुचित निर्वाह नही कर सकता।

मान लीजिए कि आलोचक अनाडी नही है, उसमे आलोचक बनने की पूरी योग्यता है। तब फिर उसका दायित्व क्या है? आलोचक निणता है और किसी रचना का मूल्य आकना ही उसका मुख्य काम है। अपने मुख्य काम से ही हरेक का दायित्व पैदा होता है, वज्ञानिक, कवि, कलाकार, बढई, इञ्जीनियर या आलोचक इन सभी का। मूल्य आकना ही आलोचक का मुख्य काम है और यह काम वह समुचित ढग से पूरा करे, सहानुभूति-पूर्वक किन्तु निष्पक्ष भाव से, हर रचना के वैशिष्टय को जॉच-परखकर किन्तु जीवन और इतिहास के व्यापक सदर्भ मे रखके, अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओ को वस्तुपरक विवेचन से समन्वित करके--यही आलोचक का दायित्व है। मूल्याकन एक बडा व्यापक शब्द है। एक ही चीज मे अनेक मूल्य निहित रहते है। जब हम बाजार मे जूते या कपडा खरीदने जाते है तो हमे दस किस्म के जूतो और इतनी ही किस्म या डिजाइन के कपडो मे से चुनाव करना पडता है। सब अपनी-अपनी रुचि से चुनाव करते है, किसी को कोई रग या डिजाइन पसन्द होता है, किसी को कोई। यह तत्सामयिक फैशन और खरीदार के सास्कृतिक स्तर की आवश्यकताओ से प्रभावित रहती है। फिर भी खरीदार जान-बूझकर घटिया जूता या कपडा नही खरीदना चाहता--घटिया से मतलब यहाँ सस्ते से नही है, बल्कि ऐसे से है जो टिकाऊ न हो। यह एक मूल्य है जो सभी पाना चाहते है। अपनी-अपनी समझ के अनुसार वे कपडे को देखते ही कल्पना से उसके टिकाऊपन का अन्दाज भी लगाने लगते है।

इसी तरह आलोचको की रुचियाँ और दृष्टिकोण चाहे भिन्न हो, किसी कविता, उपन्यास या नाटक को पढकर हर आलोचक को अध्ययन और अनुभव से विकसित अपनी विवेचन-बुद्धि से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि क्या यह वास्तव मे अच्छी रचना है, और साहित्य मे जीवित रह सकेगी? मूल्याकन के लिए यह प्रश्न जरूरी है, क्योकि इसका अर्थ है अच्छी और बुरी रचनाओ मे फर्क निकालकर बताना कि वह कविता क्यो काव्य-साहित्य के इतिहास मे एक नया और महत्त्वपूर्ण योगदान है और वह उपन्यास क्यो घटिया और रद्दी है। दरअसल इसका अर्थ है, ऐतिहासिक दृष्टि से किसी आधुनिक कृति को जाँचकर यह देखने की चेष्टा करना कि क्या आगामी युगो के प्रबुद्ध पाठक भी उसे महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठ समझेंगे या उसका महत्त्व केवल सामयिक और अस्थायी ही है।

लेकिन यह समस्या आसान नही है। मै पहले कह चुका हूँ कि मूल्याकन बडा व्यापक शब्द है, क्योकि हर रचना मे अनेक और अक्सर परस्पर-विरोधी मूल्य निहित रहते है। मानव-समाज का बाह्य और आन्तरिक सघर्ष उसकी चेतना मे मूल्यो के सघर्ष के रूप मे प्रतिबिम्बित होता है। इस सघर्ष मे ही मूल्यो का निर्माण होता है और चूँकि मानव-समाज मे स्वामी भी रहे है और दास भी साम्राज्यवादी भी है और गुलाम जातियाँ भी, पूँजीपति भी है और मजदूर भी--यानी समाज अब तक परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणो के खेमे मे बँटा रहा

है, इसलिए मनुष्य के विचार-जगत् मे भी परस्पर-विरोधी मूल्यो का सघर्ष अनवरत चलता आया है। गोरी जातियो को सभ्य और काली जातियो को असभ्य समझने वाले व्यक्ति और मनुष्य-मात्र को बराबर समझने वाले व्यक्ति के विश्व-बोध और मूल्यो मे निश्चय ही अन्तर है और यदि दोनो ही लेखक बन जाये और जीवन-वास्तव को अपने-अपने दृष्टि-कोणो से प्रतिबिम्बित करने लगे तो निश्चय ही उनकी रचनाओ मे मूल्यो के सघर्ष का रूप भी भिन्न होगा। एक वास्तविकता के चित्र को अपनी ईमानदारी के बावजूद विकृत बनायेगा, दूसरा उसे सही रूप मे अकित करेगा। काली जातियो को असभ्य समझने वाले लेखक का विश्व-बोध सकीर्ण और परिस्थिति-जन्य है--मनुष्य की ऐतिहासिक प्रगति से परिचित होने के कारण आलोचक के लिए यह दिखाना सम्भव होना चाहिए। 'नये कवि' और 'नये आलोचक' इस बात को शायद नही मानते। जो शुद्ध कलावादी है, वे भी आलोचक को मूल्यो के आधार पर निर्णय नही स्वीकार करना चाहते। लेकिन व्यक्ति लेखक को जो मन मे आये लिखने की स्वतन्त्रता देने का समर्थन करके भी मै इस हकीकत से आँख कैसे छुपा सकता हूँ कि आप जो लिखते है वह व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के साथ-साथ एक सामाजिक दस्तावेज भी है, जिसे आज के पाठक ही नही, बल्कि भावी पीढियो के पाठक भी आपकी व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के अतिरिक्त एक सामाजिक दस्तावेज के रूप मे ही ग्रहण करेगे, क्योकि उसमे जीवन और जगत् के सम्बन्ध मे आपके विचार व्यक्त हुए है, मानव-सम्बन्धो और मानव-मूल्यो की अभिव्यक्ति हुई है और आपने इन अभिव्यक्तियो द्वारा मनुष्य के विश्व-बोध और उसकी भाव-चेतना को उदात्त और मानवीय बनाया है या सकीर्ण और कुठित किया है। इसी प्रकार किसी रचना को पढकर तत्काल आनन्द पा लेना ही पर्याप्त नही है। मजाक का उद्देश्य हँसाना होता है, लेकिन एक मजाक ऐसा होता है जिसे सुनकर हम हँसते तो है, किन्तु जो हमारी रुचि को अश्लील और भद्दा बनाता है, और एक मजाक ऐसा होता है जो हँसाने के साथ-साथ रुचि का परिष्कार करके उसे सूक्ष्म बनाता है। इसलिए हँसाने की क्षमता ही मजाक के अच्छे-बुरे होने की कसौटी नही है। जो समझदार है, वे दोनो के भेद को तुरन्त भाँप लेते है। इसी तरह साहित्यक कृति रोचक हो, अपने साथ पाठक को बहा ले जा सके, यह सब तो अनिवार्यत हम सभी चाहते है, लेकिन इतने से ही वह अच्छी नही बन जाती। साहित्य के इतिहास मे स्थायी महत्त्व पाने की शक्ति भी उसमे होनी चाहिए, तभी उसे श्रेष्ठ कृति कहा जा सकता है। किसी रचना मे यह शक्ति कहाँ से आती है? यह शक्ति तभी आती है जब लेखक किसी महत्त्वपूर्ण विचार-वस्तु या अनुभव को कलात्मक ढग से प्रेषित करने मे सफल हो जाता है। ऐसी कृति मनुष्य के विश्व-बोध और उसकी भाव-चेतना मे अभिवृद्धि करने मे समर्थ होती है, अर्थात् साहित्य की धारा मे उसका विशिष्ट योगदान होता है और उसमे अपने युग की सबसे अधिक जागरूक प्रवृत्तियो, केन्द्रीय समस्याओ और सर्वोच्च मानव-मूल्यो को चेतना-विकासी अभिव्यक्ति मिलती है। आलोचक मानव-इतिहास की प्रगति-दिशा की गहरी चेतना से साहित्य की कृतियो और प्रवृत्तियो तथा उनमे व्यक्त विचारो और भावनाओ का

मूल्य आकता है और विवेचन से यह देखने की चेष्टा करता है कि उनमे जीवन-वास्तव कितनी कलात्मक सचाई से प्रतिबिम्बित हुआ है । सत्य को अभिव्यक्ति देने के सघर्ष मे आलोचक लेखक का सहयोगी है, क्योकि मूल्याकन द्वारा वह लेखक की कृति के सम्पूर्ण अर्थ को हर प्रबुद्ध पाठक की उपलब्धि बनाने मे योग देता है ।

इस प्रकार आलोचक का दायित्व बडा और रचनात्मक है। इस दायित्व का पालन यदि वह ईमानदारी से करे तो श्रेष्ट-साहित्य के निर्माण को सही दिशा और स्फूर्ति मिलती है, यदि ईमानदारी से न करे तो साहित्य की रचनात्मक शक्तियाँ पथ-भ्रष्ट हो सकती है । लेखक का कर्त्तव्य है कि वे आलोचक को अपने दायित्व का पालन करने का अवसर दे, और आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह विपरीत परिस्थितियो के प्रभावो से अविचलित रह-कर साहित्य का सही मूल्याकन करे । एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप मे हमारा देश अपनी ऐति-हासिक महानता और गौरव के अनुरूप ही युद्ध और उपनिवेशवाद से आतकित विश्व-राजनीति मे शान्ति और स्वतन्त्रता के सर्वोच्च मानववादी मूल्यो की स्वीकृति के लिए सघर्ष कर रहा है । एक स्वतन्त्र राष्ट्र के जिम्मेदार लखक होने के नाते हमारा कर्त्तव्य है कि 'मूल्यो के विघटन' के इस सक्रान्ति-युग मे हम साहित्य मे भी मनुष्य के सर्वोच्च जीवन-मूल्यो की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए सचेत सघष करे । आलोचक का दायित्व है कि वह अपने गम्भीर विवेचन से साहित्य की इन प्रवृत्तियो और साहित्यकारो की इन चेष्टाओ को निरतर बल प्रदान करे, क्योकि स्थायी मूल्य की रचनाओ से ही किसी साहित्य या साहित्यकार की महानता और परिपक्वता कूती जाती है । हम आलोचक यही चाहते है कि हमारा साहित्य विश्व की अन्य बडी भाषाओ के साहित्यो मे अग्रणी बने । इसीलिए मूल्याकन के मानदण्डो को ऊँचा रखने का दायित्व आज हम पर है ।

—नवम्बर, १९५५

१८

स्वाधीन भारत में हिन्दी सहित्य की गतिविधि

भारतीय इतिहास मे १५ अगस्त सन् १९४७ का दिन चिरस्मरणीय रहेगा। उस दिन दो सौ वर्ष पुरानी गुलामी के बन्धन टूटे और स्वतन्त्र राष्ट्रीय विकास की सभावनाओ के द्वार खुले। यह तिथि सच्चे अर्थो मे एक युग की समाप्ति और एक नये युग के आरम्भ की सूचक है। किन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास म यह तारीख न स्मरणीय है, न महत्त्वपूर्ण ही। हमारी स्वाधीनता अभी केवल आठ वर्ष पुरानी है। एक पीढ़ी से भी छोटी इस काल-अवधि मे हमारे देश ने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अपने विकास की लम्बी मजिले पार की है और आज विश्व मे भारत का नैतिक सम्मान सबसे अधिक है। सभी हमारी शान्ति-नीति का आदर करते है। लेकिन क्या हमारा साहित्यिक विकास भी इतना महत्त्वपूर्ण रहा है? जो लोग राजनीतिक घटनाओ और परिस्थितियो के साथ साहित्य का सीधा सम्बध जोडने की कोशिश करते है—और ऐसे लोगो मे मार्क्सवादियो से लेकर समाजवादी, गाधीवादी आदि सभी विचारधाराओ के लोग है—उनको राजनीति और साहित्य की प्रत्यक्षत इस विपरीत गति को देखकर लगातार हैरानी होती आई है। स्वाधीनता के इन आठ वर्षो मे हिन्दी-साहित्य मे किसी ऐसी नई बलशाली प्रवृत्ति का जन्म नही हुआ, जिसका वे स्वाधीनता से सीधा सम्बध जोड सके। प्रत्युत अभी तक हिन्दी-साहित्य मे वे प्रवृत्तियाँ और विचारधाराएँ ही चल रही है, जो प्रेमचन्द-प्रसाद के बाद दूसरे महायुद्ध के आरभ मे ही मुखर हो उठी थी। जो पुराने, वयोवृद्ध लेखक है, इस बीच उन्होने ऐसा कुछ नया नही दिया जो युगान्तरकारी हो। छायावादोत्तर कालीन या प्रेमचन्दोत्तरकालीन जो नये प्रगतिवादी कवि, या यथार्थ-वादी-प्रकृतिवादी उपन्यासकार है, उन्होने भी ऐसी कोई प्रौढ और महान रचना साहित्य को नही दी कि उसके आधार पर स्वाधीनता-काल के हिन्दी-साहित्य को विशिष्ट गौरव प्रदान किया जा सके। प्रस्तुत यदि ध्यान से देखा जाय तो इस बीच हिन्दी साहित्य का साधारण रचनात्मक स्तर कुछ नीचे ही गिरा है। कम-से-कम उसका नैतिक स्वर और उसमे व्यक्त होनेवाली सामाजिक भावना एक बडी सीमा तक विकृत होकर अनैतिक, उच्छृखल, असामाजिक और व्यक्तिवादी बन गई है। ह्रास की इस प्रक्रिया को देखकर कुछ वर्ष पहले कई लोगो ने हिन्दी-साहित्य मे गतिरोध की कल्पना करके शोरगुल भी मचाया था। इस शोर-गुल से खिन्न होकर कुछ लोगो ने पूरे उद्धत भाव से यह सिद्ध करना चाहा कि साहित्य मे गतिरोध जैसी कोई चीज नही है बल्कि हिन्दी साहित्य तो अब सही अर्थो मे प्रौढता प्राप्त कर रहा है। प्रयोगवादी रचनाएँ उदाहरण के रूप मे पेश की गई। लेकिन इस वाक्-युद्ध से

किसी समाधान तक पहुँचना सभव न था, क्योकि समस्या गतिरोध या प्रौढता के दावो तक ही सीमित न थी।

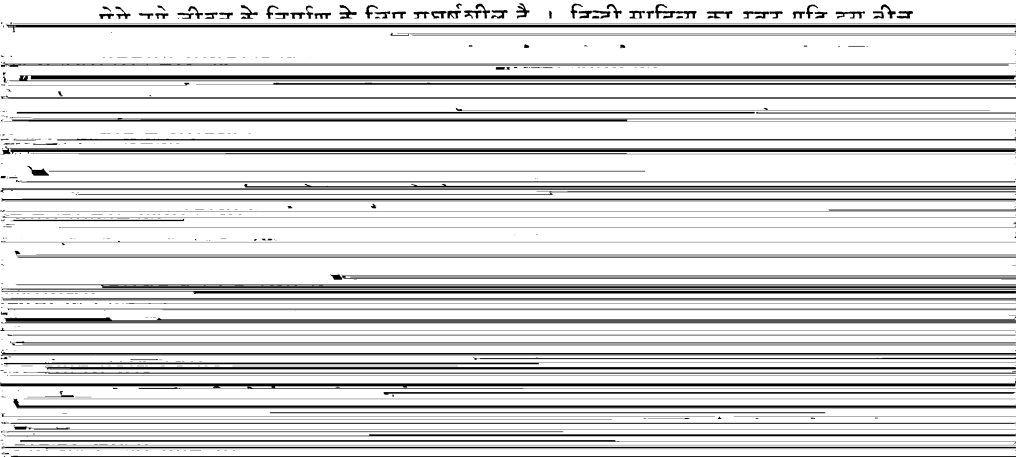
साहित्य का कोई सामान्य उद्देश्य नही होता, सिवाय इसके कि श्रेष्ठ, कलात्मक साहित्य मनुष्य की मानवीय भावनाओ, उसके विश्व-बोध और उसकी आत्म-चेतना को व्यापक, उदात्त और सस्कृत बनाता है। लेकिन यह साहित्य का पूर्व-निर्धारित उद्देश्य नही है, जैसे देश मे एक समाजवादी ढग की व्यवस्था कायम करना कम्युनिस्ट पार्टी का उद्देश्य है--यह तो साहित्य का श्रेय या उसका धर्म है, जो मनुष्य की इस विशिष्ट कलात्मक चेष्टा मे स्वय निहित है। लेकिन साहित्य की रचना व्यक्ति-लेखक द्वारा होती है, जो एक सामाजिक प्राणी होने के अतिरिक्त देश-काल की चेतना से प्रभावित भी होता है। भारतेन्दु के समय मे जब खडी बोली हिन्दी का साहित्य जन्म ले रहा था, तब देश-काल की परिस्थितियो से प्रभावित होकर हिन्दी-लेखको ने व्यक्तिगत रूप मे जीवन-वास्तव का एक विशिष्ट दृष्टिकोण से चित्रण किया था। यह दृष्टिकोण सुधारवादी था। भारतीय विचार-जगत् मे उन दिनो सुधार की चेतना जाग्रत थी। जीवन-वास्तव का कलात्मक चित्रण करने के लिए उस युग के लेखको को अधिक विचार-मथन नही करना पडा। वातावरण मे सामाजिक सुधारो की आकाक्षा गूँज रही थी। युग की प्रगतिशील चेतना थी वह। लेखको का हृदय इस चेतना से सहज ही तादात्म्य स्थापित करके साहित्य रचना के लिए प्रेरित हो उठा। इसके बाद जब राष्ट्रीय चेतना और आगे बढी और गुलामी से मुक्ति पाने और पश्चिम के राष्ट्रो की तरह स्वतत्र जीवन-निर्वाह की कल्पनाओ ने राष्ट्र की चेतना को अनुप्राणित करना शुरू कर दिया तो हिन्दी कविता मे छायावाद और हिन्दी-कथा-साहित्य मे प्रेमचद के आदर्शवाद की प्रवृत्तियो ने जन्म लिया। नई राष्ट्रीय चेतना ने भारतीय मानस के सामने जो सास्कृतिक समस्याएँ उठाई थी, छायावादी कविता ने उन्हे मार्मिक अभिव्यक्ति दी। सामाजिक समस्याओ का चित्रण हमारे कथा और नाट्य-साहित्य मे हुआ। इस समय तक राष्ट्र-जीवन मे सामाजिक पिछडेपन और अग्रेजो की गुलामी--ये दो तत्व ऐसे थे, जिनके प्रति प्रत्येक लेखक की प्रतिक्रिया विरोध और प्रतिवाद की होती थी। इस कारण उस युग के लेखको मे भी दृष्टिसाम्य दिखाई देता है। लगता है जैसे हमारा साहित्य किसी सामान्य उद्देश्य से अनुप्राणित है। किन्तु छायावादोत्तर काल मे यह दृष्टि-साम्य टूटने लगा। गाधी-दर्शन से प्रभावित राष्ट्र-चेतना मे मार्क्स-दर्शन से प्रभावित वर्ग-चेतना ने प्रवेश किया। दूसरी ओर व्यक्ति-चेतना पर फ्रायड के विचारो का भी प्रभाव पडने लगा। सरल समाधानो का युग बीत गया। जीवन की समस्त विकृतियो, समाज की समस्त कुरीतियो को केवल राजनीतिक गुलामी के मत्थे मढ़कर साहित्यकार के लिए कलात्मक समाधान पा लेना सम्भव न रहा। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध भविष्य मे किस आधार पर सगठित हो--साहित्य के सामने यह समस्या सबसे अधिक बुनियादी बन गई। चूँकि विभिन्न विचार-धाराएँ और प्रवृत्तियाँ विरोधी मतवादो से प्रेरित थी, इस कारण उनमे कोई सामान्य तत्व देख पाना आसान नही रहा। प्रगतिवाद ने आर्थिक सामाजिक स्वतन्त्रता पर जोर

दिया। मनोविश्लेषण शास्त्र से प्रेरित प्रतीकवादी धारा ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर जोर दिया। वस्तुत. देखा जाय तो दोनों के सामने समस्या यह थी कि स्वतन्त्र भारत में मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध किस आधार पर संगठित हों, कि उनके पूर्ण विकास की सम्भावनाएं कुंठित न हो जायें। दोनों धाराओं ने मनुष्य-जीवन की आवश्यकताओं के भिन्न-भिन्न पक्षों पर एकांगी जोर देकर विपरीत दिशाओं में विकास किया। इस प्रकार, जब हमें स्वाधीनता मिली, उस समय हिन्दी-साहित्य विभिन्न प्रवृत्तियों में बँटकर रचा जा रहा था। दोनों पक्षों के लेखकों में अपने-अपने मतवाद का दुराग्रह इतना अधिक रहा है कि स्वाधीनता प्राप्ति की घटना और उसके बाद के ये आठ वर्ष उनकी दृष्टि में अनदेखे ही गुजर गये हैं।

मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि प्रगतिवादी, प्रतीकवादी, प्रयोगवादी और पुराने छायावादी साहित्यकारों को अपने मतभेद भुलाकर 'स्वतन्त्रता' के गीत गाते रहना चाहिए था या कि कथा-साहित्य में 'स्वतन्त्रता-दिवस' के समारोहों का चित्रण करना चाहिए था। कुछ लेखकों ने ऐसी सामयिक रचनाएं भी कीं, किन्तु उनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है। मेरे कहने का आशय केवल इतना है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले सामाजिक जीवन को किसी नये, अधिक मानवीय आधार पर संगठित करने के बारे में जो विचार-मंथन हो रहा था, स्वतन्त्रता प्राप्ति करने के बाद उसकी कोई विषद, समन्वित कल्पना साहित्य में वे नहीं दे सके। अपने-अपने मतवादों के दुराग्रहों से प्रेरित होकर हिन्दी लेखक दलों में बंटते गये, और जीवन-वास्तव को चित्रित करने के स्थान पर अपने-अपने दलगत विचारों की ही विवृत्ति करने लगे। प्रगतिवादियों ने यह माना ही नहीं कि भारत पूर्णत स्वतन्त्र हो गया है, इसलिए उनके आगे कोई नई समस्या नहीं उठी। गुलामी के विरुद्ध अपनी आवाज उठाते समय अब वे अंग्रेजों की जगह कांग्रेसियों का नाम लेने लगे। प्रतीकवादी-प्रयोगवादियों के सामने देश की आजादी या गुलामी का कभी कोई प्रश्न ही नहीं रहा। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर उसका मौलिक विरोध साम्यवाद से है, अत देश गुलाम है तो, और आजाद है तो, अन्तत उनको इससे कोई सरोकार नहीं। देश में प्रगतिवादी विचारधारा का होना ही उन्हें सबसे अधिक अकल्याणकारी खतरा दीखता रहा है, और वे चाणक्य की तरह शिखा खोलकर उन सभी नैतिक और सामाजिक तत्वों का भारतीय मानव की चेतना में से उन्मूलन करने के लिए कटिबद्ध होकर अपने लेखन द्वारा आन्दोलन करते रहे हैं, जिनके प्रति प्रगतिवाद ने हमें उद्बुद्ध किया था। इस प्रकार स्वाधीनता ने देश और साहित्य के सामने जो समस्याएं उठा दी थीं, उनकी ओर इस बीच हमारे साहित्यकारों का ध्यान बहुत कम गया है।

ये समस्याएं क्या हैं? स्वतन्त्र होने के बाद भारतीय जीवन के पुनर्निर्माण का प्रश्न हमारे आगे सबसे बड़ी और मौलिक समस्या है। समाज का नया निर्माण 'डिमॉक्रेटिक'—अर्थात् समानता के आधार पर हो, इसके बारे में दो मत नहीं है। लेकिन भावना और मानवीय व्यवहार के स्तर पर इसे समझते कितने लोग हैं? समाज के नवनिर्माण का अर्थ ही है कि समाज में नये सम्बन्धों की स्थापना हो। ये नये सम्बन्ध केवल अर्थ-

नीति तक ही सीमित न हो, बल्कि समग्र सामाजिक जीवन मे मनुष्य जितने असख्य सम्बधो मे एक दूसरे के सम्पर्क मे आते है, उन सब का नियमन एक 'डिमॉक्रेटिक भावना' के अनुसार हो। युग-जीवन की आकाक्षाएँ व्यक्ति और समाज जीवन के हर क्षेत्र मे और हर स्तर पर इस समस्या के सही और मानवीय समाधान की अपेक्षा रखती है। राजनीति या समाज-व्यवस्था के क्षेत्र मे ही नही, भावना और सस्कृति के सूक्ष्मतर, अध्यात्मिक क्षेत्रो मे भी इस समस्या का समाधान हमे पाना है। अर्थात् सच्चे 'डिमॉक्रेटिक' जीवन का निर्माण तभी सम्भव है, जब हमारी भाव-प्रतिक्रियाएँ भी इतनी सचेत और उदात्त हो कि किसी भी परिस्थिति मे हम समानता के व्यवहार को न त्यागे। ऐसा व्यवहार हमारे सहज सस्कारो का अग बन जाए। यह बडी व्यापक समस्या है और इसके असख्य रूप है। भारतीय समाज ऐसे नये जीवन के निर्माण के लिए सघर्षशील है। हिन्दी साहित्य का स्तर प्रति क्षण जीवन



त्वपूर्ण है। यशपाल का उपन्यास 'मनुष्य के रूप', नागार्जुन का उपन्यास 'बलचनमा', जैनेन्द्र का उपन्यास 'सुखदा', फणीश्वनाथ रेणु का पहला ही उपन्यास 'मैला आँचल', उदयशकर भट्ट का उपन्यास 'सागर, लहरे और मनुष्य' तथा इलाचन्द्र जोशी का नया उपन्यास 'जहाज का पछी' ऐसी कृतियाँ है, जो स्वाधीनता से पहले के कथा-साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियो के मुकाबले मे रखी जा सकती है। प्रेमचन्द कालीन उपन्यासो से इन उपन्यासों का शिल्प ही अधिक विकसित नही है, बल्कि युग-जीवन की अनेक केन्द्रीय समस्याओ की कलात्मक अभिव्यक्ति भी उनमे अधिक प्रौढ, यथार्थ और अभिनव है। साधारणतया काव्य-साहित्य के बारे मे ऐसा नही कहा जा सकता, यद्यपि दोनो पक्षो के मतवादी काव्य को लेकर ही अधिकतर विचार-युद्ध करते रहे है। लेकिन यह निर्विवाद है कि 'कामायनी', 'पल्लव', 'ग्राम्या', 'परिमल', 'अनामिका', 'कुरुक्षेत्र' या 'साकेत' के मुकाबले की कृतियाँ इस बीच विरल ही रही। नाटच-साहित्य मे जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' के अतिरिक्त और कोई विशिष्ट कृति नही रची गई, यद्यपि उदयशकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटको और एकाकियो का स्तर पहले से कुछ अधिक

ऊँचा अवश्य हुआ है। और लेखको मे भी नाटच-साहित्य की रचना के प्रति आज पहले की अपेक्षा अधिक उत्साह है। कहानियो मे भी साधारणता ही अधिक मिलती है। असाधारण कोटि की कलात्मक कहानियाँ गिनती की ही लिखी गई है।

इस प्रकार स्वाधीनता के बाद का हिन्दी-साहित्य अभी किसी विशिष्ट, किन्तु व्यापक, मूलभूत विचार से उत्प्रेरित साहित्य नही है, बल्कि स्वाधीनता से पहले ही उसकी विभिन्न विचारधाराओ और प्रवृत्तियो मे जो दृष्टिगत सकीर्णता आ गई थी, उससे ही सीमाबद्ध है। लेकिन उपन्यास और नाटक के क्षेत्रो म ये सीमाएँ टूटने लगी है और नये और पुराने प्रतिभाशाली रचनाकार हिन्दी-साहित्य को पुन युग की नई आकाक्षाओ का समर्थ वाहन बनाने की आवश्यकता के प्रति जागरूक होते जा रहे है।

—जुलाई, १९५५

१६

भारत की जन-नाट्यशाला

कलाओ के संगठन की बात उठाई तो बार-बार जाती है, लेकिन उसके बुनियादी पहलू को हमेशा नजरअन्दाज किया जाता है। लम्बी-चौडी योजनाओ मे भी उस तत्त्व की कमी रहती है जो अमल मे लाये जाने पर कला के अन्दर प्राण फूंक सकता है, उसे टिकाऊ और प्रभावशाली बना सकता है। इन योजनाओ मे दो दृष्टिकोण प्रधान रहते है व्यावसायिक लाभ और अवकाश-भोगी वर्ग का मनोरजन। लेकिन आज के समाज मे यह बात निर्विवाद है कि ये दोनो प्रेरणाएँ (incentives) कला को उत्तरोत्तर विकास अथवा स्थायित्व का गुण नही प्रदान कर पाती, कुछ दिनो चमक-दमक दिखाकर कला के विविध रूप मुरझाने लगते है। इसलिए कला को सप्राण, सजीव, सबल और विकासोन्मुख बनाने के लिए हमे अपनी इन योजनाओ मे से वे दोनो प्रेरक शक्तियाँ निकाल देनी होगी और उनके स्थान पर मूल तत्त्वो को रखना होगा। ये मूल तत्त्व आधुनिक जीवन की वास्तविकता की चेतना पर आधारित है, इस कारण अधिक गतिशील (dynamic) है।

ये मूल तत्त्व क्या है? हमारी कला को भारतवर्ष के तीस-पैंतीस करोड किसान-मजदूर और निम्न-मध्यमवर्ग से 'प्राण-सम्बन्धित' होना चाहिए, क्योकि समाज का यह वर्ग ही आज ऐतिहासिक दृष्टि से समाज की असगतियो पर विजय प्राप्त कर एक नये समाज का निर्माण करने की क्षमता रखता है, पूंजीपति वर्ग या उपजीवी, अवकाशभोगी वर्ग की क्षमता अब समाज को आगे बढाने मे नही वरन् पीछे ढकेलने मे ही शेष रही है। अत. यदि कला शोषित वर्गो से अर्थात् जनता से 'प्राण-सम्बन्धित' हो गई तो समझना चाहिए कि वह इतिहास के साथ कदम मिलाकर चलने लगेगी और समाज की प्रगति मे सक्रिय-सचेत रूप से सहायक होगी। इस कारण टिकाऊ भी होगी। अब प्रश्न उठता है कि जनता से 'प्राण-सम्बन्धित' होने के लिए कला के रूप-विधान मे किन परिवर्तनो की आवश्यकता पडेगी? इसके लिए यहाँ केवल इतना जानना जरूरी है कि चूंकि कला का सम्बन्ध मनुष्य के भाव-जगत् से है, अत. कला को जनता की आध्यात्मिक आवश्यकताओ का निरूपण कर उसके भाव-जगत् के धरातल को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना होगा, ताकि जनता मे नवजीवन अथवा नये समाज का निर्माण करने की कल्पना स्पष्ट हो जाय। आज उसका यही सबसे बडा ऐतिहासिक लक्ष्य है।

कला के निर्माण के मूल मे व्यावसायिक लाभ तथा उपजीवी वर्ग के कुत्सित मनोरंजन के स्थान पर शोषित जनता की आध्यात्मिक क्षुधा को स्वास्थ्यकर मानसिक भोजन

प्रदान करने तथा जनता को अपने मौजूदा तथा भावी कार्य के प्रति सजग और सचेत बनाने का तत्व चाहिए।

जनता से कला का 'प्राण-सम्बन्ध' स्थापित करने के लिए जनता के आध्यात्मिक जीवन को हमें हर पहलू से समझना होगा। इस जनता के आर्थिक-शोषण की कहानी से तो सभी परिचित है, यद्यपि वे यह नही जानते कि इस आर्थिक शोषण के साथ-साथ जनता का आध्यात्मिक शोषण कितना गहरा हुआ है। यह ठीक है कि हिन्दुस्तान मे पूंजीवाद के आने से उत्पादन के तरीको मे उन्नति हुई है और कई क्षेत्रो मे उत्पादन बढा भी है, लेकिन उसके अनुपात मे यहाँ की 'मानसिक सस्कृति' नही बढ पाई, यद्यपि सामाजिक नियम के अनुसार ऐसा होना आवश्यक था, वैसे देखने को 'शिक्षित बेकारो' की समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया है, जब कि शिक्षित-वर्ग जनता की सख्या मे पाँच-सात प्रतिशत से ज्यादा नही है। इसका कारण साम्राज्यवादी शोषण और पूँजीवाद का अनैसर्गिक विकास कहा जा सकता है। आर्थिक शोषण से गरीबी पैदा हुई है, और इस गरीबी ने जनता को अशिक्षा, सामाजिक पिछडेपन, भावात्मक शून्यता और रोगो का शिकार बना दिया है। जनता का भाव-जगत् ऊसर बन गया है, रुक्ष एव अनुर्वर, उसकी उच्च सुखमय जीवन की अभिलाषा पर शका और सन्देहो का पाला पडा हुआ है, उसका कल्पना-जगत् एक ऐसा मरुस्थल बन गया है जहाँ मृगमरीचिका के भी दर्शन नही होते, उसके हृदय की आकाक्षाओ की सरिता, जिसमे उज्ज्वल भविष्य का श्वेत चन्द्रमा अपना प्रतिबिम्ब डालकर उसकी लोल लहरो को अपनी ओर खीचता रहता था, अब शुष्क पडी है। यहाँ पर वाक्यालकार का प्रयोग नही किया जा रहा, क्योकि विक्षिप्त बना देने वाली जिस आध्यात्मिक क्षुधा की पीडा से आज हमारी जनता उद्भ्रान्त और किकर्तव्य-विमूढ बनी हुई है, उसके जीवन की आन्तरिक विशृखलता की अभिव्यक्ति के लिए यही भाषा सुगम है।

इस पर एक और पहलू से विचार करे। रेडियो, सिनेमा, नाच, थियेटर, उपन्यास, समाचार-पत्र, काव्य-साहित्य, कला-चित्र, और स्कूल-कालेज, ये हमारी 'मानसिक-सस्कृति' के प्रमुख वाहक है, अथवा यो कहिए कि मिलकर ये सब हमारी 'मानसिक-सस्कृति' की रूप-रेखा गढते है। आज के जीवन मे इन कला-कृतियो अथवा सास्कृतिक केन्द्रो का फैलाव क्या इतना है कि वे अपनी परिधि मे हमारी जनता को घेर ले ? इसके ठीक विपरीत, जनता की इन चीजो तक कोई पहुँच प्राइमरी दर्जे की उन पुस्तको तक भी नही है जिनमे 'हे प्रभो अन्नदाता, ज्ञान हमको दीजिए', पढकर विद्यार्थी प्रभु द्वारा भेजे ज्ञान की प्रतीक्षा मे सारा जीवन गुजार देता है किन्तु प्रभु ज्ञान नही भेजता। इसी से स्पष्ट है कि कला, सस्कृति और साहित्य इस समय एक अवकाशभोगी वर्ग की सम्पत्ति है, असख्य जनता से उनका कोई सम्बन्ध नही।

इधर कुछ दिनों से राजनीतिक उथल-पुथल, संगठन और प्रचार के कारण जनता मे एक नई चेतना की लहर दौड गई है। उसकी वह नैराश्य-भावना जिसमे डूबकर उतराना भी सम्भव न था अब लुप्त होती जा रही है। यह जीवन केवल पिसने के लिए ही नही है,

बल्कि उसमे कुछ अपना भी हो सकता है, सुख और चैन मिल सकता है, इसकी अस्पष्ट अनुभूति उसे होने लगी है। लेकिन इस अनुभूति और चेतना की बुनियाद गहरी नही हो पाती, क्योकि उसके हृदय आशकित है, नित नये प्रश्न उठकर उसके सन्देहो को मजबूत करते रहते है। जनता सोचती है, 'क्या यह सच है ? क्या यह कभी सम्भव हो सकेगा ? यह सब कैसे हो जायगा ?' इन प्रश्नो के मूल मे सन्देह है, उस चेतना और अनुभूति के प्रति जिससे वे विचलित हो रहे है। नेताओ के वक्तव्य, व्याख्यान, सभाएँ, प्रदर्शन, हड-ताले, आन्दोलन इन प्रश्नो और सन्देहो का सन्तोषजनक उत्तर नही दे पाते। कभी-कभी ये सन्देह और भी दृढ हो जाते है, क्योकि इन प्रश्नो के उत्तर और अपने वास्तविक जीवन मे जो तारतम्य, जो सगति, जो सम्बन्ध है, उसे वह अपनी कल्पना के पर्दे पर चित्रित कर उसकी पूरी तस्वीर नही देख पाती। बीच की कोई-न-कोई कडी टूट जाती है और उसका दिल दहल उठता है। उसे सन्देह होता है, 'शायद ऐसा न हो सके!' अत. यदि जनता हमारे साथ सघर्ष मे आती है, या सघर्ष मे हमे अपने साथ खीच लेती है तो केवल जीवन की विषम परिस्थितियो से धक्का खाकर, तिलमिला कर, सजग रूप से, आवश्यकता की चेतना से नही। इसी कारण वह अभी तक अपने दिल के पूरे हौसले से सघर्ष मे शामिल नही हो पाई, उसका नेतृत्व अपने हाथ मे नही ले पाई।

किन्तु यह तो नही हो सकता कि जिस जनता ने अपने परिश्रम से आर्य-सस्कृति, बौद्ध-सस्कृति और मुगल सस्कृति जैसी तीन महान् सस्कृतियो को गढा हो, सीचा हो, और जिनका भार अपनी पीठ पर वहन किया हो, उसमे स्वय एक आध्यात्मिक क्षुधा न उत्पन्न हो गई हो। यहाँ की जनता ने अपने हाथो बडी-बडी सभ्यताओ का निर्माण किया है। इस कारण आज जब समाज की व्यवस्था ने उसे आधुनिक कला और सस्कृति से वञ्चित कर दिया है तो वह अपनी क्षुधा की तृप्ति सामन्त-काल की भग्नावशेष कला से करती है। गाँव के किसी मेले-ठेले मे जाइए, किताबो की दूकानो पर ऐसे-ऐसे लेखको की पुस्तके मिलेगी जिनका साहित्य-जगत् मे कभी कोई अस्तित्व नही माना गया है।

इन पुस्तको मे गाने की किताबो की अधिकता रहती है, उपन्यासो और कहानियो की नही। अभी जनता की मानसिक सस्कृति पिछडी दशा मे है, इस कारण वह उन्ही पुस्तकों को चाहती है जो कण्ठस्थ हो सके। साहित्य के विविध रूप-विधानो से उसका अभी-तक परिचय नही हो पाया। सूर, तुलसी, कबीर और मीरा, ये ही कुछ बडे-बडे कवि है जो जनता तक अपनी पैठ कर पाये है, आज के कवियो की वहाँ गति नही। इससे दो बाते साबित होती है पहली तो यह कि आधुनिक समाज ने हमारे लेखको के साहित्य का जन-आधार अत्यन्त सकुचित कर दिया है, दूसरी यह कि आज की जनता की विकृत, मृतप्राय सस्कृति और हमारे लेखको की सस्कृति मे उसने जमीन-आसमान का अन्तर पैदा कर दिया है जिससे वे एक-दूसरे के सम्पर्क मे आ ही नही पाते। फलत. हमारी ग्रामीण अथवा मजदूर जनता को साहित्य के अश्लील और कुत्सित रूप से ही सन्तोष करना पडता है।

इसके अतिरिक्त दृश्य-कलाओ की भी इस जनता मे प्राचीन परिपाटी अपने विकृत

रूप मे चली आ रही है। इन दृश्य-कलाओ मे नाटक और नृत्य मुख्य है।

जनता की नाट्यशालाओ के कई रूप है—रामलीला, रासलीला, भँडैती, स्वाँग, नौटङ्की। ये नाट्यशालाएँ अपने जर्जरित रूप मे हमारी जनता के हृदय मे गत वैभव की स्मृति ताजी करती रहती है, उसको अपने अन्धकारमय, प्रताडित जीवन से प्रेम पालने को उत्प्रेरित करती है और छिछले-अश्लील मनोरञ्जन द्वारा उनके मानवी हृदय को गुदगुदा कर उनकी आध्यात्मिक क्षुधा को शान्त करती रहती है। इन नाट्यशालाओ तक आधुनिक जीवन की प्रकाश-किरणे नही पहुँची। यद्यपि जमाना बदल गया, पर वे आज भी अकबर और राणा प्रताप के सामन्ती काल की मृत-श्वास भर रही है। इन नाट्यशालाओ मे बडे-बडे सामन्तों, शूरमाओ, अवतारो के पराक्रम के दृश्य रहते है, उनके विरद् गाये जाते है—मजदूर और किसान समझते है कि ससार से पराक्रम उठ गया, प्रजावत्सल, प्रजा की पुत्र-तुल्य रक्षा करनेवाले नरेश नही रहे, अत प्रजा गरीब हो गई। इस प्रकार यह प्राचीन सामन्तो की कीर्ति-गाथा जनता की साम्राज्य-विरोधी भावना को भी विकृत ढङ्ग से सन्तुष्ट करती है। वह साम्राज्यवादी शोषण से त्रस्त है, उसे नही चाहती, लेकिन यह दशा बदलेगी कैसे इसका उत्तर उसे भविष्य की आवश्यकताओ की ओर नही ले जाता बल्कि पुरातन के आदर्श पूर्ण जीवन को पुन पाने की टीस-भरी आकाक्षा पैदा कर देता है। फिर, नाट्यशालाओ मे आधुनिक जीवन का उपहास भी किया जाता है, बी० ए० पास बीवी या विलायत से लौटे हुए बेटे की छीछालेदार होते तो सभी ने देखी होगी, किन्तु शिक्षा, मशीनो, स्त्रियो की स्वतन्त्रता आदि का मजाक भी उडाया जाता है। जनता समझती है कि चूँकि प्राचीन रहन-सहन, रस्म-रिवाज आचार-विचार नही रहे, बदल गये, इस कारण उसका जीवन इतना विषम और विषाक्त हो गया है। जनता आधुनिक जीवन और आधुनिक सभ्यता को दुश्मन की दृष्टि से देखने लग जाती है। और जब राष्ट्रीय-मजदूर या किसान आन्दोलन का जाग्रत-सन्देश वह सुनती है तब इसी भाववस्तु से अपने भावी जीवन की कल्पना करने लगती है। लेकिन सगति नही बैठती, भावी-जीवन की कल्पना मूर्त्तिमान नही हो पाती। हो भी कैसे सकती है जब कि उसका जीवन एक तो वैसे ही विच्छिन्न है, उस पर ये नाट्यशालाएँ, गाने की पुस्तके और दूसरी एजेन्सियाँ धर्म और ईश्वर, वेद, कुरान और ऋषि-वाक्यो की आड लेकर उसमे जीवन-विरोधी विश्वास उत्पन्न करके उसके जीवन को और भी विच्छिन्न बनाती रहती है। राष्ट्रीय आन्दोलन, मजदूर-सङ्घो और किसान-सभाओ का इस जनता पर कितना भी प्रभाव क्यो न हो किन्तु इन नाट्यशालाओ तथा अन्य जीवन-विरोधी-विश्वास उत्पन्न करने वाली एजेन्सियो का भी कम प्रभाव नही है। हमने स्वय देखा है कि दस-दस गाँव के बालक, जवान, बूढे पुरुष (और कभी-कभी स्त्रियाँ भी) जाडे-पाले मे ठिठुरते हजारो की तादाद मे रामलीला, रासलीला, स्वाँग या नौटङ्की देखने को पहुँचते है। कौन शक्ति उन्हे वहाँ बरबस खीच ले जाती है? निस्सन्देह उनकी आध्यात्मिक क्षुधा, या कहिए कि जीवन की विडम्बनाओ को भूलकर कुछ मनोरञ्जक क्षण गुजारने की लालसा। ये क्षण उनके जीवन मे बड़े क़ीमती होते है, इसलिए इन क्षणों मे वे जो कुछ भी

देखते या सुनते है उनके मानस-पट पर उसकी मधुर-स्मृति अमिट प्रभाव छोड जाती है, उनकी भावनाओ को अपने अनुकूल बना लेती है। इन जन नाटचशालाओ का यह प्रभाव (या दुष्प्रभाव) पडता है। इन एजेन्सियो द्वारा प्रतिक्रिया अपने छद्मवेश मे जनता के मस्तिष्क पर आच्छादित हो जाती है और उसमे चेतना की रोशनी नही घुसने देती। हम लेखको ने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया है, क्योकि अभी तक हम इस बात को ठीक तरह से नही समझ पाये है कि हमारी जनता के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन के वैषम्य मे जहर की तरह घुल-मिलकर 'मानसिक तथा आध्यात्मिक प्रतिक्रिया' कितने सरल तथा निर्बोध रूप मे उसे और भी खोखला और निस्पन्द बनाती जा रही है। कारण स्पष्ट है कि हमने कभी यह जानने की कोशिश नही की कि जीवन की प्रत्येक करवट मे एक बाह्य कार्य-कारण सम्बन्ध है। इसी का सीधा परिणाम है कि जन-आधार पर किये गये कलाओ के सङ्गठन का विचार हमे आज भी आन्दोलित नही करता।

(२)

इस लेख मे हमे अन्य कलाओ के सङ्गठन पर विचार न कर केवल नाटचकला पर ही विचार करना है। यह मेरा विश्वास है कि जनसाधारण तक कलारुचि पहुँचाने मे नाटक ही सबसे ज्यादा सहायक हो सकता है और प्रचार के साधनो मे केवल नाटक या नाटचशाला ही सामूहिक प्रभाव डालनेवाला एक ऐसा साधन है जिस पर लेखको का अधिकार हो सकता है, अन्यथा रेडियो, सिनेमा, प्रेस आदि अन्य सभी आधुनिक साधनो पर सरकार का नियन्त्रण है और उनका प्रयोग जनता की चेतना, उसकी कला या सौन्दर्य-भावना को परिष्कृत करने मे कम किन्तु कुण्ठित करने मे अधिक होता है। ये साधन साम्राज्यवादी-पूँजीवादी असत्य, सामाजिक दकियानूसीपन, जर्जर सास्कृतिक रूढियो तथा धार्मिक कठ-मुल्लापन को बना सँवारकर, सुन्दर आदर्शवादी शब्दो के आवरण मे ढँककर उसे सत्य का रूप देकर जनता के सामने पेश करते ह। यह खोटा सिक्का बहुत दिनो से चल रहा है, चलता जा रहा है। नाटचशाला का भी इस कार्य के लिए प्रयोग किया जाता है। लेकिन नाटचशाला मे खेले जानेवाले नाटक के लेखक पर कुछ दायित्व होता है, वह जनता और साहित्य की धारा से एकदम विमुख नही हो पाता, और अगर होता है तो उसके साहित्यिक जीवन का पौधा पनपने नही पाता। इसके अतिरिक्त नाटक का महत्त्व और भी कई दृष्टियो से बहुत ज्यादा है। नाटचशाला द्वारा ही जनता से सजीव सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है, सिनेमा या रेडियो से नही, कम-से-कम अभी तो नही। सजीव पात्रो का अभिनय दर्शको को ज्यादा प्रिय लगता है और वे उसके द्वारा पात्रो के साथ एक सजीव सामीप्य भी अनुभव करने लगते है। बोले हुए शब्द मे जादू की-सी शक्ति होती है, और जब नाटचशाला मे स्त्री पुरुषो के सजीव कण्ठ से ही शब्द सुनने को मिलते है, उनके सजीव शरीर ही रूपक रचते है, तब दर्शक जनता उनके साथ इतने नैकटच का अनुभव करने लगती है, मानो पात्र और दर्शक दोनो एक विराट् रूपक मे भाग ले रहे हो। इसीलिए योरप, अमेरिका या चीन के लेखको ने अपने प्रचार और रचनात्मक कार्य मे नाटचशाला को प्रमुख स्थान दिया है। यहाँ इङ्ग-

लैन्ड, अमेरिका और चीन के उदाहरण यह बताने के लिए काफी होगे कि जन-नाट्यशालाएँ प्रचार और सास्कृतिक उन्नति की कितनी प्रभाव-पूर्ण केन्द्र बन सकती है।

युद्ध छिडने से पहले इङ्गलैण्ड और अमेरिका के कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट तथा प्रजा-तन्त्रवादी लेखक युद्ध और फासिज्म के खतरे के विरुद्ध एक सयुक्त मोर्चे मे सम्मिलित हो गये थे। उन्होने फासिस्ट प्रतिक्रिया के प्रति जनता को सचेत करने के लिए नाटक को अपना मुख्य साधन बनाया, साथ ही परिपाटी के बोझ से दबे उसके मृतप्राय जीवन का उद्धार भी किया।

इङ्गलैड मे इब्सन और बर्नर्डशॉ के नाटको ने रूपक शैली मे क्रान्तिकारी परिवर्तन तो किये थे, पूँजीवाद की धज्जियाँ तो उडायी थी, परन्तु वे मौजूदा सकट का कोई हल न पेश कर सके। इसके अतिरिक्त अन्य थियटर व्यावसायिक दृष्टि से चलते थे। वे दृश्यो की तडक-भडक, प्रधान पात्र अथवा पात्री की वैयक्तिक प्रतिभा पर ही अधिक जोर देते थे और उनका उद्देश्य धन कमाना अधिक, जीवन की अभिव्यजना करना कम था। इसलिए वहाँ के प्रगतिशील लेखको ने 'लेफ्ट थियेटर' की नीव डाली। बाद मे सयुक्त मोर्चे के दिनो मे उस का नाम 'यूनिटी थियेटर' कर दिया गया। इस थियेटर मे जो नाटक खेले गये उनमे ट्रिटियाशॅवका 'रोडरचाइना', गोर्की का 'मदर', स्टीफन स्पेन्डर का 'दी ट्रायल ऑफ ए जज', क्लिफर्ड ऑडेट का 'वेटिंग फॉर लेफ्टी' आदि अनूदित तथा मौलिक नाटक प्रसिद्ध है। इन नाटको की यह विशेषता है कि इनके प्रधान-पात्र उच्चवर्ग के नही वरन् श्रमिकवर्ग के होते है। रगमच पर श्रमिक वर्ग का प्रवेश नाटकीय विकास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इन नाटको से कला मे एक नये जीवन, एक नये सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हुई है। अमेरिका मे क्रान्तिकारी नाटक की उन्नति एक दूसरे प्रकार से हुई। वहाँ पहले प्रचार-थियेटर की नीव पडी। छोटे-छोटे प्रचारात्मक, क्रान्तिकारी नाटक अभिनीत किये गये। इनमे जोश तो बहुत रहता था, लेकिन कला या अभिनय-कौशल कम। इसका कारण यह था कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे वहाँ के क्रान्तिकारी थियेटर ने पूँजीवादी (व्यावसायिक) रगमच की शैली और वस्तु दोनो से अपने को मुक्त करना चाहा——मुक्त ही क्यो प्रतिक्रियावश उसकी शैली के सद्गुणो का भी बहिष्कार कर दिया। उसके सगठन कर्त्ताओ का विश्वास था कि एक क्रान्तिकारी थियेटर के अन्दर प्रचार वृत्ति की प्रधानता ही मुख्य चोज है और कलाहीनता तथा अभिनय की अकुशलता ही उसका विशिष्ट एव स्वाभाविक गुण है। यह परिस्थिति अधिक दिनो तक न रह सकती थी, न रही, और वहाँ क्रान्तिकारी थियेटर मे भी कला ने अपना स्थान प्राप्त कर लिया। इस थियेटर ने हजारो मजदूरो मे नाटक देखने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी, मजदूर-सघो से थियेटर का सम्बन्ध स्थापित कर दिया। वहाँ के क्रान्ति-कारी थियेटर की एक विशेषता यह भी थी कि उसने ऐसे चलते-फिरते थियेटर स्थापित किये थे जिनमे रगमच की तडक-भडक नही रहती थी, केवल छोटे-छोटे व्यग-प्रहसन खेले जाते थे, शिक्षित पात्रो की आवश्यकता भी नही पडती थी, साधारण मजदूर ही कही भी इकटठे होकर अभिनय कर लेते थे। वैसे बडे-बडे नाटक थियेटर-हॉल के अन्दर ही खेले

जाते थे। इन नाटको का प्रभाव सीधा और तीव्र होता था। इन नाटको के कथानक मजदूरो के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले होते थे। अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक लाउसन, डॉसन, पैसॉस, माइकेल गोल्ड, वेक्सले, पीटर मार्टिन, स्क्लार क्लिफ़ॉर्ड ऑडेट्स आदि इन नाट्यशालाओ के लिए नाटक लिखने और उनका अभिनय करने मे पूरी सहायता देते रहे है।

चीन मे क्रान्तिकारी जन-नाट्यशाला का जन्म और विकास बिल्कुल भिन्न परिस्थितियो मे हुआ। चीन एक कृषि-प्रधान देश है—अशिक्षित, पिछडा हुआ और अन्धविश्वासो मे डूबा हुआ। उसकी समस्याएँ बहुमुखी है। लेकिन जापानी साम्राज्यवाद के आक्रमण ने वहाँ की सोयी हुई जनता मे चेतना और आत्माभिमान की एक क्रान्तिकारी लहर दौडा दी, उसमे ऐक्य और सगठन पैदा कर दिया, और वह दैत्य की तरह आक्रमणकारी का मुकाबला करने के लिए उठ खडी हुई। इस कार्य मे क्रान्तिकारी नाट्यशाला ने बडा सराहनीय हिस्सा लिया है। चीन की क्रान्तिकारी नाट्यशाला एक साथ ही आज जापान विरोधी भावना, शिक्षा, नवजाग्रति और सगठन की विद्युत-केन्द्र बन गयी है, जहाँ से आम जनता के हृदयो मे आधुनिक जीवन की प्रकाश-रेखाएँ पहुँचायी जाती है और उनके जापान-विरोधी निश्चय को दृढ बनाया जाता है। इस समय चीन के सभी क्रान्तिकारी नाटको का मौजूदा चीन-जापान युद्ध से जरूर सम्बन्ध रहता है, क्योकि यही इस समय वहाँ की सबसे बडी वास्तविकता है। शहरो मे कॉलेजो के प्रोफेसर, नाट्यकार, कवि, सिनेमा के अभिनेता और अभिनेत्रियाँ इन नाटको के लिखने और अभिनय करने मे मदद दे रहे है, और गाँवो मे नौजवानो की नाटक-मडलियाँ जिन्हे चीन मे Jen Min-kang Erh-Chu-She अर्थात् 'जनता की जापान-विरोधी नाटक-समिति' कहते है—जिले-जिले और गाँव-गाँव मे क्रान्तिकारी नाटक खेलती फिरती है। शहरो के नाटको मे तो टिकट लगाया जाता है, और उसकी आय चीन के युद्ध-फण्ड मे दे दी जाती है, लेकिन गाँवो मे टिकट नही रहता। गाँवो के नाटको मे पर्दे वगैरह भी नही होते और वे मैदान मे खेले जाते है। तीन घण्टे के प्रोग्राम मे मुख्य नाटक के अतिरिक्त प्रहसन, व्यग्य और क्रान्तिकारी नृत्य और सगीत भी रहता है। वहाँ 'आक्रमण', 'मचूरिया-विजय' और '१८ सितम्बर से' आदि उपनाटक बहुत प्रसिद्ध है। उनके शीर्षक से ही पता लग जाता है कि चीन-जापान युद्ध की मुख्य-मुख्य घटनाओ से उनका सम्बन्ध है। इनमे जापानी आक्रमण के असली दुष्परिणाम, जापानियो के पाशविक अत्याचार, चीनी जनता के ऐक्य और निश्चय के सुन्दर दृश्य रहते है। क्रान्तिकारी नृत्य इन नाटको के प्रभाव को और भी बढा देते है। लाल चीन मे 'सयुक्त-मोर्चा नृत्य' और 'लाल मशीनों का नृत्य' बहुत प्रचलित है। इनमे जापानी आक्रमण के विरुद्ध जनता के सयुक्त मोर्चे और भावी लाल चीन मे उद्योगीकरण होने से उत्पन्न सुख-समृद्धि की कल्पना के दृश्यो का प्रदर्शन रहता है। इन नाटको मे निरर्थक बाते नही रहती, बल्कि चीनी जनता के मौजूदा जीवन से सम्बन्ध रखने वाली बाते होती है, जिनके द्वारा उसके हृदय मे उठने वाले प्रश्नों और सन्देहो का सन्तोषप्रद उत्तर दिया जाता है, उसकी अकर्मण्यता, उसके अन्धविश्वासो

को तोडकर उसे जनता के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के वास्ते लडाई के लिए तैयार होने को प्रेरित किया जाता है। इसमे सन्देह नही कि इन नाटकों ने चीन की जनता को न्याय, शान्ति, स्वतन्त्रता और समानता के एक भावी जीवन की कल्पना प्रदान की है। इन नाटको मे उच्च कला का अभाव रहता है, लेकिन उनकी कला इसी मे निहित है कि वे आज चीन की विशाल मूक जनता की कल्पना मे जीवन की सम्भावनाओ की एक नयी दुनिया बसा रहे है, उनमे आजाद रहने का निश्चय भर रहे है। चीन जिन परिस्थितियो मे फँसा है उनमे एक ऊँची-से-ऊँची कला का लक्ष्य इससे ज्यादा ऊँचा नही हो सकता। यह बात नही है कि चीन के महान् कलाकार 'शाश्वत गीत' रचने के लोभ मे इस महान् जागरण के प्रति उदासीन हो, या अशिक्षित ग्रामीणो के लिए उनकी ही भाषा मे नाटक लिखने से विमुख होते हो। नही, ठीक इसके विपरीत चीन के महान् आलोचक और प्रसिद्ध लेखक इन नाट्य-समितियो के लिए नाटक लिखने मे पूरा सहयोग दे रहे है।

सक्षेप मे इन उदाहरणो से तीन बाते स्पष्ट है—पहली तो यह कि वहाँ जन-नाट्यशाला की उपयोगिता और महत्त्व के प्रति प्रगतिशील लेखक सचेत है और अपने-अपने यहाँ की विशेष परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर जन-नाट्यशालाओ का विकास कर रहे है, दूसरी यह कि इन जन-नाट्यशालाओ के नाटको मे राजनीतिक नाटको की प्रधानता रहती है, तीसरी यह कि श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कलाकार और नाटककार इस प्रकार के नाटक लिखने मे लज्जित ही नही होते वरन् पूरा उत्साह दिखाते है।

अन्य देशो की जन-नाट्यशालाओ के अनुभव को दृष्टि मे रखकर अब हमे भारतीय रगमच की वर्तमान दशा और उसके भावी रूप पर विचार करना चाहिए।

प्राचीन भारत मे नाट्यशाला का चाहे जो स्थान रहा हो, लेकिन आधुनिक युग मे तो उसकी उपेक्षा ही की गयी है। वैसे बगाल, सयुक्तप्रान्त, महाराष्ट्र, आन्ध्र तथा अन्य प्रान्तो मे पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही रगमच स्थापित करने की कोशिशे हुई है किन्तु वे अधिक सफल नही हो सकी है—कम-से-कम वे एक जन-नाट्यशाला का निर्माण करने मे एकदम असफल हुई है। इन रगमचो का उद्देश्य व्यावसायिक अथवा अधिक-से-अधिक समाज सुधार ही रहा है, उन्होने कभी ग्रामीण जनता मे जाग्रति और शिक्षा फैलाने का उद्देश्य सामने रखकर कार्य नही किया, इसी कारण वे टिकाऊ भी न हो सके और व्यावसायिक क्षेत्र की अराजकता के शिकार होते रहे। कहने का तात्पर्य यह कि ये सब रगमच जनता से 'प्राण-सम्बन्धित' न होकर नगरो के पूँजीपति वर्ग और उच्च मध्यवर्ग की भावनाओ और विचारधाराओ के विज्ञापन केन्द्र बने रहे।

उदाहरण के लिए महाराष्ट्र को लीजिए, क्योकि महाराष्ट्र मे रगमच का विकास बगाल को छोडकर अन्य प्रान्तो की अपेक्षा ज्यादा हुआ था। वहाँ सन् १८८० मे ही रगमंच की स्थापना हो गयी थी और स्वर्गीय अन्ना साहब किर्लोस्कर की देख-रेख मे पहले-पहल 'शकुन्तला' का अभिनय रगमच पर हुआ। उन दिनो समाज के आदर्शों के अनुसार स्त्रियो को रगमच से दूर ही रखा जाता था, अन्ध-विश्वास की पराकाष्ठा थी, अत. पुरुष

ही स्त्रियों का पार्ट भी अदा करते थे। जितने भी अभिनेता थे वे सब गायक होते थे, इस कारण नाटक मे सगीत प्रधान था, अभिनय अथवा नाटक-कला एव विचार श्रेष्ठता नही। किर्लोस्कर-सगीत-मण्डली, जो अब नाटक-मण्डली बन गयी थी, ख्याति प्राप्त कर गयी। स्वर्गीय बाल गगाधर तिलक ने भी इस प्रयत्न की भूरि-भूरि प्रशसा की और अपना सहयोग प्रदान किया। इन नाटको की नाट्यकला साधारण थी, छ-सात घण्टे मे एक नाटक खेला जाता था, मेकअप साधारण होता था और लालटेनो और हन्डो की रोशनी होती थी। अन्ना साहब के बाद भाऊराव कोल्हटकर मण्डली के प्रधान हुए। अन्ना साहब के समय मे जितने नाटक खेले गये उन सबके कथानक सस्कृत के नाटको से लिये गये थ, किन्तु कोल्हटकर के समय मे श्री गोविन्द वल्लाल देवल का प्रथम सामाजिक नाटक 'शारदा' अभिनीत किया गया। यह बाल-विवाह और धन की लिप्सा के विरुद्ध था। इसका यही महत्त्व है कि इसमे सबसे पहले समाज की समस्याएँ पेश की गयी। इसके बाद श्रीकृष्णपाद कोल्हटकर आदि सामाजिक उत्थान के भावो से उत्प्रेरित नाटककार पैदा हुए और उन्होने मदिरा पान, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह की समस्याओ पर नाटक लिखे। ये समस्याएँ हमारे मौजूदा समाज की समस्याएँ है, किन्तु इन नाटको के पात्र, उनके चारो ओर का वातावरण महाराजो, महारानियो और राजप्रासादो से घिरा रहता था अर्थात् समाज के उन वर्गो मे जो कि आधुनिक समाज के गलित अग है। इस कारण कथानक मे रोचकता लाने के लिए प्रेम और प्रणय का वातावरण भी खडा किया गया, किन्तु ये नाटक प्रभावशाली न हो पाये। दूसरे, जनता मे नाटको की कोई पैठ न थी, वे केवल मध्यमवर्ग के मनोरजन के ही साधन थे। इस कारण उनका भावी विकास एक बडे सकरे रास्ते से होकर गुजर रहा था। यदि श्रीपाद कोल्हटकर के नाटको को तडक-भडकदार सेटिग, साधारण परिहास और कथानक मे रहस्य-तत्व न होते तो भाऊराव कोल्हटकर की मृत्यु के बाद, जो स्त्री का पार्ट बडी खूबी से अदा करते थे, किर्लोस्कर सगीत-मण्डली बैठ जाती।

इसके बाद और भी कम्पनियाँ खुल गयी, महाराष्ट्र-मण्डली और साहु-नगरवासी मण्डली इनमे से प्रमुख थी। इनकी विशेषता यह थी कि ये गद्य मे नाटक खेलती थी। महाराष्ट्र मण्डली ऐतिहासिक नाटक खेलती थी और साहु-नगरवासी मण्डली अग्रेजी नाटको के आधार बनाये नाटक खेलती थी। महारष्ट्र-मण्डली का एक नाटक 'कीचक-वध', जिसके लेखक तिलक महाराज के शिष्य के० पी० खाडिलकर थे, सरकार ने जब्त कर लिया था, क्योकि उसमे राजनीतिक बातो का भी समावेश था। ये दोनो कम्पनियाँ क्रमश सन् १९३० और सन् १९१७ मे समाप्त हो गयी।

इस बीच मे दो महान् अभिनेता उत्पन्न हुए। एक केशवराव दाते और दूसरे किर्लोस्कर मण्डली के बालगन्धर्व। इन दोनो अभिनेताओ के कारण महाराष्ट्र के रगमच मे एक नया जीवन आ गया। कुछ दिनो बाद बालगन्धर्व ने अपनी अलग कम्पनी खोली—गन्धर्व नाटक-मण्डली। खाडिलकर और रामगणेश गडकरी आदि नाटककारों के नाटक

अत्यन्त प्रसिद्ध हो गय। बालगन्धर्व स्त्री का पार्ट करते थे। उन्होने साडियाँ पहिनने के नये-नये फैशन निकाले जो कि बम्बई के कुलीन समाज मे प्रचलित हो गये। वे मेकअप के लिए पैरिस से सामान मँगाते थे, अत वेष-भूषा और साज-सज्जा के कारण उनके नाटक उच्चवर्गो मे इतने सर्वप्रिय हो गये कि उन्हे डेढ लाख रुपए की वार्षिक आय होने लगी।

सन् १९२९ से स्त्रियाँ भी रगमच पर आने लगी। प्रारम्भ मे वेश्याएँ ही अधिक होती थीं, शिष्ट समाज की एक-दो ही। अब नाटक स्त्रियो के बल पर चलाये जाने लगे, कलाकारो की ओर उतना ध्यान न दिया गया। इस कारण ये कम्पनियाँ एक-एक कर टूटने लगी और जब सवाक् फिल्मे चल निकली तो रगमच की रीढ ही टूट गयी। यहाँ तक कि दो-एक वर्ष के लिए बालगन्धर्व भी फिल्मो मे काम करने चले गये। सन् १९३६ से वे फिर अपनी नाटक-मण्डली चला रहे है, लेकिन अब उसमे उतनी सफलता नही मिल रही।

यह तो महाराष्ट्र का हाल है जहाँ का रगमच एक क्रम-बद्ध इतिहास का दावा कर सकता है। हमारे हिन्द प्रान्त मे तो रगमच के विकास के लिए इतना भी नही हुआ है।

महाराष्ट्र के रगमच के विकास और ह्रास का वर्णन पढकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि—

(अ) रगमच उच्चवर्गो की रुचि और मनोरजन का विचार कर उन्ही वर्गो की विचारधारा के अनुकूल नाटक खेलता रहा,

(ब) आधुनिक जीवन की समस्याओ पर किसी क्रान्तिकारी सिद्धान्त का आधार लेकर उसने आक्रमण नही किया,

(स) उसका उद्देश्य व्यवसायिक था, सास्कृतिक चेतना फैलाना नही,

(ड) उसके ह्रास का मुख्य कारण यह था कि उच्चवर्ग सवाक् चित्र-पट की ओर झुक गये, अत रगमच का दर्शक-वर्ग उसके हाथ से निकल गया,

(ई) सवाक् चित्रपट ने रगमच से बाजी इस कारण मार ली कि रगमच मे कृत्रिमता और व्यर्थ साज-सज्जा ही अधिक थी, कला अथवा जीवन की अभिव्यजना कम। वह केवल अभिनेता-प्रधान था, ललित कलाओ के समन्वय का स्थान नही। सवाक् चित्रपट की खूबी यह थी कि वह उस रगमच की सस्ती और छिछली कला को उससे कही-ज्यादा बडे पैमाने पर दिखा सकता था, इस कारण रगमच के अस्तित्व की आवश्यकता न रही।

यहाँ पर इतने ब्यौरे मे जाने की आवश्यकता इसलिए पडी कि आजकल जो लोग भारतीय रगमच के पुनरुद्धार की चर्चा करते है, उनकी कल्पना मे ऐसे ही वर्ग-रगमच की एक आदर्शपूर्ण तसवीर रहती है। मेरा विचार है कि इस प्रकार के प्रयत्न चाहे कुछ दिनो के लिए सफल हो जाये किन्तु वे एक स्थायी रगमच नही कायम कर सकते, और ऐसा सम्भव भी हो जाय तो वे जन-नाट्यशाला की नीव नही डाल सकते—ऐसी नाट्यशाला की जो जनता की आध्यात्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति करती हो। वे केवल व्यवसाय के क्षेत्र ही बन सकते है, अत कला की उन्नति कहाँ तक कर सकते है यह सदिग्ध है।

इसलिए हम जिस जन-नाट्यशाला की कल्पना करते है वह पारसी कम्पनियों की

परिपाटी को लेकर नही चल सकती और न उच्चवर्गों की रुचि का विचार कर मानसिक-वेश्यालय का केन्द्र बन सकती है। उसे पूर्व-निर्दिष्ट जन-आधार पर ही खडा होना होगा और जन-सस्कृति को परिमार्जित और परिष्कृत कर उसे सौन्दर्य और सौष्ठव प्रदान करना होगा।

मेरी सम्मति मे भारत की जन-नाटचशाला का नाम 'राष्ट्रीय जन-नाटचशाला' (People's National Theatre) होना चाहिए। भारत की सबसे बडी हकीकत उसकी राष्ट्रीय आजादी की लडाई है, इसलिए यहाँ की नाटचशाला 'राष्ट्रीय' होकर भी प्रगतिशील, क्रान्तिकारी हो सकती है। इस राष्ट्रीय जन-नाटचशाला की रूपरेखा क्या होगी, उसका सगठन कैसे होगा ?

मेरा अपना विचार है कि अभी हमे अपनी 'राष्ट्रीय जन-नाटचशाला' के दो भाग करने पडेगे। एक नगरो की निम्न मध्यवर्गी जनता के लिए, दूसरी किसान-मजदूरो के लिए, क्योकि दोनो की समस्याएँ एक होकर भी दो भिन्न रूपो म हमारे सामने आती है। पहले हम किसान-मजदूरो की नाटचशाला की रूपरेखा पर विचार करेगे।

किसान-मजदूरो की नाटचशाला का महत्त्व इस बात मे निहित होगा कि वह किसान-मजदूर जनता मे केवल चेतना—वर्गचेतना—ही नही उत्पन्न करेगी वरन् उसके लिए एक शिक्षा का केन्द्र भी होगी। मै ऊपर मौजूदा ग्राम्य-नाटचशालाओ का जिक्र कर चुका हूँ। रामलीला, रासलीला, स्वाँग, भडैती, नौटकी आदि उनकी नाटचशालाएँ है। मेरा विचार है कि इनमे से नौटकी का विकास कर हम उसे राष्ट्रीय नाटचशाला का रूप दे सकते है।

कुछ लोगो को नौटङ्की पर आपत्ति हो सकती है। क्योकि इस समय वह कला की ही दृष्टि से निकृष्ट नही वरन् अन्य सभी दृष्टियो से दकियानूसी विचारो की पोषक और प्रतिक्रिया की सरक्षक है। किन्तु मेरी निश्चित धारणा है कि नौटङ्की मे विकास किया जा सकता है, उसकी अभिनय-कला और रूपक-शैली मे उन्नति की जा सकती है और प्रगतिशील-क्रान्तिकारी नौटङ्कियाँ लिखकर उनका अभिनय कराया जा सकता है। इसके अतिरिक्त मे नौटङ्की के माध्यम द्वारा जन-नाटचशाला की रूपरेखा इसलिए भी बनाने के पक्ष मे हूँ कि हमारे सामने इससे अधिक प्रभावशाली दूसरी शैली नही है। हम पूँजीवादी रङ्गमचो का वर्णन पढ चुके है और उनकी सीमाओ को भी जान गये है। हमारे पास न इतने साधन है कि व्यावसायिक रङ्गमचो की तरह वेश-भूषा और पर्दो पर पानी की तरह रुपया बहाये और न हमारे दर्शक ऐसे होगे जो गद्देदार कुर्सियो पर बैठकर ही खेल देखना स्वीकार करे। किसान-मजदूर जनता खुले मैदान मे बैठकर ही देखती आयी है। फिर नौटङ्की मे पर्दों की जरूरत नही पडती, मैदान मे या एक शामियाने मे चार-छ. तख्त बिछाकर या ऊँचे चबूतरे पर कपडा बिछाकर एक-दो गैसो की रोशनी मे पूरा अभिनय हो जाता है। बाजे भी बहुत कम लगते है—पूरा आर्केस्ट्रा रखने की कतई जरूरत नही—एक नगाडा, एक नगडिया, एक जोड़ी तबला, हारमोनियम और मजीरा, बस। नौटङ्की की

पहुँच भी किसान-मजदूर जनता तक बहुत ज्यादा है। यह उन्ही की चीज़ है और हमे जनता मे विशेष कर उन्ही कला-रूपो (art forms) का उपयोग करना चाहिए जो उसमे प्रचलित है, और जिनका उस पर प्रभाव है। राष्ट्रीय कला-रूपो मे प्रगतिवादी विचार-वस्तु (content) ही किसी भी क्रान्तिकारी जन-जागरण का उद्देश्य और कार्य-क्रम होगा।

आधुनिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले नाटको के लिए हमे ज्यादा वेश-भूषा बनाने की भी जरूरत न पडेगी, इस प्रकार बहुत सस्ते मे काम चल जायगा। इन जन-नाट्यशालाओ के लिए नौटकियाँ किसान मजदूर के दृष्टिकोण से ही लिखी जानी चाहिएँ। उनमे किसान-मजदूरो की मुसीबत, उनके दु ख-दर्द, उन पर होने वाले शोषण-अत्याचार, उनके सगठन-आन्दोलन-सघर्ष का चित्रण होना चाहिए। इसके साथ ही किसान-मजदूर-विरोधी शक्तियो---महाजन, जमीदार, कारकुन, पटवारी, अदालत, थानेदार, फोरमैन, मैनेजर, पूंजीपति और सरकारी अहलकार आदि---की हास्यास्पद व्यगपूर्ण तसवीर खीचने के लिए हमे गाँवो मे प्रचलित स्वाँग, विदूषक, भाँड, व्यग, मुद्रा आदि का भी प्रयोग करना चाहिए। नौटकियो को अधिक प्रभावोत्पादक एव जनप्रिय बनाने के लिए हमे उनमे लोक-सगीत और लोक-नृत्य को भी स्थान देना आवश्यक होगा। किसान-मजदूरो मे विरहा, कजली, आल्हा, साखी, चौताल, पूर्वी, कबीर, होली, फाग, कवित्त, सावनी, चैती, बिरौनी, जुतौनी, बुआनी, कतकी, शहनाई, कहरवा आदि अनेक प्रकार के गीत प्रचलित है जिन्हे वे अनेक ढग मे गाते है। कई इनमे से सामूहिक ढग से गाये जाते है। इन गीतो का उनके जीवन के विविध कार्यो से सीधा सम्बन्ध होता है, अत किसी भी जन-नाट्यशाला मे उनका प्रयोग महत्त्वपूर्ण होगा। इन्ही गीतो के छन्दो मे प्रगतिशील दृष्टिकोण से प्रगतिशील गीत लिखकर हम उन्हे रगमच से गा सकते है।

मथुरा जिले के प्रसिद्ध ग्राम-कवि श्री सात्यकि शर्मा ने कुछ क्रान्तिकारी चौमासे और बारहमासे लिखे है, जिनमे उन्होने किसानो के अनुभवो, आशाओ और निराशाओ का मार्मिक चित्र खीचा है। फरीदाबाद के ग्राम-कवि-सम्मेलन मे जब उन्होने ये चौमासे-बारहमासे सुनाये तो किसानो पर उनका जादू का-सा प्रभाव पडा। अत· ग्राम-कवियो की सहायता से हमे ऐसे गीत लिखने-लिखाने चाहिएँ। हम पहले ही देख चुके है कि अभी तक हमारी मजदूर-किसान जनता मे कविता-साहित्य ही प्रचलित है। अत इसमे सन्देह नही कि कुछ ही दिनो मे वे प्रगतिशील गीत उनकी जबान पर चढ जायेगे।

इन गीतो के साथ ये लोग अनेक प्रकार के बाजे भी इस्तेमाल मे लाते है, जैसे हुडक, मृदग, पखावज, ढोल, बाँसा, कडा चिकारा, तम्बूरा, रोशन चौकी, झाँझ, मजीरा, ताशा, तुरही, ढपला, खजडी आदि। हम उनका भी प्रयोग कर सकते है। गाँवो मे ये बाजे भी मिल जाते है, और उनके बजाने वाले भी। इन जनवाद्यो को एकत्र कर हम यदि एक जन-आर्केस्ट्रा की सृष्टि कर सके तो वाद्य-सगीत के विकास मे एक बडा कदम उठाएँगे। इसी प्रकार लोक-नृत्य का भी हम उपयोग कर सकते है। नाटक ही एक ऐसी कला है जिस में सभी ललित कलाओं का समन्वय होता है, अतः लोक-नृत्य, लोक सगीत, लोक-गीत

आदि से समन्वित जन-नाट्यशाला आज की नौटकी की तरह छिछली कला का प्रदर्शन न करेगी।

जन-नाट्यशाला का दूसरा अग वह होगा जिसके दर्शक अधिकाश मे नगरवासी निम्न मध्यवर्ग या मध्यवर्ग के उदार विचार-सम्पन्न व्यक्ति होगे। विद्यार्थी, वकील, डॉक्टर, दुकानदार आदि इसमे शामिल है। इनमे नौटकी न प्रचलित हो सकेगी। इसलिए यहाँ की नाट्यशाला का बहुत कुछ रूप वही होगा जो कि इङ्गलैड के यूनिटी-थियेटर का था। प्रारम्भ मे यूनिटी-थियेटर मे खेले गये नाटको के आधार पर लिखे नाटक खेले जा सकते है। अन्यथा नगरवासी जनता की समस्याओ पर लिखे मौलिक नाटक ही खेल जाने चाहिएँ। इसका यह अर्थ नही है कि किसान-मजदूर-जीवन की वास्तविकता उनमे दिखाई ही न जाय बल्कि आधुनिक समाज-व्यवस्था ने इस वर्ग के लोगो के लिए जो समस्याएँ उपस्थित करदी है––राजनीतिक, सामाजिक, व्यक्तिगत––उनके प्रदर्शन की ही प्रधानता होनी चाहिए। जहाँ तक सेटिग और मेक-अप का सम्बन्ध है वहाँ हमे सादगी से ही काम लेना आपेक्षित होगा।

इन नाटको की शैली के बारे मे हमे दो-तीन बाते ध्यान मे रखनी आवश्यक है। पहली यह कि हमे अपने नाटको मे 'क्लासिकी' शैली एकदम नही छोड देनी चाहिए। हाँ, नाटकीय सघर्ष का तरीका बदल जायगा। यह एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से व्यक्तिगत सघर्ष न होगा और न यह सघर्ष मशीन-जनित आधुनिक सस्कृति को गर्हित-वर्जित साबित कर प्राचीन आर्य अथवा मध्यकालीन मुगल सस्कृति की महत्ता प्रतिपादित करने के लिए नवीन और पुरातन मे सघर्ष होगा। इन नाटको मे दो शक्तियो के परस्पर सघर्ष का चित्रण होगा . प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील। इस सघर्ष का एक सामाजिक उद्देश्य होगा, सामाजिक निश्चय होगा, और उसी के आधार पर सकट (crisis) का विकास होगा। किसी सामाजिक या राजनैतिक परिस्थिति का चित्रण करके ही यह सघर्ष दिखाया जा सकता है। व्यग, विद्रूषक और प्रहसन इस सघर्ष के विकास मे सहायक होगे। इसलिए उनका प्रयोग इन नाटको मे रहेगा।

यह मोटे तौर पर हमारी जन-नाट्यशाला की रूपरेखा हुई। इसका निर्माण कैसे होगा, उसके लिए नाटक कहाँ से आयेगे, अब यही सवाल रह जाते है। यह तो निर्विवाद है कि जन-नाट्यशाला का जो रूप हमने निर्दिष्ट किया है उसमे विश्वास रखने वाले व्यक्ति या सस्थाएँ ही उसका निर्माण कर सकती है। प्रगतिशील लेखक-सघ, विद्यार्थी-सघ, मजदूर-यूनियन और किसान सभाएँ मिलकर इस सास्कृतिक कार्य को उठा सकते है और एक राष्ट्रीय-जन-नाटक समिति (Peoples' National Dramatic Society) कायम कर सकते है जिसमे कवि, लेखक, नाट्यकार और सगठनकर्ता और प्रगतिशील विचारो के अन्य व्यक्ति रखे जायँ। इस नाट्यशाला के स्थापित करने और उसके लिए सारे उपकरण साधन जुटाने का भार इस समिति के ऊपर रहे। प्रारम्भ मे किसी एक नगर और जिले मे उसकी स्थायी रूप से स्थापना की जाय। उसके पश्चात् विभिन्न स्थानो के उत्साही

कार्यकर्त्ताओ और अभिनेता-अभिनेत्रियो का नाट्यशाला-सम्बन्धी एक शिक्षा-शिविर खोला जाय। यदि एक नगर और एक जिले मे यह योजना सफल हो गई तो हर जगह की जनता मे जन-नाट्यशाला के प्रति उत्साह उमड पडेगा और इसकी शाखाएँ आसानी से स्थान-स्थान पर खुल सकेंगी।

जन-नाट्यशाला की स्थापना करना साधारण कार्य नही है। एक-दो नगरो और जिलो मे ही उसे स्थापित कर सन्तोष नही किया जा सकता, क्योकि हम पहले ही देख चुके है कि जन-नाट्यशाला को भारत के तीस-पैंतीस करोड किसान-मजदूरो के आध्यात्मिक एव मानसिक विकास का गुरुतर भार उठाना होगा, यदि हम वास्तव मे उसे जन-नाट्यशाला बनाना चाहते है। अत प्रबुद्ध व्यक्तियो और प्रगतिशील सस्थाओ की शक्ति का प्रत्येक तोला उसके निर्माण मे लगना चाहिए।

—फरवरी, १९३९

१६

मानव-आत्मा के शिल्पियों से---

(१)

दूर कही, शायद छावनी का सन्तरी अपने ओवरकोट के कालर को कानो तक खीचता हुआ बारह का घण्टा बजा रहा है, जिससे गहन रात की निस्तब्ध दिशाएँ गूंज गई है।

दिन भर नीले कोहरे की झीनी चादर से छनकर नीचे उतरी रेशम-सी मुलायम धानी रग की धूप पहाडियो और मैदानो पर अलसाई-सी निश्चेत लेटी रही थी---उसमे रक्त को उत्तेजित करने वाली गरमी न थी, पर एक ठिठकी हुई मन्द सुनहरी स्मिति और आभा तो थी ही, जो नेत्रो को सुखद लगती थी।

शाम को भी ऊँचे हिम-शिखरो से उतर कर बोझल बर्फानी बादलो ने घाटी पर अपना सघन वितान नही ताना और खुले आसमान से सितारो की सर्वज्ञ आँखे कोहरे की घनी चादर के आर-पार झाँकती रही। गोपादरी की सूच्याकार पहाडी के शिखर पर स्थित शकराचार्य मदिर का आकाशदीप निरावरण टिमटिमाता रहा, और तारो भरे आकाश की पृष्ठभूमि पर पहाडी का त्रिभुज काला और भीमकाय रूप धारण करता गया।

एक महीने से यहाँ के पहाड, पेड-पौधे और खेत अपना फूल-पत्तो का वस्त्राभरण उतार कर बरफ की शुभ्र, निर्मल चादर ओढने के लिए सरनगू खडे है और कोहरे, पाले और शीतवायु के झकोरो से ठिठुर रहे है। औरतो ने खिजा के मौसम मे सरदियो के लिए सुखाई मिर्चों और मछलियो की गुच्छियाँ बारजे से उठाकर कब से कमरो मे टाँग दी है, जिन पर बुलबुले फुदकती फिरती है। लेकिन वह स्निग्ध, दूध से धोई चाँदनी अभी तक जमीन पर आकर नही सोई, जिसकी पुरनम भरकती गोद मे क्यारियो की मिट्टी के नीचे मुंह छिपाये पडे गेहूँ, सरसो और अलसी के बीज प्रस्फुटित और अकुरित होने के लिए बसन्त के सूरज की जीवनदायी किरणो का इन्तजार करते है। जिसके कोमल वक्ष पर अपने फटे सूती पैरहन के नीचे काँगडी उठाये गरीब कश्मीरी जनता के गुलाब की कली जसे सुन्दर बच्चे किलकारियाँ मारते हुए नंगे पाँव कुचाले भरते है, लोट-पोट होते है और अपने नन्हें-नन्हें हाथों से अपनी अटपटी, अबोध, सुकुमार कल्पना की विचित्र मूर्त्तियाँ बनाते है, और उनके उल्लसित गोरे-गोरे गाल सेव की तरह लाल हो जाते है! जब कमरे मे बन्द होकर बैठना एक गुनाह लगता है और कुमारी के गात के समान कोमल और अछूते बरफ पर क्षितिज के ओर-छोर तक अपने पद-चिन्हों की अटूट पाँत अकित कर देने की इच्छा

दुर्दमनीय हो जाती है, जब बाहर की पुरसकून, अथाह शान्ति मन पर उन्माद बनकर छा जाती है ! · पर अभी तक बरफबारी नही हुई और घण्टे की टन-टन ने घोषणा करदी है कि पुराना साल बीत गया और अब नया साल शुरू हो गया है !

बीसवी सदी के मँझधार मे खडा आज मैं अपने उन असख्य देशवासियो के, जिन्होने अपने दीर्घ, कठोर जीवन की अनुभवी प्रौढ आँखो से पिछले पचास वर्षों के अविराम सघर्ष की विडम्बनाओ को देखा और झेला है——और उन असख्य नौनिहालो के, जो पचास साल के बाद इस शताब्दी के अन्त पर मानव की अन्तिम विजय का उत्सव मनायेगे——और अपने-आपके जैसे उन असख्य नौजवानो के, जिन्होने न शताब्दी का आरम्भ देखा और न अब उसका अन्त देखेगे, पर जिन्हे अब तक विकट-सघर्ष करना पडा है और आगे भी बहुत सघर्ष करना है——मैं अपने उन असख्य देशवासियो के, जिनमे किसान है, मजदूर है, विद्यार्थी है, निम्न-मध्यवर्ग के नौकरी पेशा अवाम है, कारीगर और दस्तकार है, छोटे-मोटे व्यापारी और दुकानदार है, प्रोफेसर और अध्यापक है, डाक्टर और वकील है, समाज शास्त्री और वैज्ञानिक है, जो बगाली या आसामी है, उत्कली या बिहारी है, कनारी या मलयाली है, तामिल या तेलुगु है, महाराष्ट्री या गुजराती है, हिन्दुस्तानी या राजस्थानी है, पहाडी या पजाबी है, डोगरे या कश्मीरी है, बल्ती या लद्दाखी है, जो हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, बौद्ध, जैन, ईसाई है या मेरे सरीखे केवल मानववादी है, जो भौतिक साधनो के उत्पादक है या जो नैतिक और सौन्दर्य-मूल्यो के निर्माता है, जो मानव-समाज के मेमार है या जो मानव-आत्मा के शिल्पी है——मैं अपने इन असख्य मेहनतकश देशवासियो के गरम-गरम हृदय की समवेत धडकने सुन रहा हूँ, और देख रहा हूँ, उनकी आँखो की वह मानव दर्प से पैनी दृष्टि जिसकी अथाह गहराइयो मे निरतर के सघर्ष, दु ख-दर्द, दमन, शोषण की यातनाओ का सवेदन है, और उनकी वह सहज स्नेहशील, हार्दिक चितवन जिसमे प्रिया के आलिगन की मादक स्मृतियाँ अकित है, शिशु की अस्फुट मुस्कान झूलती है, और एक दोस्त की सहानुभूति का अमृत है ।

पिछले पचास वर्षो मे दुनियाँ मे या हमारे देश के जीवन मे कितने परिवर्तन आये, मनुष्य की गुलामी को चिरतन बनाने के लिए साम्राज्यो ने कितने भयानक प्रपच रचे, कितने सहारकारी नरमेध कराये और इसके विपरीत देश-देश की जनता ने सजग होकर पूँजीवादी दासता की काल-रात्रि का अन्त करने के लिए कितने इन्कलाब किये, कितना सघर्ष किया, कितने देशों मे साम्राजियो को परास्त करके वह आजाद हुई, फिर उसने मानव-जीवन का कैसा और कितना पुनर्निर्माण किया——इस सारे घटना-चक्र का ब्यौरेवार लेखा-जोखा तैयार करने का अवकाश मुझे नही है । अपने देश के असंख्य जनों की ये आँखे और उनके हृदय की धडकने जो मै देख-सुन रहा हूँ, बहुत संक्षेप में कहती है :

'इन पचास वर्षों मे इन्सान ने अपनी आजादी हासिल करने के लिए जितनी कुर्बानी दी है, उतनी कुर्बानी अपने तीन-चार हज़ार साल के इतिहास मे कुल मिलाकर भी नही दी । और इन पचास वर्षों मे जनता ने अपने दुश्मनों पर जितनी महान विजयें प्राप्त की

है, उतनी महान विजये भी उसने अपने इतिहास-काल मे कभी नही प्राप्त की, जिससे जनता ही आज सर्वशक्तिमान है। 'जनता आज अजेय है।'

इन तीन सरल वाक्यो मे पिछले पचास वर्षो का सम्पूर्ण लेखा-जोखा है, जिसमे मानव-इतिहास की समस्त सघर्ष-वेदना, समस्त आशावादिता, सकल्प, विश्वास और आकाक्षा अकित है।

'जनता आज अजेय है'——यह मनुष्य के रक्त-स्वेद से निर्मित सभ्यता-सस्कृति के सरक्षक, प्रहरी की गगन-भेदी ललकार है!

'जनता आज अजेय है'——यह दुनियाँ का आज सबसे बलशाली सगीत है, सबसे हसीन नगमा है।

इसकी वरद-छाया मे ही आज इन्सान के और तमाम हसीन नगमे पलते है, फलते-फूलते है और जवान होते है——दुनिया का अमन, गुलाम कौमो की आजादी का सघर्ष, आजाद देशो मे मानव-समाज का जनवादी नव-निर्माण; देश-देश की जनता की परस्पर दोस्ती, भाई-चारा, प्रेमभाव, मनुष्य की प्राचीन सभ्यता-सस्कृति की सजीव-सप्राण पर-म्पराओ की सुरक्षा, मानव-आत्मा के वर्तमान शिल्पियो द्वारा नई कला, सस्कृति, साहित्य और जीवन-मूल्यो का नव-नव निर्माण, जाति-धर्म, रग-नस्ल, छूत-अछूत के अमानवीय, फूट और कलह पैदा करने वाले भेद-भाव मिटाकर पारस्परिक सहयोग, सहिष्णुता और बराबरी के मानवीय सिद्धान्तो पर आधारित जन-जन की एकता, इन्सान-दोस्तो का आदर-सम्मान, बुजुर्गो का आराम, माताओ का वात्सल्य, ललनाओ की माग का सिदूर, बच्चो की पाठशाला, किसानो की खेती, मजदूरो का कारखाना, कलाकार का स्टूडियो, वैज्ञानिक की प्रयोगशाला, कवि के मार्मिक गीत, प्रेमियो के सुख-सपने, दोस्त की वफा-दारी——एक सच्चे मानव समाज के मानवीय समाज-सम्बन्ध, मानवीय जीवन-मूल्य, मान-वीय विकास-पथ——कितने महान, कितने हसीन नगमे है ये, जिन्हे आज की जागरूक अजेय जनता अपना अतुल रक्त-दान देकर परवान चढा रही है!

रक्त-दान देकर इसलिए कि अभी दुनिया मे चन्द साम्राजी, जगवाज, मौत के व्यापारी धनकुबेर भी है, जो इन हसीन नगमो के दुश्मन है——जो मनुष्य-मात्र के दुश्मन है; मनुष्य के परिश्रम, मनुष्य के निश्छल प्रेम, मनुष्य के अद्भुत सौन्दर्य, मनुष्य के गभीर सत्य और मनुष्य के गर्वीले स्वाभिमान के दुश्मन है, जो मनुष्य की सस्कृति, मनुष्य के स्वतन्त्र विचार, मनुष्य की कविता, मनुष्य के शिल्प, मनुष्य के ज्ञान-विज्ञान के दुश्मन है——सक्षेप मे जो इन्सान को इन्सान बनाने वाली हर चीज के दुश्मन है, जो कब्रिस्तानो की शान्ति के गाहक है और श्मशान की धधकती चिताओ की लपटो से अपने नेत्र शीतल करते है। ये लोग यह स्वीकार करने को तैयार नही है कि 'जनता आज अजेय है', क्योकि उन्होने सदियो से जनता को भेड-बकरी की तरह हाँका-दुत्कारा है। ये सर्व-ग्रासी, सर्व-भक्षी दानव केवल सत्य न्याय को ही सच्चा न्याय मानते रहे है और 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' को ही सबसे ऊँचा नैतिक-सिद्धान्त समझते आए है। मनुष्य की आह-कराह, हाय-

चीत्कार सुनने के शौकीन उनके कान, 'जनता आज अजेय है' जैसा नये मानव-सम्बन्धो की रागिनी का उत्प्रेरक सगीत गवारा नही कर सकते---और वे आज जंग की तबाहकारियो मे इस हसीन नगमे को गर्क कर देने पर तुल गये है। हर देश मे इस नगमे के इर्द-गिर्द मौत का घेरा डाला जा रहा है, फितने उठाये जा रहे है, जहर उगला जा रहा है। एटम बमो की बारिश से इन्सान की नस्ल को ही नेस्तनाबूद कर देने की हौलनाक धमकियाँ दी जा रही है।

लेकिन जग मे लडने के लिए 'लोग' चाहिए, एक दो नही, लाखो करोडो। और 'लोग' ही आज सचेत हो गए है और बिना जाने समझे, केवल फर्मान सुनकर ही कटने-मरने को तैयार नही है। लोग आज जगबाजो से पूछने मे समर्थ है कि उन्हे किस बात के लिए अपना कीमती खून बहाने को कहा जाता है ?

यह बहुत टेढा सवाल है। निश्चय ही साम्राज्यवादी डके की चोट पर अपने मानव-द्रोही उद्देश्यो का ऐलान करके, अपने लिए कही भी जनता का सहयोग नही प्राप्त कर सकते। सचेत जनता मानवीय उद्देश्यो और लक्ष्यो के लिए ही अपना बलिदान देती है। अत जनता को अँधेरे मे रखने के लिए साम्राज्यवादी उद्देश्यो को महान जनवादी लक्ष्यो की वर्दी पहनाई जाती है। "दुनिया की कौमो की आजादी", "जनवादी सामाजिक जीवन", "पाश्चत्य सस्कृति" और "विश्व-शान्ति" की रक्षा का नारा देकर हथियार उठाने के लिए जनता को ललकारा जाता है। निस्सन्देह ये महान लक्ष्य है, परन्तु दुर्भाग्य से साम्राज्यी उद्देश्यो पर जनवादी लक्ष्यो की वर्दी फिट नही बैठती, क्योकि यह उसका असली लिबास नही है, और ट्रुमन और अचेसन जितनी चाहे वाक-चातुरी क्यो न दिखाये, उनके उद्देश्यो की असलियत अपना विकराल सर्वभक्षी 'सुरसा-रूप' छिपा नही पाती और विश्व की जनता को उत्तरोत्तर सावधान करती जाती है। जनता की यह जागरूकता ही साम्राज्यवादियो को अपने कुटिल उद्देश्यो की पूर्ति के मार्ग मे सबसे बडी रुकावट नजर आती है, जो हर दिशा मे बढकर उनके हाथ थाम लेती है। इस रुकावट को हटाये बगैर रेडियो से जहर मे बुझे आतिशी शब्दो के गोले दागे जा सकते है, पर हवाई जहाज से एटम बम नही गिराये जा सकते। फलत जनता की जागरूकता खत्म करने के लिए लेखको और कलाकारो को बडे-बडे प्रलोभन देकर खरीदा जा रहा है। अमरीका मे आज क्या हो रहा है, यह किसी भी विचारशील व्यक्ति से छिपा नही है।

दो-तीन दिन पहले का अखबार मेरे सामने है, जिसमे प्रकाशित एक खबर बताती है कि वहाँ के मनोवैज्ञानिको ने नई पुस्तके तैयार की है, जिनके द्वारा बच्चो को अब नये ढग से वर्णमाला सिखाई जायेगी। अर्थात् 'ए' से 'एटम' 'बी' से 'बम' और 'सी' से 'सिविल डिफेन्स' पढाया जायेगा। और इनकी तशरीह करते समय बताया जायेगा कि 'एटम बम' एक आतिशी बम है जो हवाई जहाज से गिराया जाता है और उससे बच्चे-बूढे-जवान सभी मर जाते है और मकान तबाह हो जाते है। और 'सिविल डिफेन्स' के मानी यह है कि जैसे ही 'सायरन' (भोपू) बजे वैसे ही बच्चों को पेट के बल चलकर पास की खन्दक

या 'शेल्टर' मे घुस जाना चाहिए नही तो उनके चिथडे-चिथडे उड जायेगे ! आगे के अक्षर खबर मे नही दिए है । सम्भवत. 'ई' से 'एनीमी' (दुश्मन), 'एफ' से 'फाइट' (लड या लडना), 'एम' से 'मर्डर' (हत्या करो या करना), 'आर' से 'रशियन' (रूसी) 'एस' से 'स्ट्रैन्गल' (गला घोट दो या गला घोटना)——कुछ ऐसी ही हौलनाक तशरीहे होगी ! और सम्भवत अबोध शिशुओ को इन वस्तुओ और क्रियाओ से परिचित कराने के लिए 'शिक्षा-प्रद' फिल्मो का प्रदर्शन भी साथ-साथ चलेगा ! इन सब बातो का अनुमान कर लेना अवास्तविक न होगा ।

मोटे तौर पर, मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रियाओ का अध्ययन करके सहज वृत्तियो, आवेगो और भावनाओ को अधिक मानवीय, सस्कृत और स्वस्थ बनाने वाले सामाजिक प्रभावो का निर्देश करना मनोविज्ञान का काम है । परन्तु ये मनोविज्ञानिक !

इन लकडबग्घो के घृणित मनोविज्ञान पर टिप्पणी करना भी किसी इन्सान का स्वाभिमान गवारा नही कर सकता । भय, हिसा, घृणा, हत्या, अपहरण, बलात्कार, जाति-द्वेष, छल, कपट, अहकार आदि पाशविक वृत्तियो और कृत्यो को मनुष्य-मात्र की सहज-वृत्तियाँ और वाछित कृत्य बनाने का स्वप्न देखने वाले, केवल अमरीका के ही नही, वरन् जहाँ-जहाँ साम्राजियो के चरण जमे है, वहाँ के भी तमाम लोगो को हिस्र, फाशिस्त दरिन्दो की जाति के रूप मे तबदील कर देना चाहते है, और उनके इस अन्तर्राष्ट्रीय दानवी षड्-यन्त्र की आज कोई सीमा नही । मानवीय विचार, नैतिक मर्यादा, मानवीय भाव, सास्कृतिक परम्परा, समाज सम्बन्ध, कला, दर्शन, विज्ञान——आज कोई चीज भी तो इन मौत के व्यापारियो के निकट सत्य और पुनीत नही है । मानव-आत्मा और मानव-विवेक की हत्या करके वहाँ पर एक विक्षिप्त, नरभक्षी कुम्भकरण को जगाना आज उनकी विध्वस योजना का अनिवार्य अग है । उनका दु स्वप्न कभी भी सफल नही हो सकता, क्योकि जीवन मृत्यु से अधिक बलवान है । परन्तु जीवन को खतरा तो है ही ।

(२)

बीसवी शताब्दी के मध्य लडा जाने वाला 'शान्ति' और 'युद्ध' की शक्तियो का यह 'विश्व-व्यापी-देवासुर-सग्राम' मनुष्य के भाग्य का अन्तिम निर्णयकारी सग्राम है ।

इस गम्भीर और नाजुक मौके पर मै अपने देश के तमाम जनवादी लेखको, विशेष-कर हिन्दी लेखको से——उनसे जो प्रगतिशील लेखक आन्दोलन मे भाग लेते रहे है, और उनसे भी जो इस आन्दोलन के कभी हमदर्द थे, पर आज नादान साथियो के उच्छृङ्खल और अप-मानजनक व्यवहार से खिन्न होकर स्वय दूर हट गये है, या हटा दिये गये है, या जो अनेक छोटे-मोटे सैद्धान्तिक विरोधों के कारण जानबूझ कर इस आन्दोलन से अलग रहे है—— आज मै एक मार्क्सवादी प्रगतिशील लेखक की हैसियत से आप सब बुजुर्गों और साथियों से बहुत कुछ निवेदन करना चाहता हूँ, और आपसे बहुत कुछ सुनना चाहता हूँ, क्योंकि 'मानव आत्मा के शिल्पी' होने के नाते 'शान्ति' और 'युद्ध' की शक्तियों के इस विकट सघर्ष मे हम मे से कोई भी तो तटस्थ नही है । फिर हम एक-दूसरे से दामन खींचकर क्यों बैठे

है ? यह स्वय एक गम्भीर परिस्थिति है। ऐसे समय स्पष्ट निवेदन न करना मानव-द्रोह होगा, क्योकि तब हमारे दिलो मे सन्देह और मनोमालिन्य, अनादर और अविश्वास के घातक कीटाणु छिपे-छिपे पलते रहेगे, और मेरी बातो मे परिस्थिति की गम्भीरता का आग्रह न होकर केवल शिष्टाचारी आडम्बर होगा। स्पष्ट बाते करके मै आपमे से किसी का दिल नही दुखाना चाहता, बल्कि आपके उस मानवीय विवेक को जगाना चाहता हूँ, जो कतिपय साथियो की क्षुद्रताओ और सकीर्णताओ से क्षुब्ध और आहत होकर स्वय भी क्षुद्र और सकीर्ण होता जा रहा है और हमारे बीच अलघ्य दीवारे खडी कर रहा है। निश्चय ही शिष्टाचारी आडम्बर या कुओ० मो० जो के 'साहित्य मे सयुक्त मोर्चा' सबधी लेख का अनुवाद छाप करके रस्म अदायगी के रूप मे अपनी 'असगतियो' का उडना-उडना हवाला दे देने मात्र से ये दीवारे नही गिरेगी। इसके लिए जरूरी है कि हम अपने गिरेबान मे मुँह डालकर देखे, ताकि व्यक्तिगत द्वेष, विवेकहीन आक्रोश, और क्षुद्र अहकार हमे फिर ऐसा सकीर्ण मतवादी न बना दे कि हम मूल बातो की उपेक्षा करके सिर्फ एक-दूसरे के मुख पर कालिख पोतना ही अपना परम क्रान्तिकारी कर्त्तव्य समझ बैठे। वर्तमान सघर्ष मे हम लेखको का सामाजिक दायित्व बढ गया है तो यह भी साफ है कि साहित्य-सस्कृति के क्षेत्र मे 'नौ कनवजिओ के तेरह चूल्हे' बनाकर हम इस महान दायित्व को पूरा नही कर सकते। इसके लिए जरूरी है कि इन चूल्हो के इर्द-गिर्द खिची कल्पित भेद भाव की लकीरो को लाघकर हम मुक्त-हृदय मे एक-दूसरे के निकट आये, एक-दूसरे को समझे, एक-दूसरे के कृतित्व का आदर-सम्मान करे, एक-दूसरे की ईमानदारी पर भरोसा रखकर ही केवल रचनात्मक आलोचना-प्रत्यालोचना करे और सद्भावना मे ही विचारो का आदान-प्रदान करे, एक-दूसरे की सूझ-बूझ से लाभ उठाये, एक-दूसरे के हमदर्द और हमनवा बने और इस महान दायित्व का भार उठाये, 'अमन, आजादी और जम्हूरियत' के इस महान सघर्ष मे एक-दूसरे से हम-कदम होकर शाना-ब-शाना आगे बढे।

यह एक लम्बा, दुखदायी प्रसग है। तीन साल से ज्यादा हो गये, तबसे मै काश्मीरी जनता की सास्कृतिक शक्तियो के सगठन मे इतना अधिक व्यस्त रहा हूं कि अपने साहित्य की बहसो मे भाग लेने का मुझे अवकाश नही मिला है। इस बीच दुर्भाग्य से 'प्रगतिशील लेखक आन्दोलन' मे 'कुत्सित समाज शास्त्रीयता' (Vulgar Sociology) के समर्थक साथियो का बोल-बाला रहा है, जिन्होने साहित्य और आलोचना के क्षेत्र मे बुद्धि-विवेक, वास्तविक जीवन के अनुभव और सिद्धान्त की मर्यादाओ को तिलाजलि देकर जो अकाण्ड-ताण्डव रचा है, उससे मै अपरिचित नही हूँ और मुझे मालूम है कि इससे न केवल प्रत्येक विचारशील लेखक और व्यक्ति तिरस्कृत और अपमानित महसूस करता है, बल्कि मार्क्सवाद और जन-हित को भी अपार क्षति पहुँची है। अपने कृत्यो के लिए उन्हे आज या कल प्रगतिशील भारतीय जनता और उसकी विभिन्न भाषाओ के साहित्य और हमारे इतिहास के सजगने स्वय उत्तरदायी बनना पडेगा, क्योंकि इनमे से कोई भी खोट और असत्य को अधिक समय तक न प्रश्रय दे सकता है न 'क्षमा बड़न को चाहिए छोटन को उत्पात' वाली

उक्ति के अनुसार विग्रहकारी 'उत्पात' के प्रति क्षमाशील ही बना रह सकता है, क्योकि मनुष्य के इतिहास को प्रगति करना है। अत इन साथियो की गुमराहियो से उत्पन्न दुष्परिणामो को जाँचना सार्थक होगा, ताकि उन्होने मार्क्सवाद और साहित्य के पथ मे जो विषैले काटे बिछाये है, उनको बीनकर फेक दिया जाये और इसको पुन तमाम जनवादियो के मिलन और सघर्ष पथ के रूप मे प्रशस्त किया जाये।

इतिहास की पृष्ठ-भूमि मे रखकर 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' की जन-सस्कृति विरोधी विचारधारा का हर पहलू से विवेचन जरूरी है, परन्तु यहाँ पर ऐसा करना विषयान्तर होगा। यहाँ मै केवल इसके कतिपय परिणामो का उल्लेख करके सावधान कर देना ही पर्याप्त समझता हूँ।

चार साल पहले 'साहित्य की परख' लेख मे मैने प्रगतिवाद के नाम पर डा० रामविलास शर्मा और अमृतराय द्वारा प्रतिपादित 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए लिखा था कि इन दोनो साथियो ने " व्यक्तिगत राजनीतिक रुचि और सामन्ती सस्कारगत पूर्वाग्रह के साथ कटूक्तियो, विद्रूपो और उपदेशो को ही मूल्य-निरूपण का साधन बनाया है," "अपने दृष्टिकोण की विसगतियो और अधकचरेपन के कारण आश्रय की खोज मे साम-दाम दड-भेद की पौराणिक नीति के अनुसार आग्रह-दुराग्रह, उपदेश, आदेश और फटकारो की झडी भी लगाई है और अन्त मे मार्क्सवाद की अज्ञानतावश कोई समन्वित साहित्य-सिद्धान्त प्रतिपादित करने मे अपने को असमर्थ पाकर---'विजयी-विश्व तिरगा प्यारा को श्रेष्ठ साहित्य न कहने की धृष्ठता कौन करेगा ?'---इस प्रकार की कटूक्तियो के सहारे राष्ट्रीय अवसरवादिता (chauvinism) को ही साहित्य के मूल्य निरूपण का चरम सिद्धान्त मान लिया है। इन लेखको और 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' के दल के अनेक कथित प्रगतिवादी लेखको की आलोचनाओ मे से ऐसे अगणित उदाहरण दिये जा सकते है, क्योकि वे जब प्राचीन लेखको के सम्बन्ध मे लिखते है तब उनके मापदण्ड कुछ होते है, जब जीवित लेखको के सम्बन्ध मे लिखते है तब कुछ और, और फिर लेखक-दर-लेखक, ये मापदण्ड बदलते जाते है। इसके अतिरिक्त देश की तीव्र गति से बदलती हुई परिस्थिति के साथ-साथ भी इन मापदण्डो को बदलना पडता है। परिणाम यह होता है कि एक लेखक जो कल तक प्रतिक्रियावादी था, आज किसी विशेष घटना के बारे मे एक तुच्छ रचना करके तुरन्त प्रगतिशील बन जाता है, दूसरा लेखक जो कल तक युग-प्रर्वतक था, इनकी दृष्टि मे एक प्रतिकूल रचना करके या केवल बातचीत मे ही प्रतिकूल विचार प्रकट करके युग-विध्वसक और प्रतिक्रियावादी बन जाता है।"

गत चार वर्षो मे इन साथियो ने दाये बाजू मे छलाग लगाकर बाये बाजू तक पहुँचने मे चाहे जसी कलाबाजी दिखाई हो, 'तिरगे झण्डे' को अकस्मात् 'तिरगे-कफ़न' बनाकर शब्दो का तिलिस्मी हेर-फेर करने मे एक ताश-तराश का-सा अद्भुत कमाल भी हासिल कर लिया हो; अपने साहित्य-सस्कृति तथा जनता-विरोधी मन्तव्यो को ही मार्क्सवादी अत: जन-हितकारी साबित करने के लिए मार्क्स-लेनिन-स्टालिन को बात-बात पर गवाह

के रूप मे अपने अष्टावक्र दिमागी चौखटे मे जबरन ला खडा कर 'सत्य' से 'असत्य' को प्रत्यक्षत प्रमाणित भी करा लिया हो, पर उनके साहित्यिक कृतित्व का परिणाम असलियत को झुठला नही सकता था। इतना ही नही, जो बात चार वर्ष पहले ही उनकी रचनाओ से सिद्ध थी, उसे आज इतिहास ने भी सिद्ध कर दिया है। उक्त निबन्ध मे इलाचन्द्र जोशी के 'कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' और रामविलास-अमृतराय के 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' वाले दृष्टिकोणो मे आन्तरिक साम्य प्रमाणित करके जिस 'मात्रा और दिशाओ के भेद' की ओर सकेत किया गया था, उसे इतिहास ने इस प्रकार उघाड कर रख दिया है कि इलाचन्द्र जोशी शब्दो मे साम्राज्यवादियो का समर्थन करते रहे है तो ये साथी अपने व्यवहार से जन-शक्तियो को कमजोर करके साम्राज्यवादियो के हाथ मजबूत करते आये है। नाक चाहे सामने से पकडिये, चाहे सिर के पीछे से हाथ घुमा कर—बात एक ही है, श्वास दोनो तरह बन्द होता है। इन साथियो ने उस चेतावनी से कोई सबक सीखना तो दूर, उल्टे 'मार्क्सवाद का दुश्मन' 'जनता का दुश्मन' 'इसका दुश्मन' 'उसका दुश्मन' 'सब का दुश्मन' का शोरगुल उठाकर शिवदानसिह चौहान को साहित्य की दुनिया से ही देशनिकाला देने का षडयन्त्र रचा और इस 'सत्य-कथन' पर चुपचाप कुण्डली मारकर बैठ गये। ये दोस्त अपने क्षुद्र अहकार को फुला-फुलाकर इतने बौराये कि दोस्त-दुश्मन, भले-बुरे की तमीज करना भूल गये, और उन्होने जनून मे भरकर गाली-गलौज, धमकियो और अनर्गल प्रलापो से ऐसा दम घोटने वाला विषाक्त वातावरण पैदा किया कि उसमे जन-जीवन और साहित्य के वास्तविक प्रश्नो पर रचनात्मक दृष्टि से विचार करना दुर्लभ हो गया।

दूसरी तरफ, वास्तविकता का एकागी, पिष्टपेषणकारी, उथला-पुथला, वस्तु-सत्य के गम्भीर वेदन से अछूता, जीवनानुभव से असगत, भाव-रूप-रग-हीन, विलावस्ता चित्रण करके उन्होने केवल कुघड, 'घामलेटी' साहित्य पैदा किया और बडे-बडे जनवादी सिद्धातो की चित्ताकर्षक तहो मे लिपटी, पर वस्तुत रुचि-वैचित्र्यवादी, अनैतिहासिक, अत अवसरवादी, प्रगतिवाद-विरोधी और सिद्धान्तहीन आलोचना ही लिखी।

मै स्वय क्षुब्ध हूँ, क्योकि इन साथियो की किस रचना को उठाकर विश्वास से कहूँ कि इसमे मेरे देश का जन-जीवन मूर्त-सम्पूर्ण-सक्रिय रूप से प्रतिबिम्बित हुआ है, इसे साहित्य मे गौरवशाली स्थान मिलेगा ? किस लेख को पढकर बताऊँ कि इसमे साहित्य और समाज की समस्याओ का हमारे देश की यथार्थ परिस्थितियो की पृष्ठभूमि को सामने रखकर वैज्ञानिक विवेचन किया गया है और वह किसी लेखक की रचना या साहित्यिक विचारधारा के कालगत-सामाजिक मूल्य को समझने मे सहायक होती है ? किस वस्तुगत आधार पर विश्वासपूर्वक कहूँ कि पिछले तीन-चार वर्षों मे इन साथियो की कविताओ और कहानियो मे कही भी वास्तविक जीवन का स्पर्श है, जो उनकी रचनाओ को कलात्मक बनाता हो, जिनसे जन-रुचि का परिष्कार होता हो, जो मानव-मन को उन्नत और उदात्त बनाती हो, जो जनता को अपने जीवन की वस्तु-स्थिति से परिचित कराके सघर्ष-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देती हो ? कैसे कहूँ कि उनकी आलोचनाओ ने लेखको को अपने सामा-

जिक दायित्व के प्रति सजग करके उन्हे एकता के सूत्र मे बाँधा है ? किस बुनियाद पर दावे कसूँ कि उन्होंने अपनी रचनाओ और लेखो से पिछले पाँच-सात वर्षों मे मानव-सस्कृति मे रत्ती बराबर भी सवृद्धि की है ?

इसके विपरीत, मार्क्सवाद और वर्ग-युद्ध के नाम पर उन्होने 'जन-साहित्य और सस्कृति' के निर्माण की समस्या का समाधान करने के लिए व्यवहारत जिस नीति को चलाया है उसका सार यह है कि कला की कलात्मकता, इतिहास की ऐतिहासिकता, जीवन-वास्तव की वास्तविकता और विज्ञान की वैज्ञानिकता से हमे आज प्रयोजन नही, क्योकि हम जन-क्रान्ति मे लगे है ! यह मार्क्सवाद नही, कोरा अबुद्धिवाद और अवसर-वाद है।

लोक-प्रिय जन-साहित्य के नाम पर और जनता की अशिक्षा और अज्ञानता की दुहाई देकर उन्होने 'श्रेष्ठ कलात्मक साहित्य' का प्रश्न उठाने वालो को 'शाश्वतवादी', 'रूपकवादी' आदि घोषित किया है, लेखको को अपनी 'प्रतिभा' अर्थात् 'वस्तु-सत्य की सवेदनशीलता' का हनन करके थोथे किताबी ज्ञान के आधार पर प्रेरणाहीन, निष्प्राण तुकी-बेतुकी रचनाओ मे राजनीतिक इश्तहार लिखने पर विवश किया है और इन रचनाओ का खूब ढोल पीटा है। पर जनता गरीब को इन 'जन-कवि' नामधारी महारथियो के हाथो भी ओस चाटकर ही अपनी साहित्यिक प्यास बुझानी पडी है।

प्रगतिशील लेखक सघ को अपनी साहित्यिक गुटबाजी का अखाडा बनाकर उन्होने पूरे जासूसी अन्दाजमे हर मास और हर पखवारे प्रगतिवाद, मार्क्सवाद, जनवाद आदि के दुश्मन लेखको की लम्बी-लम्बी सूचियाँ तैयार की है, उन पर 'कडी निगाह' रखने के लिए बाकायदे नोट किया है कि अमुक ने किस दफ्तर मे नौकरी पा ली है, किस प्रकाशक के यहाँ किताब छपा ली है और किसके यहाँ उठक-बैठक जमा ली है, और अन्त मे अपने 'वैज्ञानिक अनुसन्धान' से पूरी तरह सन्तुष्ट होकर कि उनके गुट के दोस्तो के अलावा और सारे लेखक मार्क्सवाद और जनता के दुश्मन है, उन्होने बडे गर्व-स्फीत स्वर मे 'राहुल साकृत्यायन, सुमित्रानन्दन पत, 'अज्ञेय' 'दिनकर', हजारीप्रसाद द्विवेदी, यशपाल, नरेन्द्र शर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बच्चन, उदयशकर भट्ट, देवेन्द्र सत्यार्थी, रामवृक्ष बेनीपुरी, शिवदानसिह चौहान आदि-आदि के नाम गिना कर इन जन-द्रोही मुजरिमो के गलो मे तख्तियाँ लटकाई है, जिनमे से किसी पर लिखा है 'टाटा-बिडला का एजेन्ट', किसी पर 'पूंजीपतियो का दलाल' किसी पर 'ईमानफरोश' किसी पर 'दैत्य' और किसी पर 'दानव' ! इन बेचारो को अन्त मे सजा क्या सुनाई जायेगी, इसका तो अनुमान ही लगाया जा सकता है, परन्तु एक नोटिस मे दी गई फाश्ती धमकी के आधार पर इतना तो निश्चित है कि "सब ऐसो को ठीक करेंगे मार-मार कम्युनिस्ट !" साहित्य की परम्परा के प्रति अपनी अपार श्रद्धा का प्रदर्शन करने के लिए ये साथी इस बीच महमूद गजनवी और काश्मीर के सिकन्दर बुतशिकन की धर्मान्धता को भी मात देने वाले दर्प और दम्भ से चूर होकर साहित्य-मन्दिर की तमाम प्रतिष्ठित, सजीव प्रतिमाओ मे से किसी को 'लतियाते', किसी को 'धतियाते'

किसी की 'बखिया उधेडते' किसी को 'खदेडते', बस अपनी पहलवानी गदा घुमाते फिरे है, गरज यह कि उन्होने बडों-बडो के मान चूर कर दिये है, बडी-बडी मूर्तियाँ खड-खड करदी है, जो बची है उनमे से कुछ मुँह छिपाकर 'औधी पडी' है, कुछ 'आत्म-हत्या' करने वाली है, कुछ अपनी पुस्तके पेट से बाँधकर समुन्दर मे छलाग लगाने का मौका तलाश कर रही है। जो भी हो, यहाँ तो बारिश के बिना ही 'छुद्र नदी भरि चलि इतराई' का दृश्य है और कुत्सित समाज-शास्त्रीयता के लिए मैदान साफ किया जा रहा है। पर यह मार्क्सवाद नही विशुद्ध फाश्ती-भावना का अकुरित रूप है।

भाषा के प्रश्न पर भी 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के इन साथियो ने अपने खोखले किताबी ज्ञान का पाण्डित्य प्रदर्शन करके प्रगतिशील लेखक आन्दोलन मे एक ऐसी अन्धा-धुन्ध नीति को मनवा कर चलाना चाहा है जो साम्राज्य-दोस्तो को ही शक्ति पहुंचाती है, और जनता मे न केवल विग्रह और वैमनस्य के बीज बोती ह, बल्कि भविष्य मे एक 'महत्तर हिन्दुस्तानी जाति या राष्ट्र' के विकास की रामविलासी पूर्व-कल्पना के सदिग्ध आधार पर ही एक बडे भूभाग (बिहार, उत्तर-प्रदेश, मध्य-भारत और सम्भवत राज-स्थान आदि) की मातृभाषाओ का हक भी छीनती है और इस प्रकार इस समस्या का जन-वादी समाधान न होकर, यह सारी नीति जनहित-विरोधी है।

अन्त म ये दोस्त साहित्य मे 'कुत्सित समाज शास्त्रीयता' के गुट का इजारा और आधिपत्य स्थापित करने के लिए अपनी दुकान पर 'मार्क्सवाद' का साइन बोर्ड टाँग कर बैठ गय। जो प्रगतिशील लेखक इस गुट म 'मन-वचन-कर्म' से शामिल न थे, उनको 'घर का भेदी लका ढाये' की उक्ति के अनुसार 'सुधारवादी' घोषित करके पहले ही इन्होने निकाल दिया। इसके बाद दुकान चालू होने पर अगर किसी अन्य लेखक ने कभी चाह कर भी अन्दर कदम रखने की कोशिश की तो उसके साहित्य की पोटली मे से, चाहे आती हो या न आती हो पर इनकी नाके दूर से ही 'पराजयवाद', 'पलायनवाद', 'निराशावाद', 'छायावाद', 'राष्ट्रवाद', 'पुनरुत्थानवाद', 'अध्यात्मवाद' आदि की भयानक दुर्गन्धियो को सूंघकर सडने लगती थी, और वे उन्हे धक्के मार-मारकर अगल-बगल की जन-विरोधी विचारधाराओ के महलो तक खदेड आते थे! और जिन लेखको ने इनकी शोहरत सुनकर उधर से भूल-भटके भी गुजरने की जुर्रत नही की उनको कोसने मे कोर कसर रखने का तो प्रश्न ही नही उठता था। और इस 'सरापे' मे अपनी बात का 'वजन' बढाने के लिए उन्होने बडे-से-बडे लेखक की खिल्ली उडाई, उस पर फब्तियाँ कसी, व्यग्य किये, तीरोनश्तर से वार किये। और प्रतिक्रियावादी तो ये सब हुए ही। इन दोस्तो का स्वेच्छाचारी पूर्वग्रह इस सीमा तक बढा कि अपनी व्यक्तिगत रुचि अरुचि को आधार मानकर उन्होने जो नीति बरती उसका दुरगा स्वरूप यह था कि 'प्रेमचन्द को उछालो और शरत् को गिराओ', 'निराला को उछालो और पत को गिराओ'। जिसे उछालना है उसे एक धार्मिक की श्रद्धा से 'महान लेखक', 'महा मानव' और 'जनवादी विचारक' साबित करो। जिसे गिराना है उसे 'तुच्छ और घटिया लेखक', 'मधुबालाओ की आपाधापी' मे ही लगा रहने वाला

'लम्पट मानव' और 'प्रतिक्रियावादी विचारक' घोषित करते जाओ !—तात्पर्य यह कि बजाय इसके कि हमारे राष्ट्रीय सघर्ष के साथ-साथ विकासमान हमारे राष्ट्रीय नव-जागरण को अपनी महान रचनाओ से नया उन्मेष और नया उत्थान देकर भारतीय वाङ्मय को समर्थ और समृद्ध बनाने वाले इन मेधावी कलाकारो और कवियों की महत्ता के सामने ये साथी समान रूप से नमनशील होते और इतिहास की पृष्ठ-भूमि मे रखकर ही उनके साहित्य की उदात्त, ओजस्विनी, जीवन्त परम्पराओ का मूल्याकन करते, उन्होने अपनी रुचियो, पूर्वग्रहो और सम्भवत गुट के स्वार्थो को ही सर्वोपरि माना और इस भेद-नीति को चलाने के लिए समीक्षा-सिद्धान्तो को उठाकर ताक पर रख दिया। स्पष्ट है कि ऐसी नीति अर्ध-सत्यो पर ही आश्रित हो सकती है। इसके विपरीत, इन साथियो ने दुकान को अपनी [illegible] नामधारी जिन रचनाओ से सजाया वे सिर्फ बेजान तुकबन्दियाँ और प्रलापकारी कहानियाँ ही नही है, उनमे अधिकतर अर्थ-हीन, बे-सिर-पैर की हवाई चीजे है, और वस्तुत ऐसे मध्यवर्गी, प्रतिभाहीन, नक्कू-शाह (philistine) दिमागो की उपज है, जो जीवन की वैविध्यपूर्ण, विरोध-जन्य गति-शील वास्तविकता को मूर्त रूप मे देख-समझ ही नही सकते और जिनका विक्षिप्त मानस हमारे लोक-जीवन मे सर्वथा असम्पर्कित है। इसीलिए 'समाजवादी विषय-वस्तु और राष्ट्रीय रूप-विधान'—इस मार्क्सवादी सिद्धान्त को उलट कर ये साथी ऐसी रचनाएँ करते रहे, जिसकी टेकनीक और शैली तथा भाव-भूमि, वस्तु-चित्र, रूप-प्रकृति, सगीत-लय से समन्वित रूप-विधान राष्ट्रीय-जीवन और इतिहास के न होकर अन्तर्राष्ट्रीय—वह भी अत्यन्त कुघड-कॉस्मोपॉलिटन है, और जिसकी विषय-वस्तु जनवादी या समाजवादी न होकर मध्यवर्गी 'लिबरलिज्म' से प्रभावित है। इसी कारण उनकी रचनाएँ अक्सर बोध-गम्य भी नही रही, मूर्त जीवन-चित्रो (images) के अभाव मे उनमे आन्तरिक तारतम्य और केन्द्रीयता दुर्लभ रही है और उनमे अर्थ का अनर्थ करने वाली थोथी अन्योक्तियाँ और दुर्ज्ञेय सकेत-कथनो की ही भरमार रहती है, और उनका व्यग भी जीवन से उत्पन्न नही, बल्कि कृत्रिम होता है और एक-सी रुचि रखने वाली छोटी-सी मित्र-मण्डली मे ही एक अस्वाभाविक हास का उद्रेक कर सकता है। कुल मिलाकर ये रचनाएँ इतनी अध-कचरी, छिछली और कुरुचिपूर्ण होती है कि उन्हे 'रचनात्मक साहित्य' की कोटि मे रखा ही नही जा सकता, और 'प्रचार-साहित्य' की दृष्टि से भी उनका मूल्य नगण्य है। इसी-लिए इस नकली 'जन-साहित्य' को जनता हाथ भी नही लगाती। उसमे लोकरजन का कोई तत्त्व नही और न वह जन-जीवन से 'प्राण-सम्बन्धित' है। फिर भी ये साथी अपनी दुकान मे 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' बने बैठे रहे, और 'मन तुरा हाजी बिगोयम, तू मरा हाजी बिगो' के आधार पर 'भविष्य रामविलास का है· भविष्य नागार्जुन का है ·' (और इनके लिए दावा पेश करने वाले अमृतराय का तो खैर हुआ ही)—बस वे 'भविष्य' की सारी सपदा का अभी से आपस मे बटवारा करते रहे है।

यह है 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के प्रतिपादको का सारा साहित्यिक कृतित्व

और उनका साहित्यिक व्यवहार !

इस स्थान पर एक लम्बा उद्धरण देने के लिए विवश हूँ। 'प्रतीक' के दसवें अंक में 'अज्ञेय' ने इन साथियों का रेखा-चित्र 'हिन्दी-पाठक के नाम' अपनी खुली चिट्ठी में खींचा है। वह इस प्रकार है :

"और यह पाठक (कुत्सित समाज-शास्त्रीयता का प्रतिपादक—शि०) पढ़ता ही नहीं। यों किताब वह काफी चाटता है, और भारी-भारी शब्द, नाम, फिकरे और आँकड़े हर वक्त उसकी जबान से फिसले पड़ते हैं, लेकिन वह पढ़ता नहीं, केवल पढ़ाता है। पढ़ाता किसे है, यह कहना जरा मुश्किल है, क्योंकि उसने सारी दुनिया को अलग-अलग डिब्बों में बाँट रखा है—एक डिब्बे में वह है जो कभी पढ़ ही नहीं सकते, दूसरे में वह है जिन्हें पढ़ाना व्यर्थ है, एक में वह है जो पहले गलत पढ़ गये हैं, और जिनकी विद्या को मिटाना है, और एक में वह है जो सकल-ज्ञान-विद्या-विशारद और परम-गुण-निधान है। इस प्रकार यह पाठक केवल पढ़ाता है, और अपने को ही पढ़ाता है, क्योंकि और किसे पढ़ाये ?—और है ही कौन, मानव तो होता नहीं, केवल वर्ग होते हैं, और मानववाद स्खलन है, और शाश्वत कुछ नहीं है, उन्होंने जो कुछ कह दिया वह शाश्वत है और उसमें परिवर्तन लाना चाहना गुरुतर अपराध है।"

चूँकि इस रेखा-चित्र के लेखक 'अज्ञेय' हैं, इस कारण ही यह उपेक्षणीय है, ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा। 'अज्ञेय' के आलोचनात्मक दृष्टिकोण की जितनी निर्मम (पर सैद्धान्तिक) आलोचना मैंने की है, सम्भवत किसी दूसरे ने नहीं की। परन्तु न पहले कभी और न आज ही मैं यह मानने को तैयार हूँ कि अज्ञेय एक जन-विरोधी लेखक हैं, केवल इस लिए कि उन्होंने प्रगतिवादियों से मतभेद रखा है, और इधर 'नेहरू-अभिनन्दन-ग्रन्थ' का सम्पादन किया है। बल्कि इतने सशक्त कलाकार के मन में यदि साथियों के रवैये के प्रति ऐसी प्रतिक्रिया हो तो ठंडे दिल से सोचना चाहिए कि कहीं वे मार्क्सवाद को संकीर्ण मतवादी के रूप में ग्रहण कर बदनाम तो नहीं कर रहे। सही बात का जवाब ढेला फेंककर नहीं दिया जाता, न उस दर्पण को ही तोड़कर चूर्ण-चूर्ण कर दिया जाता है जिसमें आपकी सही प्रतिच्छवि दिखाई देती है। 'अज्ञेय' का अपराध यही है कि उन्होंने आपके सामने दर्पण रख दिया। साहित्य, संस्कृति और भाषा के प्रश्नों पर 'कुत्सित-समाज-शास्त्रीयता' का दृष्टिकोण निश्चय ही मार्क्सवाद का दृष्टिकोण नहीं है। इसमें किसी साथी या मित्र को लेशमात्र भी भ्रम या सन्देह नहीं रहना चाहिए।

मार्क्सवाद की दृष्टि से कला एक विशेष प्रकार की सामाजिक चेतना और मानव क्रिया है, व्यक्ति और समाज के विकास के लिए जिसका आत्यन्तिक महत्त्व है। कलाकार अपनी प्रतिभा (अर्थात् वस्तु-सत्य की संवेदनशीलता) से वस्तु-सत्य को मूर्त-सम्पूर्ण, सक्रिय, गत्यात्मक रूप से प्रतिबिम्बित करके मनुष्य के मन अर्थात् उसके सम्पूर्ण आध्यात्मिक जीवन, उसकी भावनाओं, उसके विचारों, उसकी चेतना और उपचेतना को प्रभावित करता है, और भाव-विचार के रूप-चित्रों (images) के इन्द्रिय-बोध द्वारा मनुष्य में एक

नये प्रकार की मानवीय क्रियाशीलता और विचारसरणि जाग्रत कर देता है। इस सामाजिक चेतना का प्रेषण वह विशेष रूप से तीव्र, सुखद और प्रभावकारी ढग से करता है। श्रेष्ठ कला शिक्षाप्रद होती है, क्योकि वह मनुष्य मे उदात्त भावो और विचारों को जगाकर उसमे मनुष्य के उच्चादर्शो के प्रति सहज आसक्ति पैदा करके उसे मानवोचित गुणो से विभूषित करती है, उसकी रुचियो को संस्कृत, सुष्ठु और सौन्दर्य-प्रिय बनाती है। इसी व्यापक अर्थ मे कला प्रोपैगैण्डा है, क्योकि उसका अपना सामाजिक प्रयोजन और संविधायक पक्ष है। इसीलिए एक मार्क्सवादी की दृष्टि मे श्रेष्ठ और पुरअसर प्रोपैगैण्डा अच्छी कला भी हो सकता है। परन्तु श्रेष्ठ और सारपूर्ण कला का श्रेष्ठ और पुरअसर प्रोपैगैण्डा होना अनिवार्य नही है। एक वर्ग-समाज मे कला भी मनोजगत के अन्य सामाजिक ढाँचों की ही तरह वर्गो मे बँटी होती है। इसका प्रयोग मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को सस्कृत और बलवान बनाने के लिए भी किया जा सकता है और उसकी कुत्सित, पाशविक, मानवद्रोही वृत्तियो को उभारने के लिए भी, यद्यपि उस समय कला का भी हनन हो जाता है।

मार्क्सवादी इसीलिए कला के महत्त्व की उपेक्षा नही करते। उनकी दृष्टि मे वर्ग सघर्ष से कला का अन्तरग सम्बन्ध है, क्योकि कला इस सघर्ष को प्रतिबिम्बित करके प्रभावित करती है और उसके परिणाम के निर्णय मे सहायक होती है। कला अपनी महान प्रभविष्णु शक्ति के कारण सघर्षशील-मानवता को सचेत बनाने का साधन बन सकती है। अत इन दोनो दृष्टियो से—इस दृष्टि से भी कि कला मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को सुसस्कृत, भरपूर और व्यापक बनाती है, और इस दृष्टि से भी कि कला वर्ग-समाज मे सघर्षशील-मानव को चेतना, सकल्प, मनोबल और साहस प्रदान करती है—सच्चे मार्क्सवादियो के हृदय मे इस अमोघ अस्त्र के निर्माता कलाकार या साहित्यकार के प्रति सर्वदा असीम आदर और सम्मान का भाव रहा है, जिसके कारण ही वे लेखक और कलाकार को 'मानव-आत्मा का शिल्पी' मानते आये है, और पूँजीवादी-समाज की उन कला-विरोधी प्रवृत्तियो का विरोध करते आये है, जिनके भँवर मे पड़कर कलाकार और लेखक की प्रतिभा और उसके व्यक्तित्व का हनन होता है, विकास नही।

मार्क्सवाद मनुष्य की सस्कृति का विरोधी नही, बल्कि महान सामाजिक दायित्वों की चेतना प्रदान करके साहित्य और कला के अभूतपूर्ण विकास की सम्भावनाओ का मार्ग प्रशस्त करने मे सहायक एक रचनात्मक दृष्टिकोण है। मार्क्सवाद लोगो मे फूट डालने या अपने से दूर हटाने का सिद्धान्त नही है, बल्कि जनवादी व्यवहार द्वारा सामान्य जनवादी लक्ष्यो के आधार पर लोगो को सामान्य सघर्ष के लिए एकजुट करने का सिद्धान्त है। मार्क्सवाद को विज्ञान और वस्तुगत-सत्य से कोई आशका नही कि वह लेखको और वैज्ञानिको पर आतक जमाकर अपने आदेशो पर उनसे अवसरवादी और घासलेटी साहित्य तयार करवाये, क्योकि मार्क्सवाद का स्वय अपना आधार द्वन्द्वमूलक वस्तुगत सत्य और विज्ञान है, जिसके कारण ही वह एक निरन्तर विकासमान वैज्ञानिक जीवन-दर्शन और

कार्य-पद्धति है, और जिसके कारण ही मार्क्सवाद प्रत्येक लेखक और कलाकार से भी यही अपेक्षा रखता है कि वह अपनी प्रतिभा का भरपूर उपयोग करके वस्तु-सत्य को अपनी कला में सम्पूर्णतः प्रतिबिम्बित करे और समाजवादी लेखको से अपेक्षा रखता है कि 'समाजवाद' उनके निकट एक शुष्क विचार-सिद्धान्त ही न हो बल्कि उनकी भावना बन गया हो, जिससे प्रेरित होकर वे अपनी सहज प्रतिभा या वृत्ति से साहित्य की रचना करे और इस प्रकार स्वय भी दूसरे के लिए प्रेरणा का केन्द्र बन जाये।

कुत्सित-समाज-शास्त्रीयता का दृष्टिकोण इसका ठीक उल्टा है, इसी कारण जन-साहित्य और जन-सस्कृति का विरोधी है, अर्थात् जन-विरोधी और मार्क्सवाद-विरोधी है। पुरानी कहावत है कि 'लाल के पाँव पालने मे देखने चाहिएँ'। यह कुत्सित दृष्टिकोण सबसे पहले एक निषेधात्मक, अबुद्धिवादी मनोवृत्ति के रूप मे प्रकट होता है, फिर मार्क्सवाद का जामा पहनकर हुक्मराना अहकार और सकीर्ण मतवाद के रास्ते वैसा ही घोर तानाशाही रूप धारण कर लेता है जैसा जर्मनी मे पैदा हुआ था, जैसा आज अमरीका मे पैदा हुआ है, और जिसके विरुद्ध विश्व की शान्तिप्रिय जनता अविराम सघर्ष कर रही है।

भारत ही नही, किसी भी देश के जनवादी साहित्य मे 'कुत्सित-समाज-शास्त्रीयता' का कोई स्थान हो सकता। इसीलिए सोवियत सघ मे, फ्रान्स मे, इग्लिस्तान मे, चीन मे, और हर देश मे मार्क्सवादी इस 'अबुद्धिवाद' के विरुद्ध और भी अधिक सतर्कता से सघर्ष करते आते है, क्योकि यह मार्क्सवाद का लबादा ओढकर जन-शक्तियो के शिविर मे दाखिल होता है, और मार्क्सवाद ही नही बल्कि मनुष्य की समूची सास्कृतिक और कलात्मक प्रगति के मार्ग मे अगद का-सा पाँव रोपकर खडा हो जाता है।

परन्तु इन साथियो से मै एकदम हताश नही हो गया हूँ। निश्चय ही इनमे से अधिकाश साथी इस हीन दृष्टिकोण के वास्तविक स्वरूप से वाकिफ नही है और इस प्रवृत्ति के प्रतिपादको ने अपनी विकृत सामन्ती-मध्यवर्गी रुचियो पर मार्क्सवाद का मुलम्मा चढाकर उन्हे 'साहित्य-सिद्धान्त' के रूप मे जो कुछ दिया है, वे अपनी अनुभवहीनता के कारण उसे ही सही मानकर गलत मार्ग पर दौडते आये है। उनसे मेरा आग्रह है कि वे अपने साहित्यिक और सैद्धान्तिक दृष्टिकोणो की भयानक गलतियो को, पुस्तक से पढ़कर ही नहीं, वरन् इतिहास और जन-जीवन की द्वन्द्वात्मक वास्तविता से सीखकर सुधारने की ईमानदार कोशिश करे। यह स्मरण रखने की बात है कि पिछले पाँच-सात वर्षों से यह कुत्सित दृष्टिकोण हिन्दी के इन लेखको के अलावा अन्य भाषाओ और साहित्यो के अनेकानेक लेखकों, असख्य पाठको और जन-सघर्षो मे भाग लेने वाले कार्यकर्त्ताओ के केवल 'सचेत विचारो' को ही नही प्रभावित करता आया है, बल्कि उनके मानस मे बहुत गहरे पैठकर उनके नफ़्स और मजाक को भी बिगाड चुका है—एक तरह से उनका सस्कार और मनोवृत्ति बन गया है। इसमे मुक्त होने के लिए बहुत व्यापक और बहुत लम्बा संघर्ष करना पड़ेगा—स्वय अपने से ही। केवल काट-छाँटकर शब्दो की तरतीब बदल देने से

अन्तरस्थ भावों, विचारों, राग-द्वेषों, मनोवेगों और दृष्टिकोणों का संस्कार और काया-कल्प नही हो जाता। न वस्तु-सत्य की सवेदनशील प्रतिभा के बिना साहित्य की रचना ही सम्भव है--ऐसे साहित्य की जो वस्तुगत जीवन चित्रो की भाषा मे सामयिक जीवन-वास्तव का मूर्त-सम्पूर्ण-सक्रिय कलात्मक प्रतिबिम्बि हो। जो केवल किसी खास राजनीतिक पार्टी की गलत-सही नीतियो और अखबार मे पढी खबरो का ज्यो-का-त्यो, शुष्क, नीरस, भावहीन पद्यानुवाद ही न हो। जिसमे लेखक की कल्पना से गढे गये पात्र बस कठपुतलियो की तरह लेखक के इशारे पर ही न नाचते हो, लेखक की इच्छा से ही न उठते-बैठते और पैदा होते या मरते हो, --अर्थात् जिनका न कोई अपना व्यक्तित्व हो, न मानसिक या दैहिक जीवन हो, जो इस जीवन के वैविध्य और ऐक्य से निर्मित वर्ग-समाज के वास्तविक निवासी न होकर बस लेखक की कल्पना के शून्य-आकाश मे 'त्रिशकु' की तरह कही अधर लटके हो। दुर्भाग्य से कृष्णचन्द्र की प्रतिभा का लेखक भी इस प्रवृत्ति से अपने को बचा नही पाया और उनके अधिकाश पात्र भी कल्पना-जन्य कठपुतलियाँ है, व्यक्तित्व-हीन, जिसके कारण वह अपनी कल्पना से एक क्रुद्ध, निर्दयी राजा की सवारी निकालने के लिए खतरनाक पहाडी के आर-पार लट्ठो की जगह जिन्दा किसानो के शरीर बिछाकर पुल बनवा लेते है और उस पर से राजा और उसके अमला को गुजार देते है।

परन्तु जिनमे न प्रतिभा हो, न मार्क्सवादी दृष्टिकोण को सीखने-समझने का धैर्य हो, उनके उतावले अहकार के लिए और भी अनेक सरल मार्ग खुले है--साहित्य या कला उनका क्षेत्र नही है, इसमे प्रचार साहित्य भी शामिल है।

'कुत्सित-समाज-शास्त्रीयता' के साथियो से यहाँ इतना ही निवेदन है। और जो इस प्रवृत्ति के नेता है, वह स्वय 'सकल-ज्ञान-विद्या-विशारद और परम-गुणनिधान' है, बाकी बाते किताबो से पढ ही लेगे।

(३)

अन्य बुजुर्ग तथा नई पौध के लेखको से, जो इन साथियो के विवेकहीन व्यवहार से क्षुब्ध है, इस सम्बन्ध मे क्या कहूँ? बातो की मरहमपट्टी कोई अर्थ नही रखती। पर एक सरल बात जानता हूँ कि अगर कोई 'असत्य' मे 'सत्य' की पैरवी करे तो उसमे 'सत्य' 'असत्य' नही हो जाता। 'सत्य' की यही महानता है कि 'असत्य' मे उसे न झुठलाया जा सकता है, न सिद्ध ही किया जा सकता है। उसे न असत्य की नकाब चाहिए, न बैसाखी ही। इसलिए किसी के सही या गलत सोच और व्यवहार को ही उन महान युग-विधायक विचारो के प्रति अपनी आसक्ति या विरक्ति का आधार बना लेना क्या आपके विवेक को उचित सजेगा, जो हमारी जनता के मानस को उद्वेलित करते आये है, जो हमारे इतिहास और जन-जीवन की प्रगति का आग्रह लेकर पैदा हुए, हमारी जनता के मुक्ति-सघर्ष ने जिनको परवाना चढाया, जिनका सत्य ही हमारे साहित्य की मूल प्रेरणा बना? जन-धरणी को चेतना की प्रकाश-किरणो से निरन्तर जगाने वाले इन महान विचारो के सूर्य को ही निगलने के लिए आज चतुर्दिक से राहु-केतु लपक रहे है, क्या ऐसे समय हम एक-

दूसरे से कुठित बने बैठे रह सकेंगे, केवल इसलिए कि किसी ने वह सौजन्य नही बरता जो मानवोचित है ?

सोचिए तो, हमारा देश कितना विशाल है ! इसमे कितन किस्म की जलवायु है, कितने किस्म की वनस्पति है, कितने किस्म की धरती है ! और इसमे कितने किस्म के लोग रहते है, कितनी जातियाँ बसती है, कितनी भाषाएँ बोली जाती है——भाँति-भाँति की सभ्यताएँ है, सस्कृतियाँ है, कलाएँ है, नैतिक आचार-विचार और जीविकोपार्जन के ढग है ! कितने धर्म और सम्प्रदाय है, कितने दल और सगठन है, वर्ग और स्वार्थ है ! कन्या-कुमारी मे लेकर काराकोरम की पर्वतमालाओ और आसाम की घाटियो मे लेकर अरब-सागर तक फैले इस देश का आकाश भी तो एक नही ! फिर भी इस महादेश और इसमे बसने वाली विभिन्न कौमो को किसने एकता के सूत्र मे बाँध रखा है ? निश्चय ही साम्राजी गुलामी ने नही, जिसने सदा फूट और कलह के बीज ही बोये है, बल्कि हमारे पूर्वजो के इतिहास की गौरवशाली परम्पराओ की उत्प्रेरक स्मृति ने और साम्राजी-सामती गुलामी से मुक्ति पाने के लिए हर इलाके की जनता के सामान्य सघर्ष ने ही जन-मन मे एकता की भावना को जीवित रखा है और प्रबल बनाया है।

परन्तु एकता की यह भावना अपने आप तो नही सजग हो गई कि उसने स्वत उठकर इस विशाल देश की समूची जनता को अनायास अपने बन्धन मे बाँध लिया हो। इसे बडी लगन से जगाना पडा है। और इसे जगाने के लिए हमारे गौरवशाली इतिहास के गीत किसने गाये ? मुक्ति सघर्ष की आवश्यकता का एहसास पैदा करने के लिए साम्राजी-सामन्ती गुलामी, शोषण, हिंसा, अन्ध-विश्वास, गरीबी, अशिक्षा और क्रूर अमानवीय समाज-सम्बन्धो की हकीकत से आगाह करके जनता को किसने उभारा ? जन-जन के पद-मर्दित स्वाभिमान को किसने ललकारा ? इसमे अन्य भाषाओ के लेखको के साथ-साथ हमारे भारतेन्दु-युग से लेकर द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द और आज निराला-पत-युग तक के अमख्य लेखको और कवियो का योग-दान है, जिन्होने किसी प्रलोभन से नही लिखा, किसी का आदेश पालन करके नही लिखा, बल्कि इसलिए लिखा कि उनका सवे-दनशील, वस्तुदर्शी कलाकार मन यह गवारा नही कर सकता था कि हमारे देश और हमारी जनता की आत्मा की सुन्दर-सजीव प्रतिमा को, जिसे कभी वाल्मीकि और व्यास ने, कालिदास और भवभूति ने, सूर और तुलसी ने, मीर और गालिब ने अपने-अपने युग की वास्तविकता मे अन्तर्निहित विकास-सम्भावनाओ के अनुकूल अपनी सहज प्रतिभा से जन आकाक्षित नये जीवनादर्शो और नये मानव-मूल्यो के साँचे मे ढाला था, उसे आततायी साम्राज्यवाद और विगलित सामन्तवाद खण्डित करके कुरूप और निष्प्राण बना दे। इसलिए असह यातनाओं, दुर्निवार आर्थिक कठिनाइयो, भद्र-लोक की तीव्र उपेक्षा और सरकारी कोप-दृष्टि की अवहेलना करके भी उन्होने जीवन्त साहित्य की रचना की है।

एक गुलाम देश का लेखक 'स्वान्त. सुखाय' रचना नही करता, न 'कला के लिए कला' का निर्माण करता है——यह दूसरी बात है कि उसकी रचना मे वेदना का स्वर इतना

मुखर हो कि गहरे निराशावाद की झलक मिलती हो, या कोई लेखक राजनीति मे सचेत रुचि न रखता हो, या उसका राजनीतिक दृष्टिकोण इतना अपरिपक्व और पिछड़ा हो कि वह स्वय अपने ही रचे साहित्य के सविधायक और प्रयोजनशील तत्त्वों को न देख पाकर साम्राजी देशो मे प्रचलित साहित्यिक प्रवादो का बिल्ला बाँधे 'कला के लिए कला' का नारा देता फिरता हो। ऐसी आत्म-विलासी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ मरणासन्न साम्राज्यवाद के देशों मे ही पूंजीवादी साहित्य की धारा बन सकती हैं, एक गुलाम देश मे नही। हमारे देश की दस-बारह बडी और उन्नत भाषाओ के आधुनिक साहित्य का इतिहास इस वक्तव्य का स्वय ही प्रमाण है।

हमारी भाषाओ का विकास और आधुनिक साहित्यो का जन्म ही साम्राज्यवाद सामन्तवाद-विरोधी जन-सघर्ष के उष काल मे हुआ है। इस सघर्ष मे निरतर अग्नि परीक्षा देकर ही इन्होने विकास और उन्नति की है, और आज भी यह क्रम जारी है। इस राष्ट्रीय नव-जागरण के मगल-प्रभात मे हमारी पिछडी भाषाओ का सतत मार्जन और परिष्कार करके उनके शब्द-भडार को असख्य नये शब्दो से समृद्ध करके, उन्हे नये सघर्ष-युग के अनुकूल विचार-विनिमय का समर्थ साधन बनाने की ओर कौन प्रयत्नशील रहा है ? और क्या वह स्वयं अपने मे एक साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी, जन-ऐक्य विधायक युग-चेष्टा नही थी ? अन्धविश्वास, अशिक्षा, अविज्ञान और अनैक्य के जिस अन्धकारपूर्ण दुर्ग मे गुलाम बनाने वाली शक्तियो ने हमारी जनता को बन्द कर रखा था, उस पर जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य की मशाल उठाकर किसने चढाई की ? अभी जबकि देश की राजनीति मध्यवर्गी स्वार्थो की सकीर्ण सीमाओ मे सिमटी-सिकुडी कुल-वधू की तरह अपने लिए विदेशी भाषा मे अग्रेज प्रभुओ से कतिपय सुख-सुविधाओ की माँग कर रही थी कि उस समय हमारी जनता के बीच से उठे सरस्वती के वरद-पुत्र जन-मानस मे नई परिस्थितियो का आग्रह लेकर त्वरित जन्मे भावो और आकाक्षाओ के मूक, अव्यक्त पर उद्वेलित स्वरों को पहचान कर उन्हे सचेत विचारो की उत्प्रेरक सरगम मे बाँध रहे थे। हमारे स्वतन्त्रता सग्राम का यह एक अलग ही रचनात्मक मोर्चा रहा है, जिसका नेतृत्व जनवादी साहित्यकारो और विचारको ने किया है, राजनीतिज्ञो ने नही। राष्ट्रीय नव-जागरण के इस दीर्घ रचनात्मक सघर्ष मे हमारे साहित्यकारो ने जीवन-वास्तव की कोख से उठाकर असख्य जीवन-पात्रो (images) का अतरग और सामान्य, मूर्त-संपूर्ण चित्रण करके व्यक्तित्वहीन अज्ञात-नाम, समाज-शोषण से उत्पीडित किसानों, औरतों, वेश्याओं और अशिक्षित-मूक जनों को मानव व्यक्तित्व की गरिमा से मडित करके इतिहास-पट पर उनकी वास्तविक भूमिका से हमारा साक्षात्कार कराया है। उन्होने हमारे इतिहास के विभिन्न सूरमाओं, नीतिज्ञों और देश-भक्त नरेशो की विस्मृत कीर्ति के आख्यान लिखे हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि उन्होने प्राचीन परम्परा मे से उन्ही चरित्रों (images) को चुना है जो किसी-न-किसी मुक्तिकामी मानवीय आदर्श—सत्य, न्याय, समानता, एकता, आजादी—के प्रतीक थे या बन सकते थे, जिनके उत्प्रेरक जीवन-चित्रों

को जन-मानस मे मूर्त्त रूप से जगा कर जनता के स्वाभिमान को पुन. जीवित किया जा सकता था, मायावाद के छाये अबुद्धिवाद मे उत्पन्न निराशा, विरक्ति और आत्म-भीरुता की भावनाओं का उन्मूलन करके नया आशावाद, नई जीवन-शक्ति और नया आत्मबल पैदा किया जा सकता था और व्यक्तिगत स्वार्थो मे आबद्ध विग्रहकारी प्रवृत्तियो का दमन करके व्यापक सामाजिक स्वार्थों की एकताजनक प्रवृत्तियो को उजागर किया जा सकता था। साम्राज्यवाद ने जिस इतिहास की जीवन्त परम्पराओ से अपरिचित रखकर और सामन्तवाद ने जिस धर्म को अमानवीय समाज सम्बन्धो और प्रतिक्रियावादी नैतिकता का प्रचारक बनाकर जनता को अपने क्रूर भाग्य से समझौता करने के लिए विवश बना रखा था, हमारे साहित्यकारो ने इतिहास और धर्म के उन अस्त्रो को शासक-शोषको के हाथ से छीन कर जनता के हाथ मे पकडा दिया, अर्थात् उन्होने जनता को इतिहास और धर्म के उन तत्त्वो का ही साक्षात्कार कराया जो एकता और जाग्रति के वाहक थे। इसमे पुनरुत्थानवाद की चेष्टाएँ न थी, न सतयुग की ओर लौटकर वल्कल वस्त्र धारण करने का निमत्रण था, वल्कि इस समाज के जीवन मे किसी भी भाव, विचार, सम्बन्ध या स्थिति को अपरिवर्तनीय समझ कर भाग्य या दैव के आसरे छोड देने के विरुद्ध आमूल परिवर्तन लाकर नये मानवीय जीवन-निर्माण का आग्रही कर्म-प्रेरक आह्वान था, जीवन को क्षणभगुर मानने वाले मायावाद के विरुद्ध जीवन की सत्यता और नित्यता का आशाप्रद सन्देश था।

हमारे साहित्य की शैली इतिवृत्तात्मक रही हो या छायावादी या यथार्थवादी, इतना तो निर्विवाद है कि हमारे साहित्यकारो की कला का रूप-विधान इतिहास की प्राणवन्त परम्पराओ और जनता की मनोभूमि की समष्टि से विकसित सर्वथा देशज या राष्ट्रीय रहा है, उसमे यहाँ की मिट्टी की ही चिरपरिचित गन्ध है, यहाँ के ही फूलो का रग है, यहाँ की नदियो का ही 'कल-कल निनाद' सगीत है, यहाँ की ही ऊषा और सध्या का सौन्दर्य है। इस देशज रूप-विधान के माध्यम से ही उन्होने नये भाव-विचारो की विषय-वस्तु को मूर्त्त अभिव्यक्ति दी है और रूप-विधान का भी स्वाभाविक विकास किया है। अधिकतर सचेत रूप से सोच-समझकर पूर्व-निश्चय द्वारा नही, बल्कि जीवन-वास्तव के अव्यक्त निर्देशो का पालन करके, जो अपने प्रतिबिम्ब के रूप-विधान का स्वय निर्णेता होता है। और यह नई विचार-वस्तु—एकता, आजादी, समानता, भाईचारा, प्रजातत्र और बाद मे समाजवाद आदि के महान विचार—हमारे साहित्य मे कहाँ से आये? ये विप्लवकारी विचार केवल हमारे सामाजिक जीवन की परम्परा से तो निश्चय ही उद्भूत नही हुए, यद्यपि एक निराकार अव्यक्त भावना के बीज-रूप मे शोषित-पीडित जनता के हृदय में अवश्य सोये पडे थे। इसलिए वस्तुत वे देश-देश की प्रगतिशील जनता के इतिहास—विशेषकर फ्रान्स की प्रजातान्त्रिक और रूस की समाजवादी क्रान्तियो की प्रतिध्वनि के रूप मे हमारे देश की उद्बुद्ध चेतना मे आकर गूँजने लगे थे और शेली, बायरन, टॉलस्टॉय और गोर्की की रचनाओ से जीवन की भाषा के द्वारा हमारे मानस मे मूर्त्त और

साकार होकर हमारी जीवन-दृष्टि की अखण्ड ज्योति बन गये थे। यह कोई विचित्र और अनहोनी बात नही है कि हमारे साहित्यकार 'जनवादी या समाजवादी विषय-वस्तु और राष्ट्रीय रूप विधान' को व्यवहारत अपने साहित्य-सर्जन की पद्धति के रूप मे अपनाते आये है, यद्यपि मार्क्सवादी सिद्धान्त से परिचित तो आज भी सब नही है। जीवन-वास्तव पर पॉव जमाकर खडे रहने का ही यह अनिवार्य परिणाम है। इस सिद्धान्त को ठुकराकर और हमारे साहित्य की परम्परा मे हठात् अलग होकर विचारो के मरुथल से बह निकलने की अगर किसी ने कोशिश की है तो वह 'कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' और 'कुत्सित-समाज-शास्त्रीयता' की अ-साहित्यिक और अ-समाजिक प्रवृत्तियाँ है, जो अपनी फूहड कल्पना द्वारा निर्मित यन्त्रवत् कठपुतली पात्रो मे एक दुर्बोध, सकेतमय भाषा मे मनोविज्ञान और मार्क्सवाद की पैरोडी गवाती है, और इस प्रकार अपने अन्तर्मन की पशुवृत्तियो का, या कमरे के दर्पण मे अपनी रोषपूर्ण मुद्राओ के अनुकूल बदलते प्रति-बिम्ब को देख-देखकर क्रान्ति का ऐहसास कर लेने वाली विक्षिप्तता का मूलत व्यक्ति-वादी 'दृष्टान्त साहित्य' तैयार करती है।

इसका यह तात्पर्य नही कि इन दो असामाजिक प्रवृत्तियो के अतिरिक्त हमारे विशाल साहित्य की धारा मे और कोई विकृतियाँ आई ही नही। आखिर हमारा साहित्य भी एक वर्ग-समाज की सकीर्ण सीमाओ के अन्दर ही विकसित हुआ है, चाहे वह इन सीमाओ को तोडने के लिए ही निरन्तर सचेष्ट क्यो न रहा हो।

हमारे साहित्य निर्माता इसी वर्ग-समाज के प्राणी रहे है, जिसके समाज-सम्बन्धो ने परस्पर-विरोधी वर्ग-स्वार्थो, वर्ग-सस्कारो, वर्ग-मान्यताओ, वर्ग-नैतिकताओ, वर्ग-मनो-वृत्तियो और वर्ग-दृष्टिकोणो को जन्म देकर मनुष्य को इस प्रकार बाँट रखा है कि प्रेम, त्याग, सत्य, आजादी और जनवाद के प्रति विभिन्न वर्गो की अपनी-अपनी धारणाएँ बन गई है, और मनुष्य के स्वभाव और कर्म पर भी वर्ग-भद की अनिवार्य छाप पडी है। हमारे साहित्कार अपने जीवन के इस विरोधपूर्ण वातावरण से निर्लिप्त और निस्सग न हो सकते थे। इसी कारण हमारे साहित्य के प्रारम्भिक उत्थान पर 'सामन्ती-सभ्यता-सस्कृति' की छाप है, जिससे प्रेमचन्द तक मुक्त नही है। इस साहित्य मे जहाँ-जहाँ हमारे लेखको की व्यक्तिगत सहानुभूतियो ने जीवन-वास्तव के मूर्त्त-सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब पर ऊपर से छाया डाली है, वहाँ-वहाँ सामन्ती सस्कारो और सामन्ती नैतिक मान्यताओ के प्रति लेखक का पूर्वग्रह भी मुखर हो गया है, और साम्राज्य-विरोध पर अन्धराष्ट्रवाद या पुनरुत्थानवाद का रग चढ गया है। इसके पश्चात् क्रूर, अनैतिक पूंजीवादी समाज-सम्बन्धो ने मध्यवर्गी सकीर्णताओ को जन्म दिया, जिसकी प्रतिच्छाया उस 'अरण्य रोदन' मे मिलती है, जो हमारे छायावादी कवियो के गीतो मे इतनी मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। इस प्रकार हमारे आधुनिक साहित्य की इस अटूट जनवादी धारा मे 'आओ, बैठ ले कुछ देर' या साथी, सब कुछ सहना होगा' जैसी तट की मध्यवर्गी झाँडियो की जडो मे अटकी हताश, गतिहीन, लहरें भी है, जिनमे 'जागो फिर एक बार!' या 'तीर पर कैसे रुकूं मै, आज

लहरो मे निमन्त्रण' जैसा बीच-धारा का उदात्त, मानवोचित दर्प और चुनौती नही है। ऐसे विषम और विकृत स्वर लेखक की प्रतिभा पर कुठाराघात करने वाल उस आन्तरिक और बाह्य द्वन्द्व के सूचक है, जिनमे से होकर वर्ग-समाज मे जन्म लेने वाल प्रत्येक लेखक और कलाकार को अनिवार्यत लगातार गुजरना पडता है। अन्यथा हमारे विशाल बहुमुखी साहित्य की मुख्य-धारा के अहरह गर्जन मे तो प्रतिवाद के स्वर ही फूटे है, गम्भीर मानववाद का सगीत ही मुखरित हुआ है, चाहे वह हमारे कवियो के इतिवृत्तात्मक पद्य हो, छायावाद के रोमानी गीत हो, या प्रगतिवाद की यथार्थवादी कविता हो। राष्ट्रीय नव-जागरण के इस रचनात्मक सघर्ष मे हमारे साहित्य-निर्माताओ की सहज सहानुभूतियाँ, उनकी युग-विधायक सचेत-अचेत विचारणाएँ अधिकाशत मध्यवर्ग की सकुचित सीमाओ को तोडकर जन-जन तक प्रसरित हुई है, और उन्होने शोषित-उत्पीडित श्रमजीवी जनता के मूल हितो का ही समर्थन किया है। इसीलिए हमारे साहित्यकारो की श्रेष्ठ-कृतियो मे वह परिव्याप्ति और सार्वजनीनता है, जो हमारी विभिन्न भाषाओ के साहित्यो को सच्ची देश-भक्ति से ओत-प्रोत जन-साहित्य होने का अधिकारी बनाती है; उनमे हमारे देश के जीवन-वास्तव का भावी सम्भावनाओ के दृष्टिकोण से मूर्त-सम्पूर्ण चित्रण है। उनका एक-एक शब्द गुलामी के ताबूद मे मेखे गाडता है और सामन्ती समाज-सम्बन्धो और तज्जनित नैतिक मान्यताओ तथा मध्यवर्गी सकीर्णताओ से आत्मा को मुक्त करके, उसमे नये मानवीय भाव-विचारो, नये नैतिक मूल्यो, नये जनवादी समाज-सम्बधो की अकाक्षाओ का व्यापकत्व और गरिमा भरकर उसे नया निखार देता है। जो व्यक्ति हकीकत के इस सत्य को नही देख-समझ सकता, उसके मन मे हमारे इतिहास, साहित्य और जन-सघर्ष की गौरवशाली परम्पराओ के प्रति घोर अवज्ञा और अनादर का भाव है। हमारे देश की विभिन्न भाषाओ के आधुनिक साहित्य की अटूट धारा का यह साम्राज्यवाद-सामन्तवाद-विरोधी, मुक्तिकामी, सघर्षोन्मुखी स्वर ही तो हमारे अगणित ज्ञात-अज्ञात साहित्य-निर्माताओ की कठोर जीवन-साधना की सबसे मूल्यवान प्राप्ति है, जिसने नये जनवादी लक्ष्यो का दरस देकर हमारी जनता की एकता का शिलान्यास किया है।

कोई इस सत्य को देखे या न देखे, पर मेरा अनुरोध है कि किसी क्षणिक आवेश मे भरकर हम आप इसको न भुला दे, क्योकि अभी हमारे मुक्ति-सघर्ष का अन्त नही हुआ और हमे अपनी जनता की एकता के सूत्रो को दृढतर बनाते जाना है, क्योकि अभी हम उस आकाक्षित लक्ष्य से बहुत दूर है, जो हमारा जीवन-साध्य रहा है, और जिसे प्राप्त करने के लिए हमे एक ऐसे शोषण-रहित जनवादी समाज का निर्माण करना है, जिसके वातावरण मे हमारे विशाल देश की प्रत्येक जाति, प्रत्येक भाषा, प्रत्येक सस्कृति अपने-अपने इतिहास की मानवताबोधिनी परम्पराओ की गोद मे नये जनवादी दर्शन और विज्ञान की दीक्षा पाकर अपनी प्रतिभा का सर्वतोमुखी विकास कर पायेगी और जिसके साधन-सुविधा-सम्पन्न, मुक्त समाज मे प्रत्येक व्यक्ति का पूर्ण आत्म-विकास ही समाज के योग-क्षेम की एक-मात्र कसौटी बन सकेगा।

महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी अनेकानेक कविताओं मे जिस जनाकांक्षित भावी मानव-समाज के स्वप्न गूँथे हैं, वह हमारे अधिकाश साहित्यकारो की भी (कवि 'दिनकर' के शब्दो मे) 'अभिलाषाओ की मजिल' है। पर अभी तो,

'ओ ज्वलंत इच्छा अशेष !'

इसलिये अगर कोई कहे कि हम आजाद हो गए या कहे कि नही, अभी हम गुलाम है तो हमे इन बहसो मे पडने से गरज नही है, और न इन बहसो मे पक्ष और विपक्ष मे दिए गए वक्तव्यो को आवेशपूर्ण तुकबन्दियों मे बाँधने से वह प्राणवान् कविता ही पैदा होगी जो हमारे जीवन-वास्तव को मूर्तरूप से प्रतिबिम्बित कर सके। क्योकि गुलामी कागज पर लिखा दस्तावेज नही होती कि वापस कर दिया तो आजाद हो गए और छीन लिया तो गुलाम बन गए। गुलामी शोषण-उत्पीडन को न्यायपूर्ण करार देने वाले अमानवीय आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धो का रौरव नरक है, जिसका वातवरण भी शोषक वर्गों की अनैतिकता और अ-संस्कृति से भाराक्रान्त होता है। गुलामी या आजादी मनुष्य जीवन की परस्पर-विरोधी मूर्त वास्तविकताएँ हैं, जिनकी पीडा या पुलक प्रत्येक व्यक्ति अपनी रग-रग मे अनुभव करता है। ये केवल अमूर्त्त विचारो और बहसो की चीजे नही है।

इन बहसो मे भाग लेना तभी सार्थक और प्रयोजनीय हो सकता है जब हम इस तथ्य को विस्मृत न होने दे कि हम लेखक है और मानव-आत्मा के शिल्पी है और इतिहास ने हमारे कन्धो पर बहुत भारी जिम्मेदारियाँ रख दी है। इसलिए हमारे चाहे जो दार्शनिक विचार, साहित्य-सिद्धान्त या लेखन शैलियाँ क्यो न हो, पर लेखक की हैसियत से काले को सफेद और सफेद को काला सिद्ध करने से हमारा काम नही चल सकता, अर्थात् तब हम श्रेष्ठ से श्रेष्ठ प्रतिभा रखकर भी सच्ची कला का निर्माण नही कर सकते। स्वय हमारे साहित्य की परम्परा साक्षी है कि यह बात कल तक सच थी, और आज भी सच है, क्योंकि कोई भी रचना तभी कलात्मक होती है, जब उसमे परिवर्तनशील वस्तु-सत्य का मूर्त्त, पार्थिव, अतरग, सम्पूर्ण, सक्रिय, सजीव और सामान्य प्रतिबिम्ब ग्रहण हो। वास्तविकता ही सत्य है, इसे कोई लेखक जितनी व्यापकता और मूर्त्तिमत्ता के अपनी रचना मे प्रतिबिम्बित करता है उसकी रचना उतनी ही अधिक कलात्मक और सार्वजनीन होती है, इसीलिए 'असत्य' को आज तक कोई कलात्मक नही बना पाया, यद्यपि शासक-शोषक वर्गों के हाथ अपनी प्रतिभा का विक्रय करके बडे-बडे नामवर लिक्खाडो ने ऐसा करने के लिए अपनी एडी-चोटी का पसीना एक किया है, और आज भी कर रहे हैं, लेकिन वास्तविकता को 'असत्य' का 'बुरका' नही ओढा पाते। विश्व के महान् लेखको की महान् कृतियाँ इसीलिए अमर और सुन्दर है कि, बलिन्स्की के शब्दो मे, वे 'जीवन की भाषा, बोलते है', उनमे अपने देश-काल के जीवन का वस्तु-सत्य, जो इतिहास का सत्य भी है, अपनी सम्पूर्ण मूर्त्तिमत्ता और गत्यात्मकता के साथ प्रतिबिम्बित हुआ है, जिसके कारण उन्होंने अपनी रचनाओं मे न केवल वर्ग-समाज के अन्यायपूर्ण समाज-सम्बन्धों की क्रूरता को स्पष्ट रेखाओं से चित्राकित किया है बल्कि उस वर्ग-समाज मे उभरती हुई संघर्षशील

मानव शक्तियों के ऐतिहासिक सत्य को भी बरबस अपनी सहानुभूति देकर चित्रित किया है—चाहे उस समय प्रत्यक्षत सत्ताधारी वर्ग की विचारधारा की ही तूती बोलती रही हो और स्वय उन लेखकों के सस्कार इस वर्ग की सस्कृति से निरूपित क्यो न रहे हो, पर वास्तविकता ने उनके सवेदनशील हृदय पर आच्छादित होकर उन्हे सत्य का आकलन करने के लिए विवश कर दिया। साहित्य के इतिहास मे गेटे और बाल्जक, शेक्सपियर और टॉलस्टॉय ऐसे ही महान् लेखक और कवि है, और इसीलिए ये मनीषी मानव-आत्मा के महान् शिल्पी माने जाते है। उन्होने समाज के सम्पूर्ण वास्तव का कलात्मक चित्रण करके मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का अधिक मानवीय सस्कार किया है और राग-द्वेषो का अधिक मानवीय आधार पर नियमन करके मनुष्य को अपनी मुक्ति के पथ पर अग्रसर होने की व्यापक प्रेरणा दी है।

सच्ची कला का यह द्वद्वात्मक सत्य है, क्योकि जीवन की जिस हकीकत को वह प्रतिबिम्बित करता है, वह स्वय द्वद्वात्मक है, गतिहीन और एकागी नही।

जीवन-वास्तव गतिहीन और एकागी नही, बल्कि बहुमुखी, वैविध्यपूर्ण, नाना रूपात्मक और विकासमान है, जिसमे कोई घटना, कोई शक्ति, कोई तत्त्व और कोई रूप आत्म-निर्भर और अनन्य नही है, बल्कि असख्य विरोध-जन्य सम्बन्धो और अन्तर्सम्बन्धो मे एक-दूसरे से आबद्ध है, निरन्तर एक-दूसरे को प्रभावित करता रहता है और इन सम्बन्धों के गुण, रूप और आधार को बदलता रहता है। एक वर्ग-समाज को ले तो उसका जीवन-वास्तव उत्पादन-क्रिया मे लगे मनुष्यो का शोषक और शोषित के रूप मे वह वर्ग-विभाजन है जो उनके बीच असख्य परस्पर विरोधी समाज-सम्बन्धो का केन्द्र बनता है। वर्ग-भेद पर आधारित आर्थिक-सामाजिक-सम्बन्धो द्वारा निरूपित जीवन-परिस्थितियाँ परस्पर विरोधी विचारधाराओ, नैतिकताओ, न्याय-धारणाओ, रहन-सहन और आचार-विचार के व्यवहारों, कार्य पद्धतियो और सस्कृतियो की जनक होती है, जो मानव-स्वभाव, प्रेम-सुख-सौन्दर्य आदि की सहज भावनाओ पर भी छाप डालकर वर्ग-मनोवृत्तियाँ पैदा करती है। इस पर आन्तरिक विरोध के बावजूद समाज का विघटन होकर अराजकता नही फैलती क्योकि वर्ग-समाज मे भी एक आन्तरिक ऐक्य है जिसके कारण ही परस्पर-विरोधी स्वार्थ रखने वाले शोषक-शोषित वर्ग उत्पादन-क्रिया मे एक-दूसरे के साथ असख्य आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धो मे आबद्ध होते है, यद्यपि साथ ही साथ वे अपने-अपने वर्ग-स्वार्थों और वर्ग-हितो की दृष्टि से उत्पादन सम्बन्धो को—और इस प्रकार तमाम आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धो को भी—आमूल बदलकर नए उत्पादन सम्बन्ध स्थापित करने के लिए या उन्हे ज्यो का त्यों स्थायी बनाए रखने के लिए चेतन-अचेतन रूप से आपस मे अनवरत संघर्ष भी करते जाते है। इस सघर्ष के फलस्वरूप समाज की प्रगति-विरोधी मरणशील शक्तियाँ इतिहास-पट पर अपनी लीला समाप्त करती जाती है और प्रगतिशील शक्तियाँ अपनी भूमिका खोलने के लिए उभरती आती है। एक गुलाम समाज मे यह सघर्ष ही इतिहास की संचालिका शक्ति है, जो निष्प्रयोजन और निरुद्देश्य नही है। मनुष्य

के इतिहास ने ही इसके प्रयोजन और उद्देश्य को निर्दिष्ट किया है, और यह जीवन-वास्तव के मूल मे अतर्निहित उसका सार तत्व है। मानव पर मानव का शोषण समाप्त करके न्याय, समानता, प्रेम और मुक्त-सहयोग पर आधारित एक सच्चे वर्ग-मुक्त, शोषण-मुक्त, अज्ञान-मुक्त मानव-समाज का निर्माण ही इस अविराम सघर्ष की मूल-प्रेरणा, इसका लक्ष्य और प्रयोजन है, जो इतिहास को गति प्रदान करता है। यही वस्तु-सत्य है। इसको सचेत रूप से हम पहचाने या न पहचाने पर इसके घात-प्रतिघात हमे निरन्तर सहने पडते है, जो हमे गतिमान रखते है और इस सघर्ष के प्रति उदासीन और तटस्थ नही रहने देते—कोई न कोई पक्ष लेने को विवश कर देते है।

समाज की मरणशील और उभरती हुई शक्तियो का यह ऐतिहासिक सघर्ष मनुष्य के आर्थिक जीवन तक ही सीमित नही रहता, बल्कि पहले त्वरित और अवचेतन रूप से और फिर धीरे-धीरे सचेत और सगठित रूप से उसके समस्त सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन को भी घेर लेता है और सघर्षशील मानवता की चेतना मे प्रतिबिम्बित होकर उन युग-विधायक विचारो को जन्म देता है जो इस ऐतिहासिक सघर्ष के प्रयोजन और लक्ष्य के सारवाही प्रतीक होते है। जीवन-सत्य के ये सारवाही विचार अपने जीवनानुभव से सघर्षशील मानवता की चेतना मे उन मानवीय आकाक्षाओ, आदर्शों और सकल्पो का भावनाजन्य मूर्त्तरूप धारण करते जाते है जो उसकी समस्त पीडा-वेदना, हर्ष-विमर्ष, सुख-दु ख आशा-निराशा, कामना-लालसा, इच्छा-सकल्प का सहज, दुर्दमनीय आग्रह लेकर उसके हृदय को आन्दोलित करते आये होते है। और इस प्रकार के विचार एक ऐसी प्रबल एकता-विधायक, सगठनकारी शक्ति बन जाते है, जो व्यक्तिगत स्वार्थो और शोषक-वर्ग की विचारधाराओ की सकीर्ण सीमाओ से निकालकर लोगो को आखिल मानवता के प्रगति सघर्ष मे एक होकर भाग लेने के लिए उत्प्रेरित करने लगते है, कोटि-कोटि जनो के हृदय मे प्रतिध्वनित होकर वह सच्चे मानववाद की भावना को जगाने मे इतिहास-शक्तियो की युगवाणी बनते है, जन-जन के अतर की ऐसी ज्योति बनते है, जिसके ज्वलत प्रकाश से उनका भावी पथ आलोकित होता जाता है, और मानवता अपने सघर्ष के स्वरूप को पहचानती है, परिणामो को जाँचती-परखती है और उसकी गति और दिशा का नियमन करती है। ये युग-विधायक, जीवन-वास्तव के सारवाही विचार ही कलाकार की प्रतिभा को वह सहज अतर्दृष्टि प्रदान करते है जिनके सहारे वह इन्द्रिय-बोध कर पाता है कि कौन-सी शक्तियाँ मरणशील है, और कौन उभरकर सामने आ रही है, जिससे वह अपनी रचना मे भावी सम्भावनाओ के दृष्टिकोण से जीवन-वास्तव का मूर्त्त, सम्पूर्ण, सक्रिय प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के लिए जो प्रासगिक है, उसको ही स्वीकार करता है और जो अप्रासगिक है और वास्तविकता को विकृत और एकागी बनाता है, उसे अस्वीकार कर देता है। ये विचार सचेत विचार भी होते है और मूर्त्त भावना भी, और कला की विचार-वस्तु बनते है। वे कला मे अभिव्यक्त प्रत्येक भाव, विचार, जीवन-चित्र या घटना मे पिरोए होते है और उन्हे अन्दर से ही उद्भासित करके जीवन-वास्तव के ऐतिहासिक सत्य

को निरावृत करते रहते है। एकता, समानता, भाईचारा, न्याय, आजादी, प्रजातन्त्र और समाजवाद ऐसे ही महान विचार है जो न्यूनाधिक मात्रा मे हमारे जनवादी-साहित्य की विचार-वस्तु और प्रेरणा बनते आए है। श्रेष्ठ प्रतिभा का लेखक इन विचारो को सिद्धात-रूप मे ग्रहण किए बिना भी केवल सहज भावना से ही रचना मे व्यक्त कर सकता है, जिसके आधार पर ही लेखक की 'विचारधारा' का निरूपण किया जाता है, न कि उसके सचेत, अमूर्त्त विचारो और विश्वासो के आधार पर जो वस्तुत वर्ग-समाज के सस्कारो और सस्कृति से निर्दिष्ट होते है, और जिनसे प्रत्येक वस्तुवादी लेखक भी पूर्णत मुक्त नही हो पाता। कोई लेखक जितनी मूर्त्तिमत्ता और मार्मिकता के साथ अपनी रचना मे अपने युग के प्रगतिविधायक महान विचारो को प्रतिबिम्बित करता है, उसकी रचना उतनी ही सार-पूर्ण और उत्प्रेरक होती है।

इसलिए अपने लेखक और कलाकारो से सघर्षशील मानवता की पहली माँग यह है कि वह जीवन-वास्तव को सही, मूर्त्त-सम्पूर्ण-सक्रिय रूप से प्रतिबिंबित करे, और दूसरी माँग यह है कि वह अपनी कला के माध्यम से उन महान युग-विधायक विचारो को एक मूर्त्त सहज-भावना के रूप मे और जीवन और इतिहास की भाषा मे अभिव्यक्ति दे जो आज जन-जन को 'शान्ति', 'आजादी', और 'जनवाद' के सघर्ष मे भाग लेने के लिए अनुप्राणित कर सके, उनको मनोबल और साहस दे सके।

(४)

यहाँ पर लेखक के सचेत दृष्टिकोण का प्रश्न स्वत उठ जाता है। इस सम्बन्ध मे काफी भ्रम फैला हुआ है, इसलिए सविस्तर स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है।

आज लेखक के लिए सचेत राजनीतिक या सामाजिक दृष्टिकोण का प्रश्न इस-लिए महत्त्वपूर्ण नही हो गया है कि उसके बिना वह श्रेष्ठ प्रगतिशील साहित्य की रचना कर ही नही सकता, जैसा कि कुछ दोस्तो का ख्याल है और वे राजेन्द्रसिह बेदी की तरह साहित्य-रचना मे "असल चीज लेखक का दृष्टिकोण है" का नारा दिए जाते है। ऐसा नारा ऐसे सकीर्ण मतवाद को जन्म देता है जिसकी अतिम परिणति इसके अतिरिक्त और कोई नही हो सकती कि जो सचेत मार्क्सवादी लेखक नही है। वह प्रगतिशील नही हो सकता—और इसमे भी एक सूक्ष्म भेद पैदा हो जाने की सम्भावना बनी रहेगी, अर्थात् जो मार्क्सवादी बाकायदे कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य होगा, वह तो हकीकी मानी मे प्रगतिशील लेखक समझा जायगा और जो सदस्य न होगा वह 'चार घुडसवारो' के साथ लगे उस 'पाँचवे' हमसफर की तरह ही समझा जायेगा जो अपनी शान बढाने के लिए दूर से ही जवाब देता था कि 'हम पाँचो सवार दिल्ली जा रहे है।'

परन्तु ऐसा दावा साहित्य और कला के इतिहास और रोजमर्रा के अनुभव की अवहेलना करता है। इतिहास ऐसी मिसालो से भरा पडा है जिनसे साबित होता है कि अनेक श्रेष्ठ और प्राणवन्त रचनाओ के लेखको का सचेत दृष्टिकोण अत्यन्त पिछडा हुआ और अपने युग की प्रगतिशील विचारधाराओ की सापेक्षता मे प्रतिक्रियावादी भी रहा

है। इसका यह अर्थ कदापि नही कि एक कलाकार की हैसियत से उनमें से कोई भी अपने युग के संघर्षों से तटस्थ था, या प्रगतिशील शक्तियो का विरोधी था। अगर ऐसा होता तो उनकी रचनाओ मे वस्तु-सत्य प्रतिबिम्बित न होता और उनकी रचनाओ मे आज कोई उल्लेखनीय प्राणवन्त तत्व भी न होता—वे अब तक स्वय ही मर चुकी होती। वस्तुत. उनकी वस्तु-सत्य की सवेदनशील प्रतिभा अपने युग की सघर्षशील मानवता की इतिहास-पट पर उभरती हुई शक्तियो और उन्हें अनुप्राणित करनेवाले उन युग-विधायक विचारों का सहज इन्द्रिय-बोध करने मे समर्थ रही जो अधिक मानवीय नैतिकता, अधिक मानवीय न्याय-भावना और अधिक मानवीय समाज-सम्बन्धो की कामना के प्रतीक थे; और उन्होने अपनी सकीर्ण वर्ग-सहानुभूतियो, वर्ग-विचारधाराओ और वर्ग-सस्कारो के बावजूद अपनी आत्मा के पूरे बल और आवेग से सघर्षशील मानवता का पक्ष-समर्थन किया और वर्ग-समाज की क्रूर वास्तविकता को निरावारण करके उसका अन्त करने मे अपनी कृतियो से मदद पहुँचाई। अगर लेखक वस्तु-सत्य का दामन छोडकर कोरा कल्पनावादी न बन जाए तो यह बात आज भी सच है, और आगे भी सच रहेगी। 'अगर असल चीज लेखक का दृष्टिकोण है' तो फिर जैनेन्द्रकुमार के 'त्याग-पत्र' को किस कसौटी पर रखकर जाँचेगे? इसलिए सचेत दृष्टिकोण या विचारधारा कला की सृजन-शक्ति नही है, उसकी अत्यन्त शक्तिशाली सहायक या सरक्षक ही हो सकती है।

इसके विपरीत जो इस बात का दावा करते हैं कि दृष्टिकोण या विचारधारा कला पर बन्धन बन जाती है, इसलिए लेखक को उससे कोई सरोकार नही रखना चाहिए, वे भी गलत है, और एक ऐसे भयानक पथ पर चलने के आग्रही है जिस पर उनकी कला के लिए ही काँटे बिछे है। यह दुरुस्त है कि यदि दृष्टिकोण और विचारधारा को ही सामने रखकर 'दृष्टान्त साहित्य' रचने की कोशिश की जाय तो उससे साहित्य या कला का निर्माण नही होगा, और विचारधारा कला-निर्माण मे सहायक न होकर उस पर बन्धन बन जायेगी। परन्तु यदि विचार लेखक की चेतना की पिटारी मे ही बन्द न रहकर उसके मानस मे आत्मसात् हो जाये और उसकी सहज वृत्तियो को जगाने वाली सहज भावना, मनोवृत्ति या सस्कारी भाव बन जायँ, अर्थात् अगर लेखक इन विचारों के साथ 'रहने' लग जाये तो ये विचार उसकी रचना को अधिक सार्वजनीनता, व्यापकत्व और सारपूर्णता दे सकते है। कला को विचार-बन्धनो से बचाने की इच्छा रखनेवाले या तो प्रगतिशील विचारो को बन्धन और प्रगति-विरोधी तथा असामाजिक विचारों को कला की निसर्ग सामग्री मानकर प्रतिक्रिया की गोद मे चले जाते है, या फिर सचमुच ही अपनी कृतियों मे से विचारों को इस तरह चुन-चुनकर निकाल फेकते है कि अत मे कविता अर्थहीन, भावहीन, लयहीन, असम्बद्ध, विषम ध्वनियो का समूह बन जाती है, और कहानी पात्र-हीन, घटना-हीन, वाक्य-विन्यासहीन निरर्थक वाक्यो का शब्दजाल बन जाती है। कहा जाता है कि चूँकि विचारो का सम्बन्ध चेतना से है, इसलिए ये रचनाएँ उपचेतन या अवचेतन के 'स्वच्छन्द-सम्बन्ध' की 'अति वास्तविकता' को प्रतिबिम्बित करती है। विचारों या दृष्टि-

कोण को कला का बन्धन मानने की अन्तिम परिणति ऐसे ही अबुद्धिवाद या विक्षिप्तता मे जाकर होती है जो कला को सामाजिक चेतना का एक विशिष्ट रूप न रहने देकर कला का ही हनन कर देती है; यद्यपि इस घोर असामाजिक प्रतिक्रिया को साम्राज्यवादी देशो मे 'चित्र-कल्पनावाद', 'प्रतीकवाद', 'अतिवस्तुवाद', 'क्यूबिज्म' आदि अनेक साहित्यिक-प्रवादो के नाम से बडी ख्याति मिली है।

इस प्रकार सचेत दृष्टिकोण न लेखक की प्रतिभा का स्थान लेकर कला की सृजन-शक्ति बन सकता है और न कलाकार की प्रतिभा को अपना बन्धक ही बनाता है।

दृष्टिकोण का प्रश्न इसलिए महत्त्वपूर्ण है और आज साहित्य और कला से उसका सयोग कराना इसलिए अत्यन्त जरूरी हो गया है कि इस युग के विश्व-व्यापी सघर्ष मे साम्राजी-प्रतिक्रिया की जो शक्तियाँ मनुष्य की गुलामी को स्थायी बनाने के लिए 'युद्ध' की तैयारियाँ कर रही है वह सचेत रूप से कला और साहित्य का प्रयोग हिस्र और पाशविक वृत्तियाँ जगाकर मनुष्य को अपनी मनुष्यता से च्युत करने और 'अपराजेय जनता' की एकता को तोडने के लिए कर रही है। अबुद्धिवाद और बर्बरता के इस आक्रमण के विरुद्ध सघर्षशील मानवता के साथ एक मन और एक प्राण होकर अपनी सम्पूर्ण साहित्यिक शक्तियो द्वारा सघर्ष मे सचेत रूप से भाग लेना एक लेखक के लिए केवल इसलिए ही जरूरी नही हो गया है कि यह उसका सामाजिक कर्त्तव्य है, बल्कि इसलिए भी जरूरी हो गया है कि ऐसा करके ही वह अपने साहित्य, अपनी कला और अपनी प्रतिभा की भी रक्षा कर सकेगा। शान्ति, आजादी और जनवाद के लिए लडने वाली हमारे देश और अन्य देशो की जनता ही आज हमारी कला और प्रतिभा की प्रहरी और सरक्षक है। जनता ही उन तमाम मानव-मूल्यो का उद्गम स्रोत है, जिनको मार्मिक अभिव्यक्ति देकर हम 'मानव-आत्मा' का रूप-निर्माण करते है। लेखक और कलाकार आज अगर सचेत दृष्टिकोण को अपनाने से इन्कार करते जाये तो उन्हे व्यक्तिगत रूप से ही अपनी प्रतिभा, ईमानदारी और कला पर नित्य-प्रति होने वाले प्रहारो के वार झेलने पड जाते है, और इस बात की सम्भावना पैदा हो जाती है कि वह या तो इस सामाजिक सघर्ष की कठोरता से आतकित हो जाएँ और अपनी ईमानदारी का अस्त्र फेककर प्रतिक्रिया के सामने आत्म-सम्पर्ण कर दे——इस युग का इतिहास ऐसे अनेक लेखको के दयनीय उदाहरणो का साक्षी है——या फिर वह अनजाने ही वर्ग-समाज द्वारा निरूपित सकीर्ण मनोवृत्तियो या 'दृष्टिकोण' को वस्तु-सत्य के स्थान पर अभिव्यक्ति देने लगे और व्यापक जीवन-सत्य की चेतना खोकर अपनी व्यक्तिगत आशा-निराशा को ही 'मानवता' की आशा-निराशा की कसौटी समझ बैठे। अपने व्यक्तिवादी ढग से सघर्ष मे लगे ऐसे अनेक ईमानदार लेखको के उदाहरण भी हमारे सामने है, जो अपने अन्तर्द्वन्द मे ही उलझे हुए है। इस प्रकार "यह महान् दृश्य है, चल रहा मनुष्य है!" के रूप मे जीवन-सत्य की मूर्त्त, उदात्त मानववादी अभिव्यक्ति करने वाले कवि बच्चन को हम अन्यत्र व्यक्तिगत निराशाओ के आधार पर मध्यवर्गी 'दृष्टिकोण' से अपनी प्रतिभा को बाँधकर यह घोषणा करते हुए भी पाते है कि 'जग

बदलेगा, किन्तु न जीवन !' अगर लेखक का सचेत दृष्टिकोण स्पष्ट और व्यापक होता तो अपनी व्यक्तिगत निराशा और वेदना के क्षणो मे भी वह इतना पराजित न महसूस करता कि जीवन सत्य को ठुकरा कर अपनी कल्पना से ही 'जग' और 'जीवन' के अलग-अलग नियम गढकर उन्हे इतने साधारण तर्को से सिद्ध करने बैठ जाता। 'नीड का निर्माण फिर-फिर' का आशावाद सत्य है या 'आओ सो जाये मर जायें' का घोर निराशावाद ? एक ही लेखक की रचनाओ मे दो परस्पर-विरोधी 'दृष्टिकोण' वस्तुत उसकी वस्तुदर्शी' प्रतिभा और मध्यवर्गी सकीर्णताओ से आबद्ध 'दृष्टिकोण' या मनोवृत्तियों के उस वैषम्य और द्वन्द्व की सूचना देते है, जिस पर वह अपने व्यक्तिवादी ढग से सघर्ष करके काबू नही पा सका है। उसका कवि और उसका 'विचारक' एक-दूसरे के सहयोगी नही, बल्कि विरोधी है।

इस युग मे सघर्ष जितना ही तीव्र होता जाता है, यह उतना ही ज्यादा जरूरी होता जाता है कि लेखक और कलाकार का 'दृष्टिकोण' उत्तरोत्तर सचेत और व्यापक होता जाये ताकि यह अपने सम्पूर्ण हृदय से सघर्षशील मानवता का साथ दे सके और उसका प्रेरक, पथ-प्रदर्शक और उसकी आत्मा का शिल्पी बन सके । ऐसा न हो कि कभी तो उसकी सहानुभूतियाँ जन-जन तक प्रसारित हों, उनमे आशा और विश्वास का सन्देश हो, और कभी अपनी व्यक्तिगत वेदना से वह इतना हताश हो जाये कि 'आप डूबे तो जग डूबा' को चरितार्थ करके जनता से भी अस्त्र डालने का आग्रह करने लगे । एक व्यापक मानववादी जीवन-दृष्टिकोण ही लेखक को अपने वर्ग-समिति दृष्टिकोण पर विजय पाने मे, अर्थात् अपनी वस्तु-सत्य की सवेदनशील प्रतिभा पर पडने वाले दुष्प्रभावो को हटाने मे सहायक हो सकता है।

साहित्य मे आशा और कर्म-चेतना जगाने वाले "वैज्ञानिक बुद्धिवाद के मानव-वादी, प्रगतिशील दृष्टिकोण को प्रोत्साहन देना और हमारे साहित्य मे सक्रिय उन तमाम अबुद्धिवादी, प्रतिगामी और प्रतिक्रियाशील प्रवृत्तियो का विरोध करना जो साम्प्रदायिकता, जाति-द्वेष और मानव-पर-मानव के शोषण की भावना को प्रतिबिम्बित करके जनता मे उदासीनता, निष्क्रियता और विवेकहीनता उत्पन्न करती है"—यह प्रारम्भ मे प्रगतिशील लेखक आन्दोलन का घोषित लक्ष्य था, ताकि हमारे साहित्यकार अपने 'रचनात्मक और विवेचानात्मक साहित्य के माध्यम से उन सभी शक्तियों को बल प्रदान कर सके जो हमारे देश को उस नये जीवन की ओर ले जायेगी जिसके लिए वह सघर्ष कर रहा है।' इसमे किसी लेखक के लिए कोई आदेश नही था । साहित्यकारो को अपने सामाजिक कर्तव्यो से आगाह करके केवल इस बात का आग्रह किया गया था कि वे समय-समय पर एकत्र होकर अपने साहित्य की गतिविधि का जायजा लिया करे और यदि कही हमारे साहित्य मे कोई प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति जाने-अनजाने, व्यक्त-अव्यक्त रूप से घुसने की चेष्टा कर रही है तो लखक आपस मे विचार-विनिमय और सैद्धान्तिक आलोचना-प्रत्यालोचना करके स्वयं को और देश की अन्य साहित्यिक शक्तियो को उससे सावधान

करते रहे। प्रगतिशील लेखक सघ को भारत के तमाम लेखकों का ऐसा ही व्यापक और सामान्य मच बनाने का उद्देश्य था। उसे किसी भी राजनीतिक दल या पार्टी का खुला या प्रच्छन्न प्लेटफार्म बनाने का प्रश्न न था। यह भी प्रश्न न था कि उसमे यथार्थवादी शैली के लेखक ही सम्मिलित हो सकेगे, छायावादी या अन्य शैलियो के लेखक नही, और न यह मन्तव्य था कि मार्क्सवादी विचार-दर्शन को अपनाने वाले लेखक ही प्रगतिशील समझे जायेगे, दूसरे नही, और न यही आशय था कि जो लेखक तुरन्त या बाद मे भी प्रगतिशील लेखक सघ मे सम्मिलित नही होगे, वे केवल इस आधार पर ही प्रतिक्रियावादी समझे जायेगे। प्रगतिशील लेखक सघ और आन्दोलन इतने सकीर्ण उद्देश्यो को लेकर नही जन्मा। उसे किसी भी पार्टी का प्रचार-केन्द्र बनाना हमे अभीष्ट न था। किसी भी दल और पार्टी के लेखक को एक लेखक की हैसियत से उसमे सम्मिलित होने की खुली दावत थी। बाद मे किस प्रकार सकीर्णतावाद ने धीरे-धीरे जोर पकडा और अन्त मे प्रगतिशील लेखक सघ पर "कुत्सित समाज-शास्त्रीयता" के समर्थक लेखको ने एक प्रकार से अपना आधिपत्य जमा करके "बेकार मवास कुछ किया कर, कपडे फाडकर ही सिया कर" के अनुसार "आज के दिन प्रगतिशील कौन है ?" के प्रश्न की उधेडबुन करके नित्यप्रति "प्रगतिशीलता" की स्वेच्छाचारी परिभाषाएँ और कसौटियाँ गढना और साहित्यकारो के विरुद्ध मनमाने फतवे देना ही अपना काम बना लिया, यह एक लम्बी दास्तान है, और इससे आप सभी कुछ-न-कुछ तो परिचित है ही। इससे बेहद नुकसान हुआ है, लाभ कुछ नही——यह भी प्रत्यक्ष है।

इसलिए और भी आज की गम्भीर परिस्थिति मे इस बात की आवश्यकता बढ गई है कि भारत की विभिन्न भाषाओ के वे तमाम लेखक जो विश्व पर, मानवता पर, मनुष्य की कला-सस्कृति और शिल्प-विज्ञान पर छाये महायुद्ध के खतरे के प्रति सजग है, उन तमाम मानववादी लेखको को जो "विश्व-शान्ति" और "आजादी" और "जनवाद" के समर्थक है, उन तमाम लेखको को जिनको कवि सुमित्रानन्दन पत की पिछले महायुद्ध से पूर्व दी गई वह चेतावनी विस्मृत नही हुई है, जिसमे उन्होने घोषित किया था·

मरणोन्मुख साम्राज्यवाद, कर वह्नि और विष वर्षण
अन्तिम रण को है सचेष्ट, रच निज विनाश आयोजन।

उन तमाम लेखकों को जिन्हे यह देश प्यारा है, इसके पैंतीस करोड निवासी प्यारे है, जिन्हे अपनी रचनाएँ और कला प्यारी है——हम तमाम लेखको को शीघ्र ही कही-न-कही एकत्र होकर व्यापक जनवादी आधार पर प्रगतिशील लेखक सघ और उसके आदोलन को पुन सगठित करना चाहिए। एक साथ मिल-बैठकर अपने-अपने साहित्यो की प्रगति का जायजा लेना चाहिए। लेखको और कवियो के सामने अपनी कला-सम्बन्धी, अर्थ सम्बन्धी, प्रकाशन और वितरण सम्बन्धी और दूसरी क्या कठिनाइयाँ है, उन पर सविस्तार विचार करके उन कठिनाइयो को दूर करने के उपाय सोचने चाहिएँ। और हम सब पर छाये हुए उस खतरे का मुकाबला करने के लिए रचनात्मक, विवेचनात्मक और

प्रचारात्मक साहित्य के माध्यम से हम सब क्या कर सकते है, क्या करे, कैसे करे आदि प्रश्नो के बारे मे सब की राय से सुनिश्चित फैसले करके उन पर अमल करना चाहिए। राजनीतिक पार्टियाँ अपनी नीति का प्रचार करने के लिए स्वय अपने प्रचार-केन्द्र बनाये, उनके सदस्य-लेखक उन केन्द्रो मे पूरे उत्साह से काम करे, यह सही और समझ मे आने वाली बात है, पर प्रगतिशील लेखक सघ को किसी भी पार्टी का (कम्युनिस्ट पार्टी का भी) प्रचार-केन्द्र नही बनने देना चाहिए, यह हम सब लेखको का सामान्य कर्तव्य है। किसी भी राजनीतिक पार्टी को साहित्य और कला के प्रश्नो पर अपनी नीति का ऐलान करने का अधिकार है, पर प्रगतिशील लेखक सघ उसे मानने के लिए बाध्य नही होना चाहिए। यह दूसरी बात है कि किसी पार्टी की राजनीतिक या साहित्य-सम्बन्धी नीति मे कुछ या अधिकाश बाते प्रगतिशील लेखको को अपने सामाजिक कर्तव्यो और उद्देश्यो की पूर्ति मे सहायक लगे और वह उनका स्वागत करे, या किसी विशेष अवसर पर किसी विशेष घटना या कार्य के सम्बन्ध मे उद्देश्यो की सामानता के आधार पर प्रगतिशील लेखक राजनीतिक, साहित्यिक या दूसरे सगठनो के साथ सहयोग करे या उनको सहयोग करने के लिए निमत्रण दे। यह तमाम व्यवहार की बाते है, किन्तु जरूरी है, क्योकि जनवादी दृष्टिकोण के साथ खुला जनवादी व्यवहार लाजिमी है, ताकि प्रगतिशील लेखक सघ की तमाम कमेटियो, उसकी पत्र-पत्रिकाओ के सम्पादक-मण्डलो और प्रकाशन-सस्थाओ के सचालको का निर्वाचन करने मे प्रत्येक लेखक-सदस्य का बराबर का अधिकार हो, ताकि प्रत्येक लेखक इसे अपना सगठन और आन्दोलन समझ सके, इसकी नीति का निर्णायक हो और अपने लेखन द्वारा न केवल प्रगतिशील साहित्य का निर्माता हो, बल्कि उन महान विचारो का प्रचारक भी हो जो आज सघर्षशील जनता की एकता के विधायक है और उसके मनोबल को दृढ बना कर उसे आशावादी और क्रियाशील बनाते है।

सत्य और असत्य, जीवन और मृत्यु, आजादी और गुलामी, मानवता और बर्बरता, विज्ञान और अबुद्धिवाद, शान्ति और युद्ध की शक्तियो के इस विश्व-व्यापी सग्राम से हमारा देश और हमारी जनता न तटस्थ है, न निस्सग है। वस्तुत हम सब इसके भँवर मे फँसे हुए है। बर्बरता और अबुद्धिवाद का आक्रमण हमारी जनता पर अविराम जारी है। क्रूरता, हिसा, जाति-द्वेष, हत्या, घृणा, बलात्कार, गुलामी और छल-कपट की भावनाओ को सहज मानवीय गुणो के रूप मे गौरवान्वित करने वाली सैकडो रगीन फिल्मे और सचित्र पत्र-पत्रिकाएँ प्रतिदिन सात-समुन्दर पार से आकर हमारे देश की उद्‌बुद्ध चेतना मे जहर घोलती रहती है और हमारी जनता की आत्मा पर डाका डालती रहती है। अखबारो के जरिये जगबाजो के हौलनाक वक्तव्य, जिनमे रोज आतिशी हथियारो पर अरबो डालर खर्च करने के लिए ऐलान होते है, देश-देश को तबाह करके नेस्तनाबूद कर देने की धमकियाँ होती है—हमारे लाखो-करोडो देशवासियो तक पहुँचकर उनमे भयकर बेचैनी, निराशा और पस्तहिम्मती पैदा कर रहे है। इन चीजो पर कोई रोक-थाम और पाबन्दी नही है। ये बाते हमारे देशवासियों को नैतिक अधःपतन के रास्ते पर

खीच रही है और उनके आध्यात्मिक जीवन को कलुषित और गन्दा बना रही है। इसलिए हमारी माताओ और बच्चों पर आसमान से चाहे 'वह्नि वर्षण' न हो रही हो, पर 'विष-वर्षण' तो जारी है—कला और शब्द के द्वारा, जो मनुष्य की चेतना, मुक्ति और एकता के अस्त्र है, जिनके हम निर्माता और जौहरी है, पर जिन्हे आज विकृत करके फाशिस्ट मानव-द्रोही इन्सान के खिलाफ ही इस्तेमाल कर रहे है। और इस आक्रमण के सामने हमारी जनता एक प्रकार से निहत्थी है।

सन् बयालीस मे फाशिस्ट आक्रमण के विरुद्ध भारतीय लेखको ने दिल्ली मे सम्मेलन करके एक घोषणापत्र प्रकाशित किया था, अग्रेजी मे जिसका मसविदा 'अज्ञेय' ने तैयार किया था। उसके कुछ स्मरणीय वाक्य यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

"हम भारतीय लेखको का फाशिज्म से कोई सामजस्य नही है।···फाशिज्म एक अपरिचित शत्रु नही है। फाशिज्म के अनिवार्य सस्कृति-विरोधी तत्त्व की उपेक्षा करने या उसकी ओर से आँख मीचने का मतलब स्वेच्छा से अपने को एक बर्बर आक्रमणकारी की लम्बी और घातक गुलामी का शिकार बनाना होगा। आज की दुनियाँ मे फाशिस्ट जीत का मतलब एक नये अन्धकार-युग की शुरूआत होगी और इस सकट को दूर करने मे भारतीय जनता को अपना कर्तव्य पूरा करना होगा। उन्हे सोवियत् सघ की बहादुर जनता, वीर चीनी राष्ट्र और सारे देशो की फाशिज्म-विरोधी जनता के साथ एक होना होगा।

"हम हिन्दुस्तान के महान् और बहुमूल्य सास्कृतिक उत्तराधिकार के प्रहरी है। फाशिस्ट लुटेरो से इसकी रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। अपनी रचनाओं के द्वारा फाशिज्म के खिलाफ अपने को दिमागी तौर पर मजबूत बनाने मे हमे जनता की मदद करना चाहिए। किताबो और पैम्फलेटो, रेडियो और सिनेमा, गानो और रगमच के जरिये हम विशाल जनता के पास पहुँचना चाहिए। अपनी मातृ-भूमि के आह्वान पर आगे आना और मुक्ति तथा सस्कृति की दीपशिखा को प्रज्ज्वलित रखना हमारा कर्त्तव्य है।"

और सोवियत लेखक इलिया एहरनबुर्ग ने नात्सी आक्रमण के समय एक स्मरणीय बात कही थी कि,

"एक लेखक को केवल शताब्दियो के लिए लिखना ही नही आना चाहिए। उसे एक क्षण के लिए भी लिखना आना चाहिए अगर उस एक क्षण मे ही उसकी जनता के भाग्य का निर्णय होने वाला है।"

सकट की घडी मे भारत के लेखक भी कभी अपनी जनता के सघर्ष से विमुख हो "एक क्षण" के लिए लिखने से हाथ खीचकर खामोश नहीं बैठे है, और मेरा विश्वास है कि आज भी नही बठ सकेगे। यह हमारे स्वभाव और हमारी गौरवशाली परम्परा के विपरीत है। सन् बयालीस मे भारत के लेखको ने जब स्वय अपना कर्तव्य-पथ निर्दिष्ट किया था तो आज जब समूची मानवता के भाग्य का अन्तिम निर्णयकारी सग्राम छिडा हो, और जिस मानव-आत्मा के हम शिल्पी है उसकी मूर्त्ति को बर्बरता और अबुद्धिवाद के प्रचार-खग से

फ़ाशिस्ट साम्राजी हमारी आँखो के सामने ही खड-खड कर रहे हो, उस समय भारत के लेखक निश्चय ही असहाय खडे देखते न रहेगे। बल्कि 'किताबो, पैम्फलेटो, रेडियो, सिनेमा, गानों और रगमच' के जरिये देश की तमाम सास्कृतिक शक्तियो को भी साथ लेकर विशाल जनता तक पहुंचेगे, और कला-सस्कृति की रक्षा के साथ-साथ जनता मे नयी चेतना, नयी आशा, नया विश्वास जगाकर 'शान्ति, आजादी और जनवाद' के पुनीत सघर्ष मे पूरे उत्साह से भाग लेने के लिए उसकी एकता को भी दृढ बनायेगे।

हम लेखको का प्रचार-साहित्य "सत्य" केवल मूर्त्त "सत्य" पर ही आधारित होना चाहिए--असत्यपूर्ण, अतिरजित, तिलस्मी या सनसनीखेज प्रचार जनवादी साहित्य-कारो का अस्त्र नही है। न राजनीतिज्ञो की तरह हमारे प्रचार का तरीका आँकडो, दलीलो और शुष्क अमूर्त्त विचारो से सिद्ध करना ही हो सकता है।

हमे तो इस विश्व-व्यापी सघर्ष के ऐतिहासिक सत्य को अपनी रचनाओ द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष मूर्त्त रूप मे साक्षात दर्शाना है ताकि वह इसे दिमाग से ही न समझे, बल्कि इस सघर्ष का अनुभव अपने रोम रोम मे करे, ताकि इस ऐतिहासिक सत्य को एक अनि-वार्यता, एक अवश्यम्भाविता के रूप मे अपने हृदय की धडकनो मे महसूस करे, और उसमे यह अचल विश्वास पैदा हो जाय कि इस सघर्ष मे जनता विजयी होगी, अपने आप या दैव-कृपा से नही, बल्कि विजय प्राप्त करने के लिए उसे भी जी-जान से लडना होगा। इस भावना और विश्वास को जगाने के लिए हमे अपनी रचनाओ मे इस पुनीत सघर्ष को कल्लू और रमिया, रमेश और मालती, रहमान और रजिया के व्यक्तिगत अनुभव के रूप मे असख्य जनो के लिए चित्रित करना है या उसे नाटकीय रूप देना है, ताकि यह सघर्ष क्यो है, किस लिए है यह प्रत्येक व्यक्ति की सजग चेतना का अग बन जाये, ताकि प्रत्येक व्यक्ति समझ जाये कि इस सघर्ष मे भाग लेना, कुर्बानी देना उसका कर्तव्य है। ताकि प्रत्येक व्यक्ति समझ जाये कि इस सघर्ष मे विजयी होने का अर्थ है कि मानव की गुलामी की कालरात्रि समाप्त हो रही है, और इतिहास मे सच्चे मानव-युग का आरभ हो रहा है।

और मेरा विश्वास है कि हमारी चाहे जो शैलियाँ हो, कला-सम्बधी धारणाएँ हो, दार्शनिक विचार और विश्वास हो पर जीवन-वास्तव का मूर्त्त-सपूर्ण सक्रिय चित्रण करते समय हमारे साहित्यकारो को अगर जीवन पर छायी काली घटाओ को चीरकर कही से सघर्ष के सूरज की एक क्षीण किरन भी फूटती नजर आयेगी, तो उनका कलाकार हृदय उस आशा-दूत किरन की उभरती-निखरती लाली को अपनी रचना मे चित्राकित करने के लिए तडप उठेगा और उनकी रचनाओ मे सघर्षरत जनता के लिए कोटि-कोटि व्यक्त-अव्यक्त वरदानो की मिठास और प्रेरणा होगी।

और इस प्रभात की वेला मे सत्य जैसी निर्मल और श्वेत गुलाब की पँखडियो जैसी कोमल बरफवारी शुरू हो गयी है और एक स्निग्ध आलोक काश्मीर की घाटी मे फैलता जा रहा है।

—१ जनवरी, १९५१

२१

साहित्य में संयुक्त मोर्चा ?

सहयोगी 'हस', 'नया साहित्य', 'नई चेतना' और कई दूसरी पत्र-पत्रिकाओ मे इधर कुछ महीनो से 'साहित्य मे सयुक्त मोर्चा' बनाने के प्रश्न पर बहस चल रही है। अनेक लेखको ने, जो प्रगतिशील लेखक सघ से सम्बद्ध है या जो सकीर्ण मतवादियो का दौर-दौरा होने से पहले उसमे थे, इस बहस मे भाग लिया है। प्रस्तावित सयुक्त मोर्चे का क्या आधार हो, क्या उद्देश्य हो, क्या कार्यक्रम हो और उसका नेतृत्व कौन करे—इन सब प्रश्नो पर प्रत्येक लेखक ने अपनी-अपनी सूझ-बूझ के अनुसार सविस्तार सुझाव दिए है। वस्तुत. प्रत्येक लेखक ने कुछ हेर-फेर करके एक-सी बाते ही दुहराई है, या कहे कि मूलत. सबकी तर्क-प्रणाली और प्रवृत्ति एक ही पूर्व-निर्धारित विचार-वृत्त के भीतर आँख मे पट्टी बाँध-कर चक्कर काटते रहने की रही है। अपने देश की विशिष्ट परिस्थितियो का विश्लेषण करके वर्तमान गतिरोध को तोडने और आगे बढने के लिए एक सही नीति और कार्य-क्रम बनाने का काम जिस वस्तुनिष्ठ चिन्तन और रचनात्मक प्रयत्न की माँग करता है, उसका इस बहस मे बहुत बडी सीमा तक अभाव रहा है। इस बहस का अभी तक अत दिखाई नही देता, यद्यपि न 'प्रगतिशील लेखक सघ' का गतिरोध टूट रहा है, न हम विशेष आगे ही बढ पाये है। हाँ, एक गोल परिधि के भीतर चक्कर काटते जाने से गति का भ्रम अवश्य पैदा हो गया है।

इस बहस का सूत्रपात एक विचित्र ढग से हुआ। कई वर्षों से 'प्रगतिशील लेखक-सघ' मे 'कुत्सित समाज-शास्त्रियो' का बोल-बाला रहा है। इस अमार्क्सीय, जन-विरोधी प्रवृत्ति की "विनाशकारी आलोचना लेखको को अपने अस्त्र डालने पर बाधित करती थी। वह किसी लेखक का सम्पूर्ण कृतित्व न परखकर इधर-उधर से अपनी सुविधा के उद्धरण बटोरकर उसके विरुद्ध 'केस' बनाने मे दत्तचित्त थी। और यह उद्धरण तोडे-मरोड जाते थे···" (श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, नया साहित्य, सितम्बर १९५१, पृष्ठ ७५)। कम्युनिस्ट पार्टी के तत्कालीन मत्री बी० टी० रणदिवे की अवसरवादी नीति का परदाफाश होते ही, साहित्य-क्षेत्र के सकीर्ण-मतवादियो के पैरो के नीचे से जमीन खिसक गई। सौभाग्य से उन्ही दिनो 'अखिल चीन लेखक और कलाकार सघ' के अधिवेशन मे सभापति पद से दिया गया प्रसिद्ध चीनी लेखक और नेता कुओ० मो० जो का वह भाषण, जिसम उन्होंने तीस वर्ष से चले आने वाले चीन के लेखको और कलाकारो के विशाल सयुक्त मोर्चे को और अधिक व्यापक आधार पर सगठित करके विशालतर बनाने की माँग की

थी, हमारे इन अवसरवादियो के हाथ लग गया---जैसे अन्धे के हाथ बटेर लग गई हो। 'भारतीय प्रगतिशील लेखक सघ' की प्रारम्भिक जनवादी परम्पराओ, जन-सेवा और साहित्य-निर्माण के उच्चादर्शों का लगातार कृतघ्नतापूर्वक तिरस्कार करते आनेवाले ये दोस्त यकायक चोला बदलकर 'सयुक्त मोर्चावादी' बन गए, और उन्होने साहित्यिक क्षेत्र मे चीन और भारत के परिस्थिति-भेद का विश्लेषण करने या स्वय अपनी गलतियो की ईमानदारी से जाँच-परख करने की जरूरत नही समझी। एक सच्चे अवसरवादी की तरह, जो हवा का रुख़ बदलते ही अपना रुख बदल देता है, उन्होने अपने कृतित्व के स्मारक भारत के जनवादी लेखको की एकता के खडहर पर खडे होकर 'साहित्य मे सयुक्त मोर्चे' की पताका फहरा दी। यदि वह भाषण उनके हाथ न लगा होता तो अपने दयनीय अस्तित्व की रक्षा के लिए वे और कौन-सा प्रपच न रचते, यह नही कहा जा सकता।

कुओ० मो० जो के अनुसार जो व्यापक सयुक्त मोर्चा तीस वर्ष के सयुक्त कार्य और सम्मिलित सघर्ष और उससे उत्पन्न चीनी लेखको की पारस्परिक सद्भावना और एकता का स्वाभाविक परिणाम होना था, उसे रामविलास शर्मा ने तीन-चार वर्षो तक नियमित रूप से प्रगतिशील लेखक आन्दोलन की जडो पर कुठार चलाने और देश की साहित्यिक शक्तियो मे फूट और वैमनस्य की चौडी खाई खोदने के बाद हठात् एक अनिवार्य आरंभ बिन्दु के रूप मे पेश कर दिया और इस प्रकार अपनी और अपने कुत्सित समाज-शास्त्रीय जन-द्रोही गुट की सस्कृति-विरोधी करतूतो पर परदा डालने की चेष्टा की। उनकी इस अवसरवादी कलाबाजी पर ध्यान न देकर भी यदि हिदी के कुछ लेखको ने इस विचार का स्वागत किया है और अधिकाश लेखक परस्पर के आदान-प्रदान, विचार-विनिमय और सक्रिय सहयोग के लिए उत्सुक है, और उनके सूत्र काट दिए जाने पर विक्षुब्ध रहे है, तो यह उनके उत्कट देश-प्रेम, मुक्ति-भावना और मूलत प्रगतिशील दृष्टिकोण का ही प्रमाण है। इसका श्रेय सकीर्ण मतवादियो की अवसरवादी कलाबाजी को नही दिया जा सकता। और न इससे यह सिद्ध होता है कि तुरत 'साहित्य मे सयुक्त मोर्चा' बना लेने का नारा और उस पर चलाई जानेवाली बहस ही परिस्थिति के आग्रह से उत्पन्न है और उसका औचित्य है। कुत्सित समाज-शास्त्रियो को यदि किसी बात का श्रेय दिया जा सकता है तो केवल इसका कि वे इस बहस की सकीर्ण सीमाएँ निर्धारित करने मे सफल हुए है।

वस्तुत: यह बहस अनेक 'कुत्सित समाज-शास्त्रियो' के साहित्यिक अस्तित्व का एक-मात्र सहारा और बहाना बन गई है। 'सयुक्त मोर्चे' का उच्च स्वर से मत्रोच्चार करके आज भी वह आलोचना और रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र मे उसी सकीर्ण मतवादी समझ या नासमझी का परिचय देते जाते है, जिसने साहित्य-जगत् मे इतनी भयकर फूट डाली थी। इसलिए यह बहस भारतीय जनता के प्रति अपने साहित्यिक कर्तव्यो से जी चुराने और मूल प्रश्नो को टालने का साधन बनती जा रही है।

'साहित्य मे संयुक्त मोर्चा' पुस्तक में श्री अमृतराय ने बड़ी ईमानदारी और सूझ-

बूझ से पिछले दौर की त्रुटियो की आलोचना की है, लेकिन अपने विवेचन के तर्कसगत परिणामो को वे भी स्वीकार नही कर पाये और 'साहित्य मे सयुक्त मोर्चे' को, जो सगठन-क्षेत्र मे हमारा 'लक्ष्य' हो सकता है, उन्होने भी एक प्रकार मे आरभ-बिदु ही मान लिया है। सकीर्णतावादी दौर की तबाहकारियो से उत्पन्न परिस्थिति चाहे जितनी अवाछित हो, पर है तो वह ठोस वस्तु-स्थिति ही। उसको बिना बदले और अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा किये, दोनो के अन्तराल की कठिन, दुर्गम राह को पार किये ही छलाँग मारकर लक्ष्य तक पहुँच जाने की नीति निश्चय ही सकीर्ण मतवादी नीति का ही बदला हुआ रूप है। यह एक मरीचिका के पीछे दौडकर गुमराह होना और दूसरो को गुमराह करना है।

मेरा विचार है कि 'साहित्य मे सयुक्त मोर्चा' केवल कुछ दोस्तो के कृत्रिम उत्साह-प्रदर्शन और ख्याली पुलाव पकाने से नही बनेगा, न वस्तु-स्थिति से आँखे मीचकर हथेली पर सरसो जमानेवाली उतावली से ही, और न उस समय तक जब तक कि प्रगतिवादी आन्दोलन से (चाहे वह राजनीतिक हो या साहित्यिक) अमार्क्सीय, सस्कृति-विरोधी कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की सकीर्ण मतवादी और अबुद्धिवादी प्रवृत्ति और विचार-धारा का पूरी तरह उन्मूलन नही कर दिया जाता, और वस्तु-स्थिति का सही-सही जायजा लेकर एक ठोस जनवादी कार्य-नीति नही बनाई जाती या जब तक मार्क्सवादी लेखक ईमानदारी और सच्ची लगन से जनता के प्रति अपने साहित्यिक दायित्वो को पूरा नही करते। इसलिए हमे विचार के स्वनिर्मित वाडो मे से निकलकर वस्तु-स्थिति से आँखे मिलानी चाहिएँ और भेड-चाल और तोता-रटन्त छोडकर जनता की सेवा मे रचनात्मक रीति से लग जाना चाहिए।

वस्तुत प्रगतिशील लेखक आदोलन और मार्क्सवादी लेखको के सम्मुख आज कौन से प्रश्न है, कौन-से कार्य है और वह उन्हे कैसे पूरा कर सकते है, इस सम्बन्ध मे मै यहाँ सह-योगी 'नई चेतना' के सम्पादक श्री लक्ष्मीकात का वह पत्र जो उन्होने मेरे निबन्ध 'मानव-आत्मा के शिल्पियो से' पढकर मुझे लिखा था और उसका जो उत्तर मैने काश्मीर से ३१ जनवरी १९५१ को भेजा था, ज्यो-का-त्यो प्रकाशित कर रहा हूँ। इस उत्तर मे मैने जो सुझाव दिये थे वे हमे आज भी एक वस्तुदर्शी की तरह सोचने के लिए विवश करने मे सक्षम है।

—अक्तूबर, १९५१

उनका पत्र इस प्रकार था—

बीकानेर, २५ जनवरी १९५१

प्रिय साथी चौहान, जी,

आपने अपने निबन्ध 'मानव-आत्मा के शिल्पियो से' मे प्रगतिशील लेखक-सघ को पुन एक व्यापक जनवादी आधार पर सगठित करने के लिए भारत के तमाम लेखको से अपील की है। 'नई चेतना' का सम्पादक-मडल इस अपील का स्वागत करता है। परन्तु इस सम्बन्ध मे कतिपय व्यावहारिक कठिनाइयाँ नजर आती है। आपके लेख से भी स्पष्ट है कि 'सकीर्णतावाद' से भारत के जनवादी लेखकों की एकता पर कुठाराघात हुआ है,

और विशेषकर 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता के समर्थक साथियो' के व्यवहार से अनेक प्रतिष्ठित लेखक 'क्षुब्ध' है और 'अपमानित' महसूस करते है। लेकिन आपने इस स्थिति की ओर सकेत नही किया है कि परिणामत. अधिकाश लेखको की यह निश्चित धारणा बन गई है कि . 'प्रगति लेखक-सघ हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी का साहित्यिक मोर्चा है और वहाँ मार्क्सवादी लेखक ही सम्मानित होते है, चाहे वे अत्यन्त साधारण लेखक ही क्यो न हो, और दूसरे बडे-से-बडे लेखको की बात पर यथोचित ध्यान भी नही दिया जाता। पार्टी की जब जो नीति होती है, प्रगतिशील लेखक-सघ की नीति भी तब त्यो ही बदल जानी पडती है। वस्तुत· प्रगतिशील लेखक-सघ साहित्य-निर्माण के प्रश्नो को छोडकर पार्टी का प्रचार-केन्द्र बन गया है।'

यह धारणा काफी गहरी और व्यापक है, और बिलकुल निराधार भी नही है। हम स्वय चाहते है कि यह धारणा निर्मूल हो जाय और प्रगतिशील लेखक-सघ सच्चे अर्थों मे तमाम जनवादी लेखको का सयुक्त मोर्चा बन जाय, परन्तु व्यवहारत क्या यह सम्भव हो सकेगा और कैसे ? यदि एक क्षण के लिए मान ले कि ऐसा न हो सके तो उस दशा मे क्या करना उचित होगा, और प्रगतिशील लेखक-सघ का क्या कार्य-क्रम रहना आवश्यक होगा ? सम्भवत. आप हम से सहमत होगे कि व्यावहारिक दृष्टि से इन सारे प्रश्नो का औचित्य है और इनका स्पष्ट उत्तर भी अत्यन्त जरूरी है।

इसलिए 'नई चेतना' का सम्पादक-मडल आपसे इन प्रश्नो का उत्तर पाने के लिए आग्रही है।

लक्ष्मीकान्त

'नई चेतना'—सम्पादक-मडल

इस पत्र का मैंने यह उत्तर दिया था—

श्रीनगर-काश्मीर ३१-१-५१

प्रिय साथी लक्ष्मीकान्त जी,

'नई चेतना' सम्पादक-मण्डल की ओर से आपने प्रगतिशील लेखक-सघ के पुनर्सगठन के सम्बन्ध मे अनेक सगत प्रश्न उठाये है। अपने निबन्ध मे इन व्यावहारिक प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत करना मेरा उद्देश्य नही था। अपनी अपील के द्वारा एक ऐसा अनुकूल वातावरण पैदा करना ही मुझे अभिप्रेत था जिसमे भारत के तमाम लेखक सद्भावनापूर्वक एक-साथ बैठकर व्यावहारिक प्रश्नो पर विचार करते और अपने दायित्व की गम्भीरता का अनुभव करके कोई सामान्य कार्यक्रम बनाते। इसी कारण मैंने बुनियादी प्रश्नो तक ही अपने को सीमित रखा और व्यावहारिक प्रश्नों के समाधान की ओर केवल दिशा-सकेत ही किया। अब चूंकि निबन्ध प्रकाशित होने के पूर्व ही आपने कुछ जरूरी प्रश्न उठा दिये है, तो यह अच्छा होगा कि लेख के साथ इन प्रश्नो का उत्तर भी प्रकाशित करे[1]।

१, 'मानव आत्मा के शिल्पियों से' निबन्ध अधिक लम्बा होने के कारण यह 'प्रश्नोत्तर' उसके साथ प्रकाशित न हो सका था।

प्रगतिशील लेखक-सघ के बारे मे आपने अन्य लेखको की जिस 'धारणा' का उल्लेख किया है, वह निस्सन्देह निराधार नही है और मै उससे अपरिचित भी नही हूँ। यह बात किसी समय कोरी 'धारणा' थी, लेकिन आज अगर प्रगतिशील लेखक-सघ की ओर देखे तो यह एक 'हकीकत' है। इसलिए अपना निबन्ध लिखते समय मुझे इस वस्तु-स्थिति का पूरा अहसास था—पिछले आठ-दस वर्ष से है, जब यह एक 'धारणा' का रूप धारण कर रही थी। यही कारण है कि सन् १९४२ मे जब हमारा देश सकटापन्न था और आसन्न 'फाशिस्ट आक्रमण' के विरुद्ध भारत के लेखको को सगठित करने का प्रश्न उठा तो हमने सकीर्ण मतवादियो की तरह इस बात का दुराग्रह नही किया कि सयुक्त मोर्चा बनाने के लिए एक व्यापक आधार पर तमाम लेखको को प्रगतिशील लेखक-सघ मे ही सम्मिलित हो जाना चाहिए। ऐसा करना गलत होता, क्योकि अनेक लेखक इसके लिए तैयार न थे, यद्यपि फाशिस्ट-विरोधी सयुक्त मोर्चे के वे समर्थक थे। इसलिए एक वस्तु-दर्शी की हैसियत से हमे इस 'धारणा' के प्रारम्भिक रूप को भी स्वीकार करना पडा, यद्यपि उस समय प्रगतिशील लेखक-सघ मे मार्क्सवादियो के अतिरिक्त और विचारो तथा दार्शनिक दृष्टिकोणो के लेखक भी सम्मिलित थे, और जो सम्मिलित नही थे वे भी उसके साथ पूरी तरह सहयोग करते थे, और हम उनके साथ सहयोग करते थे। फलत. दिल्ली मे 'भारतीय लेखक कॉन्फ्रेन्स' का अधिवेशन बुलाने के लिए हमने प्रगतिशील लेखक सघ की ओर से अज्ञेय, जैनेन्द्रकुमार, कृष्णचन्द्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि की पूरी मदद की। विचार था कि लेखको के अन्य सगठनो की तरह प्रगतिशील लेखक-सघ भी इस नये व्यापक सगठन मे इकाई की तरह सम्मिलित होगा। इसी प्रकार, सन् १९४७ के प्रारम्भ मे जैनेन्द्र-कुमार ने जब पुन. तमाम लेखको को एक ऐसे ही व्यापक सगठन मे लाकर एकता के सूत्र मे बाँधने का विचार प्रकट किया तो प्रगतिशील लेखक-सघ की ओर से मैने न केवल उसका स्वागत किया, बल्कि उसके साथ पूरा सहयोग करके प्रस्तावित सगठन की प्रार-म्भिक रूपरेखा भी तैयार की। इस दिशा मे अभी हमारे प्रयत्न जारी ही थे कि दिल्ली मे फसाद शुरू हो गए, और देश के बटवारे के साथ चारो ओर ऐसी अफरातफरी मची कि इस विचार को एक अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर देना पडा। प्रगतिशील लेखक-सघ के तत्कालीन प्रधान मन्त्री सज्जाद जहीर को जब मैने इस बारे मे सूचित किया तो उन्होने भी अपनी स्वीकृति दी और प्रस्तावित 'भारतीय साहित्य-सम्मेलन' मे बाजाब्ता सम्मिलित होने का इरादा प्रकट किया। अगर दगा-फसाद न हुआ होता, और यह नया सगठन स्थापित हो गया होता तो सभवत प्रगतिशील लेखक सघ उस समय ही उसका एक महत्त्वपूर्ण अग बन गया होता।

ये तथ्य इस बात के प्रमाण है कि जब यह 'धारणा' अधिकाश मे निराधार ही थी, उस समय भी वह मार्क्सवादी लेखक, जो प्रगतिशील लेखक-सघ का नेतृत्व कर रहे थे, दुराग्रही और सकीर्णतावादी नही बने। अर्थात् उन्होंने कभी इस तथ्य से इन्कार नही किया कि प्रगतिशील लेखक-संघ से बाहर भी देश-भक्त, जनवादी और प्रगतिशील लेखक ह,

और अगर वे किसी नये सगठन के अन्दर ही सगठित होने के आग्रही है, तो प्रगतिशील लेखक-सघ को भी उस व्यापक सगठन मे सामूहिक रूप से सम्मिलित होने मे आपत्ति नही हो सकती। अत: आज जब भारतीय लेखको को 'शान्ति, स्वतन्त्रता और जनवाद' के सिद्धान्तो की बुनियाद पर एकजूट करने का प्रश्न हमारे सामने है, तो निश्चय ही हम 'सकीर्ण मतवादियो' की तरह इस बात का दुराग्रह नही कर सकते कि 'प्रगतिशील लेखक-सघ' ही लेखको का 'सयुक्त मोर्चा' बन सकता है, या उसे ही हमे 'सयुक्त मोर्चा' बनाना है। ऐसी नीति का व्यावहारिक परिणाम अधिक-से-अधिक यह निकलेगा कि 'सकीर्णतावाद' के दौर मे जो मार्क्सवादी या उनके निकट हमदर्द लेखक प्रगतिशील लेखक-सघ से हट गए थे या हटा दिये गए थे, उनको ही वापस लाया जा सकेगा, और भारतीय लेखको का एक बहुत बडा और महत्त्वपूर्ण हिस्सा सभवत प्रगतिशील लेखक-सघ के अन्तर्गत किसी सयुक्त मोर्चे मे सम्मिलित होने को तैयार न होगा, क्योकि 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के समर्थक साथियो की सकीर्ण नीति ने उक्त 'धारणा' को इस समय एक हकीकत बना दिया है, और उन्होने इस बात का अनेक ढगो मे अनेक बार एलान भी किया है।

फिर मैंने अपने निबन्ध मे प्रगतिशील लेखक-सघ का व्यापक जनवादी आधार पर पुनर्सगठन करने के लिए तमाम लेखको से क्यो अपील की ? क्योकि प्रारम्भ से ही मार्क्सवादी लेखक इस 'धारणा' के विरुद्ध सघर्ष करते आए है। प्रगतिशील लेखक-सघ जब स्थापित हुआ था, उस समय भारत के अधिकाश मुक्तिकामी, प्रगतिचेता लेखक इसमे सम्मिलित हुए थे, और जो नही हुए थे उनको भी इसमे ले आने की सभावनाएँ थी, क्योकि हर विचार और पार्टी के लेखक इस बात पर सामान्यत सहमत थे कि एक व्यापक आधार पर प्रगतिशील लेखक-सघ को भारत के तमाम लेखको का साम्राज्य-विरोधी सयुक्त-मोर्चा बनाना जरूरी है। कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्ध रखने वाले मार्क्सवादी लखको के सामने भी कभी इस सीमा का उल्लघन करके प्रगतिशील लेखक-सघ को पार्टी का प्रचार-केन्द्र बना देने का सकीर्ण स्वार्थ नही था। अग्रेजी हुकूमत ने अपने विरुद्ध भारतीय लेखकों को एक होते देखकर हमारे बीच फूट डालने की गरज से सबसे पहले 'स्टेट्समैन'-जैसे अखबारो द्वारा यह भ्रामक प्रचार शुरू करवाया कि प्रगतिशील लेखक-सघ कम्युनिस्ट पार्टी का खुला प्लेटफार्म है, और इसे चलाने के लिए मास्को से सोना आता है। सन्देह पैदा करके एक गुलाम देश मे फूट डाल देना आसान काम होता है। अनेक नौकरीपेशा लेखक प्रगतिशील लेखक-सघ से अलग हो गए। इससे सघ के सरगर्म सगठनकर्ताओं में मार्क्सवादी लेखकों का बहुमत-सा दिखाई देने लगा और प्रत्यक्षत ऐसी 'धारणा' के पैदा हो जाने की सम्भावना उत्पन्न हो गई। इधर राजनीतिक पार्टियो के आन्तरिक झगडों और साहित्य-जगत् मे सक्रिय प्रतिक्रियावादी प्रभावो और दकियानूसी विचारों की पत्र-पत्रिकाओं ने भी इस 'धारणा' को बल पहुँचाने मे कोई कोर-कसर नही रखी। हम लगातार इस भ्रामक 'धारणा' के विरुद्ध सघर्ष करते रहे, जिसका ही परिणाम था कि यद्यपि अनेक श्रेष्ठ लेखक इस धारणा से प्रभावित होकर प्रगतिशील लेखक-संघ में सम्मिलित

होने से अपना दामन बचाते रहे, लेकिन उन्होने असहयोग नही किया। जिन मित्रो को सन् १९४१-४२-४३ के दिन याद है वे जानते है कि हिन्दी के अधिकाश लेखक पूरे उत्साह और हार्दिकता से 'हस' के लिए लिखते थे, जो उस समय 'प्रगतिशील आन्दोलन' का मुख-पत्र बन गया था। मार्क्सवादी लेखको की ओर से उनकी रचनाओ की तीव्र आलोचनाएँ भी होती थी, लेकिन इससे परस्पर सौहार्द्र मे फरक न आता था, क्योकि ये आलोचनाएँ यथा-सभव गभीर सैद्धान्तिक दृष्टि से ही की जाती थी, उनमे एक उदात्त मार्क्सवादी नैतिकता का ओज और दीप्ति होती थी। उनका उद्देश्य किसी लेखक को खामखाह जलील करना नही होता था। हिन्दी मे प्रगतिवादी या कहे कि मार्क्सवादी आलोचना की इस गौरव-शाली परम्परा के निर्माण मे एक आलोचक और 'हस' के तत्कालीन सम्पादक की हैसियत से मेरा काफी योग रहा था, परन्तु यह एक खेदजनक बात है कि इस ऊँचे सैद्धान्तिक धरातल को कायम रखने के लिए मुझे जितनी सतर्कता दिखानी चाहिए थी, उतनी मैं न दिखा सका, जिसके फलस्वरूप शरत् तथा सोहनलाल द्विवेदी आदि के सम्बन्ध मे डा० रामवि-लास की सिद्धान्त-हीन, रुचि-वैचित्र्यवादी, और केवल एक निम्नकोटि का आनन्द पाने के लिए चटखारे ले-लेकर पढी जाने योग्य आलोचनाएँ भी 'हस' मे प्रकाशित होती रही, और इस प्रकार 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' का बीज बोया जाता रहा—यद्यपि दूसरी तरफ मैं इस हीन अ-मार्क्सवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध उस समय से ही चेतावनी भी देता रहा। लेकिन चूँकि यह प्रवृत्ति प्रगतिशील आन्दोलन की मुख्य विचार-धारा नही थी, इसलिए तमाम लेखको मे परस्पर सहयोग की भावना पूर्ववत् बनी रही।

प्रगतिशील आन्दोलन पर उन दिनो विरोधियो की ओर से दो आक्षेप किये जाते थे। पहला आक्षेप यह था कि प्रगतिवादी लेखको की रचनाओ मे अश्लीलता और नग्नता का चित्रण होता है। यह आक्रमण एकदम निराधार भी नही था, क्योकि 'छायावाद' की 'अशरीरी' कल्पना की 'स्वाभाविक (?) प्रतिक्रिया के बहाने कतिपय कम उन्नत भाव-चेतना के लेखको ने 'जीवन का यथार्थ और मासल अभिव्यक्ति' करने का नारा देकर अपनी कहा-नियो और कविताओ मे पिछडे, कुरूप और यथासम्भव अनैतिक जीवन का यथातथ्य, फोटोग्राफिक, प्रकृत-चित्रण करना शुरू कर दिया था, और इस प्रकार एक हीन रुचि की, कला-विहीन, भाव-शून्य प्रकृतवादी (Naturalistic) रचनाएँ, जो मूलत. Formalistic और प्रतिक्रियावादी होती है, प्रगतिशील साहित्य के नाम पर होने लगी थी। दूसरा आक्षेप यह था कि प्रगतिवादी साहित्य को मात्र प्रोपैगैण्डा बना देना चाहते हैं। इस आक्षेप मे भी आशिक सत्य था, क्योकि अधिकतर नये लेखक सस्ती ख्याति पाने की गरज से ही किसान और मजदूर के बारे मे कविताएँ लिखने लगे थे, यद्यपि मजदूर-किसान के जीवन और उनकी समस्याओं से उनका कोई दूर का सम्बन्ध भी नही था, जिसके कारण अक्सर उनकी उद्बोधनात्मक कविताओ मे सच्ची हार्दिक सहानुभूति के स्थान पर मध्यवर्गी कृपा-भाव, अतिरजित अलकार-योजना द्वारा पैदा किया गया कृत्रिम ओज और व्यर्थ का शब्द-जाल ही होता था। रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र मे ये दोनों प्रवृत्तियाँ 'कुत्सित समाज-

शास्त्रीयता' की ही सजातीय थी, और धीरे-धीरे अपनी आन्तरिक एकता का अहसास करके सहज भाव से खिचकर एक-दूसरे के निकट आ रही थी। मार्क्सवादी आलोचकों ने इन आक्षेपो का उत्तर देते समय इन प्रवृत्तियो का भी विरोध किया, परन्तु उस समय तक हमारा अनुमान था कि सम्भवत समय के साथ-साथ ये लेखक-आलोचक भी उन्नति करते जायँगे, धीरे-धीरे हकीकत-पसन्द लेखक बन जायँगे, और उनकी रचनाओ मे कला का परिमार्जन और ओज आ जायगा। इसीलिए जिस जागरूकता से मार्क्सवादी लेखको को 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के प्रारभिक रूपो के विरुद्ध सघर्ष करना चाहिए था, हमने नही किया। अन्तत इस ढिलाई का परिणाम यह निकला कि प्रगतिशील लेखक-सघ पर पूरी तरह छा करके 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के समर्थको ने हमारे आन्दोलन की उदात्त, जनवादी परम्पराओ को धूल मे मिला दिया और प्रारम्भ मे अन्य लेखको की जिस 'धारणा' को साआजी प्रचार और दकियानूसियो के आक्षेपो ने मुख्यत एक भ्रामक आधार दिया था, उस 'धारणा' को हमारे 'सकीर्णतावादी कुत्सित समाज-शास्त्री' साथियो ने अपने 'अमल' और अपनी 'रचनाओं' से आज हकीकत बना दिया है।

प्रारम्भ मे प्रगतिशील लेखक-सघ का व्यापक जनवादी आधार बनाये रखने के लिए मार्क्सवादी लेखको ने विरोधियो के लाँछनो और आक्षेपो और दोस्तो की कुत्सित साहित्य-चेष्टाओ के विरुद्ध और उनसे उत्पन्न इस 'धारणा' को निर्मूल करने के लिए जो सघर्ष किया था, उसकी उदात्त परम्परा के प्रभाव मे पडकर ही मैंने अपना सुझाव दिया। इसका यह अर्थ कदापि नही कि आम लेखको को यदि यह सुझाव अमान्य हो तो हम उनके साथ मिलकर कोई नया सगठन बनाने की बात को गलत और आपत्तिजनक समझे और अपनी डेढ चावल की खिचडी अलग ही पकाते जायँ। फिर भी मेरा सुझाव अस्पष्ट और अनिश्चित प्रकार का है—उसका आधार एक उदात्त पूर्व परम्परा है और उसमे बीच के दौर मे 'कुत्सित समाज-शास्त्रियो' द्वारा पैदा की गई सकीर्ण, एकागी परिस्थिति को नजर-अन्दाज किया गया है। और यह गलत है। आपने इस संगत प्रश्न को उठाकर मुझे अपने सुझाव की असगति पर विचार करने का जो अवसर दिया है, उसके लिए आभारी हूँ, और अब मै इस सम्बन्ध मे अपने सुझाव सविस्तर पेश करता हूँ।

प्रगतिशील लेखक-सघ के सीधे-टेढे विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को दृष्टि मे रखकर हमारे लिए अब यही उचित होगा कि हम इस वाछित अथवा अवाछित स्थिति को स्वीकार कर लें कि प्रगतिशील लेखक-सघ प्रधानत· कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्ध रखने वाले मार्क्सवादी (दुर्भाग्य से इस स्थान पर 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के समर्थको को भी इस कोटि मे ही रखने के लिए विवश हूँ) लेखको का सगठन है, और उसको पुन तमाम जनवादी लेखको का सयुक्त मोर्चा बनाने की सदिग्ध चेष्टा मे जितना समय और श्रम का अपव्यय करना होगा, उसकी अपेक्षा यह काम ज्यादा सुगम होगा कि 'शान्ति, स्वतन्त्रता और जनवाद' के सिद्धान्तो के आधार पर साहित्यकारो के अन्य संगठनों और श्रेष्ठ लेखको का व्यक्तिगत सहयोग प्राप्त कर, सबकी सामान्य चेष्टा और विचारणा से एक 'अखिल भारतीय

जनवादी लेखक सम्मेलन' स्थापित किया जाय, जिसमे प्रगतिशील लेखक सघ, साहित्यकार-ससद् और दूसरी प्रान्तिक, स्थानिक और विभिन्न भाषाओ के लेखको की सस्थाएँ विभिन्न इकाइयो के रूप मे सम्मिलित हो और जो लेखक किसी साहित्य-सस्था से सम्बन्ध न रखते हों, वे व्यक्तिगत रूप से सम्मिलित हो। 'भारतीय जनवादी लेखक-सम्मेलन' कैसे बुलाया जाय, जो सगठन बने, उसके उद्देश्य क्या हो, विस्तृत कार्य-क्रम क्या हो, विधान कैसा हो—आदि का निर्णय पहले से नही किया जा सकता, इसलिए यहाँ इन प्रश्नो पर विचार करना अप्रासगिक होगा। ऐसे एक सामान्य सगठन की अतीव आवश्यकता है, इस बात से निस्सदेह अधिकाश लेखक सहमत होगे और यही सबसे महत्त्वपूर्ण बात है।

प्रगतिशील लेखक-सघ को मार्क्सवादी लेखको का सगठन स्वीकार कर लिया जाय तो फिर उसका अपना कार्य-क्रम क्या हो ? क्या वह कम्युनिस्ट-पार्टी का प्रचार-केन्द्र ही न बन जायगा ? क्या फिर उसके पुनर्सगठन की आवश्यकता नही रह जाती ?—ये कतिपय प्रश्न अनिवार्यत उठते है।

इस सम्बन्ध मे कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर भी प्रारम्भ से ही काफी भ्रम फैला हुआ है। सबसे पहले पुनर्सगठन के प्रश्न को ले। वर्तमान प्रगतिशील लेखक सघ को भग करके नये नाम से, नये उद्देश्यो के आधार पर उसका पुनर्सगठन जरूरी है। जब तक मार्क्सवादी लेखको के अन्दर से 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' की प्रवृत्ति को सदा के लिए निर्मूल नही कर दिया जाय, उस समय तक हमारे देश मे 'मार्क्सवाद' की विचार-धारा विकास नही कर सकती, न भारत के जनवादी लेखको मे एकता पैदा करके उन्हे एक व्यापक सगठन मे इकट्ठा ही किया जा सकता है। वस्तुत एकता मार्क्सवादी लेखको मे भी नही हो सकती, क्योकि उनकी एकता का आधार 'मार्क्सवाद' ही हो सकता है, 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' नही। पिछले पाँच-सात वर्षो मे 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' ने हमारे देश मे मार्क्सवाद को जितनी क्षति पहुँचाई है, उसका अनुमान लगाना आसान काम नही है। मार्क्सवाद और साहित्य-कला से सम्बन्धित हर प्रश्न पर इस प्रवृत्ति ने ऐसा गडबड-घोटाला किया है कि उसके दुष्प्रभावो को मिटाने मे कई वर्ष और अथक परिश्रम लग जायगा। इसलिए अगर 'मार्क्सवादी' विचार-धारा को विकास और उन्नति करनी है, तो हम अविलम्ब प्रगतिशील लेखक-सघ का पुनर्सगठन इस प्रकार करना चाहिए कि उसमे 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' की प्रवृत्ति के विरुद्ध सतर्क होकर अविराम सघर्ष करने की सुविधा प्रत्येक मार्क्सवादी लेखक को प्राप्त हो। इस प्रवृत्ति के समर्थको के गिरोह या गुट के प्रति मोह और पक्षपात दिखाकर हम इस गिरोह का ही हित-साधन कर सकते है, जनता और मार्क्सवाद का नही। इसका यह तात्पर्य नही है कि प्रगतिशील लेखक-सघ से इस गुट के लेखको को निर्वासित कर दिया जाय, बल्कि यह कि उन्हे स्वय अपनी कुत्सित प्रवृत्ति से सघर्ष करने और साहित्य रचना और अध्ययन द्वारा मार्क्सवाद को सही ढग से सीख-समझकर सच्चे मार्क्सवादी लेखक बनने का पूरा अवसर देना चाहिए, और उन्हे दूषित वातावरण को और ज्यादा दूषित करने से वचित कर देना चाहिए। इसके लिए यह जरूरी

है कि प्रगतिशील लेखक-संघ का मार्क्सवादी लेखकों की सस्था के रूप मे नये सिरे से जनवादी आधार पर सगठन करने के लिए एक अधिवेशन जल्द-से-जल्द बुलाया जाय जिसमें प्रत्येक भाषा के सभी मार्क्सवादी लेखको को निमत्रित किया जाय। यहाँ निम्न चार बातो को दृष्टि मे रखकर प्रगतिशील लेखक-सघ का पुनर्सगठन किया जाय। १—शान्ति, स्वतन्त्रता और जनवाद के लिए भारतीय साहित्यकारो और जनता के सघर्ष-आन्दोलन को तेजतर करने के लिए अपनी साहित्यिक रचनाओ और सगठन-कार्य द्वारा मार्क्सवादी लेखक क्या कर सकते है, और उन्हे कैसे, क्या करना चाहिए। २—मार्क्सवादी साहित्य मे 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' की प्रवृत्ति के विरुद्ध सजग सघर्ष करने के लिए कैसे-क्या करना चाहिए। ३—भारत मे सही मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अपने देश के साहित्य और इतिहास की अपेक्षा मे आलोचना और समाज-विज्ञान के क्षेत्रो मे श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ साहित्य-निर्माण के लिए कैसे-क्या करना चाहिए। ४—अपने देश की भाषाओ मे मार्क्सवादी 'क्लासिक' ग्रन्थो और देशी-विदेशी भाषाओ के रचनात्मक साहित्य की महान् कृतियो और प्रगतिशील रचनाओ आदि के अनुवाद और प्रकाशन के लिए कैसे-क्या किया जाय।

अभी तक यह सारा महत्त्वपूर्ण कार्य अराजक रीति से ही चलता-चलाता आया है, और इस ओर समुचित ध्यान नही दिया गया। हमारे देश की प्रत्येक भाषा मे मार्क्सवादी लेखको की काफी बडी सख्या है—इन लेखको मे मै पत्रकारो को नही शामिल कर रहा, क्योकि उनका कार्य साहित्य-सृजन नही है। जो लेखक साथ ही पत्रकार भी है, उनकी बात अलग है। दरअसल यहाँ मेरे ध्यान मे रचनात्मक साहित्य के निर्माताओ, कवियो, उपन्यासकारो, नाटककारो, कहानी-लेखको, आलोचको के अतिरिक्त समाज-शास्त्रियो, दार्शनिको, इतिहासकारो, मनोवैज्ञानिको, पुरातत्त्ववेत्ताओ, नृ-शास्त्रविज्ञो, भूगोल शास्त्रियो आदि मानव-शास्त्रो, सस्कृति और शिक्षा के क्षेत्रो मे अपनी खोज और लेखन से भाग लेने वाले उन तमाम लेखको की बडी सख्या भी है, जो मार्क्सवाद से प्रभावित है, और जिनको हमे भुला नही देना चाहिए। इन सब साथियो को एकत्र किया जाय तो निश्चय ही मार्क्सवादी लेखको की काफी बडी तादाद बन जाती है, और यदि एक सुविचारित और सुनिश्चित योजना के अन्तर्गत इन तमाम साथियो के साहित्यिक और रचनात्मक प्रयत्नो को सगठित किया जा सके, तो इसमे सन्देह नही कि थोडे समय मे ही भारत के मार्क्सवादी लेखक विचार-जगत् के हर क्षेत्र मे एक महत्त्वपूर्ण विधेयात्मक भूमिका खेल सकेगे, और देश की चिन्तना को व्यापक रूप से प्रभावित कर सकेगे।

यहाँ पर इस बात को स्पष्ट कर देना जरूरी है कि प्रगतिशील लेखक-सघ को मार्क्सवादी लेखको का सगठन बनाने का यह अर्थ नही है कि उसे कम्युनिस्ट पार्टी का प्रचार-केन्द्र बना दिया जाय। ऐसा करना गलत होगा। नये नाम से पुनर्सगठित प्रगतिशील लेखक-सघ को हर सूरत मे एक साहित्यिक सस्था ही बना रहना चाहिए, पार्टी का प्रचार-केन्द्र नही। मै जानता हूँ कि ऐसा कहने पर 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के समर्थक साथियो को घोर आपत्ति होगी और वे किसी व्यक्तिवादी, मध्यवर्गी मनोवृत्ति से इस

बात का सम्बन्ध जोडने के लिए दलीले तलाश करेगे और लेनिन-स्टालिन की कृतियो को आद्यन्त उलट-पलट डालेगे। लेकिन हकीकतपसन्दी का यह तकाजा है कि जब हम किसी विषय पर सोचे तो उसके पूर्वापर सम्बन्धो पर भी निगाह रखे और अन्य घटनाओ, वस्तुओ और विषयो से जुडने वाले उसके सम्बन्ध-सूत्रो को भी ध्यान मे रखे, ताकि हमारा सोचना एकागी न हो जाय। इसके अतिरिक्त कम्युनिस्ट पार्टी ही देश की एकमात्र ऐसी सस्था नही है, जिसकी विचारधारा का आधार मार्क्सवाद हो। और अनेक वामपक्षी दल और सस्थाएं और व्यक्ति मार्क्सवाद को जीवन-दृष्टि के रूप मे स्वीकार करते है। वस्तुत. कम्युनिस्ट पार्टी भी इधर कई वर्षो से अपनी गलत समझ के कारण भारतीय जनता के जनवादी हितो को तिलाजलि देकर इतनी अधिक पथ-भ्रष्ट हो चुकी थी कि सही मार्ग पर आने मे न जाने कितने वर्ष लगेगे। तब तक मार्क्सवादी लेखक यदि पहले की तरह ही पार्टी के पिछलग्गू बने रहे तो वे एक दूषित चक्र के भीतर ही चक्कर काटते रहेगे। किन्तु यदि वे स्वतन्त्र रूप से कार्य करे तो मार्क्सवादी लेखको के पास अपने साहित्य-क्षेत्र का स्वय इतना कार्य होगा या होना चाहिए कि सघ को पार्टी का प्रचार-केन्द्र बना देने का अर्थ होगा कि लेखको की क्षमताओ का प्रयोग मार्क्सवादी विचारधारा और जनता के हित मे जिस सीमा तक किया जा सकता है या किया जाना चाहिए, उस सीमा तक न करके, उनका अपव्यय कराया जाय। कुत्सित समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण के साथियो को यह बात इसलिए नापसन्द होगी कि उस समय साहित्य-रचना का काम बच्चो का खेल नही रह जायगा, और सस्ती ख्याति के मार्ग बन्द हो जायंगे और उन्हे भी अपने कार्य को गम्भीरता और जिम्मेदारी के साथ निभाना पडेगा। तब साहित्य-रचना एक कठोर जीवन साधना बन जायगी।

इसलिए मेरी निश्चित राय है कि पार्टी का प्रचार-केन्द्र प्रगतिशील लेखक-सघ से अलग होना चाहिए। इस प्रचार-केन्द्र का सगठन कैसे और किस आधार पर किया जाय, इस पर कोई परामर्श देना विषयान्तर होगा। विभिन्न भाषाओ मे प्रकाशित होने वाले पार्टी के दैनिक और साप्ताहिक पत्रो मे काम करने वाले पत्रकार और सवाददाता साथियो को अपना अलग सगठन बनाना चाहिए, और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से (अर्थात् वैज्ञानिक दृष्टिकोण से) भारतीय पत्रकार-कला की समस्याओ का हर पहलू से अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि पार्टी के पत्रो को अधिक-से-अधिक जन-प्रिय और उच्चकोटि का कैसे बनाया जाय और पार्टी की सही नीति और कारकर्दगियो का श्रेष्ठ और प्रभावकारी ढंग से कैसे प्रचार और प्रकाशन किया जाय—यह उनका मुख्य काम है। इसके अतिरिक्त, अखिल भारतीय पत्रकार-सघ मे प्रेस की स्वतन्त्रता और पत्रकारो के अधिकारो के लिए किस प्रकार लडा जाय, ये कतिपय प्रश्न है जिनको ध्यान मे रखकर पार्टी के पत्रकारो की सस्था को भारतीय पत्रकार-सघ जैसे सगठन मे सम्मिलित होना चाहिए।

प्रगतिशील लेखक-सघ का विस्तृत कार्य-क्रम क्या हो, इस सम्बन्ध मे तफसील से सुझाव देने का यह अवसर नही है। जिन चार बातो के आधार पर सघ का नये नाम से

'मार्क्सवादी लेखक-संघ' के रूप मे पुनर्सगठन जरूरी है उनको दृष्टि में रखकर कुछ मोटी-मोटी बाते ही स्पष्ट कर देना उचित होगा ।

१. 'मानव-आत्मा के शिल्पियो से' निबध मे भारत के तमाम लेखको से जीवन-वास्तव को मूर्त, सम्पूर्ण और सक्रिय रूप से प्रतिबिम्बित करने और शान्ति, स्वतन्त्रता और जनवाद के महान् विचारो को अपनी कला-कृतियो द्वारा जन-जन की मूर्त्त भावना बनाने के लिए मैंने जो अपील की है, वह मार्क्सवादी साहित्यकारो पर भी समान रूप से लागू होती है। मार्क्सवादी लेखक भारतीय साहित्य की व्यापक जनवादी परम्परा के अग ही है, उससे बाहर नही है। अपनी साहित्यिक कृतियो द्वारा अन्य लेखको की तरह इस परम्परा को उत्तरोत्तर विकसित करते जाना उनका भी कर्तव्य है--एक प्रकार से कुछ अधिक ही । जीवन-वास्तव को प्रतिबिम्बित करते समय मार्क्सवादी लेखको को भी कला की सचाई का पालन करना है। उदाहरण के लिए, किसी घटना, आन्दोलन, प्रदर्शन, व्यक्ति या परिवार के जीवन का मूर्त, सम्पूर्ण चित्रण करते समय यदि मार्क्सवादी साहित्यकार किसी कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता का चरित्र पेश करता है, तो उसे इस पात्र को एक आदर्श, मर्यादापुरुषोत्तम चरित्र नही बना देना चाहिए । कम्युनिस्ट मजदूर या किसान पात्र निर्व्यक्त, निर्विकार प्राणी नही है--इस वर्ग समाज के ही प्राणी है। मै तो कहूँगा कि मार्क्सवादी लेखको को रचनात्मक दृष्टिकोण से अपने कम्युनिस्ट पात्रो की कमजोरियो और खामियो की भी तीव्र आलोचना करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि वे हकीकतपसन्दी का दामन न छोडे। पार्टी का भी कर्तव्य है कि वह मार्क्सवादी लेखको की रचनाओ मे निहित सही आलोचनाओ पर पूरी सजीदगी से गौर करे और उनका स्वागत और आदर करे। लेखक अगर 'मानव-आत्मा के शिल्पी' है, तो कम्युनिस्ट भी 'मानवो' की श्रेणी मे ही आते है, वे कही आसमान से नही उद्भूत हुए, इस वर्ग-समाज मे ही पैदा हुए और पले है। मार्क्सवाद ने जीवन को देखने-समझने और बदलने के लिए अमल करने का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया है, पर यह दृष्टिकोण जादू की लकडी नही है कि उसको छूते ही आदमी 'सर्व-गुण-सम्पन्न' बन जाता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि मार्क्सवादी कवियो, कथाकारो और नाटककारो आदि का अन्य लेखको के साथ मिलकर शान्ति, स्वतन्त्रता और जनवाद के सघर्ष मे अधिकाधिक और श्रेष्ठ कलात्मक साहित्य की रचना करना ही मुख्य काम है।

२ 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' द्वारा पैदा की गई तबाही के कारण मार्क्सवादी आलोचको का दायित्व आज बहुत बढ गया है। इस अबुद्धिवादी और अवसरवादो प्रवृत्ति के विरुद्ध सघर्ष का तात्पर्य केवल यही है कि मार्क्सवादी आलोचना का निरन्तर विकास करके उसे अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक बनाया जाय। यह एक बहुत व्यापक सघर्ष है, क्योंकि आलोचना के प्रतिमानो, मूल्य-निरूपण के सिद्धान्तो आदि की स्थापना करना और उनके आधार पर प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य का मूल्यांकन करना आदि सारे काम इसके अन्तर्गत आते है। साथ ही मानव-विज्ञानो के अन्य क्षेत्रों मे भी जो शास्त्रीय

साहित्य पैदा हो रहा है, उसकी विस्तृत सिद्धान्तपूर्ण गम्भीर आलोचना करना भी नितान्त आवश्यक है। उदाहरण के लिए कोई इतिहास या वेदान्त-दर्शन के सम्बन्ध में पुस्तक निकलती है, तो ऐसी पुस्तकों की चलताऊ या टकसाली आलोचना से काम नही चलेगा, न पूर्व-धारणाओं के आधार पर लेखक या पुस्तक का नाम देखकर ही उसे रद्दी क़रार देने से काम चलेगा। इसी प्रकार तुलसीदास, कालिदास या शेक्सपीयर आदि विश्व-साहित्य के महान् लेखक क्यों आज भी जन-कवि या जनता के हकीकी लेखक हैं, और हमेशा रहेंगे, उनकी कृतियों का मूल्य क्यो स्थायी या अमर है और जनता मे उनकी कृतियों को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाना क्यो जरूरी है—आदि प्रश्नो का भी मार्क्सवादी आलोचना को वैज्ञानिक उत्तर देना है। कुत्सित समाज-शास्त्रीय आलोचको की तरह केवल 'तुलसी तब हहाकरी'-जैसे दस-पाँच उद्धरणो के आधार पर तुलसीदास या किसी अन्य लेखक की महत्ता को सिद्ध करना व्यर्थ है—इस रीति से ही कथावाचक आज तक तुलसीदास को हर प्रकार की धर्मान्धता और प्रतिक्रिया का समर्थक सिद्ध करते आए है। इसलिए मार्क्सवादी आलोचना के सामने बहुत बडा काम है। प्रत्येक भाषा मे मार्क्सवादी आलोचको ने इस दिशा मे काफी उपयोगी काम किया भी है, जिसे कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की प्रवृत्ति ने झुठलाने या विस्मृत करने की कोशिश की है। ऐसे तमाम आलोचना-साहित्य की परीक्षा करके, उसके वैज्ञानिक अंश का सम्पादन और प्रकाशन जरूरी है। इसी प्रकार पिछले पन्द्रह वर्षों मे मार्क्सवादी लेखको ने जो श्रेष्ठ और मूल्यवान रचनात्मक साहित्य पैदा किया है, उसका सकलन और प्रकाशन भी जरूरी है, ताकि दोस्तो या विरोधियो की यह धारणा निर्मूल की जा सके कि मार्क्सवादी लेखक कलात्मक साहित्य की मर्यादाओ को भग करके केवल एकागी और भावहीन साहित्य ही रचते है।

३. इतिहास, दर्शन, समाज-शास्त्र आदि अन्य मानव-विज्ञानो की ओर अभी तक मार्क्सवादी लेखको ने सामूहिक रूप से ध्यान नही दिया है। वस्तुत हमे हर क्षेत्र मे बच्चो से लेकर उच्च-से-उच्च शिक्षा-प्राप्त उद्बुद्ध पाठको के लिए रचनात्मक और वैज्ञानिक साहित्य का निर्माण करना है। यह कार्य अन्य लेखको और खोज करने वाले विद्वानो का ही नही है। प्रत्येक भाषा के मार्क्सवादी लेखको को इस महत् कार्य मे भाग लेकर न केवल तमाम कौमियतों की भाषाओ के विकास मे सहायक होना चाहिए, बल्कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उनके साहित्य का भडार भी भरना चाहिए और जन-शिक्षा के कार्य मे आगे रहना चाहिए। मैंने 'जनपदीय भाषाओ के प्रश्न'[1] पर अपनी रिपोर्ट मे जनपदीय भाषाओ के अलग प्रगतिशील लेखक-सघो की स्थापना का सुझाव पेश करते हुए उनके कार्यक्रम को तीन सूत्रों मे व्यक्त किया था—अर्थात् कहा था कि 'जन-भाषा', जन-शिक्षा' और 'जन-साहित्य' ही जनपदीय प्रगतिशील लेखक-सघों का कार्यक्रम होना चाहिए। मैं समझता हूँ कि यह सुझाव आज भी सर्वथा सही है। देश की तमाम कौमियतो की भाषाओं

---

१. इस संग्रह में अन्यत्र प्रकाशित।

के मार्क्सवादियों को इस कार्यक्रम को पूरा करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

४. इसी प्रकार भारतीय भाषाओं में विश्व-साहित्य और मार्क्सवादी साहित्य के अनुवाद का प्रश्न भी काफी व्यापक है, और इस ओर तुरत ध्यान दिया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, देश की किस भाषा में शेक्सपीयर, बाल्जक, गेटे, टॉल्स्टॉय, पुश्किन, गोर्की, आदि की तमाम श्रेष्ठतम रचनाओं का प्रामाणिक अनुवाद हो चुका है? किस भाषा में मार्क्स, एंजिल्स, लेनिन, स्टालिन तथा अन्य मार्क्सवादी विचारकों की तमाम कृतियों का प्रामाणिक अनुवाद हो गया है?

शान्ति, स्वतन्त्रता और जनवाद के संघर्ष को तेज तर करने के लिए ये सारे रचनात्मक कार्य जरूरी हैं। ज्ञान और चेतना की मशाल ही साहित्यकारों का सबसे बड़ा अस्त्र है, मार्क्सवादी लेखकों का कर्तव्य है कि इस मशाल को उठाकर ही जनता के बीच में जायें, कोरे सिद्धान्त-प्रचारक की हैसियत से नहीं। साहित्य-निर्माण उनकी जीवन-साधना बन जाना चाहिए।

इसीलिए प्रगतिशील लेखक-संघ को मार्क्सवादी लेखकों की संस्था के रूप में नये सिरे से संगठित करना चाहिए, और सुचारु रूप से उसका कार्य-संचालन करने के लिए उसके अन्तर्गत विभिन्न भाषाओं के एक ही विषय से सम्बन्ध रखने वाले लेखकों की विभिन्न परिषदों की स्थापना होनी चाहिए, और उन्हें बाकायदा एक विस्तृत योजना के अनुसार साहित्यिक कार्य करना चाहिए। अन्त में, प्रगतिशील लेखक-संघ को 'भारतीय जनवादी लेखक-सम्मेलन' की स्थापना में पूरा भाग लेना चाहिए, और मार्क्सवादी लेखकों को व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अन्य साहित्य-संस्थाओं और साहित्यकारों के साथ अपने रिश्ते अटूट बनाने चाहिएं—उनके साथ पूरा सहयोग करके और अपने साहित्यिक कार्यों में उनका सहयोग प्राप्त करके।

रही लेखकों के आदर-सम्मान की बात। पिछले कई वर्षों से कम्युनिस्ट पार्टी की तरफ से इस बारे में कोताही बरती गई है, लेखकों की उपेक्षा की गई है या वक्त-जरूरत पर ही किसी लेखक को सम्मानित किया गया है और काम निकल जाने पर उसकी बात भी नहीं पूछी गई। निश्चय ही कम्युनिस्ट पार्टी को पूरी सजगता से इस व्यवहार को त्याग देना चाहिए, क्योंकि लेखकों या किसी भी क्षेत्र के निर्माताओं (मजदूर, किसान, दस्तकार, कलाकार आदि) के प्रति अवहेलनापूर्ण व्यवहार मूलत पूंजीवादी समाज के वर्ग-सम्बन्धों और बुर्जुआ नैतिकता ही का आईनादार है। कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं, कार्यकर्त्ताओं और मार्क्सवादी लेखकों को अपने उच्च नैतिक विचारों के अनुकूल ही जनवादी साहित्यकारों और उनकी रचनाओं का सहज भाव से आदर-सम्मान करना लाजिमी है। हम उनके विचारों और कृतियों की खुलकर सैद्धान्तिक आलोचना करें, पर मनुष्योचित सौजन्य और सहानुभूति को त्याग करके नहीं, संकीर्ण हितों की दृष्टि से नहीं, एकांगी भी नहीं कि बुराइयाँ तो देखें और अच्छाइयाँ नजर-अन्दाज कर दें। सकल जनता के लिए मानव संस्कृति की सारी जिन्दा और जावेद मीरास का दावा करने वाले, कला-

संस्कृति का निर्माण करने वाली प्रतिभाओं को मानव-द्रोहियों और प्रतिक्रियावादियों के हाथो मे तोहफा बनाकर भेट देने की हिमाकत नही कर सकते--न प्राचीन लेखकों को और न वर्तमान लेखको को ही। मार्क्सवादी लेखको को विशेष रूप से याद रखना चाहिए कि एक ग्रियर्सन को साम्राज्यवादी और एक राहुल को प्रतिक्रियावादी घोषित करने मे तो केवल जबान हिलानी पडती है, लेकिन मनुष्य की सस्कृति को आगे ले जाने के लिए इन मनीषियो ने जितना काम किया है, उसका एक शताश भी कर लेना हर व्यक्ति के बस की बात नही है--धारा-प्रवाह गालियाँ बकने या बडे-बडे शब्दो को बाजीगर के गोलो की तरह कठ से निकालते जाने की अपार क्षमता होने पर भी ! जिस प्रकार जीवन के अन्य कार्य-व्यापारो मे, उसी प्रकार साहित्य की दुनिया मे भी रचनात्मक कार्य और कृतित्व ही सम्मानित होता है, जबान-दराजी का गुण नही। मार्क्सवाद भी यही सिखाता है।

—जनवरी १६५१

२२

एशियाई साहित्य में लोहे की दीवार

भारत की तरह एशिया के अन्य देशो का आधुनिक साहित्य भी राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलनों के क्रोड मे जनमा और पनपा हुआ सास्कृतिक पुनर्जागरण का साहित्य है। हमारी शिक्षा-दीक्षा कुछ ऐसी रही है कि प्राचीन यूनानी और लातीनी साहित्यो के अतिरिक्त अग्रेजी, फ्रान्सीसी, रूसी, यहाँ तक कि जर्मन, इतालवी, स्पैनिश, डेनिश और नॉर्वीजियन भाषाओं के आधुनिक और एक सीमा तक मध्यकालीन साहित्यो का विवरण तो हमे रटा हुआ है, लेकिन दुर्भाग्य से एशियाई देशो के प्राचीन अथवा अर्वाचीन साहित्यो के बारे मे हमारी जानकारी अक्षम्य रूपसे नगण्य है। इस्लामी सम्पर्क और प्रभाव के कारण फारसी और अरबी के प्राचीन साहित्य से एक विशेष वर्ग का परिचय अवश्य है, लेकिन आम तौर पर लोगो ने शेख सादी, मौलाना रूमी और हाफिज आदि के नाम ही सुने है, भारतीय भाषाओ मे उनकी कृतियो के अच्छे अनुवाद भी उपलब्ध नही है। अन्य एशियाई भाषाओ के साहित्यो का यदि यत्किंचित् परिचय फुटकर निबन्धो या अनुवादो के द्वारा हमे यदा-कदा मिला है तो अग्रेजी के माध्यम से ही, जो अत्यन्त स्वल्प, सेकिण्ड हैण्ड है और स्वच्छन्द सास्कृतिक आदान-प्रदान का परिणाम नही है। यह अज्ञानता कई सौ वर्षों से सारे एशियाई देशो के सास्कृतिक विकास मे एक दुर्निवार बाधा बनी हुई है, जिनमे हमारे साहित्यो मे एक विचित्र प्रकार की सकीर्णता पैदा कर दी है।

योरप और अमेरिका के देशो मे ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक मूलभूत समानताएँ है, इसका आधार केवल जातिगत नही है। किसी एक ही प्राचीन जाति के रक्त की अमिश्रित धारा इन श्वेताग जातियो मे प्रवाहित नही हो रही। इस एकता का आधार केवल धार्मिक भी नही है, क्योकि उनमे ईसाई और यहूदी दोनो है। वस्तुत. इस एकता का आधार ऐतिहासिक है, जिसके अन्तर्गत इन देशो के भौगोलिक सान्निध्य के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक जीवन की परस्परिता और दीर्घकालीन स्वच्छन्द-सम्पर्क आदि सभी बाते शामिल है। हमारे लिए वाल्मीकि आदि-कवि है, योरपीय देशो के लोगो के लिए होमर। यहाँ नाटच-शास्त्र के प्रणेता भरत मुनि समीक्षा-शास्त्र के पितामह है, वहाँ अफलातून और अरस्तू हर देश और जाति के समीक्षको के पितामह है। इतना ही नही, इताली का दान्ते, स्पेन का सर्वान्ते, इगलैण्ड का शेक्सपीयर, फ्रान्स का बाल्जाक, जर्मनी का गेटे, रूस का तॉलस्तॉय, नॉर्वे का इब्सन, अमरीका का वाल्ट ह्विट-मैन--ये सब और असख्य दूसरे उपन्यासकार, कवि, नाटककार, सगीतज्ञ, चित्रकार,

नृत्यकार, मूर्त्तिकार, दार्शनिक, विचारक आदि योरपीय-अमरीकी साहित्य, कला और सस्कृति की ऐसी सुविशाल और समृद्ध परम्परा के अन्तर्गत समान रूप से आते है कि इनमे से किसी लेखक, कलाकार या विचारक का जन्म चाहे किसी विशेष भाषा-भाषी जाति, देश या काल मे क्यों न हुआ हो, उसकी रचनाएँ और कृतियाँ अनूदित और प्रचारित होकर थोडे हेर-फेर से सभी भाषाओ, देशो और जातियो की अपनी सास्कृतिक परम्परा का अभिन्न अग बन जाती है। इसका कारण केवल यह है कि देश-काल की परिस्थितियो मे वैषम्य अथवा भेद होने के बावजूद योरपीय-अमरीकी देशो के लोगो की सास्कृतिक चेतना मे एक साम्य है। दीर्घ-कालीन सास्कृतिक आदान-प्रदान के कारण ही योरपीय-अमरीकी देशो की चेतना मे इतनी समानताओ का विकास हुआ है। किन्तु विशेष रूप से उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस स्वच्छन्द सास्कृतिक आदान-प्रदान ने ही योरप-अमेरिका के सभी देशो को अपने-अपने सास्कृतिक विकास मे अगगण्य बना दिया है।

प्रथम महायुद्ध के बाद ही योरपीय देशो मे कुछ ऐसे अभूतपूर्व राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तन हुए कि अनेक लोगो ने योरप को पूरब और पश्चिम मे बाँट कर एक रेखा-सी खीच दी। यह प्रचारित किया जाने लगा कि इस कल्पित लौह-दीवार से पश्चिम के राष्ट्र, पूरब के राष्ट्रो से धर्म, सभ्यता, सस्कृति, समाज-व्यवस्था आदि हर बात मे भिन्न है। दूसरे महायुद्ध के बाद तो इस कल्पित लौह-दीवार की सीमा-रेखा और भी पश्चिम की ओर सरक गयी, यानी योरप के आठ-नौ देश लौह-दीवार के पूरब की ओर पहुँच गए। दोनो पक्षो के राष्ट्रो ने इस लौह-दीवार को मनुष्य की कल्पना मे वास्तविक रूप धारण कराने मे कुछ-न-कुछ मदद की है। वस्तुत. लौह-दीवार जैसी कोई चीज वहाँ नही है। हुआ सिर्फ इतना है कि सामाजिक क्रान्तियो के फलस्वरूप योरप के राष्ट्र दो गुटो मे बँट गए है—पूंजीवादी राष्ट्र एक ओर है, समाजवादी राष्ट्र दूसरी ओर। और तब से दोनो ओर का स्वच्छन्द सास्कृतिक आदान-प्रदान यदि बिलकुल बन्द नही हो गया है तो एक बडी सीमा तक रुक अवश्य गया है। पश्चिम के पूंजीवादी राष्ट्र, जिनमे से अधिकाश के साम्राज्य सदियो से एशिया, अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया और उत्तरी-दक्षिणी अमरीका के महाद्वीपो मे फैले हुए है, पूर्वीय योरप के समाजवादी राष्ट्रो से मुक्त सास्कृतिक सम्बन्ध इसलिए नही बनाये रखना चाहते कि उन्हें भय है कि इससे समाजवादी विचारधारा उनके यहाँ भी जोर पकडेगी और वे उखड जायेगे। पूर्वीय गुट के समाजवादी राष्ट्र पश्चिमी योरप के पूंजीवादी देशों से स्वच्छन्द सास्कृतिक सम्बन्ध इसलिए नही बनाये रखना चाहते कि उन्हें भय है कि इसकी आड मे साम्राज्यवादी देश उनकी नयी समाज-व्यवस्था के विघटन की चेष्टाएँ चलायेगे। यो एक विचित्र कृत्रिम स्थिति पैदा हो गयी है। इस कृत्रिम स्थिति का ही नाम लौह-दीवार है।

इस स्थिति ने दोनों पक्षों के राष्ट्रों की साधारण जनता को कितनी अपार सांस्कृतिक क्षति पहुँचाई है, यह साधारणत: अनुमेय नही है। शीत-युद्ध की आवश्यकताओ के फलस्वरूप दोनों ओर के राजनीतिज्ञों ने एक-दूसरे के विरुद्ध ऐसा विषैला वातावरण पैदा करने

की चेष्टा की है कि आम तौर पर दूसरे पक्ष मे सत्य को देखने की प्रवृत्तिका लोप-सा हो गया है। दोनों ही ओर एक अवाछनीय ढग की सकीर्णता, असहिष्णुता और दुराग्रह ने जन्म लिया है, जो कला और साहित्य की प्रवृत्तियो मे भी मुखरित हो उठा है। इस बात को आज कोई नही देखना चाहता कि योरप-अमरीकी पश्चिमी राष्ट्रो और योरप के पूर्वीय राष्ट्रो मे केवल व्यवस्था-भेद है, कोई मौलिक-सास्कृतिक चेतना का भेद नही है।

इस व्यवस्था भेद के कारण जो सास्कृतिक भेद उत्पन्न हो गया है, वह केवल सामयिक है, परिस्थिति-जन्य है और बहुत बडी सीमा तक कृत्रिम है। योरप मे ही सामाजिक क्रान्तियो के फलस्वरूप ऐसे व्यवस्था-भेद पहले भी उत्पन्न हुए है, किन्तु विभिन्न देशो के सास्कृतिक आदान-प्रदान के बीच लौह-दीवार कभी नही खडी की गयी। इसका परिणाम योरपीय जनता के लिए हितकर ही हुआ था। एक तो नये विचारो के व्यापक प्रसार से पुरानी सामन्ती व्यवस्था को जल्द समाप्त करने मे योग मिला, दूसरे सभी देशो मे साहित्य और कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। वास्तव मे योरपीय देशो के ऐतिहासिक सम्बन्ध-सूत्र इतने गहरे है कि उनके बीच स्वच्छन्द सास्कृतिक आदान-प्रदान को रोकने वाली किसी भी प्रकार की लौह-दीवार हानिकर ही सिद्ध होगी।

इतिहास-निर्दिष्ट जैसी सास्कृतिक एकता योरप के देशों मे है, वैसी ही सास्कृतिक एकता एशियाई देशो मे भी है। एशिया के क्रोड मे विश्व की प्राचीनतम महान् सभ्यताएँ पैदा हुई और फली-फूली है। मिश्र, अरब, मध्य एशिया, चीन, भारत, बर्मा, हिन्द-चीन, स्याम, इण्डोनीशिया, कम्बोज, लका आदि एशिया के देशो मे सहस्रो वर्षों तक सास्कृतिक आदान-प्रदान होता रहा है।

इस दीर्घ-कालीन ऐतिहासिक सम्पर्क के कारण एशिया की विभिन्न जातियो, सस्कृतियो और सभ्यताओ मे एक मूलभूत एकता मिलती है जो भाषा, जाति, धर्म या देश-काल के भेदो के बावजूद अमिट है। उसकी छाप इस विशाल महाद्वीप के निवासियो के चिन्तन के ढग और सस्कारो पर दिखाई देती है।

किन्तु जब पश्चिमी साम्राज्यवादियो के चरण एशिया की भूमि पर पडे, तब से एशियाई देशो का यह सास्कृतिक आदान-प्रदान एक प्रकार से बन्द-सा रहा है। इस बात को अच्छी तरह समझ लेने की जरूरत है, क्योकि किसी आक्रोश मे भर कर मै यह नही कह रहा कि एशियाई देशो के बीच कृत्रिम लौह-दीवारे खडी करने का श्रेय पश्चिमी साम्राज्यवादियो को है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। इससे असहिष्णुता, अनादर या विरोध की भावना आपस मे अधिक न बढी हो, लेकिन एक दूसरे के बारे मे अज्ञान की मात्रा इतनी बढ गयी है कि इग्लैण्ड, फ्रास, रूस या अमरीका के इतिहास, साहित्य और कला के बारे मे तो हमे जैसे सब कुछ मालूम है, लेकिन चीन, ईरान, मिस्र या इण्डोनीशिया के बारे मे हमे कुछ नही मालूम। पश्चिमी देशो मे यदि कोई नई प्रवृत्ति या कोई नया फैशन चलता है तो हमारे साहित्यकार और कलाकार उसका तुरन्त अनुकरण करने लगते है, लेकिन एशिया के देशों मे क्या होता है, उससे हम कोई सरोकार नही रखते। हम पिछलग्गू ही

बने रहते है और अपने पुराने प्रभुओ की सस्कृति को ही श्रेष्ठता की कसौटी मानते हुए अन्धानुकरण करते चले जाते है।

इससे हमारा अपना व्यक्तित्व दबा रह जाता है, क्योकि हम जो कुछ निर्माण भी करते है, उसमे दूसरे का अक्स इतना अधिक है कि हमारे अपने जीवन, अपनी सभ्यता, अपने देश के वातावरण का वास्तविक चित्र अपनी समग्रता मे उभर कर सामने नही आ पाता। ये सब काल्पनिक बाते नही है। नई जाग्रति और राष्ट्रीय चेतना के बावजूद अभी तक एशियाई साहित्य या कला का अपना नया, विशिष्ट स्वरूप विकसित नही हो पाया है। कविता है तो उस पर या तो अग्रेजी या फ्रान्सीसी रोमान्टिसिज्म या अधुनातन प्रतीकवाद और चित्र-कल्पनावाद की प्रवृत्तियो का प्रभाव है। उपन्यास है तो उन पर रूसी उपन्यासकारो या फिर जोला, फ्लॉबेअर से लेकर आधुनिक काल तक के यथातथ्यवादियो का प्रभाव है। चित्र-कला है तो वह योरप के वान गॉग, सिजाने, मेतिसी और पिकासो तथा अन्य चित्रकारो की कृतियो से प्रभावित है। सिनेमा जगत् ने हमारे सगीत और नृत्य मे भी पाश्चात्य सगीत के लय-स्वर और ताल-गति का भोडा मिश्रण करना शुरू कर दिया है। जाहिर है कि इस प्रकार हम नये-नये रूपो मे अपनी कला को सजा कर भारतीय पाठको या दर्शको को क्षण भर के लिए चाहे चमत्कृत कर ले लेकिन विश्व-कला या साहित्य के समग्र इतिहास मे इन अनुकरणशील कृतियो का मूल्य नगण्य ही रहेगा। क्योकि उनमे प्राय उस मौलिकता और सहजता का अभाव रहता है जो अपने जीवन के सास्कृतिक वातावरण का युगीन आग्रह लेकर प्रकट होती है, और जिसके कारण ही कोई रचना महान् बनती है।

इस सबमे एशिया के लोग सौ फीसदी घाटे मे ही रहे, ऐसा कहना असत्य होगा, एक सीमा तक अकृतज्ञता का सूचक भी। लेकिन हमने पश्चिम से जो 'नयी रोशनी' ली है उसने हमारी सीमाएं भी बाँध दी है। हम अपने मानदण्डो को छोड कर पाश्चात्य मानदण्डों को अपनाने लगे है। इससे हमारे कला-साहित्य मे जहाँ नवीनता का प्रवेश हुआ, वहाँ उसके कद मे बौनापन आ जाना भी अनिवार्य हो गया। आधुनिक शिक्षा-दीक्षा के बावजूद हमारे जीवन के सस्कार योरप वालो से भिन्न है, हमारा समाज वास्तव मे भिन्न है। हमारे चिन्तन का ढग भिन्न है—यहाँ तक कि हमारी भाव-प्रतिक्रियाओ और भाव-सवेदनो के आलम्बन और प्रकार भी एक बडी सीमा तक भिन्न है। ऐसे मे पश्चिम का अनुकरण करने से बडी से बडी प्रतिभा के पुरुष का कद छोटा रह जाना भी स्वाभाविक है। गान्धी, टैगोर, इकबाल, नेहरू या लूसुन, सुनयात सेन, माओत्सेतुग तथा एशिया के दूसरे अनेक जन-नेता या कलाकार यदि इस युग मे महानता को प्राप्त कर सके है, तो केवल इस कारण ही कि उन्होने पश्चिम से 'नयी रोशनी' लेकर भी उसका अन्धानुकरण नही किया। लेकिन पाश्चत्य प्रभुओ ने शिक्षा-सस्कृति का जो वातावरण अपने यहाँ की नकल के आधार पर यहाँ पैदा किया उसकी पॉलिश और चमक-दमक से एशिया का साधारण बुद्धि-जीवी वर्ग चमत्कृत हुए बिना न रह सका।

इसके अतिरिक्त एशिया के देशो मे जिन्होने साम्राज्य फैलाये उनमें इस बात को लेकर स्पर्धा भी इतनी तीव्र थी कि उन्होंने अपने अपने उपनिवेशों को दूसरे की ललचाई आँखो से बचाने के लिए जैसे पिटारी मे बन्द करके रखा। जो सास्कृतिक आदान-प्रदान प्राचीन काल से इन देशों मे सहज रीति से होता आया था वह बलात् बन्द कर दिया गया और डेढ-दो सौ वर्षो की गुलामी के काल मे एशिया के देश परस्पर अपरिचित-से हो गये। कौतूहल जगाने के अतिरिक्त एशिया के अन्य देशो की घटनाएँ हमे अधिक गहरा छूने मे असमर्थ हो गयी। दूसरी ओर योरप के घटना-चक्र को हम उत्सुकता, भय और आशा से देखने लगे, जैसे हमारा भाग्य और मानवता का भविष्य इस घटना-चक्र के परिणाम पर ही निर्भर करता है। इस प्रकार एक दूसरे से कट कर अलग पडे रहने के कारण एशियाई देशो के राष्ट्रीय आन्दोलनो मे गहरे और सीधे सम्बन्ध-सूत्र कायम नही हो पाये।

जिस देश का अतीत महान् है उसकी जनता मे स्वाभिमान की मात्रा अधिक होन की सम्भावना भी ज्यादा होती है। और जिस जाति का स्वाभिमान जाग्रत हो जाय, उसे अनिश्चित काल तक गुलाम बनाये रखना भी सम्भव नही होता। एशिया के गौराग प्रभु इस तथ्य को समझते थे। इसीलिए उन्होने आर्थिक लूट के साथ सास्कृतिक लूट भी पूरे उत्साह के साथ जारी रखी। कला और साहित्य के भण्डार लूटकर योरप के देशो मे पहुँचाये गये। आज भी अपने अतीत के ऐतिहासिक तथ्यो, साहित्य और कला के विकास की खोज-बीन करने के लिए एशियाई देशो के विद्यार्थियो को लन्दन, पेरिस, बर्लिन, ऐम्स्टरडम आदि के म्यूजियमो और पुस्तकालयो तक दौड लगानी पडती है।

इन सब कारणो से एशियाई देशो के बुद्धि-जीवी वर्ग मे एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति पैदा हो गई है, जिसके फलस्वरूप हम मूलगत एकता के बावजूद और स्वाधीनता प्राप्त कर लेने के बाद भी एक-दूसरे की कला-सस्कृति, एक दूसरे के साहित्य-दर्शन आदि के प्रति उदासीन बने हुए है। इसका तात्पर्य यह है कि हम-अभी भी एक दूसरे के साहित्य-कला-सस्कृति की जानकारी अपने विकास के लिए अनावश्यक समझते है, उसे 'वाइटल' और अनिवार्य नही मानते।

फिर भी इस दिशा मे भारत, चीन, बर्मा, इण्डोनीशिया आदि देशो की सरकारो ने कुछ प्रारम्भिक कदम उठाये है। सास्कृतिक प्रतिनिधि-मण्डल एक देश से दूसरे देश में भेजे जाने लगे है। इससे आपस मे कुछ परिचय तो बढता है, लेकिन डेढ़-दो सौ वर्षों की अज्ञानता की लौह-दीवार को तोडने के लिए ऐसा औपचारिक ढग से मिलना-जुलना और एक दूसरे की प्रशसा करके सन्तुष्ट हो जाना ही पर्याप्त नहीं है। सास्कृतिक आदान-प्रदान की अवरुद्ध धारा को मुक्त करने के लिए एक बडे आयोजन की जरूरत है। इस सम्बन्ध में दो-तीन सुझाव यहाँ देना उचित है—

१—एशिया के सभी देशों को एक दूसरे के यहाँ प्रति वर्ष विद्यार्थियों की पर्याप्त संख्या छात्र-वृत्ति देकर भेजनी चाहिए। इन विद्यार्थियों को, जिस देश मे वे जाएँ, उसकी

भाषा, संस्कृति, इतिहास, कला और साहित्य की पूरी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

२—एशिया के सभी देशो को प्रारम्भ मे अपने-अपने देश की सौ-सौ पुस्तको की सूची तैयार करनी चाहिए। इस सूची मे प्राचीन 'क्लासिक्स' (महान् कृतियो) के साथ साथ आधुनिक युग की श्रेष्टतर रचनाएँ हो—काव्य, नाटक, उपन्यास तथा इतिहास और दर्शन की। इस प्रकार एशिया के बीस-पचीस देशो की श्रेष्ठतम पुस्तको की पहली सूची मे दो-ढाई हजार पुस्तको के नाम होगे। एशिया के प्रत्येक स्वतन्त्र देश की सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने देश मे एशिया-पुस्तकालय की स्थापना करे और इन सारी पुस्तको का अनुवाद सीधे मूल भाषाओ से करवा के अपने देश की भाषा मे उनको प्रकाशित करे।

ये दोनो कार्य सरकारी सहायता से ही सम्भव हो सकेगे। लेकिन इतना निश्चित है कि ऐसा करने से एशिया के देशो के बीच का अलगाव दूर हो जायगा, और एशिया के बुद्धिजीवी, कलाकार और साहित्यकार एक दूसरे की सफलताओ और समस्याओ से सीख कर अपना सहज विकास कर सकेगे। तब हम पाश्चात्य देशो के साथ एक नई सास्कृतिक शक्ति के रूप मे बराबरी के आधार पर मिलेगे, न कि उनके अनुकरण-कर्त्ताओ के रूप मे। जैसे राजनीति मे वैसे ही सस्कृति के क्षेत्र मे भी सह-अस्तित्व का यही आधार सही है। एशिया के देशो मे भारत और चीन सबसे बडे समर्थ और जागरूक देश हैं। उन्हे ही इस दिशा मे पहल कदमी करनी होगी। दरअसल अपनी राष्ट्रीय सस्कृतियो के विकास के लिए भी यह कदम उठाने की जरूरत है। एशिया के साहित्य, कला या दार्शनिक क्षेत्रो मे कौन-सी नई प्रवृत्तियाँ मुखर हो रही हैं, तब यह हमारे विभिन्न भाषा साहित्यो मे आये दिन की चर्चा का विषय बन जायगा। पहले हम एक-दूसरे को जाने, एक दूसरे की कृतियो का मुक्त-हृदय से रसास्वादन करे, फिर उनकी प्रवृत्तियो का लेखा-जोखा तैयार करे। एशिया के सास्कृतिक विकास का, और प्रकारान्तर से हमारे अपने विकास का यही रास्ता है।

—अगस्त १९५५

२३

जनपदीय भाषाओं का प्रश्न[1]

"आधुनिक भारत की सस्कृति एक शतदल कमल के साथ उपमित की जा सकती है जिसका एक-एक दल एक-एक प्रान्तिक भाषा और उसकी साहित्य-सस्कृति है। किसी एक को मिटा देने से उस कमल की शोभा की हानि होगी। हम चाहते हैं कि भारत की सब प्रान्तिक बोलियाँ, जिनमे साहित्य-सृष्टि हुई हो, अपने-अपने घर मे रानी बनकर रहे। प्रान्तिक जनगण की हार्दिक चिन्ता की प्रकाश-भूमि स्वरूप कविता की भाषा होकर रहे। और आधुनिक भाषाओ के हार की मध्यमणि बनकर हिन्दी विराजती रहे।

मेरे विचार मे प्रान्तिक भाषाओ के पुनरुज्जीवन से राष्ट्रभाषा हिन्दी की कुछ भी क्षति नही होगी।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

"अल्प सख्यक जातियो और विभिन्न भाषा-क्षेत्रो की सस्कृति, भाषा और लिपि की सुरक्षा का प्रबन्ध किया जायगा।"

—अखिल भारतीय कॉग्रेस कमेटी (बम्बई, अगस्त १९३१) के "मौलिक अधिकार" के प्रस्ताव से

गत तीन-चार वर्षो से हिन्दी-क्षेत्रो की जनता का मानस आन्दोलित हो उठा है। जनपदीय भाषाओ के स्वतन्त्र विकास की आवश्यकता के प्रति प्रगतिकामी साहित्य-सेवी और विचारक सजग होते जा रहे है। विशेषकर बुन्देली, राजस्थानी, मैथिली और ब्रज भाषा के प्रदेशो मे यह चेतना 'जनपद आन्दोलन' के रूप मे मुखरित हो उठी है, और जिस तीव्रता और हठधर्मी के साथ अखण्ड हिन्दी और अखण्ड भारत के तथाकथित समर्थक अपने सरल सुख-स्वप्नो मे विक्षेप उपस्थित होते देख मातृभाषाओ की इस नवचेतना को निर्मूल करने के लिए चाणक्य की तरह शिखा खोलकर विष उगल रहे है, उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जनपद आन्दोलन गहरी जडे पकडता जा रहा है। इसमे सन्देह नही कि यह आन्दोलन हमारे राष्ट्रीय और सास्कृतिक विकास का एक अभूतपूर्व चरण है, अत. स्वाभाविक है कि इसने हमारे सामने एकदम नये प्रश्न उठा दिये है। चेतना के विकास के साथ-साथ जनपद आन्दोलन के समर्थको ने समय-समय पर विकास के भिन्न-

---

१. **प्रगतिशील लेखक संघ (संयुक्त प्रान्त) की कौंसिल के सम्मुख ५ नवम्बर १९४४ को पेश की गयी रिपोर्ट।** —लेखक।

भिन्न मार्ग सुझाए है और विरोधियों ने तदनुसार अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ गढकर इसको भारतीय एकता और आर्य-सस्कृति के मूल पर आघात करनेवाला आन्दोलन बताया है। इस प्रकार जनपदीय भाषाओ (मातृभाषाओ) के प्रश्न को उठाकर जनपद-आन्दोलन हिन्दी-भाषी क्षेत्रो का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया है[1]।

हिन्दी के प्रगतिवादी लेखको ने कभी व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप मे जनपद आन्दोलन का विरोध नही किया, इतना निश्चित है। इसके विपरीत प्रमुख प्रगतिवादी विचारक महापडित राहुल साकृत्यायन ने 'मातृभाषाओ का प्रश्न' शीर्षक लेख द्वारा जनपद आन्दोलन को सर्वप्रथम ऐतिहासिक--राजनीतिक--सास्कृतिक दृष्टि से पुष्ट सैद्धान्तिक आधार देने मे योग दिया है, और उनका वक्तव्य आज जनपद-आन्दोलन की विचारधारा का एक अभिन्न अङ्ग बन गया है। यह उल्लेखनीय है कि इस आन्दोलन के विरोधियो ने राहुल जी के वक्तव्य पर ही सबसे तीखे प्रहार किये है। प्रगतिवादी साहित्य का प्रमुख पत्र 'हस' भी देवेन्द्र सत्यार्थी, रामइकबालसिह 'राकेश' और श्यामचरण दुबे के जनपदीय भाषाओ के परम्परागत लोक-साहित्य और लोक-गीतो के नये दृष्टिकोण से प्रस्तुत किये गये अध्ययनो को वर्षो से निरन्तर प्रकाशित करता आया है और उसने ब्रज, अवधी, मैथिली, राजस्थानी, भोजपुरी, काशिका आदि अनेक भाषाओ और बोलियो के वर्तमान कवियो की रचनाएँ प्रकाशित करके यह सिद्ध कर दिया है कि प्रगतिवाद की विचारधारा हिन्दी की विभिन्न भाषाओ-उपभाषाओ की नवजाग्रति का स्वागत करती है। हिन्दी के अनेक प्रगतिवादी लेखक अपने-अपने क्षेत्रो के जनपद आन्दोलन मे सक्रिय सहयोग देते रहे है और 'मधुकर' के 'जनपद आन्दोलन अङ्क' से भी यह निर्विवाद हो जाता है कि इस आन्दोलन को प्रगतिवादियो का व्यापक समर्थन प्राप्त है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नही है। जनपद-आन्दोलन की अभी तक कोई एक स्पष्ट विचारधारा नही बन पायी है। अनेक जटिल प्रश्न भी उठ गये है और विरोधियो द्वारा फैलाई भ्रान्तियो के कारण इन प्रश्नो के समाधान पर सोचे बिना ही लोग पक्ष अथवा विपक्ष ग्रहण करने लगे है। इस वातावरण मे प्रगतिवादी स्वय अनिश्चित है कि उनकी नीति क्या हो। अत यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

---

१. स्वतंत्रता प्राप्ति के समय साम्प्रदायिक आधार पर देश के विभाजन और साम्प्रदायिक हत्याकाण्डों और अन्य समस्याओं ने तत्काल के लिए जनपदीय भाषाओ के प्रश्न को पृष्ठभूमि मे डाल दिया। इन विषम घटनाओं के कारण ही 'भाषा-आयोग' के सामने जनपदीय क्षेत्रों की जनता की आकांक्षाएँ समुचित रूप से उपस्थित नहीं की गईं। लेकिन जनपदीय भाषाओं के विकास का प्रश्न अनन्तकाल के लिए स्थगित नहीं रखा जा सकेगा। इस प्रश्न का जनवादी समाधान किए बिना 'भाषा आयोग' का निर्णय भी अन्तिम नहीं माना जा सकेगा। बारह साल पहले इस प्रश्न के समाधान की जो दिशा सही और जनवादी नज़र आती थी, वही दिशा आज भी सही और जनवादी है। अतः इस निबंध का प्रस्तुत संग्रह में पूरा औचित्य है। --लेखक, १५ मई १९५६

है कि आज हम प्रथम बार सघ की कौसिल के अधिवेशन मे इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार कर रहे है।

जनपद-आन्दोलन के प्रतिनिधि भी उत्सुकतापूर्वक हमारी घोषणा की प्रतीक्षा कर रहे है। विरोध की आधी ने उन्हे विचलित कर रखा है, पर उनका विश्वास है कि प्रगतिशील लेखक सघ अविचलित रह कर, उनकी न्यायपूर्ण माँगो का समर्थन करेगा। आज हमे अपने कन्धो पर बहुत बडे कर्तव्य का दायित्व उठाने का निमन्त्रण मिल रहा है, इसलिए भी यह अनिवार्य है कि हम इस प्रश्न के हर पहलू पर गम्भीरतापूर्वक विचार करे। इसके अतिरिक्त, हमारे लेखको और विचारको के सम्मुख अभी यह स्पष्ट नही हो पाया है कि जनपदीय कार्यक्रम क्या होना चाहिए। डॉ० वासुदेवशरण की योजना महत्त्वपूर्ण होते हुए भी जनपद-आन्दोलन की दृष्टि से लक्षहीन योजना है, क्योकि उसको स्वरूप देने वाली विचारधारा अत्यन्त सीमित है। वस्तुत वह हिन्दी (साहित्यिक खडी बोली) की आवश्यकता-पूर्ति के लिए ही बनाई गई है। मातृभाषाओ की अपनी आवश्यकताओ का उसमे लेशमात्र भी कही समावेश नही है। फलत वह जनपदीय भाषा-भाषी जनता को प्रेरित करने मे असमर्थ है। अत जनपद आन्दोलन क्या है, उसका ऐतिहासिक मूलाधार क्या है, मातृभाषाओ का स्वतन्त्र विकास जनहित की दृष्टि से क्यो अनिवार्य और आवश्यक है, विरोधियो का दृष्टिकोण क्यो दूषित है, व्यापक दृष्टिकोण के अभाव मे जनपद-आन्दोलन किन गलत मार्गो पर जाकर पथभ्रष्ट हो सकता है, जनपद आन्दोलन को राष्ट्रीय चेतना और विकसित जनवाद का अभिन्न अग होने के रूप मे देखने से हमारे सामने मातृभाषाओ के स्वतन्त्र विकास के कौन से नये पथ खुल जाते है और तदनुसार हमारे कार्यक्रम की रूपरेखा क्या होनी चाहिए, राष्ट्र-भाषा हिन्दी से विकासमान मातृभाषाओ का क्या सम्बन्ध हो, आदि कतिपय जटिल प्रश्न है, जिन पर हमे गम्भीरतापूर्वक विचार करना है।

जनपद आन्दोलन का इतिहास

जनपद आन्दोलन हिन्दी क्षेत्रो मे रहने वाली जातियो की बढती राष्ट्रीय चेतना से उत्पन्न इस आकाक्षा का परिचायक है कि उनकी मातृभाषाओ और सस्कृतियो का भी स्वतन्त्र, सम्पूर्ण तथा स्वस्थ विकास हो, ताकि प्रत्येक जनपद के निवासी अलग-अलग जाति के रूप मे अपना समुचित विकास कर सके, अपनी निजी सास्कृतिक विशेषताओ को नष्ट न होने दे, प्रत्युत उनका नवविकासकर जन-शिक्षा द्वारा अपनी जनता के पिछडे-से-पिछडे भाग को भी उन्नत और आधुनिक बना सके और प्रजातान्त्रिक आधार पर अपने-अपने जनपद के भीतर एक पूर्णत. विकसित सामाजिक-आर्थिक-सास्कृतिक जीवन का सगठन कर सके। ऐतिहासिक दृष्टि से जनपदो की यह आकाक्षा सास्कृतिक क्षेत्र मे हमारे व्यापक राष्ट्रीय जागरण की विशिष्ट किन्तु स्वाभाविक जनवादी परिणति है।

प्रारम्भ मे जब इस आकाक्षा ने विचारो मे मूर्त्तरूप धारण किया उस समय विचारको के समक्ष इसके ऐतिहासिक सूत्र अज्ञात थे, धारणाएँ अस्पष्ट और एकागी थी—

यह स्वाभाविक था। राष्ट्रीय चेतना की विकासधारा हमारे जीवन के हर क्षेत्र में प्रवेश कर हमें विचलित कर रही थी, यद्यपि हम इसका कारण उतनी स्पष्टतापूर्वक तब नहीं देख पाते थे जितनी स्पष्टता से आज देख सकते हैं। जनपद आन्दोलन का इतिहास एक प्रकार से हमारी राष्ट्रीय जाग्रति की उत्तरोत्तर व्यापकता का भी इतिहास है। इस दृष्टि से जनपद-आन्दोलन को हम तीन भिन्न चरणो मे बाँट सकते हैं और प्रत्येक चरण की विचार-धारा के सम्बन्ध-सूत्र तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना मे पा सकते है और उसके विकास की गति को भी प्रकाश मे ला सकते है। इन तीन चरणो की तीन विचारधाराएँ है, (१) 'विकेन्द्रीकरण' की विचारधारा, (२) 'जनपदीय योजना' की विचारधारा और (३) 'मातृ-भाषाओं का प्रश्न' की विचारधारा।

विकेन्द्रीकरण

आज से लगभग दस वर्ष पूर्व 'विशाल भारत' (फरवरी १९३४) मे पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने प्रान्तो के पुनर्निर्माण का प्रश्न उठाया था। उनका दावा था—

"(१) अब साहित्य सेवियो की सख्या इतनी बढ गई है कि साहित्य की सपूर्ण शक्तियो का प्रयोग, काशी या लखनऊ आदि किसी एक केन्द्र से बैठकर सचालन करना असभव है; (२) साहित्य सम्मेलन की शक्ति क्षीण हो रही है, अतः (३) प्रन्तीय साहित्य सम्मेलनो को जाग्रत किया जाय और इसके लिए आवश्यक है कि साहित्यिक प्रान्तो का पुनर्निर्माण किया जाय। ब्रज साहित्य-मण्डल, बुन्देलखण्ड साहित्य-मण्डल, अवधी साहित्य मण्डल आदि सगठित किये जायँ ताकि इन क्षेत्रो के साहित्यिक अपने यहाँ की साहित्यिक शक्तियो का उपयोग करने मे समर्थ हो सके।"

चतुर्वेदी जी ने सन् १९३४ मे साहित्यिक शक्तियो के अपव्यय का अनुभव करके नए साहित्यिक केन्द्र, और वे भी हिन्दी की विभिन्न भाषाओ के आधार पर विभाजित प्रान्तो के अनुसार, सगठित करने का प्रश्न उठाया, इस पर यदि किंचित् गहराई से सोचे तो कारण स्पष्ट हो जायगा। सन् १९३४ के पूर्व सन् १९३० और '३२ के राष्ट्रीय आन्दोलन समूचे देश की सुप्त चेतना को एक बार जोर से हिला चुके थे। सन् १९३१ के अगस्त मे अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी, बम्बई के अधिवेशन मे, 'मौलिक अधिकार' का प्रस्ताव पास कर चुकी थी। राष्ट्रीय चेतना उस समय इस धरातल तक ऊँची उठ चुकी थी कि हम भारत की एक सीमा तक स्वतन्त्र रूप-रेखा खीच सके। राष्ट्रीय काँग्रेस के प्रस्ताव मे इस चेतना की झलक निखर रही थी। 'मौलिक अधिकार' की घोषणा की आवश्यकता इसलिए पडी कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का लक्ष्य दृष्टिगोचर होने लगा था और राष्ट्रीय आन्दोलन ने समूचे देश की जनता के मानस को बिलोड कर जाग्रति उत्पन्न की थी उसके प्रकाश में देश के सुदूर और विस्मृत कोनों तक की पिछड़ी जनता भी अपनी परिस्थितियों की रोशनी मे स्वाधीनता के अर्थ समझने की चेष्टा करने लगी थी। परन्तु जब नौकरशाही के दमन के फलस्वरूप दोनो राष्ट्रीय आन्दोलन एक प्रकार से विफल हो गये, अर्थात्

आकाक्षित स्वराज्य न मिला, तो राजनीतिक कार्यकर्त्ताओ मे हृदय और विचार-मथन प्रारम्भ हुआ। उन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन की राजनीति, रणनीति और सगठन-नीति को अपने अनुभव और अध्ययन की रोशनी मे पुन. जाचा और उनके मनमे यह धारणा गहरी होती गई कि देश की समूची जनता को राष्ट्रीय झडे के नीचे लाने के लिए काग्रेस की नीति और कार्य-पद्धति मे मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है। उस समय तक राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्मुख जातियो का प्रश्न नही उठा था। हम विदेशी शासन के विरुद्ध एक है, अत एक राष्ट्र है, यही हमारा विश्वास था। उस समय की चेतना के अनुसार यह विश्वास सत्य था। इसीके अनुरूप जब साहित्य के क्षेत्र मे चतुर्वेदीजी ने सम्मेलन की कार्यपद्धति के विरुद्ध नये सुझाव पेश किये तो इसी अनुभूति के आधार पर कि सम्मेलन का कार्यक्षेत्र यद्यपि इतना विस्तृत हो गया है, तो भी साहित्यिक शक्तियो का उतना सदुपयोग नही हो पा रहा है जितना कि सम्भव है। इससे हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने और उसके साहित्य को उन्नत होने मे बाधा पहुच रही है। इस स्थिति को सुधारने के लिए ही सम्मेलन के सगठन और कार्य-नीति मे परिवर्तन की आवश्यकता है। चतुर्वेदीजी के इन सुझावो की विचारधारा का परिष्कार आगे चलकर **विकेन्द्रीकरण** के नारे के रूप मे हुआ। इस सम्बन्ध मे इतना और विचारणीय है कि उस समय चतुर्वेदीजी के सम्मुख मातृभाषाओ का स्वतन्त्र विकास करने का प्रश्न नही था—वस्तुत. वे इस विचार की भाषा तक से अवगत न थे। वे केवल हिन्दी (साहित्यिक खडीबोली) की सुविधा की दृष्टि से नये साहित्यिक केन्द्रो के लिए नये साहित्यिक प्रान्तो की माग कर रहे थे। उनकी माग मे सगठन के लिए अधिक व्यापक और जनतान्त्रिक आधार का आग्रह था और भाषा-मूलक प्रान्तो के अस्तित्व को स्वीकृति देने की ओर सकेत था। इसी कारण उनके सुझाव नई चेतना के द्योतक थे। इस सीमा तक आगे बढने मे किसी को आपत्ति नही हो सकती थी। इस कारण चतुर्वेदीजी के सुझावो को स्वीकार करने के मार्ग मे भावुकता, हिन्दू साम्प्रदायिकता आदि प्रगति-विरोधी शक्तियो ने रोडे नही बिछाये और दिल्ली साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन मे निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया गया

"राष्ट्रभाषा हिन्दी की विस्तृत अभिवृद्धि और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यों और उद्देश्यों का सुसंगठित प्रचार करने की दृष्टिसे यह सम्मेलन आवश्यक समझता है कि प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन और महत्वपूर्ण बोलियों के क्षेत्रमें मण्डल सभाएँ स्थापित की जाएँ, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन से सम्बद्ध होकर व्यवस्थित रीति से निरन्तर कार्य करती रहे।"

इस प्रकार साहित्य सम्मेलन ने सन् १९३४ मे अपने उद्देश्यो का प्रचार करने की सुविधा के लिए क्षेत्र-विभाजन और प्रन्तीय केन्द्र बनाने (बाद को चतुर्वेदीजी की भाषा मे **विकेन्द्रीकरण**) की नीति को सहमति प्रदान तो कर दी पर उसने इस नीति को कार्यान्वित करने मे दृढता नही दिखाई। फिर भी बुन्देलखण्डी साहित्य-मण्डल, ब्रज साहित्य-मण्डल और राजस्थानी साहित्य-सम्मेलन आदि की स्थापना हो गई। ये सस्थाएँ

हिन्दी (साहित्यिक खडीबोली) की शक्तियो को सगठित करने के लिए ही बनी थी, परन्तु जनपद चेतना तक पहुचने की यह पहली मजिल थी। स्मरण रहे कि अभी इस विवाद मे **विकेन्द्रीकरण, जनपद** अथवा **मातृभाषा** आदि शब्दो का प्रयोग नही हुआ था।

अगले छः वर्षो मे राष्ट्रीय चेतना और भी अधिक निखर चुकी थी। जातियो का प्रश्न भी उठने लगा था, यद्यपि किस आधार पर इस प्रश्न का समाधान किया जाय, इस विषय मे विचारो मे अभी अधिक स्पष्टता नही आई थी। सास्कृतिक प्रश्नो के सम्बन्ध मे राष्ट्रीय काग्रेस प्रान्तिक भाषाओ और सस्कृतियो की सुरक्षा और विकास का दायित्व उठाने की बार-बार घोषणा कर चुकी थी। इन बातो का प्रभाव साहित्यिक आन्दोलन पर भी पड रहा था। अत जब हरिद्वार सम्मेलन (१९४०) के मनोनीत सभापति पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी के पास पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक पत्र मे नए साहित्यिक प्रान्तो के निर्माण का प्रश्न 'साहित्य सम्मेलन का विकेन्द्रीकरण' करने का नारा देकर उठाया तो उनके प्रस्तावो मे हिन्दी (साहित्यिक खडीबोली) की 'सुविधा और आवश्यकता' के स्थान पर 'शर्त के साथ न्याय' की माग का भी समावेश हो गया था। पण्डित बनारसीदास ने स्वीकार किया कि हिन्दी "**साम्राज्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों को पूर्ण स्वाधीनता देकर हमें संघ की स्थापना करनी है। अर्थात् राजस्थानी लोग यदि अपनी रीडरें राजस्थानी भाषा में लिखना चाहते हैं तो हमारे लिए उचित हैं कि हम उन्हें यह स्वाधीनता दे दें।**" उन्होने यह भी स्वीकार किया कि '**भिन्न-भिन्न जनपदों के सॉस्कृतिक धरातलों मे अन्तर है। उनके कुछ प्रश्न भी जुदे-जुदे है। कोई भी केन्द्रीय संस्था उनकी ओर भरपूर ध्यान नहीं दे सकती।**' अत '**दो नीतियों मे से एक हम लोगों चुन लेनी होगी। या तो अन्य बोलियों की संस्कृतियों को खत्म करके केवल एक खड़ीबोली की सॅस्कृति जारी रखें या फिर इस सांस्कृतिक उपवन के वैचित्र्य को स्थायी रखने के लिए जनपदों की विशेष-विशेष बोलियों को पनपनें दें।**" चतुर्वेदीजी के पत्र से स्पष्ट है कि साहित्य-जगत मे मातृभाषाओ का प्रश्न इस समय तक काफी तीव्रता से उठ खडा हुआ था।

राजस्थानी मे अपनी रीडरे बनाने के आन्दोलन का सूत्रपात हो गया था, अन्यथा चतुर्वेदीजी उसका उल्लेख न करते। इस आन्दोलन की व्यापकता का प्रमाण प्रथम बार अबोहर साहित्य सम्मेलन (१९४१) के अवसर पर मिला। वहा पर एकत्र राजस्थानी प्रतिनिधियो का निश्चित मत था कि उन्हे राजस्थानी मे रीडरे बनाने की स्वाधीनता होनी चाहिए। इधर मैथिलीवाले भी यही माग कर रहे थे। डा० वासुदेवशरण के सुझावो के कारण 'जनपद' शब्द का भी प्रयोग होने लगा था, और 'भिन्न जनपदो की भिन्न सस्कृति' का अनुमान भी लोगो की धारणाओ मे जगह बना रहा था। हिन्दी की उपमा 'साम्राज्य' मे दी जाने लगी थी और एक साम्राज्य की निरकुशता से छोटी, पिछडी, अनुन्नत भाषाओ-बोलियो को जहा तक वचित रखा जा सके रखने के लिए आग्रह किया जाने लगा था। परोक्ष रूप मे यह मातृभाषाओ के प्रश्न की स्वीकृति थी। परन्तु चतुर्वेदीजी स्पष्ट विचारधारा के अभाव मे उसके सास्कृतिक पक्ष का जोरदार समर्थन नही कर सके।

जनपदो की जनता यदि चाहे तो रीडरे बनाने को स्वतन्त्र हो, नही तो 'सास्कृतिक उपवन के वैचित्र्य को बनाये रखने के लिए' बोलियो को 'पनपने' दिया जाय। कैसे और क्यो, किस जनवादी सिद्धान्त, न्याय और नैतिकता के आधार पर इस 'वैचित्र्य' की रक्षा की जाय, इसका निर्देश उन्होने नही किया। 'उपवन का वैचित्र्य' किसी को रुचिकर हो सकता है। एक साहित्यिक और राजनीतिक कठमुल्ला तो एक वर्ण, एक रङ्ग, एक राष्ट्र, एक भाषा, एक नेता के स्वप्नो मे डूबा अपनी सर्वग्रासिनी एकरसता को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझता है। वह चतुर्वेदीजी की रुचि को क्यो उचित समझे ? इसीलिए विरोध की कल्पना करके चतुर्वेदीजी को अपने कार्य के औचित्य के लिए भीतर से ठोस आश्वासन नही मिला और उन्होने पडित माखनलाल को उसी पत्र मे यह भी लिखा "कि कभी-कभी तो मै यह ख्याल करने लगता हू कि 'मधुकर', 'ब्रजभारती' अथवा 'बान्धव' का जन्म उपयुक्त समय से पन्द्रह-बीस वर्ष पहले ही हो गया है।"

जनपद कल्याणीय योजना

इस बीच श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल की 'जनपदीय योजना' प्रकाशित हो चुकी थी। डॉ० अग्रवाल ने ही सर्वप्रथम 'जनपद' शब्द का प्रयोग किया। महाभारत के भीष्मपर्व (अध्याय ९) और मार्कण्डेय पुराण तथा अन्य पुराणो मे जनपदो की कई सूचिया पाकर डा० अग्रवाल ने जब वर्तमान भारत के मानचित्र और उसकी भाषा-बोलियो की ओर दृष्टि डाली तो उन्हे ज्ञात हुआ कि **'हमारी बोलियों के क्षेत्र वे ही जनपद आजतक अपनी संस्कृति की विशेषता लिए हुए बने है।'** जनपद का अर्थ है वह प्रदेश जिसमे कोई विशेष 'जन' (जाति-अथवा जनसमूह) रहता है, जिसकी भाषा, सस्कृति, रहन-सहन, रस्म-रिवाज—और एक सीमा तक आर्थिक-सामाजिक जीवन मे साम्य हो। पौराणिक काल के जनपद आजतक ज्यो-के-त्यो सुरक्षित है अथवा उनकी विशेष सस्कृतिया समय के प्रवाह मे भी अपरिवर्तित बनी रही है, डॉ० अग्रवाल का यह आशय कदापि नही हो सकता। ऐसा दावा अवैज्ञानिक होगा। प्राकृत और अपभ्रशो से जो आधुनिक भाषाएँ विकसित हुई है, उनका स्वरूप पहले से बहुत बदला हुआ है। ऐतिहासिक क्रम मे अनेक बाहरी प्रभाव इन जनपदो के आन्तरिक जीवन मे अनेक परिवर्तन लाते आये है, यहाँ तक कि कही-कही तो कोई-कोई जनपद एकदम नये धर्म का अनुयायी हो गया है, और दूसरी भाषाओ और संस्कृतियो की छाप उसकी भाषा और सस्कृति पर बहुत गहरी पडी है। उदाहरण के लिए काश्मीरी भाषा-भाषी जनपद को ले। काश्मीरी जनपद आदि मे पिशाच जातियो का जनपद था, उसकी भाषा दरद समूह की भाषा है। आर्यों की विजय के उपरान्त उनके शासन काल मे काश्मीरी भाषा पर सस्कृत का गहरा प्रभाव पडा। सस्कृत के अनेक शब्द और प्रयोग काश्मीरी मे प्रविष्ट हो गये। तदुपरान्त मुस्लिम शासनकाल मे एक प्रकार से समूची काश्मीरी जाति ही इस्लाम धर्म की अनुयायी बन गयी और काश्मीरी भाषा पर सस्कृत की ही तरह फारसी का भी गहरा प्रभाव पड़ा। फारसी के शब्द और मुहावरे काश्मीरी मे प्रचलित हो गये। जनपदो

की भाषाओ और उनके सामान्य सास्कृतिक जीवन मे जिस प्रकार समय की गति के साथ केवल आन्तरिक कारणो से ही परिवर्तन होते आये है, उसी प्रकार वाह्य प्रभावो, शासन परिवर्तनो, भिन्न जातियो के आक्रमणो और जन-समूहो के आवागमन, मिश्रण, विचारों के आदान-प्रदान, अनिवार्य सामाजिक राजनीतिक सम्बन्धो को बनाये रखने की आवश्यकताओं आदि के कारण भी परिवर्तन होते आये है। अत पुराणो से जनपदो की सूची एकत्र करने का यह अभिप्राय कदापि नही हो सकता कि दुराग्रह पूर्वक यह कहा जाय कि पौराणिक जनपद अपने पूर्वरूप मे ही सुरक्षित है।

परन्तु इस सम्बन्ध मे सबसे उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सदियो से जनपदो की संस्कृति और भाषा को आमूल नष्ट करके किसी एक भाषा को रोपने की असख्य राजकीय चेष्टाओ के बावजूद भी ये जनपदीय भाषाएँ और सस्कृतिया अभी तक जीवित है; उनमे साहित्य न पनप सका हो, कही-कही लिपि के अभाव मे उनका बहुत-सा लोक-साहित्य भी चाहे नष्ट हो गया हो, परन्तु उसका मूल ढाचा आज भी सुरक्षित है, अर्थात् उनका वैशिष्टय आज भी बना हुआ है। काश्मीरी इतने प्रभावो के पडने के बाद भी एक स्वतन्त्र भाषा है और उसका स्वतन्त्र व्याकरण है, यद्यपि उसे न कभी राज्याश्रय मिला है, न वह क्षिशा का माध्यम बनी है, यहा तक कि उसकी लिपि भी नही है।[1] पुरानी शारदा लिपि व्यवहार मे नही आती। अतएव जनपदो और जनपदीय भाषाओ पर विचार करते समय हमे इस ऐतिहासिक तथ्य को ध्यान मे रखना चाहिए कि यद्यपि प्राचीन जनपदो और भाषाओमे अनेक परिवर्तन हुए है, उनका विकास या ह्रास हुआ है, परन्तु वे एकदम नष्ट नही की जासकी है और आज भी जीवित है। डा० अग्रवाल का यह कथन सत्य है कि इन जनपदो की सास्कृतिक विशेषताएँ अपनी है। परन्तु यह खोज कर लेने के बाद, जनपदो की सास्कृतिक और भाषागत-विशेषता को लेकर क्या किया जाय, इससे क्या ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाला जाय, यह सब डा० अग्रवाल के लिए अगम्य रहा। डॉ० अग्रवाल पुरातत्त्व के विद्वान है, अतः उनकी राष्ट्रीय-चेतना पुरातत्त्व की सीमाओ मे सिमटकर ही अभिव्यक्त हुई। डा० ग्रियर्सन कृत 'बिहार पेजेन्ट लाइफ', टर्नर और ग्रियर्सनकृत नैपाली और ग्रियर्सनकृत काश्मीरी भाषा के विश्वकोषो से उन्हे प्रेरणा मिली। उन्हे विश्वास हो गया कि "भाषा-शास्त्र की दृष्टि से जनपदो मे, गावो मे बेहिसाब मसाला भरा पडा है।" अत इस उद्देश्य को सामने रखकर कि **"हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण विकास के लिए ग्राम और जनपदों की भाषा और संस्कृति का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है"** क्योकि **"वही साहित्य लोक में चिरजीवन पा सकता है जिसकी जड़ें दूर तक पृथ्वी में गई हों"** उन्होने **"जनपद कल्याणीय योजना"** बनायी। यदि ध्यान से देखा जाय तो इस योजना का नाम **भ्रामक** है क्योकि वस्तुत. वह **हिन्दी कल्याणीय योजना है, जनपद कल्याणीय** नही। योजना काफी प्रसिद्धि पा चुकी है और

---

१ काश्मीरी भाषा का काव्य-साहित्य अब तक कुछ आवश्यक ध्वनि-चिन्ह जोड़कर फारसी लिपि में ही लिखा जाता है।

उसे व्यापक समर्थन भी मिला है। इस योजना का मूलमन्त्र गावो की भाषा, भूगोल, **पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति, गीत, उद्योग, कृषि, आचार-विचार और इतिहास की खोज, संग्रह और अध्ययन** करके वैज्ञानिक पद्धति से उनका सपादन और प्रकाशन करना है, और इस प्रकार राष्ट्रभाषा हिन्दी के भण्डार को भरना है। इन अध्ययनो का अभिप्राय जन-जीवन मे रक्षित पुरातत्व सामग्री की रक्षा करना और उनका आदर्श टर्नर और ग्रियर्सन के विश्वकोष और 'बिहार पेजेन्ट लाइफ' आदि पुस्तके है। टर्नर और ग्रियर्सन ने अग्रेजी मे अपने अध्ययन प्रस्तुत किए है, जनपद कल्याणीय योजना के द्वारा इस प्रकार के अध्ययन हिन्दी (साहित्यिक खडी बोली) मे प्रस्तुत किए जा सकेगे। इन सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययनो को तैयार करने के लिए डॉ० अग्रवाल ने विभिन्न जनपदो मे बसने वाले लेखको, जिनसे उनका तात्पर्य राष्ट्रभाषा हिन्दी के लेखको से है अर्थात् मुझमे-आपमे है—की आठ-आठ समितियो की कल्पना की है और उनके लिए पाच वर्ष के कार्यक्रम की एक साधारण रूपरेखा बना दी है।[1]

डॉ० अग्रवाल की योजना और विचारधारा पडित बनारसीदास के **विकेन्द्रीयकरण** की योजना और विचारधारा से किन अशो मे आगे है, इस पर हम यथावसर विचार करेगे। परन्तु पहले हमे इस योजना की सीमाओ पर दृष्टि डाल लेनी चाहिए। जनपद कल्याणीय योजना मे इतना तो स्पष्ट है कि विभिन्न जनपदो के निवासियो की मातृभाषाओ के विकास के लिए कुछ भी करना डॉ० अग्रवाल को अभीष्ट नही है। उनका निश्चित मत है कि शिक्षा का माध्यम उच्च हिन्दी अथवा साहित्यिक खडी बोली को ही होना चाहिए, और मातृभाषाओ मे नया साहित्य नही उत्पन्न होना चाहिए। डॉ० अग्रवाल मातृभाषाओ को उसी दृष्टि से देखते है जिस दृष्टि से वे अपने म्युजियम की वस्तुओ को देखते है। उनकी दृष्टि मे हिन्दी अथवा साहित्यिक खडी बोली के सम्मुख मातृभाषाओ का पुनरुत्थान असभव है। अग्रवाल पुरातत्त्व के पडित होने के कारण इतना अवश्य स्वीकार करते है कि मातृभाषाओ मे युग-युग से सचित जन-जीवन के अनुभव और ज्ञान की ऐसी राशि है, जो महाभारत काल से लेकर अभी तक अक्षुण्ण बनी हुई है, सभव है कि कालान्तर मे उसमे अभिवृद्धि ही होती आयी है, अत वह एक ऐसी थाती है जो हमे भारतीय जीवन की अटूट परम्परा से मिली है। परन्तु साहित्यिक खडी बोली की आप्लावनकारी बाढ मे यह थाती नष्ट हो रही है। पुरातत्त्व की दृष्टि से हमारा कर्तव्य है कि हम उसमे जो कुछ भी ज्ञातव्य और सग्रहणीय है, वह सब सग्रह करले और राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य को समृद्ध बना ले। विचार केवल इतना है कि इन मिटती हुई जनपद सस्कृतियो की **विशेषताओं** का सग्रह करके हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) को भाषाओ का ऐसा म्युजियम बना दे, जिसमे राजस्थान, पजाब, नैपाल, विदेह और मध्य प्रान्त तक फैले हुए मध्यदेश की विभिन्न भाषाओं का सत्व खीचकर केवल हिन्दी ही एक जीवित भाषा रह जाय और वही इस

---

१ देखिए परिशिष्ट १

भाषाओं के म्यूजियम की **क्यूरेटर** भी हो !

मातृभाषाओ के प्रति भी हमारा कुछ कर्तव्य है, इस दृष्टि से देखने पर ही हम डॉ० अग्रवाल की योजना और उनकी विचारधारा की इतनी तीव्र आलोचना कर सकते है। यदि केवल हिन्दी की दृष्टि से ही देखे तो यह योजना अत्यन्त उपयोगी है। किसी भी दशा मे प्रगतिवादी इस योजना का विरोध नही कर सकते, प्रत्युत उन्हे इसको कार्यान्वित करने मे डॉ० अग्रवाल से सहयोग करना चाहिए। इसमे सन्देह नही कि यह योजना हिन्दी-क्षेत्रो की विभिन्न सस्कृतियो तथा भाषाओ को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से नही बनायी गयी, परन्तु इतिहास की विकासधारा सीधी लकीर नही है कि वह योजनाओ द्वारा निर्दिष्ट पथ पर ही अग्रसर हो। यदि इन क्षेत्रो मे साहित्यको ने इस योजना के अनुसार कार्य किया और वहा के साहित्य, भूगोल और सस्कृति की खोजबीन की तो इसका परिणाम केवल इतना ही नही निकलेगा कि हिन्दी का भडार भर जाय। डॉ० अग्रवाल इतिहास की गत्यात्मक धारा से अनभिज्ञ है, अतएव उन्होने सीधी-सरल रेखाओ द्वारा ही उसके भविष्य को मन मे अङ्कित कर लिया है। राष्ट्रीय चेतना के विकास से जिस प्रकार जातीय चेतना भी उत्तरोत्तर बढती है उसी प्रकार जातीय चेतना के परिणाम-स्वरूप इस चेतना का उदय होना भी अवश्यभावी है कि जातियों की अपनी भाषाए भी समुन्नत और स्वतन्त्र हो। डॉ० अग्रवाल की योजना का यह सीधा परिणाम होगा कि जिन विस्मृत प्रदेशो मे आज कोई साहित्यिक क्रियाशीलता नही है वहाँ पर हिन्दी के साहित्यिक अपने-अपने जनपदो की भाषा और सस्कृति का निकट से अध्ययन करेगे, और केवल यही बात उनके और दूसरे लोगो के मन मे जातीय गौरव की अनुभूति जगायेगी और उनकी शिक्षा सम्बन्धी समस्याए अपने समाधान के लिए उन्हे इस निष्कर्ष तक खीच ले जाएँगी कि बिना अपनी मातृभाषा के समुचित विकास के जन-साधारण को शिक्षित और उन्नत नही बनाया जा सकता, क्योकि अपनी जातीय सस्कृति की गोद मे ही सर्वसाधारण की जातीय चेतना पोषण पा सकती है, अपनी जातीय वाणी मे ही चेतना सपूर्णरूप से मुखर हो सकती है। डॉ० अग्रवाल की योजना इस भावना को जगाने मे अव्यक्त रूप से सहायक ही सिद्ध होगी, बाधक नही। स्वय हिन्दी के देशव्यापी प्रचार ने ही जनपद-चेतना को जन्म दिया है। इसके अतिरिक्त स्वय हिन्दी की अपनी समस्या है, जिसका एक सीमा तक समाधान डॉ० अग्रवाल की योजना की सफलता पर निर्भर करता है। हिन्दी का प्रचार जिस अनुपात मे बढता जाता है, उस अनुपात मे उसके विविध अङ्गो का साहित्य-भण्डार नही भर रहा है। यह हिन्दी-साहित्य का सकट है जिसका हल निकालने के लिए डॉ० अग्रवाल की योजना बनायी गयी है। वैज्ञानिक और शास्त्रीय ढग के अध्ययन किसी योजना के अनुसार और किसी साहित्यिक सगठन, परिषद् अथवा एकेडमी के तत्वावधान मे ही सभव है। इसके साथ ही डॉ० अग्रवाल की योजना से एक और लाभ हो सकता है। इन अध्ययनो के फलस्वरूप जनपदीय भाषाओ के सहस्रो सरल, सुबोध परन्तु सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाव के प्रकाशन मे समर्थ शब्द, मनुष्य के दैनिक व्यापारो मे प्रयुक्त क्रियाओं के नाम, मुहावरे, लोकोक्तिया आदि सकलित होकर धीरे-धीरे हिन्दी के शब्द-भण्डार मे प्रविष्ट हो जाएगे

और हिन्दी का भाव प्रकाशन भी अधिक उन्नत, सुनिश्चित और वैज्ञानिक होता जायगा। अपने देश की सस्कृति के ज्ञान मे जो अभिवृद्धि होगी, वह अलग। अग्रेजी, जर्मन, रूसी और फ्रासीसी भाषाओ के विद्वान् हमारी भाषाओ और सस्कृतियो का अध्ययन करके अपने भाषा-भाषियो का ज्ञान बढाते है, तो यदि हिन्दीवाले स्वय अपने ही क्षेत्रो की भाषाओ का शास्त्रीय अध्ययन करने का निश्चय करे, तो प्रगतिवादी उसका विरोध कैसे कर सकते है? अत यदि मैंने अभी डॉ० अग्रवाल की तीव्र आलोचना की है तो इस बात को ध्यान मे रखकर कि उनकी योजना जनपद-**कल्याणीय** नही वरन् **हिन्दी-कल्याणीय** है और उसे भिन्न नाम से पुकारकर व्यर्थ का भ्रम नही फैलाना चाहिए। इससे यदि जनपदो का कुछ लाभ होगा तो वह डॉ० अग्रवाल की इच्छा के प्रतिकूल। इस कथन का यह अर्थ [illegible] जनपदो के प्रति डॉ० अग्रवाल का अनुराग निश्छल और सच्चा नही है। परन्तु कवि की भावुकता और उपासक की श्रद्धा की सीमाओ को पार कर जानेवाला यह सच्चा अनुराग अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक भावुकता और श्रद्धा की वृत्तियो पर अवलम्बित है और जनपदीय भाषाओ के प्रश्न को समझ लेने मे असमर्थ है।

डॉ० अग्रवाल की योजना के पक्ष मे एक बात और कही जा सकती है। पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी का **विकेन्द्रीकरण** का आन्दोलन और डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की जनपदीय योजना एक दूसरे के पूरक है। चतुर्वेदीजी के **विकेन्द्रीकरण** के आन्दोलन मे सभी बाते अस्पष्ट है—हिन्दी की कौन-सी शक्तियो का अपव्यय हो रहा है, उनका उपयोग न हो पाने से क्या तात्पर्य है, छोटे केन्द्रो मे विभाजन किस आधार पर किया जाय, इन प्रादेशिक अथवा माण्डलिक साहित्य सम्मेलनो के सामने क्या कार्य-क्रम हो, उनका क्या उद्देश्य हो आदि सभी प्रश्न **विकेन्द्रीकरण** हो जाने पर तय करने के लिए छोड दिए गए है। डॉ० अग्रवाल ने अपनी योजना द्वारा विकेन्द्रीयकरण की माग को उद्देश्य प्रदान किया और क्षेत्र-विभाजन के लिए सिद्धान्त निर्धारित किया कि विभिन्न सस्कृतियो के परिचायक जनपदो के आधार पर केन्द्र स्थापित किए जाए। ऐतिहासिक दृष्टि से यह जनपद आन्दोलन की विचारधारा का चतुर्वेदीजी [illegible] और सुनिश्चित स्वरूप है और हमारी बढती राष्ट्रीय चेतना का द्योतक है, पर न डॉ० अग्रवाल और न चतुर्वेदीजी ही ऐतिहासिक दृष्टि से अपनी विचारधाराओ के परस्पर सम्बन्ध को देखते है, अत दोनो की एकता का अनुभव करते हुए भी शब्दो का दुराग्रह अभी चल रहा है। डॉ० अग्रवाल **विकेन्द्रीकरण** शब्द का प्रयोग वाछनीय नही समझते क्योकि "विकेन्द्रीकरण शब्द कुछ विशेष सस्कार लेकर" साहित्य मे आया है। वैसे उनका भी यही मत है कि "जनपदीय कार्य अनेक केन्द्रो मे फैलकर ही करना पडेगा।" चतुर्वेदीजी अपना शब्द छोडने को तत्पर नही क्योकि उससे उनके "अराजकवाद के सिद्धान्त" को पुष्टि मिलती है। पर इस विवाद मे इस सिद्धान्त की चर्चा अप्रासगिक है। इसके अतिरिक्त चतुर्वेदीजी के भाषा और बोलियो के आधार पर प्रान्त-निर्माण के आन्दोलन से पुरातत्त्ववेता डॉ० अग्रवाल सहमत नही है। उनका मत है कि "जनपदीय कार्य-क्रम और प्रान्त-निर्माण का आन्दोलन बिलकुल प्रथक बाते है, उनका सकर

किसी का हित नही कर सकता।" इस प्रकार चतुर्वेदीजी की विचारधारा मे मातृभाषाओं की दृष्टि से जो सजीव नारा था, डॉ० अग्रवाल ने उसको एकदम अस्वीकृत करके अपनी विचारधारा को केवल हिन्दी की दृष्टि से ही सम्पूर्ण बनाने की चेष्टा की है। और इसमे सन्देह नही कि जनपदीय कार्यक्रम का उद्देश्य यदि ग्राम-जीवन और भूगोल का अध्ययन मात्र ही रहे तो फिर 'प्रान्त निर्माण' का प्रश्न उससे सर्वथा भिन्न हो जाता है। प्रात निर्माण जातीय जाग्रति के बिना असभव है और जातीय जाग्रति के साथ मातृभाषाओ के स्वतन्त्र विकास का प्रश्न कार्यकारण रूप मे सम्बद्ध है। स्वय चतुर्वेदीजी ने प्रान्त निर्माण के प्राश्न को राजनीतिक प्रश्न बताया है और कहा है कि "साहित्यिक सस्थाओ से उसका कोई सम्बन्ध नही है"। राजनीनिक दृष्टि से भी वे केवल राजस्थानी, बुन्देली और मैथिली आदि के लिए ही नए प्रान्तो का निर्माण करना चाहते है, ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि अन्यान्य भाषाओ और बोलियो के लिए नही। जनपदीय चेतना की दृष्टि से चतुर्वेदीजी अधिक यथार्थदर्शी और आगे बढे हुए है। डॉ० अग्रवाल अपनी पुरातत्त्व-रुचि से इतने बधे है कि वे उसके बाहर और किसी चीज का अस्तित्व स्वीकार ही नही करते।

परन्तु इन दोनों साहित्य सेवियो के सम्मिलित प्रयत्नो के दो परिणाम निकले है। बुन्देलखंड साहित्य मडल ने जनपदीय योजना को यथाशक्ति कार्यान्वित करने की चेष्टा आरम्भ करदी है, और बुन्देलखडी 'विश्वकोष' के लिए सामग्री एकत्र की जाने लगी है। इस दिशा मे राजस्थानी वाले जो प्रयत्न कर रहे है, उसके लिए उन्होने डॉ० अग्रवाल की योजना से प्रेरणा नही ली है क्योकि उनका प्राथमिक उद्देश्य अपनी मातृ-भाषा का पुन: साहित्यिक सस्कार करके उसे स्वतत्र विकास के पथ पर अग्रसर करना है, केवल राष्ट्रभाषा हिन्दी का भडार भरना ही नही। वे पहले अपने घर मे दिया जलाना अधिक जरूरी समझते है, और 'आई माई को काजर नही, बिलाई को भर माँग' मे विश्वास नही करते।

इस आन्दोलन का दूसरा परिणाम यह निकला कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हरिद्वार अधिवेशन (१९४२) मे जनपद सम्बन्धी निम्न प्रस्ताव पास किया :

"इस सम्मेलन का यह विश्वास है कि भारतीय संस्कृति का निवास हमारे जनपदों में है। अतः यह सम्मेलन एक समिति की स्थापना करता है जो भारत के विभिन्न जनपदों की भाषा, पशुपक्षी, वनस्पति, ग्रामगीत जन-विज्ञान, संस्कृति, साहित्य तथा वहां की उपज का अध्ययन कराने की योजना उपस्थित करे। उस समिति में निम्नलिखित विद्वान् हों :—

सर्वश्री वासुदेवशरण अग्रवाल, बनारसीदास चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन, अमरनाथ झा, जैनेन्द्रकुमार, सत्येन्द्र, और चन्द्रबली पाण्डेय (संयोजक)।"

जनपद समिति अधिक कार्य नही कर सकी, क्योकि चाहे सम्मेलन को एक बार यह 'विश्वास' हो गया हो कि 'भारतीय सस्कृति का निवास' जनपदो मे है, और 'विभिन्न जनपदो' की भाषा, सस्कृति और साहित्य भी भिन्न है, पर जनपद-समिति के सुयोग्य सयोजक श्री चन्द्रबली पाडेय मे यह सरल विश्वास न उत्पन्न हो सका। उन्हें चतुर्वेदीजी और राहुल

जी के विचार 'भयावह' लगे और उन्होने सम्मेलन के प्रस्ताव को जेब मे रखकर चतुर्वेदी-जी को लिखा कि "वास्तव मे अग्रवालजी की योजना से सम्मेलन का कोई सीधा सम्बन्ध नही। वह तो युक्त प्रान्तीय वा मध्यदेशीय सम्मेलन के घर की बात है।" इसके अतिरिक्त सम्मेलन के तत्कालीन सभापति प० माखनलाल चतुर्वेदी ने भी एक प्रेस इन्टरव्यू मे कहा कि 'बहुत सभव है कि जयपुर सम्मेलन इस प्रस्ताव को रद्द करदे।'

इस प्रकार जहा तक साहित्य सम्मेलन का सबन्ध है चतुर्वेदीजी का 'विकेन्द्रीकरण' का सुझाव और डॉ० अग्रवाल का 'जनपद कार्यक्रम' दोनो ही उस छोर से अधिक आगे न बढ सके। बल्कि जयपुर सम्मेलन की प्रतीक्षा किए बिना ही प० चन्द्रबली पाडेय और प० माखनलाल चतुर्वेदी ने हरिद्वार के प्रस्ताव को उपेक्षा के अतल गर्त मे डुबो दिया।

जहा तक 'विकेन्द्रीकरण' का प्रश्न है, हिन्दी के अधिकाश कार्यकर्त्ताओ को उसमे विरोध है, क्योकि जिस देश मे आदि काल से सत्ता कभी भगवान, कभी राजा, कभी ब्राह्मण और कभी वायसराय के हाथ मे ही केन्द्रित रही हो, उस देश के विचारको और राष्ट्रकर्मियों के सस्कार कुछ ऐसे कोमल बन जाते है कि 'विकेन्द्रीकरण' जैसे शब्दो की ध्वनि ही कर्णकटु लगने लगती है, फिर उसके अर्थ समझने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु डॉ० अग्रवाल की 'जनपद कल्याणीय योजना' को व्यापक समर्थन मिला—'लोक कल्याण की भावना' से इसमे ध्वनि साम्य है, और यह ध्वनि हमारी सनातन उदार वृत्तियो को तुरन्त जगा देती है। और यद्यपि 'विकेन्द्रीकरण' का सिद्धान्त उसके मूल मे काले नाग की तरह बैठा है, फिर भी हमारे औदार्य के जगने पर मूल की ओर दृष्टि डालने का धैर्य किसमे रह जाता है ? किन्तु अवनीन्द्रकुमार विद्यालकार और जनपद-समिति के निर्वाचित सदस्य सत्येन्द्रजी जैसे विरल दूरदर्शी व्यक्ति भी हमारे देश मे है जो किसी विचार के मूल तक पहुचे बिना चैन नही लेते। और वे डॉ० अग्रवाल की योजना के मूल मे 'विकेन्द्रीकरण' या 'विग्रह' का नाग देखकर अपने को सावधान कर चुके है। सत्येन्द्रजी को जनपम-कार्यक्रम से विरोध इसलिए है कि उसमे 'जनपद' शब्द का प्रयोग निरापद नही है। भविष्य मे वह अनेक जातीय दुर्भावनाए पैदा कर सकता है। अन्यथा वे ग्रामों का अध्ययन अवाछनीय नही समझते। उनका मतभेद इसलिए भी है कि कार्य चूकि इतिहास और भूगोल परिषदो का है, अत. केवल इसलिए कि अग्रवाल जी जनपद सम्बन्धी अध्ययनो को हिन्दी मे लिखाना चाहते है, उसे करने के लिए सम्मेलन को क्यो बाध्य किया जाय। अवनीन्द्रनाथ विद्यालकार की विचारधारा अत्यन्त अस्पष्ट और बृहत्तर भारत का दिवा-स्वप्न देखन वाले एक विक्षिप्त की-सी है। उनका निश्चित मत है कि जनपदों की स्थापना भारतीय सभ्यता और सस्कृति के विकास मे बाधक होगी। वैसे वे भी ग्राम गीतो, कहानियो, मुहावरो और शब्दो आदि के सग्रह के विरोधी नही है, केवल वे गावो की ओर लौटना पसन्द नही करते। इस नारे का आरोप जनपद-प्रसग मे उन्होने किस आधार पर किया, यह अज्ञात है। चतुर्वेदी जी और डॉ० अगवाल ने तो कही भी 'शुद्ध भारतीय सभ्यता और सस्कृति' के प्रति इतना गहरा अनुराग नही दिखाया।

मातृभाषाओं का प्रश्न

इस विवाद मे वास्तविक सरगर्मी और तीखापन तब आया जब महापडित राहुल साकृत्यायन ने **हंस** (सितम्बर १९४३) मे 'मातृभाषाओ का प्रश्न' शीर्षक लेख द्वारा इस समूचे आन्दोलन की विचारधारा को वैज्ञानिक और जनवादी आधार देकर एक दूसरे ही धरातल पर उठाकर रख दिया।

इसके एक वर्ष पूर्व राहुलजी ने **हंस** मे एक और लेख 'पाकिस्तान और जातियो का सवाल' लिखा था। उन्होने इसी लेख मे मातृभाषाओ के प्रश्न की रूपरेखा निर्धारित कर दी थी। उन्होने कहा था कि पाकिस्तान का प्रश्न जातियो का प्रश्न है। पाकिस्तान की माँग साम्प्रदायिक नही है जो धर्म पर आधारित हो, बल्कि वह उत्तर-पश्चिम और पूर्व भारत की ग्यारह जातियो के आत्मनिर्णय के अधिकार की न्यायपूर्ण माँग है।[1] इस प्रकार पाकिस्तान एक जाति का राष्ट्र नही होगा। वह ऐसी अनेक जातियो का राष्ट्रसघ होगा जिनकी अलग-अलग सस्कृतियाँ और भाषाएँ है। राहुलजी का कहना था कि इसी प्रकार हिन्दुस्तान भी एक बहुजातिक राष्ट्र होगा। जातियो का निर्णय धर्म के आधार पर करना असगत है, भाषा ही इसका निर्णय कर सकती है। इस दृष्टि से उनके अनुसार भारत मे कम से कम ७३ भाषाएँ और ७३ जातियाँ है। राहुलजी ने इसकी सूची भी दी थी। इस सूची मे सशोधन की आवश्यकता हो सकती है, परन्तु इससे उनका दावा गलत सिद्ध नही किया जा सकता। उन्होने यह भी कहा कि ये दोनो जाति-सघ जनतन्त्रवादी होने चाहिए, और यदि ऐसा हुआ तो उनके सम्मुख समस्त जनता को साक्षर और शिक्षित बनाने का प्रश्न अनिवार्यत उठेगा। उस समय थोथी भावुकता और काल्पनिक अखडता के नाम पर एक विजातीय भाषा को लादने से काम नही चलेगा, क्योकि **प्रश्न जनता को नई भाषा देने का नहीं बल्कि नया ज्ञान देने का होगा।** मातृभाषाओ के रूप मे भाषा तो जनता के पास मौजूद है और उसमे वह अपने भावो को व्यक्त करना जानती है। नया ज्ञान देने के लिए नये पारिभाषिक शब्दो की जरूरत पडेगी और उसके लिए जिस प्रकार अन्य भाषाएँ, जैसे बगाली, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु आदि सस्कृत, फारसी और अग्रेजी भाषाओ मे शब्द उधार लेती है, उसी प्रकार विभिन्न मातृभाषाएँ भी उनसे ही उधार लेगी। अपनी मातृभाषा मे शिक्षा पाने से जनता को यह सुविधा रहेगी कि उसे व्याकरण और मुहावरे नही सीखने पडेगे, और न एक विजातीय भाषा को सीखने मे आठ-दस वर्ष गँवाने पडेगे। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि किसी अन्तरप्रान्तीय भाषा की

१—'पाकिस्तान की माँग' को 'जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग' का ही पर्याय सिद्ध करने की भ्रमपूर्ण और ग़लत चेष्टा उन दिनों भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी ने की थी। इस भ्रामक नीति का ही परिणाम था कि हिन्दी के अधिकांश प्रगतिवादियों ने भी इस ग़लत तर्क को ज्यों-का-त्यों अपना लिया। परन्तु इससे 'मातृभाषाओं के प्रश्न' का रूप नहीं बदलता।—ले० (१९५६)

जरूरत ही न रहेगी। और उसके लिए हिन्दी (साहित्यिक खडी बोली) से अधिक उपयुक्त अन्य कोई भाषा नही हो सकती । मातृभाषा की परिभाषा देते हुए राहुलजी ने लिखा कि **मातृभाषा वह है जो कि माँ के दूध के साथ बच्चा सीखता है । जिस भाषा के व्याकरण को पुस्तक पढ़कर सीखना पड़े वह आदमी की मातृभाषा नहीं है ।** भारतीय इतिहास से उदाहरण देकर उन्होने हमे स्मरण दिलाया कि महात्मा बुद्ध से पूर्व यहाँ जनपदो का युग था । और यद्यपि कालान्तर मे अनेक प्रभावो के पडने से इन जनपदो की भाषाओ और सस्कृतियो मे परिवर्तन भी हुए, परन्तु भाषा-मूलक जनपदो को तोडने के प्रयत्न सदा व्यर्थ होते आये। आज भी यदि खडी बोली को मातृभाषाओ के स्थान पर लादने की चेष्टा की गई तो ऐसी चेष्टा असफल होगी । इससे जातियो की स्वाभाविक प्रतिभा का विकास अवरुद्ध होगा और कोई जाति इसे सहन न कर सकेगी।

मातृभाषाओं का प्रश्न शीर्षक निबन्ध मे राहुलजी ने इस प्रश्न पर मुख्यत: सास्कृतिक दृष्टि से विचार किया। भ्रम निवारण के लिए उन्होने प्रारम्भ मे ही स्पष्ट कर दिया कि, "**आज के युग में एक सम्मिलित भाषा की उपयोगिता को न समझना वस्तुत: बड़े आश्चर्य की बात होगी। इसलिए हिन्दी के सम्मिलित साझे की भाषा होने से हम इन्कार नहीं करते । रोज के आपसी वार्तालाप की तरह साहित्यिक आदान-प्रदान के साधन के तौर पर भारत में हिन्दी का एक बहुत ही महत्वपूर्व स्थान है और रहेगा, इसे भी हमे मानना पड़ेगा ।**" राहुलजी ने केवल इस बात का आग्रह किया कि यदि हम जनशिक्षा का कार्य उठायेगे तो हमे भातृभाषाओ को ही शिक्षा का माध्यम बनाना पडेगा, क्योकि ज्ञान सदा भाषा के लिबास मे रहता है और उसी के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। मातृभाषा सीखने मे बिलम्ब नही होता, अत हम मातृभाषाओ मे थोडी-सी शिक्षा के उपरान्त ही जनता को उच्चज्ञान प्रदान कर सकते है । आठ वर्ष तक हिन्दी सीखने के पश्चात् ज्ञान मन्दिर मे प्रवेश करने का अधिकार देने की नीति अनुचित है। इस तर्क की पुष्टि मे राहुलजी ने रूस का उदाहरण दिया। मध्य एशिया के तुर्कमान, उजबेक, किर्गिज और कजाक जातियो मे शिक्षा की अभूतपूर्व प्रगति का कारण यह है कि सोवियत शासन ने वहाँ मातृभाषाओ को शिक्षा का माध्यम बनाया है। लाल-क्रान्ति के पूर्व इन भाषाओ की न कोई लिपि थी और न उनका कोई लिखित साहित्य । तुर्की भाषा का ही आधिपत्य था। अब उसके स्थान पर चार मातृभाषाएँ अपना सर्वाङ्गीण विकास करने मे समर्थ हुई है और उच्च-से-उच्च शिक्षा का माध्यम बन गई है । काग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने भी सीमा-प्रदेश मे पश्तो को पाठशालाओ मे शिक्षा का माध्यम बनाया था । अतएव अन्य मातृभाषाओ को भी अधिकार है कि वे इस प्रकार की माँग करे । यदि अभी तक ऐसा नही हुआ तो इसका कारण यह है कि प्रान्तो का वर्तमान बँटवारा शासको के सुभीते के अनुसार हुआ है। अब उसे जनता के सुभीते के अनुसार करना होगा। इसमे भारत की खडता और अखडता का प्रश्न नही उठता, बल्कि सारा प्रश्न, जनहित की दृष्टि से इन मातृभाषाओ की अन्यतम उपयोगिता पर निर्भर करता है। इसी दृष्टि से

राहुलजी न हिन्दी-उर्दू प्रान्तो (पजाव, सिध, युक्तप्रान्त, राजपूताना, मध्य प्रान्त और विहार) का भाषा और सस्कृति के अनुसार तीस जनपदो मे विभाजन किया।[1] यह विभाजन चतुर्वेदीजी और डॉ० अग्रवाल के अर्थो मे **विकेन्द्रीकरण** अथवा हिन्दी का भण्डार भरने को लक्ष्य मानकर हिन्दी की सुविधा के अनुसार नही किया, बल्कि भिन्न-भिन्न जनपदो को सगठित करके उनका केन्द्रीकरण करने अथवा मातृभाषाओ के स्वाभाविक विकास की सुविधाएँ प्रस्तुत करने के उद्देश्य से किया गया है। उन्होने यह भी सिद्ध किया कि इस विभाजन से तथा मातृभाषाओ को शिक्षा और साहित्य का माध्यम बनाने से हिन्दी (साहित्यिक खडी बोली) को कोई धक्का पहुँचने की दुस्सभावना नही है। हिन्दी आज अन्तरप्रान्तीय भाषा का जो कार्य कर रही है, जनपदो के निर्माण के पश्चात्, राजनीतिक, साहित्यिक और सास्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उसको यह कार्य और भी अधिक व्यापक रूप से करना होगा। बल्कि उक्त जनपदो मे हिन्दी (अथवा उर्दू) को अनिवार्य द्वितीय भाषा बना देने से किसी को आपत्ति न होगी। इसके अतिरिक्त हिन्दी केवल मात्र एक अन्तरप्रान्तीय भाषा ही नही है, वह कुरु जनपद की ३० लाख जनता की मातृभाषा भी है। अत उसे अपनी उर्वर प्रसव भूमि के साथ सम्बन्ध जोडना होगा। कौरवी (खडी) बोली के निकट जाने से ही उसकी कृत्रिमता, जडता और अधूरी भाव-प्रकाशन-शक्ति, अधूरी वर्णन-क्षमता आदि को दूर किया जा सकेगा। अग्रवाल योजना तक जनपद-भक्ति सीमित रखने वालो को राहुलजी ने चेतावनी दी कि बोलियो (मातृभाषाओ) की मृत्यु का वारण्ट नही कट चुका है कि हम जो कुछ उपलभ्य साहित्यिक-सास्कृतिक सामग्री है उसे जल्दी-जल्दी बटोर ले। वे सजीव भाषाए अथवा बोलियाँ है, उनके बोलने वाले कर्मठ किसान और मजदूर है। आज भी उनमे लोक-साहित्य की रचना हो रही है। अत जब हम इस असख्य जनता को शिक्षित बनाने की बात करे, तब हमे यह भी सोच-समझ लेना चाहिए कि इन मातृभाषाओ का विकास करना है ताकि वे भविष्य मे जनपदीय पार्लियामेन्टो मे बोली जायँ, कचहरियो मे लिखी जायँ, प्राइमरी पाठशालाओ से लेकर विश्वविद्यालयो तक मे शिक्षा का माध्यम बने, उनमे पत्र-पत्रिकाएँ निकले, फिल्म तैयार हो और उनके अपने रेडियो स्टेशन हो।

मैथिली और राजस्थानी मे कुछ वर्षो से यह आन्दोलन चल रहा है कि उक्त भाषाओ को अपने क्षेत्रो मे पूर्ण विकास करने और अपनी रीडरे बनाने की पूर्ण स्वाधीनता हो, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। राहुलजी ने इस प्रवृत्ति को ही वैज्ञानिक, सास्कृतिक आधार देकर एक सुव्यवस्थित विचारधारा के रूप मे उपस्थित किया। जहाँ **विकेन्द्रीकरण** और **जनपदीय योजना** की विचारधारा के मूल मे पुरातत्व की खोज और हिन्दी (साहित्यक खडी बोली) अथवा राष्ट्रभाषा का भडार भरने का उद्देश्य ही मुख्य था और सास्कृतिक क्षेत्र मे राष्ट्रीय चेतना का प्रथम चरण होने के कारण मातृभाषाओं के स्वतन्त्र अस्तित्व और विकास की समस्या को गौण प्रश्न समझ लिया गया

१. **देखिए परिशिष्ट २।**

था, जिससे विभिन्न जनपदो की जनता की अपनी सास्कृतिक आवश्यकताओ को तस्वीर मे नही लाया गया था, अत अन्धकार मे टटोलकर इस योजना या उस योजना को पकड कर कुछ करना अभीष्ट हो गया था, वहाँ राहुलजी ने आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर जनशिक्षा के व्यापक उद्देश्य को सामने रखकर इस समस्या का समाधान उपस्थित किया। इससे जनपद आन्दोलन की विचारधारा ही बदल गई। जनपद आन्दोलन को इससे स्फूर्ति, बल और प्रेरणा मिली।

जनपद आन्दोलन का समर्थन

मैथिली, राजस्थानी, बुन्देली के क्षेत्रो मे जहाँ जनपद-आन्दोलन का सूत्रपात हो गया है, वहाँ के कार्यकर्त्ताओ ने सामान्य रूप से राहुलजी की विचारधारा का समर्थन किया है, यह बतलाने की आवश्यकता नही है। उनके अतिरिक्त अनेक दूरदर्शी उदार-चेता विचारको और साहित्य-सेवियो ने भी राहुलजी के दृष्टिकोण का सम्पूर्ण अथवा आशिक समर्थन किया है। **डॉ० धीरेन्द्र वर्मा** और **सुनीतिकुमार चटर्जी** ने भाषा शास्त्र के अतिरिक्त ऐतिहासिक-राजनीतिक दृष्टिकोण से भी इस प्रश्न पर विचार किया है और यद्यपि वे मातृभाषाओ की माँग का आशिक समर्थन ही करते है, तथापि किसी हठ या मोह के कारण साहित्यिक खडी बोली को सारे मध्यदेश की मातृभाषा मनवाने का दुरा-ग्रह नही करते। **डॉ० सुनीतिकुमार** ने अपने मत को स्पष्ट करते हुए प० बनारसीदास को लिखा था—**"साधारणतया इतना अब कह सकता हूँ कि मै विकेन्द्रीकरण के अनुकूल हुँ, खास करके उन प्रान्तों के लिए जहो की बोलियाँ उप-भाषाएँ** (dialects) **नही है, परन्तु व्या-करण की दृष्टि से न्यारी या पृथक् भाषा पद-वाच्य है। इसलिए मेरी राय के अनुसार भोज पुरी, मैथिली, राजस्थानी, कोसली** (पूर्वी हिन्दी) **पंजाबी, हिन्द की** (पश्चिमी पंजाबी) **इनके लिए विकेन्द्रीकरण स्वीकार कर लेना अयौक्तिक और कठिन नहीं होगा। पर आपकी बुंदेली के लिए बात दूसरी है। यह तो पश्चिमी या पछाहीं हिन्दी के वर्ग की बोली है।...शिक्षा व सार्वजनिक जीवन मे कहाँ तक प्रान्तिक बोलियों का प्रसार या व्यवहार होना चाहिए, इसका निर्णय कठिन होगा, पर इसका निर्णय करना तो आवश्यक है।"** डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इस प्रश्न का निर्णय करने के पूर्व कतिपय आवश्यक बातो पर विचार करने की सलाह दी है और उपयोगी सुझाव भी पेश किये है। हम उन पर यथावसर विचार करेगे। **डॉ० धीरेन्द्र वर्मा** यद्यपि हिन्दीकी सम्पूर्ण विजय की ही आकाक्षा रखते है, फिर भी उनका मातृभाषा प्रेम उन्हे दुराग्रही नही बनने देता। उन्होने स्वय अपनी सफाई दी है कि, **"मै मध्यदेश की जनपदी बोलियों तथा संस्कृति का विरोधी नहीं हूं बल्कि पूर्ण पक्षपाती हूं। मेरा अपना भी तो एक जनपद है और मेरी मातृभाषा भी तो एक जनपदी बोली है, अत: मै इस सिद्धान्त का विरोधी हो भी कैसे सकता हूं? मै यहां तक जाने को तैयार हूं कि आवेश में आकर नहीं बल्कि सोच समझकर यदि कोई जनपद अपने को मध्यदेश के इस साहित्यिक सम्बन्ध से पृथक् करना ही चोहे तो उसकी इस महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण**

करने का अवसर उसे अवश्य मिलना चाहिए। संयुक्त परिवार का सच्चा बन्धन प्रेम और त्याग है, स्वार्थ और हठ नहीं।" डॉ० अमरनाथ झा ने मातृभाषाओं के प्रश्न पर कभी विरोधियो के आगे मस्तक नही नवाया। आगरा नागरी-प्रचारिणी सभा मे भाषण देते हुए कहा कि 'मेरी मातृभाषा मैथिली है।" · "जनपदीय भाषाओं के प्रति अनुदार होने का अर्थ है हिन्दी की अवनति। राष्ट्रभाषा तो हमारी हिंदी ही है। हिंदी में ही एक बंगाली एक पंजाबी की बातचीत समझ सकता है। एक पंजाबी अथवा गुजराती को किसी दूसरे प्रान्त के निवासी से बातचीत करने के लिए हिन्दी का ही आश्रय लेना पड़ेगा। पर साथ ही साथ एक जनपदीय भाषाभाषी को उसकी भाषा में ही बोलने-चालने में सुविधा होगी। आरा में मुझे अभिनन्दन-पत्र देते समय कई कविताए पढ़ी गयीं। लेकिन जनता में सबसे अधिक प्रभाव उन कविताओं का पड़ा जो कि भोजपुरी में पढ़ी गईं। एक ब्रजवासी के लिए ब्रज ही सबसे सरल और मीठी भाषा है। यही बात दूसरी जनपदीय भाषाओं के लिए भी लागू है। किसी भी भाषा के बारे में तुलनात्मक रूप से अच्छी या बुरी कहने का अधिकार किसी को नहीं। जिन दिनों मुझे हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति होने का गौरव प्राप्त था, उन दिनों मैंने कितनी ही जगह भ्रमण किया। मैं बम्बई, नागपुर, ओरछा, आरा और जलंधर आदि स्थानों पर गया था। सभी जगह मेरा यही सन्देश था कि आप लोग अपनी-अपनी जनपदी भाषाओं की उन्नति करिये। इसी में हिन्दी का कल्याण है।" भदन्त आनन्द कौसल्यायन, देवेन्द्रसत्यार्थी, राय-बहादुर सरदार माधवराव विनायक राव किबे, राम इक़बालसिंह राकेश, वृन्दावन-लाल वर्मा और डॉ० बल्देवप्रसाद मिश्र आदि अनेक विद्वानो ने भी राहुलजी की विचार-धारा का पूर्णत. अथवा आशिक समर्थन किया है। इस समर्थन के सिलसिले मे एक-आध बार 'भाषाओ के आत्मनिर्णय के अधिकार' की चर्चा भी हुई है। इन समर्थको के सम्बन्ध मे विचारणीय बात यह है कि उनमे से कोई भी कोरा **साहित्यिक कार्यकर्त्ता** और **प्रोपेगैण्डिस्ट** नही है, बल्कि डॉ० धीरेन्द्रवर्मा और डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी उत्कृष्ट भाषाविद् है, डॉ० अमरनाथ झा श्रेष्ठ साहित्य मर्मज्ञ और प्रमुख शिक्षाविद् है। देवेन्द्र सत्यार्थी और रामइकबालसिह 'राकेश' ऐसे कर्मठ साहित्यकार है, जिन्होने गाव-गाव मे घूमकर जनपदो के सहस्रो लोक-गीतो का सग्रह किया है और उन्हे विरोधियो की अपेक्षा जनपदो के जीवन, उनकी आकाक्षाओ और भावनाओ का कही ज्यादा ज्ञान है, सरदार किबे, वृन्दा-बनलाल वर्मा, डॉ० बल्देवप्रसाद ने स्वय आजीवन अपने-अपने जनपदो के बीच रहकर साहित्य सेवा की है। भदन्त आनन्द कौसल्यायन राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के मन्त्री है और जानते है कि राष्ट्रभाषा को सीखकर जनपद निवासी अपनी मातृभाषा का किस सीमा तक परित्याग कर देते है। ऐसी स्थिति मे इन विद्वानो और साहित्यकारो के समर्थन का विशेष महत्व है। इनलोगो का सामान्यतः इतना तो निश्चित मत है कि यह कहना कि बोलियो मे अपना साहित्य न उत्पन्न हो, एक 'जबरर्दस्ती का आर्डिनेन्स' है। जनपदो मे निवास करने वाली जनता के ऊपर हिन्दी को मातृभाषा के रूप मे लादने की चेष्टा अन्याय

पूर्ण होगी, भविष्य मे जागृत होकर वे इस अवैध व्यवस्था को उखाड फेकेगी। जनपदो की जनता पर उनकी अपनी मातृभाषाओ की रचनाओ का अपेक्षाकृत कही ज्यादा प्रभाव पडता है। ये विद्वान् किन्ही विशेष सिद्धान्तो के सहारे नही वरन् स्वय अपन अनुभव और लोक-जीवन के ज्ञान के आधार पर इन परिणामो पर पहुचे है अत उनके निष्कर्ष ध्यान मे रखने योग्य है। परन्तु उक्त विचारक और साहित्यिक चूँकि पेशेवर प्रोपेगैण्डिस्ट नही है और साधारणत· तथाकथित साहित्य सेवियो की उदार-चेतना, व्यापक सहानुभूति और न्याय-भावना पर उनका सहज विश्वास है, अत उन्होने यह अनुमान नही लगाया कि एक नई विचारधारा को समर्थन प्रदान करके उन्होने पहले से उद्वेलित वातावरण को और उत्तेजना ही प्रदान की है। इसलिए वे अपना मत प्रकाशित करके ही निश्चिन्त हो गए। इस मत का और स्पष्टीकरण करने के लिए अथवा इसे जनमत बनाने के लिए उन्होने व्यापक आन्दोलन नही किया। दूसरी ओर विरोध का स्वर अपने केन्द्र पर रूढ द्वेषो, विवेकहीन भावनाओ और अबौद्धिक उत्तेजनाओ को इर्द-गिर्द इकट्ठा करके उत्तरोत्तर तीव्र और कर्कश होता गया और वह विवेक, न्याय और जनहित की वाणी को पीछे ढकेलने मे तत्काल के लिए समर्थ हो गया।

जनपद आन्दोलन का विरोध

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिकाश कार्यकर्त्ताओ की राष्ट्रीय चेतना और जनतात्रिक भावना अभी इतनी उदार और व्यापक नही हो पायी है कि वे राहुलजी की विचारधारा पर पक्षपात रहित होकर विचार कर सकें। अपनी कूपमण्डूकता अथवा कठमुल्लापन के कारण नही, बल्कि इसलिए कि हिन्दी के कार्यकर्त्ताओ का सोचने का तरीका ही अब तक भिन्न रहा है और वे अपनी विचारशैली और कार्यशैली की परम्परा की सीमाओ मे बधकर ही सोचने के अभ्यस्त है। प्रारम्भ मे एक विदेशी भाषा अग्रेजी का एकछत्र राज्य था जिसके अध्ययन से यत्र-तत्र कुछ प्रतिभाए सचेत होकर राष्ट्रीय प्रश्नो पर सोचने लगी थी। परन्तु विदेशी भाषा न हमे अपनी प्राचीन सस्कृति का सजीव स्पर्श करा सकती थी, न हमे अपनी सभ्यता की विशिष्ट आभा से ही दीप्त कर सकती थी। वह केवल योरोपीय राष्ट्रो के राष्ट्रीय जागरणो की मिसालो से हमारे अन्दर एक अव्यक्त, अमूर्त स्वातन्त्र्य कामना, एक निस्सत्त्व आदर्शवादी भावना और वास्तविक जीवन से असम्पर्कित भविष्य कल्पनाओ को ही जन्म दे सकती थी। परन्तु चेतना का यह प्रथम अकुर था, और राष्ट्रीय आन्दोलन ने जहा इस अकुर को सीचा वहा हिन्दी आन्दोलन ने इसको धरती का आश्रय दिया, या कहे कि हिन्दी आन्दोलन हमारी बढती राष्ट्रीय चेतना का स्वाभाविक परिणाम था। सचेतन देशभक्तो ने अनुभव किया कि अपनी भाषा और साहित्य द्वारा ही जन मन को सम्पूर्ण रूप से आन्दोलित किया जा सकता है। अपनी भाषा का स्वर-विधान, शब्द-ध्वनि और अर्थ-शक्ति ही देश की वर्तमान परिस्थिति को सजीव अभिव्यक्ति दे सकती है, अपनी परम्परागत सस्कृति के उच्च शिखरो को दृष्टिगोचर करा सकती है, जनता मे

स्वाभिमान जगाकर उसके मन मे स्वतन्त्र सुखमय भविष्य की उदात्त कल्पनाए जगा सकती है। समूची जनता के मन और हृदय तक नई राष्ट्रीय चेतना के सन्देश को लेकर पहुचने का एकमात्र मार्ग हिन्दी है, वही मध्यदेश के विभिन्न खडो की जनता को एक सूत्र मे बाध कर सबल बना सकती है। हिन्दी के मार्ग मे अग्रेजी ही सबसे बडी रुकावट थी, परन्तु चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा और भूषण की विरासत का मध्यदेशवासियो को समान रूप से उत्तराधिकारी घोषित करके हिन्दी आन्दोलन ने हमारे अन्दर अपने प्राचीन साहित्य और सस्कृति के प्रति जातीय अभिमान की भावना जगा दी। हमे लगा कि अग्रेजी के मुकाबले मे हमारा साहित्य नगण्य नही है, और हमारी राष्ट्रीय चेतना मुखर हो गई। परन्तु विदेशी शासन के कारण हम अग्रेजी को अपदस्थ न कर पाए। हमारे मनमे स्वाभाविक और सही प्रतिक्रिया हुई कि जब तक हिन्दी-आन्दोलन को और सशक्त न बनाया जायगा, अग्रेजी का राजकीय कार्यो मे चलन ज्यो-का-त्यो बना रहेगा, उच्च शिक्षा का माध्यम भीवही बनी रहेगी। हिन्दी-आन्दोलन को और मजबूत करने का अर्थ था कि हिन्दी को अखिल-भारतीय राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन कराने के लिए देश के सुदूर प्रान्तो तक मे राष्ट्रभाषा प्रचार का आयोजन किया जाय और मध्यदेश मे हिन्दी को ही शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रत्यत्न किया जाय ताकि उर्दू अथवा बगला आदि अन्य बडी भाषाओ के मुकाबले मे हिन्दी का जनसख्या बल अधिक रहे और अग्रेजी का स्थान लेने के लिए वही एकमात्र उत्तराधिकारिणी समझी जाय। हमारे विचारको ने ईमानदारी से राष्ट्रीय और सास्कृतिक उत्थान का एकमात्र यही मार्ग निर्दिष्ट किया और इससे विचार और कार्यपद्धति की जो परम्परा बनी उसने एकदम नयी परिस्थितियो और नए समाधानो पर पक्षपात रहित होकर विचार करने की सभावनाओ को कम कर दिया। राहुलजी की विचारधारा का जो इतना तीव्र विरोध हो रहा है उसका एकमात्र कारण हमारे साहित्यिक कार्यकर्त्ताओ की परम्परावद्धता है, जिसके कारण वे प्रत्येक नए सुझाव या समाधान को सशय की दृष्टि से देखते है। उनकी विचार-पद्धति की सीमाओ को जानकर ही हमे उनके विरोध का विश्लेषण करना चाहिए।

सम्मेलन के भूतपूर्व सभापति **पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी** का विचार है कि जनपद आन्दोलन के कारण 'विभागीय सघर्ष' उत्पन्न होगे और हिन्दी की 'सर्वशक्तिमत्ता नष्ट हो जायगी।' इसलिए उनका निश्चित मत है कि "मै यह हर्गिज नही समझ सकता कि इन प्रान्तो की पाठ्य पुस्तके वहा की बोलियो मे छपने लगे। प्रान्तीय अभिमान को जागृत करना बुरी बात नही, परन्तु इस गृह-कलह से मुझे सम्पूर्ण हिन्दी-जगत के नाश हो जाने का भय मालूम होता है।" **स्वामी भवानीदयाल सन्यासी** का विरोध भी इसी भावना पर टिका है। वे इस योजना को 'हिन्द और हिन्दी' के लिए अपकारक ही नही 'राष्ट्रीयता के प्रति अक्षम्य अपराध' भी समझते है। किसी निराकार भारत के कण-कण को एक ही वाणी मे बोलते देखने को आतुर, दिवास्वप्न मे डूबे, जनपद समिति के सयोजक **चन्द्रबली पाण्डेय** को राहुल जी के विचार 'भयावह' लगते है। **सत्येन्द्रजी** की सूझ-बूझ उन्हे राजनीति का पारखी बना

देती है और उन्हें राहुलजी का दृष्टिकोण 'शुद्ध राजनीतिक' लगता है। वे इसे 'गान्धी जी में केन्द्रित राजनैतिक शक्ति और मन्तव्यो को दुर्बल बनाने की आवाज़' समझते है। सत्येन्द्रजी का सारा जोर 'भारत से भी अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हिन्दी की अखण्डता' पर है। उनका कथन है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न हो रहा है, इस प्रयत्न मे सफलता पाने की आशा दो बातो पर निर्भर है। पहली तो हिन्दी की प्राकृतिक शक्ति, दूसरी जनसख्या शक्ति। राहुलजी इस जनसख्या के 'बृहद् अखड खड' को नष्ट करके हिन्दी को क्षीण और दुर्बल बनाना चाहते है, और इस प्रकार 'बगला भाषा' के मुकाबले मे उसकी 'प्रतियोगिता शक्ति' को मिटा देना चाहते है। सत्येन्द्रजी का अपना अनुमान है कि 'हिन्दी की अलग-अलग बोलियों मे बहुत कम अन्तर है।' और हिन्दी के लादे जाने से किसी भी जनपद को हानि नही पहुँची है। अपना पृथक् अस्तित्व पाने के लिए बोलियो को सबसे पहले अपनी पृथक् योग्यता घोषित करनी पडेगी और इसका परिणाम विग्रह और निर्बलता होगी। "भेद-चैतन्य हिन्दी को हनन करने का सबसे घातक अस्त्र है—उर्दू से हिन्दी नही मर सकी, पर बोलियो के इस टीकमगढी प्रयत्न से हिन्दी मूलरहित हो जाएगी—नाल विरहित कमल।" तर्क का आडम्बर निबाहकर भी जब वे स्वय को आश्वस्त नही कर पाए तो उन्होने स्वीकार किया कि वे 'स्वतन्त्र विचारको की भाँति किसी भी प्रश्न पर विचार करने के विलास को अभी सहन नही कर सकते।' अत उनका निश्चय मत है कि जनपद आन्दोलन "पूर्व के समस्त महान् पुरुषो के प्रति विद्रोह है। हिन्दी के घर मे विद्रोह है—ब्रज, बुन्देली, बघेली आदि सभी भाषाएँ हिन्दी की बोलियाँ हैं। हिन्दी उनके लिए राष्ट्रभाषा नही मातृभाषा है।" और फिर अपने उद्भ्रान्त विचारो मे वे यहाँ तक कह गए है कि "हिन्दी को उसके मातृभाषात्व के अधिकार से च्युत करके राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करना हिन्दी का घात नही तो और क्या है?" वे 'जनपद' शब्द तक से घबराते है और 'एक विशाल हिन्दी जनपद चाहते है और सुविधा के लिए जो स्थानीय केन्द्र स्थापित किए जाएँ उनको जनपदों से सम्बन्धित नही होने देना चाहते। क्योकि 'जनपद' शब्द के साथ 'सास्कृतिक समस्याओ और जातीय गुणो' का सम्बन्ध किया जा सकता है।

भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री, प्रमुख राष्ट्रीय नेता और समाजवादी विचारक **सम्पूर्णानन्दजी** ने एक दूसरी ही दृष्टि से जनपद आन्दोलन की नयी विचारधारा का विरोध किया है। वे राहुलजी की नीति को घातक के अतिरिक्त अव्यावहारिक भी मानते है। उन्हे "राहुलजी के विचारो से रत्ती भर भी सहानुभूति नही है।" सम्पूर्णानन्दजी राहुलजी द्वारा बतायी मध्यदेश की ३० मातृभाषाओ को 'कृत्रिम वर्गीकरण' समझते है। फिर उनका प्रश्न है कि "यदि इन बोलियो मे शिक्षा दी जाने लगी तो यह अनर्थ की गाडी कहाँ रुकेगी? यदि प्राथमिक शिक्षा इन तथोक्त मातृभाषाओ मे हो तो उच्च शिक्षा का क्या होगा? मेरठ के आस-पास की बोली, जिसका नाम राहुलजी के अनुसार कौरवी है, विश्व-विद्यालय के माध्यम के स्थान पर क्यो रहे? तीस भाषाएँ तो राहुलजी की सूची मे है, इनके लिए तीस विश्वविद्यालय, तीस शिक्षा-विभाग, तीस टोली आचार्य और अध्यापक,

विज्ञानादि के पाठ्य-ग्रन्थो के तीस समुच्य चाहिए। इस दरिद्र देश के सिर पर इस बोझ को लादने का अनुष्ठान न देखिए हमे कहाँ ले जाता है ? एक बार द्वार खुल जाने पर **किस की डिक्टेटरी इस बाढ़ को प्राथमिक शिक्षा तक रोक सकेगी और फिर वह सब प्रयास क्यो ?** किसने कहा है कि लोग अपनी कमिश्नरियो की बोलियो मे शिक्षा पाने के लिए उतावले हो रहे है ? राहुलजी ने भाषाओ को बढाकर तीस कर दिया। देश के एक टुकडे को दूसरे से पृथक् करने, प्रादेशिक ईर्ष्या और अहमहमिका को बढाने का सुन्दर उपाय उसका विभाजन है। पहले देश छोटे-छोटे राज्यो मे बँटा था जो विदेशी आक्रमण के सामने बालू की भीत के समान ढह जाते थे। अब भिन्न-भिन्न राष्ट्र बनाये जाएँगे, जिनमे से प्रत्येक को अपनी भाषा पर गर्व होगा। प्रत्येक अपनी सस्कृति को अलग मानेगा। देश का चाहे जो हो, अराजकवाद की विजय हो जायगी। मै भारत का भला चाहता हूं, इसलिए कृत्रिम **'मातृभाषा आन्दोलन'** को घातक समझता हूँ।"

व्यौहार राजेन्द्रसिहजी, जो प्रान्त निर्माण और विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती है, राहुलजी से मातृभाषाओ के प्रश्न पर असहमत है। उनका विचार है कि खडी बोली केवल कुरु जनपद की ही नही 'वरन् समस्त हिन्दी-भाषी जनपदो की मातृभाषा' है। बोलियो को शिक्षा का माध्यम बनाने के 'विवादग्रस्त' प्रश्न पर उनका मत है कि यदि ऐसा किया गया तो आज सभी बोलियो की हिन्दी मे मिलने वाली प्रवृत्ति रुक जायगी, क्योकि 'व्याकरण और साहित्य अलग-अलग बनाने से उनके एक रूप होने मे व्यवधान खडा हो जायगा, उनका अन्तर स्थायी बना दिया जाएगा।' इसके अतिरिक्त हिन्दी के सामने अग्रजी और अन्य भाषाओ से प्रतियोगिता मे आगे बढने का प्रश्न भी है, 'इस दशा मे हिन्दी की बोलियो को उसके मुकाबिले मे खडा कर देना ठीक नही।' कतिपय विरोधियो ने राहुलजी पर यह भी आरोप लगाया है कि वे **"रूस के अन्य पौधो की तरह इस पौधे को भी भारत की मिट्टी मे उगाना चाहते है।"**

विरोध का दुष्परिणाम

विरोधियो ने अपने तर्क-कुतर्को से लोगो मे जनपद आन्दोलन के सम्बन्ध मे इतना भ्रम फैलाया कि साधारण कार्यकर्त्ता, इस डर से कि कही निष्पक्ष भाव से इस प्रश्न पर सोच कर वे अप्रत्याशित रूप से हिन्दी का घात न कर बैठे, बहक गए और जयपुर सम्मेलन ने एक प्रकार से हरिद्वार सम्मेलन का प्रस्ताव रद्द कर दिया। इस दिशा मे उसने जो कदम आगे की ओर उठाया था उसे वापस कर लिया और नई नीति की घोषणा की। जयपुर सम्मेलन का प्रस्ताव है

"प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों को पृथक्-पृथक् सभ्यता और संस्कृति का परिचायक बताकर जो संकुचित आन्दोलन कई प्रदेशों में किए जा रहे हैं, उनको यह सम्मेलन अवांछनीय समझता है। सम्मेलन की सम्मति है कि भारत की एक ही संस्कृति है और एक ही संस्कृति तथा भाषा से प्रभावित भाषाएं तथा बोलियाँ देश में प्रचलित

हैं। इस सम्बन्ध को दृढ़ करने के लिए ऐसे प्रान्तीय शब्द-कोशों की आवश्यकता है जिनमें प्रचलित और प्रयुक्त तद्भव तथा तत्सम शब्दों एवं व्युत्पत्ति के आधार पर आन्तरिक एकता स्पष्ट हो जाए। यह सम्मेलन प्रान्तीय सम्मेलनों से अनुरोध करता है कि वे अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषा में इस कार्य को पूर्ण करने का प्रयत्न करें।"

हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी के भाषाविदो, इतिहास-वेत्ताओ, वैज्ञानिको, विचारको और अन्य-अन्य साहित्यिक कार्यकर्त्ताओ द्वारा सचालित सस्था है। हमारे राष्ट्रीय और सास्कृतिक जीवन मे उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अत यह जानकर कि इस प्रस्ताव द्वारा उसने कतिपय ऐसी स्थापनाओ को प्रामाण्य मान लिया है जो सर्वथा निराधार और भ्रामक है, प्रत्येक सस्कृत मन का क्षुब्ध होना अनिवार्य है। हमे ज्ञात है कि ऐसी अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक स्थापनाएं अन्य देशो मे की गई है, परन्तु उन देशो और उन सस्थाओ से, जो 'असत्य को जितने बार जोर-जार से दुहराओ कुछ दिनो मे वही सत्य बन जायगा' की नीति का अवलम्ब लेकर साहित्य और सस्कृति को विकलाग और विरूप करके मनुष्य के मन और विवेक को जातीय श्रेष्ठता, जातीय स्पर्धा और हिसा के साचे म ढालते रहे है, हमने और हमारी साहित्यिक सस्थाओ ने कभी प्रेरणा नही ली। परन्तु इस बार ऐसा ही हुआ, यह क्या अनदेखा कर देनी वाली बात है? सम्मेलन की पहली स्थापना है कि प्रान्तीय भाषाओ और बोलियो को पृथक्-पृथक् सभ्यता और सस्कृति का परिचायक बताना अवाछनीय है। जो बात हरिद्वार सम्मेलन के अवसर पर वाछनीय थी वह सहसा जयपुर मे आकर अवाछनीय हो गई, इसको क्या आकस्मिक घटना समझा जाए? सम्मेलन की दूसरी स्थापना है कि भारत मे केवल एक ही सस्कृति है। काश्मीरी, लद्दाखी, पश्तो आदि बोलनवाली और तमिल, तेलुगु बोलने वाली जनता की क्या एक ही सस्कृति है? अथवा ब्रिटेन की गुलामी मे समान रूप से जकडी होने के कारण इन भिन्न जातियो की सस्कृति भी एक ही समझी जाय? आज तक किसी विद्वान् ने इस तरह का दावा नही किया, अधिक से अधिक इतना ही स्वीकार किया जाता रहा है कि सदियो के आदान-प्रदान के कारण भारत की विभिन्न सस्कृतियो मे बहुत-सी बाते सामान्य है जिससे भारत एक राष्ट्र भी है और बहुजातिक महादेश भी। इसके अतिरिक्त 'भारतीय सस्कृति' एकार्थ-बोधक शब्द नही है। द्रविड, आर्य, मुस्लिम आदि सस्कृतियो का उसमे मिश्रण हुआ है और किसी प्रदेश मे एक का प्राधान्य है तो किसी म दूसरी का। सस्कृति इतनी सरल सज्ञा नही है कि केवल पूर्वजो के एक होने से ही युग-युग तक सस्कृति भी एक ही बनी रहे। और न फिर यह सत्य है कि समस्त भारतीय जातियो के पूर्वज एक ही जाति के हो। भाषा और भूगोल की विभिन्नता से सस्कृति की विभिन्नता भी स्थापित होती है। जो भारतीय नृशास्त्र के विद्यार्थी है वे जानते है कि भारत मे अनेक आदिम जातियाँ है, जिनकी सभ्यता-सस्कृति से हमारा कोई साम्य नही है। विभिन्न जातियो के रस्मरिवाज, नैतिकता के विचार आदि अपने-अपने अलग-अलग है। इस समय कुछ जातियाँ उन्नत है और विकास-पथ पर काफी अग्रसर हो चुकी है। कुछ बहुत पिछडी हुई है। किन्तु सभवत सम्मेलन

की दृष्टि मे 'भारतीय-सस्कृति' और 'आर्य-सस्कृति' एकार्थक है। इस प्रकार सम्मेलन की यह स्थापना अनैतिहासिक और असत्य है। ऐसी ही सम्मेलन की तीसरी स्थापना है कि एक ही सस्कृति और एक ही भाषा से प्रभावित भाषाएँ-बोलियाँ देश मे प्रचलित है। भाषा-विज्ञान का साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि भारत मे कम से कम चार भाषा-कुलो की भाषाएँ प्रचलित है—आस्ट्री-एशियाई, द्राविडी, तिब्बती-चीनी और आर्य। ऐतिहासिक दृष्टि से ये भाषा-कुल सर्वथा भिन्न सस्कृतियो और जाति-समूहो से सम्बद्ध है। यह अवश्य है कि कालान्तर मे उनमे काफी आदान-प्रदान हुआ है और एक ने दूसरे को प्रभावित किया है। अत एक ही सस्कृति और भाषा, जिससे तात्पर्य अनुमानत आर्य सस्कृति और सस्कृत भाषा से है, का उल्लेख करना अज्ञान को प्रोत्साहन देना है। स्वय सस्कृत आदि भाषा नही है, जैसा कि उसके नाम से ही सिद्ध है और अधिकाश वर्तमान आर्य परिवार की भाषाएँ सस्कृत से नही वरन् उन प्राकृतो और उनके अपभ्रशो से विकसित हुई है जो उत्तर भारत और मध्य देश के विभिन्न जनपदो मे प्रचलित थी। अत इस तरह के दावे किसी साहित्यिक सस्था की विज्ञान और इतिहास-प्रियता की दीनता का ही प्रदर्शन करते है। जनपदीय भाषाओ के आन्दोलनो की अपेक्षा ऐसी नकारात्मक प्रवृत्तियाँ ही अधिक अवाछनीय है। हम प्रगतिवादी अबौद्धिकता को प्रोत्साहन देना हिन्दी के लिए घातक समझते है। अप्रासगिक बातो को बहस मे घसीटकर और गलत दावे पेशकर हठधर्मी से किसी सत्य को ढँकने के हम आदी नही है। उक्त स्थापनाओ को मानकर सम्मेलन एक ही कार्य-नीति निर्धारित कर सकता था—वह यह कि इतिहास की गर्दन मरोडकर अपनी बनायी भ्रामक स्थापनाओ के अनुकूल उसकी व्याख्या कराये। इसके लिए सम्मेलन ने प्रान्तीय सम्मेलनो से अनुरोध किया कि वे उक्त स्थापनाओ के आधार पर 'आन्तरिक एकता' सिद्ध करने के लिए 'प्रान्तीय शब्दकोश' बनाएँ। डॉ० अग्रवाल के जनपद-कार्यक्रम का उद्देश्य जनपदो मे सामग्री सग्रह करके हिन्दी का भडार भरना था—इसका हमने समर्थन किया है, क्योकि इससे एक ओर यदि हिन्दी समृद्ध होगी तो दूसरी ओर जनपदीय चेतना को भी प्रोत्साहन मिलेगा और सम्भव है कि हमारी खोज से पिछडी हुई भाषाएँ भी अपने वाङ्मय को समृद्ध बनाने मे सहायता ले सकेगी। पर इस प्रस्ताव के अनुसार सम्मेलन के सामने तो हिन्दी का भण्डार भरने का उद्देश्य भी नही रहा—जन-शिक्षा की समस्या को हल करने का उद्देश्य तो बहुत दूर की बात हुई—उसके सम्मुख तो केवल एक प्रश्न रह गया कि किस प्रकार 'आन्तरिक एकता' स्पष्ट कर दी जाय ताकि मातृभाषाओ के आन्दोलन की अवाँछनीयता सिद्ध हो सके। इससे सम्मेलन भ्रम फैलाने और एक जटिल प्रश्न मे और भी जटिल गुत्थियाँ डालने के अतिरिक्त, वास्तव मे राष्ट्रीय आन्दोलन से उत्पन्न जनपद-चेतना को निर्मूल करके इतिहास-चक्र को पीछे घुमाने मे सफल हो सकेगा, यह सदिग्ध है। वास्तव मे सम्मेलन का प्रस्ताव एक राजनीतिक प्रस्ताव है। राजनीति मे जो 'अखड हिन्दुस्तान' के नाम से पुकारा जाता है, साहित्य मे उसने 'अखड भाषा' का रूप धारण किया है। इस प्रस्ताव ने प० बनारसीदास चतुर्वेदी, डॉ० अग्रवाल और राहुलजी—

तीनो की विचारधाराओ को अस्वीकृत कर दिया है।

विरोधियों के तर्कों की अतार्किकता

जनपद आन्दोलन के विरोधियो के जिन तर्कों ने सम्मेलन को ऐसी भ्रामक स्थापनाएँ करने के लिए विवश कर दिया उनको क्रमबद्ध करके जाँचने की आवश्यकता है। इन तर्कों को हम आठ वर्गों मे बाँट सकते है

१ मातृभाषाओं को प्रोत्साहन देने से हिन्दी के घर में विग्रह पैदा होगा--जनपदों में अपनी भाषा और संस्कृति अर्थात् जातीयता का अभिमान पैदा होगा--हिन्दी के लिए यह अनिष्टकारी होगा। एकता के सूत्र टूट जाएँगे, राष्ट्र टुकड़ों में बँट जाएगा। पर भारतीय संस्कृति अखंड और अविभाज्य है।

हिन्दी के घर मे विग्रह पैदा होने का भय निराधार है। प्रारम्भ मे अग्रेजी के विरुद्ध अपने-अपने क्षेत्रो मे भारत की प्रमुख भाषाओ--हिन्दी, उर्दू, बगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड आदि ने आत्मनिर्णय के अधिकार की न्यायसगत माँग को उठाकर सघर्ष किया। देश के विभिन्न क्षेत्रो से उठनेवाले इस आन्दोलन ने नये सास्कृतिक और राष्ट्रीय जागरण मे भरपूर योग दिया और जातीय स्वाभिमान को जगाया। इससे हमारे देश को क्षति नही पहुंची, बल्कि हमारे स्वाधीनता सग्राम मे विभिन्न जन-स्रोत आकर मिले और उन्होने हमारे साम्राज्य विरोधी सघर्ष को सशक्त बनाया। उस समय किसी ने यह नही कहा कि देश मे केवल एक ही सस्कृति और एक ही जाति है, केवल एक भाषा को ही सारे देश की भाषा होना चाहिए और उसी के गढने मे सबको योग देना चाहिए, और अग्रेजी के विरुद्ध उसी भाषा को जिताने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा किसी ने नही कहा, यद्यपि अग्रेजी के विरुद्ध सम्मिलित सघर्ष करने के कारण हमारा राष्ट्रीय नारा यही था कि हम एक राष्ट्र है, हम और कुछ नही केवल भारतीय या हिदुस्तानी है। उस समय अग्रेज प्रभुओ का प्रधान तर्क था कि 'भारत एक राष्ट्र नही है उसे हम स्वराज्य कैसे दे सकते है?' विभिन्न भाषाओ मे अग्रेजी के विरुद्ध जो आन्दोलन चलते रहे, हम सदा उनकी विजय-कामना करते आये। अपने राष्ट्रीय उत्थान के लिए जातीय स्वाभिमान का जागृत होना हम वाछनीय समझते थे। राष्ट्रीय नेताओ ने सदैव जातीय जागरण का स्वागत किया, क्योकि वे अनुभव करते थे कि जब तक देश के कोने-कोने मे राष्ट्रीय जाग्रति न फैलेगी तब तक अग्रेजी शासन के विरुद्ध कोई देशव्यापी आन्दोलन करना असभव होगा। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'जनगन मङ्गलदायक जय हे, भारत भाग्य विधाता' राष्ट्र-गीत मे 'पजाब, सिध, गुजरात, मराठा, द्राविड, उत्कल, बग' देशो की जातियो के गौरवमय योगदान की पुनीत कल्पना की। निश्चय ही उस समय हमारे सामने आज के से जटिल प्रश्न नही उठे थे। आजाद भारत की व्यवस्था कैसी होगी, जनतन्त्र के सिद्धान्तो का प्रयोग किस प्रकार किया जाएगा, विभिन्न जातियो के क्या अधिकार होगे, उनके परस्पर सम्बन्ध किस आधार पर स्थिर किए जाएँगे---ये ऐसे प्रश्न थे जिन पर उस समय बहुत कम सोचा जाता था केवल

व्यापक राष्ट्रीय चेतना फैलाने का प्रश्न ही सर्वोपरि था। कतिपय ऐतिहासिक कारणो से मध्यदेश मे हिन्दी (साहित्यिक खडी बोली) और उर्दू आधुनिक साहित्य का माध्यम बनने मे समर्थ हुई, और इस विशाल प्रदेश की अन्य भाषाएँ जैसे राजस्थानी, भोजपुरी, मैथिली आदि अपना विकास न कर सकी। परन्तु उत्तरोत्तर बढती हुई राष्ट्रीय जाग्रति ने इन प्रदेशो मे भी चेतना की लहर दौडा दी और मध्य देश के जनपद भी अब अपनी सास्कृतिक एकता का अनुभव करने लगे है। वे भी अपनी मातृभाषाओ को समुन्नत और समृद्ध बनाना चाहते है, उन्हे वे अपनी सास्कृतिक और साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना चाहते है। यदि राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न को एक क्षण के लिए अलग करके देखे तो जनपदो की यह माँग भी अग्रेजी के विरुद्ध है, यह हमे स्वीकार करना पडेगा। यदि ये जनपद अपने आत्मनिर्णय की माँग को लेकर अग्रेजी के विरुद्ध अखाडे मे कुछ देर मे उतरे है तो इससे उनकी स्वाधीनता की माग अवाछनीय तो नही कही जा सकती। मध्य भारत मे अनेक ऐसे जनपद है जोकि आज भी राष्ट्रीय चेतना और सभ्यता की दृष्टि से पिछडे हुए है और वे अभी तक अखाडे मे नही उतरे। जागृत होने पर वे भी अपनी एकता महसूस करेगे और अपनी भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व मनवाने के लिए माँग करेगे। मध्य भारत मे ही नही, आगे चलकर देश के अनेक विस्मृत जनपद-क्षेत्रो मे भी यह माँग उठेगी। जिस तरह हमने अपेक्षाकृत उन्नत प्रान्तिक भाषाओ की इस माँग का स्वागत किया था, उसी प्रकार पिछडी भाषाओ के आन्दोलन का भी हमे स्वागत करना चाहिए। ये आन्दोलन इस बात के द्योतक है कि हमारे देश के पिछडे जनपद भी अब सचेत होकर उन्नत और सबल जनपदो की श्रेणी मे आकर बैठना चाहते है और इसके लिए वे अपने पिछडेपन को त्यागकर अपनी उन्नति मे सलग्न होना चाहते है। उनकी इस आकाक्षा को किस जनवादी सिद्धान्त के आधार पर हम दबाने की कल्पना कर सकते है? जिस आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए हमारे देश की प्रमुख भाषाओ ने, और विशेषकर हिन्दी ने, अँग्रेजी से सघर्ष किया है, उसी आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए यदि छोटी भाषाएँ भी सघर्ष करना चाहती है तो हिन्दी उनके मार्ग मे अवरोध बन कर क्यो खडी हो? जनपद आन्दोलन हिन्दी के विरुद्ध नही बल्कि मातृभाषाओ के अपने विकास के लिए है। जनपदीय क्षेत्रो मे भी अग्रेजी उच्च शिक्षा का माध्यम बनी हुई है। अत हिन्दी को तो इस आन्दोलन का और भी स्वागत करना चाहिए, क्योकि इससे अग्रेजी को अपदस्थ करने मे उसे जनपदो का भी सक्रिय सहयोग मिल सकेगा।

साम्राज्यवाद ने अपनी सुविधा के लिए हमारे देश की विभिन्न जातियो को एक शासन के अन्तर्गत बाँध रखा है। जो हमे एकता का सूत्र दिखाई देता है वह वास्तव मे एक कारागार की [illegible] मे बन्द कैदियो की विवशता है। इस भ्रान्तिपूर्ण एकता का आधार क्या है? साम्राज्यवादी, गुलामी, दमन और निरकुशता! स्वतन्त्र होकर यदि हमे अपने परिवार की एकता, अखडता अथवा अविभाज्यता कायम रखनी है तो परिवार के सभी सदस्यो के परस्पर-सम्बन्ध किसी दूसरे ही आधार पर स्थापित करने पडेगे। गुलामी, दमन और निरकुशता तो साम्राज्यवादी अस्त्र है। स्वतत्र भारत मे उनके प्रयोग

का कोई औचित्य नहीं हो सकता। उस समय हम यह नहीं कह सकते कि हिन्दी बड़ी बहन है तो वह अपनी छोटी बहनों के व्यक्तित्व को पनपने नहीं देगी। बल्कि उसका तो हित इसी में होगा कि उसकी छोटी बहनें भी पूर्ण यौवना हों और वे बराबरी के साथ हिन्दी में सहयोग कर सकें। स्वतन्त्र जनवादी भारत में समान अधिकार प्राप्त जातियाँ जब अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए एक दूसरे से सहयोग करेंगी और एक संघ-शासन के अन्तर्गत रहना स्वीकार करेंगी तभी भारत की अखंडता और अविभाज्यता कायम रखी जा सकेगी। इसके लिए हम अभी से अपनी संकुचित मनोवृत्ति के कारण छोटी जातियों के विरुद्ध खड़े होकर वातावरण को दूषित न करें, अन्यथा स्वतन्त्रता का कोई अर्थ न होगा और हमारे यह तथाकथित अखंडतावादी मृगमरीचिका के पीछे ही आजीवन दौड़ते रहेंगे और अपने भाग्य को और दूसरों के कर्मों को कोसते रहेंगे। जनपद आन्दोलन के समर्थक विग्रह का बीज नहीं बो रहे, बल्कि उसके विरोधी अनावश्यक ही विग्रह की दुन्दुभी बजा रहे हैं।

भारत एक बहुजातिक देश है, उसी के अनुसार उसमें अनेक भाषाएँ भी हैं। मातृ-भाषाओं के स्वतन्त्र विकास के विरोधी जितने शीघ्र इस तथ्य को हृदयंगम कर लें उतना ही देश के लिए हितकर होगा। बहुत कुछ व्यर्थ का वितण्डावाद समाप्त हो जाएगा।

२ मातृभाषाओं को प्रोत्साहन देने का परिणाम होगा कि हिन्दी राष्ट्रभाषा नहीं बन सकेगी। मातृभाषाओं को स्वतन्त्र भाषाएँ मान लेने से कुरु जनपद के साठ लाख बोलने वालों की भाषा खड़ी बोली की स्थिति कितनी नगण्य हो जायगी, यह अनुमेय है। हिन्दी का जनसंख्या-बल नष्ट हो जाएगा और बंगला अथवा सरकारी पक्षपात के कारण उर्दू ही राष्ट्रभाषा पद पर अधिकार जमा लेगी।

हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) के राष्ट्रभाषा मानने और मनवाने का प्रश्न नहीं है। वह आज भी राष्ट्रभाषा है। अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार में अंग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दी (अथवा उर्दू) का ही सर्वत्र प्रयोग होता है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने (Lauguages and the Linguistic Problems) में लिखा है कि हिन्दी वस्तुतः राष्ट्रभाषा बन गयी है। राष्ट्रभाषा कितने लोगों की मातृभाषा है, अथवा उसमें कितना साहित्य है, इसका ब्यौरा लेने-देने की भी आवश्यकता नहीं है। केवल इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि विशेष ऐतिहासिक कारणों से, जो हिन्दी के पक्ष में रहे हैं और हैं, हिन्दी बिना सरकारी स्वीकृति के भी राष्ट्रभाषा के रूप में प्रसार पाती गयी है और आज हिन्दुस्तान के एक कोने से दूसरे कोने तक हिन्दी (अथवा उर्दू) का प्रयोग अन्तर-प्रान्तीय आदान-प्रदान में होता है। स्वयं डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी बंगला को राष्ट्रभाषा बनाने का विचार असंगत समझते हैं, क्योंकि बंगला में अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार सम्भव नहीं है। काश्मीर का एक व्यक्ति हिन्दी या उर्दू में तो लखनऊ के व्यक्ति से बातें कर सकता है लेकिन बंगला में कलकत्ते के निवासी से बातें नहीं कर सकता, अथवा एक गुजराती कलकत्ते के बंगाली से हिन्दी में तो बातें कर सकता है, परन्तु बंगला में नहीं। यहाँ तक कि द्राविडी भाषा-परिवार की दक्खिन भारतीय जातियाँ भी हिन्दी के माध्यम से ही उत्तर भारत के लोगों से विचार-विनिमय कर सकती

है, बगला के माध्यम से नही। राष्ट्रीय कॉग्रेस और मुस्लिम लीग आदि अखिल भारतीय राजनीतिक सस्थाएँ भी खडी बोली (हिन्दी अथवा उर्दू) को ही राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकार करती है। अत बगला कभी राष्ट्रभाषा बनने का दावा पेश करेगी, इसकी सभावना नही है। जहाँ तक उर्दू का प्रश्न है, वह एक अलग बात है और उस पर तभी विचार किया जा सकता है जब हम पहले इतना मान ले कि जनसख्या-बल से उसका कोई सम्बन्ध नही है। यदि राष्ट्रभाषा का पद पाने मे हिन्दी (सस्कृत प्रधान खडी बोली) को किसी भाषा से प्रतियोगिता करनी पडेगी या पड रही है तो वह उर्दू (फारसी प्रधान खडी बोली) से। इतना तो निश्चित है कि खडी बोली ही अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की भाषा बनेगी, चाहे वह कुरु जनपद की ६० लाख जनता की ही मातृभाषा क्यो न हो। खडी बोली की कौनसी शैली—संस्कृत प्रधान हिन्दी अथवा फारसी प्रधान उर्दू अथवा उनका कोई सम्मिलित रूप हिन्दुस्तानी अथवा अलग-अलग दोनो—समूचे भारत की या दो भिन्न-भिन्न भूभागो की राष्ट्रभाषाएँ बनेगी, इसका निर्णय करने के लिए एक दूसरे को जनसख्या-बल का थप्पड मारने की जरूरत नही पडेगी। राष्ट्रभाषा का प्रश्न कैसे और किस रूप मे हल होगा, इस विषय पर यहाँ विचार करना विषयान्तर होगा। सक्षेप मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह प्रश्न उतना जटिल नही है जितना कि 'राष्ट्रभाषा हिन्दी है' अथवा 'कौमी जबान उर्दू है' का गला फाडकर नारा लगानेवालो को अपनी उत्तेजना मे लगता है। समूचे भारत की एक मात्र राष्ट्रभाषा बनाने की क्षमता इन दोनो शैलियो मे से किसी एक मे नही है। अनुमानत: हमे दोनो को दो भिन्न भूभागो मे अलग-अलग राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकार करना होगा। मध्य पूर्व और दक्षिण भारत की सस्कृत-प्रधान तथा द्राविडी भाषाओ के बोलनेवालो के लिए फारसी-अरबी प्रधान उर्दू अनुपयुक्त है, अत इस बडे भूभाग की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हो सकती है। उत्तर पश्चिम भारत की फारसी-प्रधान भाषाओ को बोलनेवाली मुस्लिम जातियाँ हिन्दी (सस्कृत प्रधान) को राष्ट्रभाषा कदापि नही स्वीकार कर सकती। अत: उर्दू ही उस भूभाग की राष्ट्रभाषा बन सकती है। इस प्रकार का अनुमान किसी विशेष राजनीतिक व्यवस्था पर आधारित नही है, अर्थात् राहुलजी की तरह हम इस तरह का कोई निश्चित मत नही प्रकट करते है कि भारत का विभाजन हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के आधार पर होगा ही। यदि ऐसा विभाजन हुआ, तब तो यह स्वत सिद्ध है कि हिन्दी हिन्दुस्तान की और उर्दू पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा बनायी जाएँगी। परन्तु यदि ऐसा न हुआ तो भी राष्ट्रभाषा का प्रश्न इसी आधार पर हल किया जा सकेगा। भारतीय सघ मे सम्मिलित उत्तर भारत के मुस्लिम-प्रधान-राज्य अपने यहाँ उर्दू को ही राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकार कराने पर जोर देगे और वह सघ को मानना होगा, और यह कोई अनहोनी बात न होगी। स्वय डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने इस बात का उल्लेख किया है कि अनेक राष्ट्रो मे दो-दो राष्ट्रभाषाएँ राजकीय प्रयोग मे आती है। यदि विभाजन न हुआ तो भारत मे भी कुछ ऐसा ही समाधान अनिवार्यत. करना पडेगा और यही न्याय-सङ्गत होगा। परन्तु फिर भी यदि राष्ट्रभाषा-प्रेमी जन-सख्या बल के बिना किसी समाधान की कल्पना करने मे असमर्थ

है तो उन्हे स्मरण रखना चाहिए कि मातृभाषाओ के स्वाभाविक-विकास को रोककर जबर्दस्ती जनसख्या बल बढाने की नीति के स्थान पर यदि वे प्रेम और सद्भावना से हिन्दी का जनसख्या बल बनाए रखने की चेष्टा करेंगे तो उन्हे अधिक सफलता मिलेगी। मध्यदेश की जनपदीय भाषाएँ हिन्दी की बहने है, उनकी आकाक्षाओ के प्रति सहानुभूति रखने से उसे उनका समर्थन अवश्य मिलेगा। जनपदीय भाषाओ के पुनर्जागरण मे हिन्दी आन्दोलन ने मार्ग प्रदर्शन किया है जिससे उसके प्रति सभी की ममता है, वह जनपदीय भाषाओ की जाग्रति का प्रतीक है। इस समय जिन मातृभाषाओ मे जनपद आन्दोलन चल रहा है उन्होने निरन्तर इस बात पर जोर दिया है कि हिन्दी उनकी राष्ट्रभाषा है। अत हिन्दी का जन-सख्या बल कम हो जाने का भय निराधार है।

३. हिन्दी—राष्ट्रभाषा ही नहीं २० करोड़ जनता की मातृभाषा भी है और सारी जनपदीय बोलियाँ हिन्दी की बोलियाँ है।

इस तर्क के उत्तर मे भाषा शास्त्रियो की सम्मति का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा। राष्ट्रभाषा के रूप मे खडी बोली (हिन्दी और उर्दू) को व्यवहार मे लाने वालो की सख्या डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार लगभग २५ करोड ७० लाख है। इसमे से यदि उर्दू को राष्ट्र-भाषा मानने वालो की सख्या को घटा दे तो भी हिन्दी २० करोड अथवा उससे कुछ अधिक लोगो की राष्ट्रभाषा अवश्य है। परन्तु जिन लोगो की खडी बोली (हिन्दी और उर्दू) मातृभाषा है उनकी सख्या ग्रियर्सन के अनुसार ६५ लाख है, और डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार ५३ लाख है। ५३ या ६५ लाख की मातृभाषा किस प्रकार २० करोड की मातृ-भाषा हो गयी—इसे तिलस्मी चमत्कार ही कहना चाहिए। डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अम्बाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भाग के गाँवो मे खडी बोली मातृभाषा के रूप मे बोली जाती है। चूँकि कतिपय ऐतिहासिक कारणो से समस्त मध्य-देश मे खडी बोली (हिन्दी-उर्दू) शिक्षा और साहित्य का माध्यम बनी हुई है, इससे हमारे व्याकुल हिन्दी सेवियो को, जो अधिकतर अपने घरो मे राजस्थानी, कोसली, भोजपुरी, मैथिली आदि अपनी विशेष मातृभाषा का ही प्रयोग करते है, यह भ्रम हो गया है कि उच्च हिन्दी ही उनकी मातृभाषा भी है। कुछ लोग भाषा-शास्त्र को तिरस्कृत करके अब ऐसा आग्रह भी करने लगे है कि सारी जनपदीय बोलियाँ हिन्दी (खडी बोली) की ही बोलियाँ है। भाषा विज्ञान का साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि वर्त्तमान आर्य-भाषाओ की उत्पत्ति मध्य-देश के विभिन्न भागो मे प्रचलित प्राकृतो और उनके अपभ्रशो से हुई है। डॉक्टर धीरेन्द्र-वर्मा के अनुसार "शौरसेनी अपभ्रश से हिन्दी, राजस्थानी, पजाबी, गुजराती, पहाडी आदि भाषाओ का सम्बन्ध है।.....बिहारी, बगला, आसामी और उडिया का सम्बन्ध मागधी अपभ्रश से है। पूर्वी हिन्दी का अर्धमागधी अपभ्रश से तथा मराठी का महाराष्ट्री अपभ्रश से सम्बन्ध है। .. पजाबी का सम्बन्ध भी केकय अपभ्रश से करना चाहिए। पहाडी भाषाओ के लिए खस अपभ्रश की कल्पना की गयी है। किन्तु बाद को ये राजस्थानी से बहुत प्रभावित

हो गई थी।" इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंशों के परिवार की अनेक भाषाओं में से हिन्दी (खड़ी बोली) केवल एक भाषा है, वह स्वयं किसी भाषा की अथवा बोली की जननी नहीं है। खड़ी बोली की साहित्यिक शैली गत सौ वर्षों में ही विकसित हुई है। उसके पूर्व मध्यदेश की साहित्यिक भाषा के स्थान पर राजस्थानी और ब्रज सदियों तक विराजमान रह चुकी है। खड़ी बोली का यह आकस्मिक उत्थान उसकी अपनी विशेष प्रतिभा के कारण नहीं हुआ है, बल्कि अन्य राजनीतिक-ऐतिहासिक कारणों से। चन्द, कबीर, तुलसी, सूर, विद्यापति, मीरा, भूषण, मतिराम, बिहारी, देव आदि इनमें से कोई भी वर्त्तमान साहित्यिक-हिन्दी के कवि नहीं थे। वे अपनी इन जनपदीय भाषाओं के ही कवि थे। अतएव विरोधियों को मिथ्या स्थापनाओं की शरण नहीं लेनी चाहिये। सुनीतिकुमार चटर्जी और डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि भाषा शास्त्र की दृष्टि से **हिन्दी का अर्थ है साहित्यिक खड़ी बोली।** डॉक्टर चटर्जी के अनुसार 'भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी, कोसली, पंजाबी और हिन्दी' तो निश्चितरूपेण 'व्याकरण की दृष्टि से न्यारी या प्रथक्-भाषा पदवाच्य है।' बुन्देली, ब्रज और कन्नौजी के विषय में उनको सन्देह है और उन्हें वे हिन्दी (खड़ी बोली) का ही बदला हुआ रूप समझते हैं। 'काशिका, मल्लिका, व्रजिका' आदि को वे भोजपुरी की ही बोलियाँ मानते हैं। इस प्रकार वे राहुलजी के तीस जनपदों की तीस भाषाओं की संख्या में कुछ घटा देते हैं, परन्तु हिन्दी के 'निखिल उत्तर भारत की मातृभाषा' होने को वे स्वीकार नहीं करते। राहुलजी की गिनायी संख्या को 'अन्तिम निर्णय' के रूप में नहीं लेना चाहिये। इसका निर्णय तो कोई एक विद्वान नहीं कर सकता। इस प्रसंग में केवल इस तथ्य को स्वीकार करने की आवश्यकता है कि हिन्दी-क्षेत्र में खड़ी बोली के अतिरिक्त अन्य भाषाएँ भी हैं जिनका पृथक् अस्तित्व है।

४ मातृ-भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया गया तो उनके व्याकरण बन जाएँगे। उनमें नया साहित्य उत्पन्न होने लगेगा और इस प्रकार हिन्दी और जनपदीय भाषाओं के एक रूप होने में नया व्यवधान खड़ा हो जाएगा और उनका अन्तर स्थायी बन जायेगा।

जिस समय संस्कृत मध्यदेश की साहित्यिक भाषा थी और प्राकृतों अथवा उनके विभिन्न अपभ्रंशों में न शिक्षा दी जाती थी, न साहित्य को प्रोत्साहन दिया जाता था, उस समय भी जनता ने अपनी बोली को नहीं त्यागा, बल्कि संस्कृत ही कालान्तर में एक अप्रचलित भाषा बन गयी। रूसी साम्राज्यवाद ने भी विभिन्न जातियों की भाषाओं को दबाकर रूसी भाषा का ही सर्वत्र प्रयोग कराया, परन्तु उसका जो परिणाम निकला, वह सर्वविदित है। कृत्रिम उपायों से भाषाओं का विकास या स्वरूप-परिवर्तन नहीं हो पाता। और फिर जनपदों की जनता अपनी भाषाओं की उपेक्षा कब तक सहन करेगी? मध्यदेश की भाषाओं में जो अन्तर है वह भाषाओं के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। प्रतिबन्ध लगाकर इस अन्तर को मिटा देना असम्भव है। इस तरह का तर्क अत्यन्त परिमित इतिहास-ज्ञान का परिचय देता है, किसी भी उपाय से सभी जनपदीय भाषाएँ कभी एकरूप

हो जाएंगी, इसे मूढ कल्पना ही कहा जा सकता है[1]।

५ मातृभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रस्ताव अव्यवहारिक है। तीस विश्वविद्यालय स्थापित करके तीस भाषाओं मे ज्ञान को प्रकाशित करने का विचार दुराशामात्र है। निर्धन भारत इतना बड़ा बोझ सँभालने मे असमर्थ है।

भूतपूर्व शिक्षा-मत्री और समाजवादी विचारक सम्पूर्णानन्दजी ने मातृभाषाओं के दावे को खारिज करने के लिये व्यावहारिकता की कसौटी पेश की है। कदाचित् हमारा निर्धन भारत, जिसमे आज व्यक्ति की औसत आय दो आने प्रतिदिन से अधिक नही है, मध्य देश के आठ विश्वविद्यालयो का बोझ भी उठाने मे असमर्थ है। शिक्षा का विलास उसके लिये असहनीय और एक क्रूर व्यङ्ग है। शिक्षा-मत्री पद से सम्पूर्णानन्दजी को तो कम-से-कम सयुक्त-प्रान्त मे पाँच विश्वविद्यालयो और दर्जनो कॉलिजो आदि को बन्द करा देना चाहिये था। पाँच विश्वविद्यालयो और सैकडो स्कूल-कॉलिजो के लिये शिक्षा-विभाग, अध्यापको और पाठ्य-ग्रन्थो के समुच्चयो आदि पर जो करोडो रुपया खर्च हो रहा है, कम-से-कम सम्पूर्णानन्दजी अपने प्रान्त की जनता के सिर पर से इस बोझ को उतारने मे तो सहायक हो ही सकते थे। निर्धन भारत पहले अपना पेट भर ले, शिक्षा के सपने उसे कदापि नही देखने चाहिये। यदि हमारी स्मरण-शक्ति दुरुस्त है तो हमे याद है कि राष्ट्रीय कॉग्रेस ने, जिसके सम्पूर्णानन्दजी प्रमुख सदस्य है, सदैव ब्रिटिश सरकार की शिक्षा सम्बन्धी नीति की निन्दा की है कि अपने डेढ सौ वर्ष के शासन-काल मे वह देश की केवल आठ प्रतिशत जनता को ही साक्षर बना पायी है, इसमे शिक्षितो और विशेषकर उच्च शिक्षा प्राप्त लोगो की सख्या तो और भी नगण्य है। और जब ब्रिटिश सरकार देश की निर्धनता और बजट मे रुपयो की कमी का बहाना पेश करती है तब राष्ट्रीय कॉग्रेस और देश के सभी विचारक अपने कर्त्तव्य का ध्यान दिलाकर सरकार को निरुत्तर करने की कोशिश करते है। देश निर्धन हो अथवा सम्पन्न, सरकार का तो कर्त्तव्य है कि वह सार्वजनिक शिक्षा का आयोजन करे और यदि वह रक्षा-विभाग पर राष्ट्रीय आय का आधे के लगभग रुपया अनावश्यक ही खर्च कर देती है तो इस अपव्यय को रोककर शिक्षा-विभाग पर और क्यो नही खर्च कर सकती! और फिर भारत निर्धन है तो इसमे दोष किसका है? राष्ट्रीय कॉग्रेस जन-हित की भावना से प्रेरित होकर सदैव अनिवार्य शिक्षा की माँग करती आयी है और उसके

---

१ इधर सात-आठ वर्षों से, स्टालिन से अधिक बड़े स्टालिनवादी हमारे डॉ० रामविलास शर्मा हिन्दी के अखडतावादियों के कुतर्कों को सैद्धान्तिक आधार देने के लिए 'एक बृहत्तर हिन्दुस्तानी जाति या राष्ट्र' की कल्पना करते आये है। उनका कहना है कि मातृभाषाएँ मिट रही है और हिन्दी उनका स्थान ग्रहण कर रही है, और इस प्रकार एक बृहत्तर हिन्दुस्तानी जाति का जन्म हो रहा है, बृहत्तर रूसी जाति की तरह। निश्चय ही आजादी मिलने के बाद भी मूढ़ कल्पनाओं का युग नही बीता।—लेखक १५ मई १९३६

सन् १९३७ ई० के चुनाव घोषणा-पत्र से भी विदित है कि उसकी दृष्टि मे प्रत्येक मनुष्य को अनिवार्य शिक्षा पाने का अधिकार है। सरकार को इसके लिये सुविधाएँ जुटानी ही पडेगी। कॉग्रेस का इसीलिए यह आदर्श है कि भारत के ४० करोड जन, सब-के-सब, केवल साक्षर ही नही, शिक्षित भी हो। कॉग्रेस-जनो ने इसके लिए रूस का उदाहरण बार-बार दुहराया है कि यदि सोवियत रूस पच्चीस वर्षो मे अपनी जनता को ९९ फीसदी से ज्यादा शिक्षित बना सकता है, जबकि क्राति के पूर्व १३ फीसदी ही साक्षर थे, तो भारत के ४० करोड-जनो को भी हम स्वतन्त्र भारत मे कम-से-कम अवधि के अन्दर ही शिक्षित क्यो नही बना सकते? बिना सार्वजनीन शिक्षा के हमारा देश उन्नति कैसे कर सकता है? कॉग्रेस का आदर्श वर्तमान स्कूल-कॉलेजो से ही तो नही पूरा हो सकता। हर स्कूलवय के व्यक्ति के लिये यदि शिक्षा अनिवार्य कर दी जायगी तो निश्चय ही हमारे विद्यार्थियो की सख्या आज की अपेक्षा दस-बीस गुनी ज्यादा बढ जायगी। इसके लिये आज की सख्या से दस-बीस गुने स्कूल-कॉलेज और विश्वविद्यालय भी आवश्यक हो जायेगे। ये स्कूल-कॉलेज एक भाषा के हो अथवा अनेक, इससे विशेष फरक नही पडेगा, क्योकि शिक्षा का व्यय तो अपने अनुपात मे बढ ही जाएगा और निर्धन भारत के सिर पर इस दुष्पाप का बोझ बीस गुना ज्यादा हो जाएगा। जिस सहानुभूति के साथ सम्पूर्णानन्दजी ने खर्च का बही-खाता खोल-कर सार्वजनिक शिक्षा के आदर्श को त्याज्य और घातक घोषित कर दिया—राहुलजी की विचारधारा के मूल मे सार्वजनिक शिक्षा का उद्देश्य ही सर्वत्र व्याप्त है—उससे तो ऐसा ही अनुमान होता है कि राष्ट्रीय कॉग्रेस का अनिवार्य शिक्षा का आदर्श कोरा नारा है, वस्तुत उद्देश्य कुछ दूसरा है। परन्तु हमारा विश्वास है कि बात ऐसी नही है। कॉग्रेस अपनी घोषणाओ मे बार-बार स्पष्ट कर चुकी है कि स्वतन्त्र भारत मे प्रत्येक अल्पसख्यक जाति या भाषा-क्षेत्र की सस्कृति, भाषा और लिपि की सुरक्षा का प्रबन्ध किया जायगा। यदि सम्पूर्णानन्दजी को कॉग्रेस की नीति का सच्चा प्रतिनिधि मान ले तो फिर व्यावहारिक और आर्थिक कठिनाइयो के बहाने उन्हे राष्ट्र-सघ की ओर से जैसी सुरक्षा मिलेगी उससे उन्हे रसातल मे ही कही अपने लिये जगह खोजनी पड जायेगी। या सम्पूर्णानन्दजी के अनु-सार स्वायत्त शासन और सास्कृतिक स्वाधीनता के सिद्धान्त मध्य-देश के जनपदो, सस्कृतियो और भाषाओ पर लागू न होकर भारत के अन्य भागो पर ही लागू होगे? पर कॉग्रेस की घोषणाओ मे ऐसी कोई शर्त नही रखी गयी है। फिर भी जनपद-आन्दोलन का विरोध करते समय सम्पूर्णानन्दजी देश के भले की बात करते है, आश्चर्य इसी बात पर होता है। उनसे यह आशा की जाती थी कि भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री होने के नाते उन्होने ससार की विभिन्न शिक्षा पद्धतियो का सम्यक् अध्ययन किया होगा और कदाचित् इति-हास की साक्षी पाकर वे कम-से-कम सिद्धान्ततः इतना तो मानने लगे होगे कि मातृभाषाओ के द्वारा ही सार्वजनिक शिक्षा सम्भव है तथा विद्यार्थी की स्वाभाविक प्रतिभा का पूर्ण विकास भी मातृभाषाओ के द्वारा ही अधिक सम्भव है। इस सिद्धान्त को मानकर यदि वे व्यावहारिक कठिनाइयो का प्रश्न उठाते तो उनकी बात मे ज्यादा वजन होता।

६ राहुलजी ने मातृभाषाओं का प्रश्न उठाकर रूस के पौधे को भारत में गाड़ने की चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में रूस को आदर्श नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि दोनों देशों की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में भेद है।

जनपद आन्दोलन को बदनाम करने की चेष्टा में विरोधी स्वयं अपने को कितना हास्यास्पद बना सकते हैं, इसका प्रमाण यह तर्क है। रूस के पौधे को भारत में गाड़ने का गौरव राहुलजी को देना, हम समझते हैं, उन उदारमना राष्ट्र नेताओं और जनपद-क्षेत्रों की जनता के प्रति अन्याय करना है जो राहुलजी के एक वर्ष पूर्व प्रकाशित लेख से कई वर्ष पहले से जनपद आन्दोलन कर रही थी अथवा जिन नेताओं ने भाषाओं और संस्कृतियों के स्वतन्त्र विकास की नीति को अपना समर्थन दिया था। जनपद आन्दोलन कॉंग्रेस की भाषाओं और संस्कृतियों सम्बन्धी-नीति और व्यापक राष्ट्रीय जागरण का परिणाम था अथवा रूस का बीज क्रान्ति की लपटों से छिटक कर यहाँ आ पड़ा था और सबकी नजर बचा कर उग रहा था, इसका निर्णय आक्षेपकर्त्ता स्वयं करें। कम-से-कम वे राहुलजी को इतना सम्मान प्रदान कर दूसरों की अवमानना न करें। परन्तु किसी बहस में ऐतिहासिक तथ्यों का इतना सूक्ष्म-भेद करने की प्रवृत्ति उनके लिए नैसर्गिक नहीं है, अतः संक्षेप में उनकी स्मृति को पुनः ताजा करने की जरूरत है। लगभग दो हजार वर्ष पूर्व समस्त पूर्वी भारत की साहित्यिक भाषा अनुमानतः मागधी प्राकृत थी और बिहार, बंगाल, उड़ीसा और आसाम आदि विभिन्न भूमि-खण्डों में मागधी अपभ्रंश बोली जाती थी, किन्तु स्थान भेद के कारण इस बोली के अनेक रूपान्तर थे। ये मागधी प्राकृत की बोलियाँ थीं, स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं, परन्तु अपने ऐतिहासिक विकास-काल में ये सारी बोलियाँ स्वतन्त्र भाषाएं बन गईं——बल्कि मगधी अथवा बिहारी तो तीन प्रथक भाषाओं (मैथिली, भोजपुरी, मागधी) में विभक्त होकर विकसित हुई। यह शायद बहुत पुरानी बात है। अभी तीन सौ वर्ष ही बीते हैं (सन् १६०० के लगभग) जब गुजराती और राजस्थानी एक ही भाषा थी, जिनकी साहित्यिक परम्पराएँ भी एक थीं। परन्तु इस थोड़ी-सी अवधि में ही गुजराती ने न केवल राजस्थानी से अपने को मुक्त कर लिया, वरन् आज उसका साहित्य अन्य उन्नत भाषाओं की तुलना में कम सम्पन्न नहीं है। उस समय किस सोवियत रूस के पौधे को कौन-सा राहुल रोप गया था? राहुलजी के लेख से अनेक वर्ष पूर्व भाषाओं और संस्कृतियों के आधार पर बने प्रान्तों में स्वतन्त्र भारत का पुनर्विभाजन करने का सिद्धान्त कॉंग्रेस मान चुकी है और इस समय भी कॉंग्रेस के विधान में ऐसे प्रान्तों का नाम है जिनका अस्तित्व ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार नहीं किया है। भाषा और संस्कृति के आधार पर आंध्र और महाकोसल प्रान्तों का अस्तित्व स्वीकार करके सोवियत रूस का पौधा पहले कॉंग्रेस ने हमारे देश में आरोपित किया या राहुलजी ने? सीमा-प्रान्त में पहले पश्तो में शिक्षा नहीं दी जाती थी। कॉंग्रेस मन्त्रिमंडल ने पश्तो को शिक्षा का माध्यम बना कर हमारे निर्धन देश पर एक भाषा और लाद दी! राजस्थानी, मैथिली और बुन्देलखण्डी आदि में जो जनपद आन्दोलन चल रहे हैं, वे राहुलजी के लेख से कई वर्ष पहले से।

अत राहुलजी पर दोषारोपण करना कि वे रूस का पौधा भारत में गाडना चाहते हैं, अनर्गल है। राहुलजी ने अपने लेख मे जातियों की समस्या, और विशेषकर सार्वजनिक शिक्षा के प्रति सोवियत रूस की नीति का उल्लेख करते हुए केवल यह बताने की कोशिश की थी कि उसने इस सम्बन्ध मे जिस नीति का अवलब लिया है और उसके अनुसार जो प्रयोग किए है उसके परिणाम इतने अपूर्व हुए है कि भारत मे इन समस्याओ का हल करते समय हम रूस के तत्सम्बन्धी प्रयोगो की अवहेलना नही कर सकते। जनपद, जनशिक्षा और जनसस्कृति के प्रेमी अपनी बुद्धि और आँखो पर पट्टी बाँध कर नही चलते। वे जहाँ से भी सबक सीख सकते है, सीख कर न केवल अपने ज्ञान को बढाते है, वरन् उससे अपने यहाँ की जटिल समस्याओ के हलको आसान बनाने की चेष्टा भी करते है। मगर हमारे ये हिन्दी-प्रेमी जन-हित के विरुद्ध आँखो पर पट्टी बाँध कर लाठी लिए जो सामने पड जाए उसका सिर फोडते घूमना चाहते है, और अगर कोई इस पट्टी को ओर इशारा करे तो उसे बडे दर्प से सोवियत रूस का अधसमर्थक कहने का दुस्साहस करते है। स्वतन्त्र विकास की नीति का समर्थन करके यदि राहुलजी सोवियत रूस का पौधा भारत मे रोप रहे है, तो उनके विरोधी भी राष्ट्रीय आन्दोलन की नीति और परम्परा के विरुद्ध मातृभाषाओ को मिटा कर उनके स्थान पर हिन्दी-साम्राज्य की स्थापना करने की नीति का समर्थन करके क्या इतिहास के कूडे-खाने मे से निकाल कर जारशाही के रूस का पौधा भारत मे रोपने की कोशिश नही कर रहे है ? उस जारशाही के रूस का, जो लेनिन के शब्दो मे 'भाषाओ का विशाल कारागार' था। विरोधी अपने दिलो को टटोल कर इस प्रश्न का उत्तर दे।

७ मातृभाषाओं को पृथक् विकास की स्वाधीनता देने का अर्थ होगा कि देश मे पचासो छोटे-छोटे निर्बल राष्ट्र बन जायँगे और आत्मरक्षा और आर्थिक-दृष्टि से वे बाल्कन के छोटे-छोटे राष्ट्रों की तरह दूसरों पर निर्भर रहेंगे। इससे निरन्तर गृह-कलह और फूट को उत्तेजना मिलती रहेगी। जो चाहेगा देश को परतन्त्र बना लेगा।

शिक्षा, सस्कृति और साहित्य के प्रश्नो को लेकर जनपद आन्दोलन एक सास्कृतिक आन्दोलन है। राजनीतिक नारे उसने नही लगाये। फिर भी उसके विरोधी हर तरफ से उस पर आक्रमण करना ही अपनी कूटनीति का चरम लक्ष्य समझते है। देश मे कितने राष्ट्र होगे, वे किसी सघ मे मिलकर रहेगे अथवा बिल्कुल अलग रहेगे, इस तरह के प्रश्न जनपद आन्दोलन ने कभी नही उठाये। सास्कृतिक क्षेत्र मे ही उसने पूर्ण स्वाधीनता की माँग की है और जहाँ सभव लगा है, किसी एक भाषा के आधार पर पृथक् प्रान्त की भी माँग की है। यदि हिन्दी-क्षेत्रो तक ही जनपद-आन्दोलन को सीमित रख कर देखे, तो 'पचासो छोटे राष्ट्रो मे देश बँट जायगा' इस तरह की आशकाएँ उठाना देश के वर्तमान भूगोल की अनभिज्ञता का प्रदर्शन करना है। यदि क्षण भर के लिए मान भी लिया जाय कि मध्यदेश की भाषा मात्र हिन्दी ही रहे, तो भी उसके चारो ओर स्वतन्त्र और पृथक् भाषाओ की और उनके आधार पर बने राज्यो की एक मेखला बनी रहेगी, देश छोटे-छोटे भागो मे तो बँटा ही रहेगा। आसामी, बगाली, उडिया, तामिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम,

मराठी, गुजराती, सिंधी, बलोची, पश्तो, काश्मीरी, नेपाली आदि भाषाएँ और उनके राज्य तो पृथक् रहेंगे ही।

८ हिन्दी साहित्य सम्मेलन का इस बखेड़े से क्या सम्बन्ध ?

जनपद आन्दोलन के विरुद्ध कुतर्कों का प्रपंच रचने के उपरान्त, अर्थात् साधारण हिन्दी प्रेमी के मन में घोर आशङ्काओं की कतारें खडी करके और उसकी स्वयं सोचने समझने की शक्ति को कुण्ठित बनाकर वे शिशुवत् सरलता से निष्पक्षता का आडम्बर रचकर कहते हैं, "ये सब बातें तो हैं, पर साहित्य सम्मेलन को इस बखेडे में क्यों पडना चाहिए ?" ताकि साहित्य सम्मेलन के सामने जनपद आन्दोलन वाले अपनी माँग न रखें और इस प्रकार उनका आन्दोलन मध्यदेश के सबसे शक्तिशाली सांस्कृतिक-साहित्यिक आन्दोलन से दूर एकान्त में जा पडे, और वे साहित्य सम्मेलन के मंच से उसके विरुद्ध निर्द्वन्द्व होकर फतवे निकालते रहें। परन्तु लगता है, जनपद आन्दोलन वालों की इच्छा इस धोखे में आने की नहीं है, और वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का दामन नहीं छोडना चाहते। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हिन्दी (साहित्यिक खडी बोली) को राष्ट्रभाषा पद पर पहुँचाने में सबसे बडा काम किया है और हिन्दी-परिवार की अन्य भाषाओं के क्षेत्र में भी राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक जागरण पैदा करने में उसका आभार सभी स्वीकार करते हैं। अत समूचे मध्य देश की भाषाओं के प्रति सम्मेलन का दायित्व बहुत बडा है। उसे वह छोड कैसे सकता है ? और यदि आज कतिपय नामधारी हिन्दी-सेवियों के अकाडताडव से भुलावे में आकर सम्मेलन स्वयं अपनी और व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन की जनवादी परम्पराओं को त्याग कर मातृभाषाओं के स्वतन्त्र विकास की आकांक्षा को अवांछनीय कहकर जयपुर में प्रस्ताव पास कर सकता है, तो कभी न्याय और जन हित का विचार करके वह मातृभाषाओं के आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार कर उदारता और दूर-दर्शिता का भी परिचय दे सकता है, और जनपदों की भाषा और संस्कृति के विकास में सहायक होकर समूचे मध्य देश के समान-सांस्कृतिक-उत्थान का नया शिलान्यास कर सकता है। सम्मेलन इस प्रश्न पर तटस्थ नहीं है, हो भी नहीं सकता। यदि जनपदों के बखेडे से सम्मेलन का सम्बन्ध न होता तो जयपुर का प्रस्ताव केवल इतना ही कहता कि मातृभाषाओं के आन्दोलन के प्रति सम्मेलन तटस्थ रहेगा। वह इन आन्दोलनों के कार्य-कर्त्ताओं से केवल इतना अनुरोध करता है कि वे ऐसी प्रवृत्तियों को न उभरने दें जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने में इन्कार करें। दिल्ली, हरिद्वार और जयपुर के प्रस्तावों से यह सिद्ध है कि मातृभाषाओं-सम्बन्धी प्रश्न सम्मेलन की विचार-सीमा में आते हैं। किन्तु इस समय सम्मेलन का हस्तक्षेप मातृभाषाओं के विरोध में हुआ, यह हमारे लिए गौरव की बात नहीं है। यह तो उसी प्रकार हुआ, जिस प्रकार गांधीजी लार्ड इर्विङ्ग के पास 'रोटी माँगने गये पर बदले में मिला पत्थर।'

जनपद आन्दोलन के विरोधियों के तर्कों का इतने विस्तार से उत्तर देने की आवश्यकता थी, क्योंकि वे अभी तक अज्ञान के सागर में भय और आशंका की नाव पर

बैठ डूब-उतरा रहे है और जनवाद की दिशा भूल गये हैं।

प्रगतिवादियों का दृष्टिकोण

जनपदीय भाषाओं के प्रश्न पर प्रगतिवादी विचारको तथा साहित्यिको का क्या दृष्टिकोण है, उनकी कार्यनीति का क्या स्वरूप है, अब इन प्रश्नो पर हमे गभीरतापूर्वक विचार करना है।

प्रगतिवादी और राष्ट्रभाषा हिन्दी

इस रिपोर्ट के कतिपय शब्दो को तोड मरोडकर जनपदीय भाषाओ के विरोधी अर्थ का अनर्थ न करे और हमारे ऊपर कही यह मिथ्यारोप न लगाने लगे कि प्रगतिवादी हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद से गिराने के लिए जनपदीय भाषाओ का पक्ष-समर्थन कर रहे है, इसलिए हमे इस सम्बन्ध मे पुन अपनी नीति की स्पष्ट घोषणा करनी चाहिए। हमारा निश्चित मत है कि पूर्वी पञ्जाब, दिल्ली, युक्त- प्रान्त, राजस्थान, बिहार, मध्य-भारत, महाराष्ट्र, गुजरात, उड़ीसा, बङ्गाल, आसाम आदि मध्य-देश और पूर्वी भारत के प्रान्तों मे, जहाँ की वर्तमान भाषाओं में सस्कृत के सहस्रों शब्द अपने तत्सम और तद्भव दोनों रूपों में प्रचलित हैं, जिसके कारण उनमें एक साम्य स्थापित किया जा सकता है, हिन्दी (संस्कृत प्रधान साहित्यिक खड़ी बोली) को राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार करने का प्रयत्न जारी रहना चाहिए। एक प्रकार से इन विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों में सर्वसाधारण के अन्दर हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है। सरकारी तौर पर भी उसे मनवाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। दक्षिण की द्राविड़ी भाषाएँ भी यदि हिन्दी को स्वीकार करलें तो हमें प्रसन्नता होगी, परन्तु इसका अन्तिम निर्णय वहाँ के निवासी ही कर सकते हैं। यदि वे तमिल, तेलुगु, कनारी, मलयालम में से किसी एक को द्राविड़ क्षेत्रों की राष्ट्र-भाषा का पद देना चाहेंगे तो इससे उन्हें रोका नहीं जा सकेगा। पश्चिमी पञ्जाब, सिंध, बलोचिस्तान, सीमा-प्रान्त और काश्मीर आदि प्रदेशों में अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार की भाषा, अर्थात् राष्ट्रभाषा भी हिन्दी (संस्कृत-प्रधान खड़ी बोली) ही हो, इस बात पर जोर देना हम उचित नहीं समझते। हमारा विचार है कि इन प्रदेशों में खड़ी बोली का उर्दू रूप ही अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार की भाषा के लिये अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार भावी भारतीय राष्ट्रसंघ का चाहे जो विधान हो, हमें अन्तोगत्वा कम-से-कम दो विशाल भूमिखण्डों के लिये अलग अलग दो राष्ट्रभाषाएँ स्वीकार करनी पड़ेंगी।

एक समय था जब गांधीजी की तरह प्रगतिवादियों ने भी हिन्दी-उर्दू के झगड़े का अन्त करने के लिए एक सरल समाधान हिन्दुस्तानी' के रूप में प्रतिपादित किया था। परन्तु भाषाओं के विकास के इतिहास ने और गत दस वर्ष की राष्ट्रीय परिस्थितियों ने हमें इस प्रश्न पर गहराई से सोचने पर मजबूर कर दिया और हम अब इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि एक सामान्य राष्ट्रभाषा का उद्देश्य चाहे कितना ही श्लाघ्य क्यों न हो, वर्तमान परिस्थितियों मे वह असम्भव है। न कोई नयी भाषा कृत्रिम उपायों से गढ़ी जा

सकती है और न राजनीतिक वातावरण ही इस समय इसके पक्ष में है। अतः हिन्दी तथा उर्दू दोनों का सामान्य रूप तो सद्भावना के वातावरण मे दोनों सांस्कृतिक धाराओं के स्वच्छन्द और स्वस्थ मेल से ही कहीं विकसित हो सकेगा।

इस स्पष्टीकरण से स्वतः सिद्ध है कि हिन्दी क्षेत्रों मे यदि जनपदीय भाषाओं के प्रतिनिधि प्रतिक्रियावश जातीय उन्माद और पृथकत्व की भावना से प्रेरित होकर हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद से गिराने का प्रयत्न करेंगे, तो प्रगतिवादी उस प्रयत्न को अपना समर्थन कदापि नहीं देंगे। हमारा यह भी निश्चित मत है कि हिन्दी के जनपदीय क्षेत्रों तथा उस समस्त भूखण्ड में जहाँ की राष्ट्रभाषा हम हिन्दी को बनाना चाहते हैं, मातृभाषाओं के साथ-साथ उच्च कक्षाओं में द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी का पढ़ाया जाना अनिवार्य होना चाहिए ताकि अन्तरप्रान्तीय व्यवहार और अधिक सुगम हो सके।

राष्ट्रभाषा के अनुकूल हिन्दी के साहित्य भण्डार को समृद्ध और गौरवशाली बनाने का दायित्व हम प्रगतिवादियो के ऊपर भी है। अपने अनुभव के आधार पर हम इतना तो निश्चित कह सकते है कि आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की वर्णन और भाव-प्रकाशन की शक्ति, सामाजिक और आर्थिक जीवन के विविध क्षेत्रो मे प्रयुक्त नाना प्रकार की उत्पादन व्यवस्था और निर्माणकी क्रियाओ का सजीव और साङ्गोपाङ्ग चित्रण करने की क्षमता अत्यधिक स्वल्प और अधूरी है। यही कारण है कि साधारण बोलचाल मे पढ़े-लिखे नागरिक या तो भाव-प्रकाशन के लिए क्लिष्ट सस्कृत पदावली का आश्रय लेते है या फिर अङ्गरेजी-हिन्दी मिश्रित ऐसी खिचडी भाषा का प्रयोग करते है जिसमे भाषा का सौष्ठव नष्ट हो जाता है और वह विरूप और कृत्रिम होती जाती है। यह परिस्थिति गम्भीर है और हिन्दी-भाषा (साहित्यिक खडी बोली) मे उपस्थित एक क्रूर सङ्कट की चेतावनी देती है। इसके दो कारण हो सकते है, पहला तो यह कि मध्य-देश के उन जनपदो की भाषाओ के जहाँ की मातृभाषा खडी बोली नही है परन्तु साहित्यिक हिन्दी का वर्त्तमान रूप मे खडी बोली ही है और शिक्षालयो मे उसका ही प्रचलन है—स्थानिक प्रभाव से बचाकर हिन्दी के राष्ट्रभाषा तथा साहित्यिक रूप को सर्वत्र एक स्टैन्डर्ड रूप देने की प्रवृत्ति हिन्दी की क्षमताओ को सकुचित करती जा रही है। स्थानीय प्रभावो से अपना दामन बचाकर हर नयी क्रिया अथवा भाव की अभिव्यक्ति के लिये हिन्दी आज सस्कृत से शब्द उधार लेती है। विशुद्धता की यह प्रवृत्ति उसके प्रकृत विकास को रोक रही है। दूसरा कारण यह है कि हिन्दी कुरु जनपद की जिस खडी बोली का साहित्यिक रूप है, उससे उसका सम्बन्ध अत्यन्त शिथिल पड गया है, जिससे उसे पर्याप्त मात्रा मे प्राणरस नही मिल पाता और उसकी प्रकृत शक्ति का विकास नही हो पा रहा। अपने को सक्षम और जीवित बनाये रखने के लिये उसे सस्कृत (हिन्दी को) फारसी (उर्दू को) और अङ्गरेजी (हिन्दी-उर्दू दोनो को) से अपनी सामर्थ्य से इतना अधिक उधार लेना पड रहा है कि उसे तत्सम शब्दो का अजीर्ण-सा हो गया है। अत हम इस परिणाम पर पहुंचे है कि जिस प्रकार आचार्य द्विवेदी-काल मे भाषा-क्रान्ति द्वारा खडी बोली का साहित्यिक रूप स्थिर किया

गया था, उसी प्रकार उसमे नया ओज, सूक्ष्म और सजीव वर्णन और भावाभिव्यजन की शक्ति लाने के लिये आज दूसरी क्रान्ति अनिवार्य हो गयी है। यह क्रान्ति हिन्दी को अपने जनपद के सर्वसाधारण की बोली के निकट ले जाने से ही सम्पन्न की जा सकती है। अत. हमारा विचार है कि डॉ० अग्रवाल की योजना के अनुसार कार्य करने के लिये सर्वप्रथम कुरु जनपद मे ही खडी बोली के अध्ययन और खोज के केन्द्र स्थापित किये जायँ। साहित्य सम्मेलन की इतिहास, साहित्य और विज्ञान परिषदो को सम्मिलित रूप से इस महत् कार्य का भार तुरन्त उठा लेना चाहिए।

जनपद समस्या का समग्ररूप

(१) अखिल भारतीय

सम्पूर्णानन्द जी मध्यदेश के ३० जनपदो के नाम से ही विवेक और धैर्य्य खो बैठे। यदि सम्पूर्ण भारत को दृष्टि मे रखकर राहुलजी ने जनपद समस्या पर विचार किया होता तो क्या परिणाम होता, हम अनुमान लगाने मे असमर्थ है। परन्तु हम अपने सुविशाल देश के सदर्भ मे ही मध्यदेश की जनपदीय भाषाओ के प्रश्न का समाधान खोजना चाहते है।

ग्रियर्सन कृत **लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया** के अनुसार समूचे भारतवर्ष मे १७९ पृथक् भाषाएं और ५४४ उनकी बोलियाँ है। बोलियो को इस प्रसग मे लाना अनावश्यक है, क्योकि वे इन्ही १७९ भाषाओ की बोलियाँ है, उनका अपनी भाषा के अतिरिक्त कोई पृथक् अस्तित्व नही माना जाता, यद्यपि अनेक बोलियाँ प्राचीन साहित्य और विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और वे कालान्तर मे कभी भी पृथक् भाषाएँ बन सकती है। इस प्रकार ये १७९ भाषाएँ भारतीय भाषाओ के चार बडे भाषा-कुलो की है—**तिब्बती-चीनी, आस्ट्री, द्राविड़ी और हिन्द-ईरानी।**

तिब्बती-चीनी-कुल—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के कथनानुसार भारत की एक सौ उनासी भाषाओ मे से एक सौ सोलह तो तिब्बती-चीनी-कुल की है। ये भाषाएँ आसाम के उत्तरी और पूर्वी भाग, नैपाल के थोडे से भाग और हिमालय के भीतरी हिस्सो मे बोली जाती है। डॉ० चटर्जी के अनुसार इनके बोलने वालो की सख्या कुल चालीस लाख के लगभग है। डॉ० बाबूराम सक्सेना इस सख्या को डेढ करोड से ऊपर बताते है। इस कुल की चार प्रमुख भाषाएँ है, **मनीपुरी**—(तीन लाख बानवे हजार), **लुशी**—(साठ हजार), बोदो जाति की भाषा **गारो**—(दो लाख तीस हजार) और नैपाल की **नेवारी**—(सख्या अज्ञात)। **नेवारी** और **मनीपुरी** मे लिखित साहित्य भी मिलता है और **मनीपुरी, लुशी** और **गारो** को कलकत्ता विश्वविद्यालय ने 'छोटी भाषाओ' के रूप मे पाठ्यक्रम मे स्थान दिया है।

आस्ट्री-कुल—आस्ट्री कुल की भाषाएँ तीन वर्गो मे विभक्त है—(१) **मुंडा अथवा कोल** जिसके अन्तर्गत निम्न भाषाएँ है—**संथाली**—(पच्चीस लाख), **मुंडारी**—(छः लाख पचास हजार), **हो**—(चार लाख पचास हजार), **कुर्कू**—(एक लाख साठ

हजार), **सवॅर**–(एक लाख सत्तानवे हजार) और **गडाबा**–(चवालीस हजार)। (२) आसाम की **खासी**–(दो लाख चौतीस हजार) और (३) **निकोबारी**–(दस हजार)। इनके बोलने वाले **छोटा नागपुर, मध्यभारत, उड़ीसा, मद्रास, पश्चिमी बङ्गाल,** और **बिहार** के जगलो से लेकर **शिमला पहाड़ी** तक हिमालय की तराई मे बिखरे मिलते है। **खासी** के बोलने वाले **आसाम की पहाड़ियो** पर मिलते ह। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने **खासी** और **सन्थाली** को 'छोटी भाषाओं' के रूप मे अपने पाठ्यक्रम मे स्थान दिया है। भाषाओ के बोलने वालो की सख्या लगभग तिरेपन लाख है। उनमे लिखित साहित्य नही मिलता, और न कोई प्रचलित लिपि ही है। लोक गीत और वार्ताएँ ही केवल मिलती है।

द्राविड़ी-कुल––इस कुल मे चौदह भाषाएँ ह, जिनमे से चार तो उच्चकोटि की साहित्यिक भाषाएँ है––**तेलुगु**–(दो करोड साठ लाख), **कनारी**–(एक करोड दस लाख), **तामिल**–(दो करोड + सिहल द्वीप मे बीस लाख) और **मलयालम**–(नब्बे लाख)। इनके अतिरिक्त **मध्यप्रान्त, हैदराबाद रियासत** और **मद्रास** मे **तुलु**–(एक लाख बावन हजार), **कोडगु**–(पैंतालीस हजार), **टोडा**–(छ सौ) और **गोडी**–(अठारह लाख पैंसठ हजार), **उड़ीसा** प्रान्त मे **कुई**–(या कन्धी, पाँच लाख छियासी हजार), **बिहार** और **उड़ीसा** प्रान्तो मे **कुरुख**–(दस लाख अडतीस हजार), **राजमहल की पहाड़ियों** मे **माल्टो**–(इकहत्तर हजार) और **बलूचिस्तान** मे **ब्राहुई**–(दो लाख सात हजार) आदि द्राविडी परिवार की पिछडी भाषाएँ है जिनमे लिखित साहित्य नही मिलता। कुल मिलाकर द्राविडी भाषाओ के बोलने वाले भारत मे सात करोड पच्चीस लाख के लगभग है।

हिन्दी-ईरानी शाखा––हिन्द-ईरानी शाखा को तीन उपशाखाओ मे बाँटना आवश्यक है

(१) **ईरानी**, जिसकी दो भाषाएँ **पश्तो** (सोलह लाख) और **बलोची** (छ लाख अट्ठाइस हजार) है।

(२) **दर्दी**, जिसकी **काश्मीरी** (पद्रह लाख), **शीना** (अडसठ हजार), **खोबारी, बाशगली** और **पशाई** आदि काश्मीर के सुदूर पहाडी इलाको की छोटी-छोटी भाषाएँ है, और

(३) **भारतीय-आर्य** जिसके अन्तर्गत **लँहदी** या **पश्चिमी-पंजाबी** (छियासी लाख), **सिन्धी** (चालीस लाख), **मराठी** (दो करोड नौ लाख), **उड़िया** (एक करोड बारह लाख), **बंगाली** (पाँच करोड पैंतीस लाख), **आसामी** (बीस लाख), **मैथिली** (एक करोड), **मगही** (पैंसठ लाख), **भोजपुरिया** (दो करोड पाँच लाख), **कोसली** या **पूर्वी-हिन्दी** जिसमे **अवधी, बघेली** और **छत्तीसगढ़ी** (दो करोड पच्चीस लाख) सम्मिलित है, **पश्चिमी-हिन्दी**–हिन्दी-उर्दू सम्मिलित **खडी बोली, बाँगरू, ब्रजभाषा, कन्नौजी** और **बुन्देली** (चार करोड दस लाख), **पूर्वी-पंजाबी** (एक करोड पचपन लाख), **राजस्थानी**–चारो बोलियो को सम्मिलित करके (एक करोड उनतालीस लाख), **भीली** (बीस लाख)

गुजराती (एक करोड दस लाख), **पूर्वी-पहाड़ी** या **नेपाली** (साठ लाख), **मध्य-पहाड़ी**—**गढ़वाली** और **कुमाऊँनी** (दस लाख) और **पश्चिमी-पहाड़ी** (बीस लाख) है। हिन्द-ईरानी शाखा की भाषाओ को बोलने वालो की सख्या भारत मे लगभग पच्चीस करोड पिचहत्तर लाख है[1]।

अपने देश की विभिन्न भाषाओ पर जब हम विहङ्गम दृष्टि डालकर देखते है तो हमे एक विचित्र रहस्य पर प्रकाश पडता दीखता है।

तिब्बती-चीनी कुल की एक-सौ सोलह भाषाओ के चालीस लाख अथवा डेढ करोड बोलने वाले असभ्य ही समझे जाते है। उनको अपनी मातृभाषाओ मे शिक्षा पाने का अधिकार नही है। अर्थात् उनमे अशिक्षा निन्यानवे फीसदी है। दूसरे प्रान्तो के लोगो से व्यवहार रखने के लिए उन्होने **बंगाली, आसामी** या **नेपाली** सीख ली है, जिसके द्वारा वे सभ्य भारत के अफसरो, ठेकेदारो या बाबुओ के हुक्मो को समझ जाते है या बनिये की दूकान से जरूरत की चीजे खरीद लाते है।

आस्ट्रो कुल की आठ-नौ भाषाओ को बोलने वाली जातियाँ भी—जिनकी सख्या साढे तिरेपन लाख है—असभ्य समझी जाती है, अत उनको भी अपनी मातृभाषाओ मे शिक्षा पाने का अधिकार नही है। अशिक्षा उनमे भी निन्यानवे फीसदी से ज्यादा है। उनका भाग्य भी **तिब्बती-चीनी** भाषाओ को बोलने वाली जातियो से किसी प्रकार उत्तम नही है।

द्राविड़ी कुल की चौदह भाषाओ मे से चार भाषाओ मे ही साहित्य-शिक्षा का प्रबन्ध है। बाकी दस भाषाओ के लगभग पैंतालीस लाख बोलने वालो के लिए यदि शिक्षा की कोई व्यवस्था है तो विजातीय भाषाओ मे ही। अशिक्षा उनमे भी ९५ फीसदी से अधिक ही है। उस पर इन उपेक्षित भाषाओ मे **गोंडी, कुरुख, कुई,** या **ब्राहुई** काफी बडे जनपदो की भाषाएँ है।

हिन्द-ईरानी शाखा की लगभग पच्चीस भाषाओ मे से केवल आठ भाषाओ मे ही शिक्षा का प्रबन्ध है। इन भाषाओ के अतिरिक्त दस भाषाओ और चार बडी उप-भाषाओ के—जिनमे प्राचीन साहित्य प्रचुर मात्रा मे मिलता है—बोलने वाले लगभग पन्द्रह करोड बयासी लाख व्यक्तियो को अपनी मातृभाषा मे शिक्षा पाने से वचित रखा गया है। उल्लेखनीय बात केवल इतनी है कि इस अभागी पन्द्रह करोड बयासी लाख जनता को यदि शिक्षा पाने की लालसा होती है तो उसे हिन्दी (साहित्यिक खडी बोली) अथवा उर्दू आदि विजातीय भाषाओ द्वारा शिक्षा ग्रहण करनी पडती है। लगभग पिचासी फीसदी हिन्द-ईरानी शाखा के भाषा-क्षेत्रो के निवासी भी अनपढ है। किन्ही-किन्ही क्षेत्रो मे, जैसे काश्मीर, पश्चिमी पजाब, बलोचिस्तान, पहाडी प्रदेश आदि मे तो अशिक्षा पिचानवे फीसदी तक व्याप्त है।

१ यह लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया १९३१ के आधार पर दी संख्याएँ ह।

भारत की एक सौ उन्नासी भाषाओं में से केवल बारह भाषाएँ ही शिक्षा का माध्यम हैं। ये बारह भाषाएँ लगभग सत्रह करोड़ अट्ठाईस लाख जनता की मातृभाषा हैं। भारतीय भाषाओं के चार बड़े कुलों की अन्य एक-सौ-बावन भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्रों में शिक्षा का माध्यम बनने का अधिकार नहीं है। इन एक-सौ-बावन भाषाओं को बोलने वाली लगभग सत्रह करोड़ इक्कीस लाख जनता विजातीय भाषाओं में ही शिक्षा पा सकती है। लगभग एक दर्जन से अधिक और भाषाएँ हैं जो भारतीय भाषाओं के चार बड़े कुलों से बाहर की हैं और उनके बोलने वालों की संख्या यद्यपि नगण्य है परन्तु वे भी अपनी मातृभाषाओं में शिक्षा पाने से वञ्चित हैं।

अकेली खड़ी बोली (हिन्दी-उर्दू) ने लगभग पन्द्रह करोड़ बयासी लाख व्यक्तियों को अपनी मातृभाषाओं में शिक्षा पाने से वञ्चित कर रखा है। इससे सिद्ध है कि भारत भी 'भाषाओं का विशाल कारागार' है।

जब हम इन संख्याओं पर दृष्टि डालते हैं और अपने देश की अशिक्षा और सांस्कृतिक हीनता पर गौर करते हैं, तो अनायास ही लज्जा से हमारा मस्तक झुक जाता है। विदेशी-शासन का उद्देश्य कभी सार्वजनिक शिक्षा और प्रत्येक जाति की सांस्कृतिक उन्नति नहीं हो सकता था, उसका उद्देश्य तो अपने शासन-कार्य के लिए कुछ लोगों को शिक्षित करके देश की बाकी जनता को असभ्य और अर्ध-सभ्य अवस्था में ही पड़े रहने देना हो सकता था। उसी का यह परिणाम है कि हमारी स्थिति इतनी दयनीय है कि देश की कम-से-कम आधे दर्जन ऐसी भाषाएँ भी, जिनके बोलनेवालों की संख्या ईरानी, तुर्की, बर्मी, यूनानी आदि अनेक स्वतन्त्र देशों की भाषाओं से ज्यादा है और जिनमें गौरवशाली प्राचीन-साहित्य भी मौजूद है, उपेक्षित पड़ी रही, छोटी-छोटी भाषाओं की तो बात जाने दीजिए। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन ने इस स्थिति को कभी श्लाघ्य नहीं समझा और उसने सदैव इस बात पर जोर दिया कि देश की पिछड़ी और अनुन्नत भाषाओं, संस्कृतियों और जातियों को शिक्षित, सभ्य और उन्नत बनाने के लिए उनके स्वाभाविक विकास की समस्त सुविधाएँ प्रदान की जायँ। यह हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की गौरवशाली, जनवादी परम्परा है[1]। इसे ध्यान में रखकर ही जनपद आन्दोलन की वाछनीयता और अवाछनीयता का निर्णय करना चाहिए।

एक बात और। जनपदीय भाषाओं का प्रश्न केवल हिन्दी-क्षेत्रों अथवा मध्य-देश की भाषाओं तक ही सीमित नहीं है। यह एक अखिल भारतीय प्रश्न भी है। हम अभी बता

१ स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह आशा की जाती थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन की इस परम्परा का अनुसरण करके देश की पिछड़ी अथवा अधिकारवंचित भाषाओं के साथ समुचित न्याय होगा, किन्तु संविधान में केवल १४ बड़ी भाषाओं को ही स्वीकृति दी गई है, यद्यपि अपनी मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करने का सामान्य अधिकार हर नागरिक के लिए सिद्धान्ततः स्वीकार किया गया है। —लेखक, १५ मई १९५६

चुके है कि **तिब्बती-चीनी** कुल की भाषाओ के लगभग एक सौ सोलह जनपद, **आस्ट्री** कुल की भाषाओ के आठ-नौ जनपद, **द्राविड़** कुल की भाषाओ के लगभग दस जनपद और **हिन्दी-ईरानी** शाखा की भाषाओ के लगभग सोलह से लेकर बीस जनपद साम्राज्यवादी शासन की दुर्नीति के निरुपाय शिकार बने है, उनके आत्म-विकास के सारे द्वार बन्द है। परन्तु जहाँ-जहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रकाश-रेखाएँ पहुँच गई है, और जो जनपद अपने प्राचीन गौरव के इतिहास को एकदम विस्मृत नही कर पाये है, उनमे जाग्रति के चिह्न प्रकट होने लगे है। अहिन्दी भाषा क्षेत्रो मे भी जनपद-आन्दोलन मुखर हो उठा है। पश्तो, आध्री (तेलुगु), उडिया, असामी आदि के आन्दोलनो के विषय मे हम अनभिज्ञ नही है। काश्मीरी सिधी, पजाबी आदि मे जनपद-चेतना फूट निकली है।

जो भाषाएँ साम्राज्यवादी शासन की आवश्यकताओ के फलस्वरूप प्रोत्साहन पाकर तथा राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा उत्पन्न की हुई चेतना की वाहन बनकर अपेक्षाकृत उन्नत और साहित्य-सम्पन्न हो गई है, उनका ही यह कर्तव्य हो जाता है कि वे अपनी निर्बोध, छोटी बहनो को अपने-अपने क्षेत्रो मे सहारा देकर ऊपर उठाएँ, उनके लिए स्वतन्त्र विकास के द्वार खोले। यह बडी भाषाओ का जनवादी कर्तव्य है और इस कर्तव्य का पालन अखिल भारत मे सर्वत्र करना अपेक्षित और अनिवार्य है। साम्राज्यवाद ने देश को भाषाओ और सस्कृतियों और इस प्रकार जातियो का जो 'विशाल कारागार' बना रखा है, उसकी शृखलाओ को तोडने मे यदि सशक्त भाषाएँ और जातियाँ सहयोग नही देगी तो इसका अर्थ होगा कि वे भी साम्राज्यवादी नीति को ही स्वतन्त्र भारत मे भी जारी रखना चाहती है। अल्पसख्यक जातियो की भाषा-सस्कृति को मिटाकर उन्हे हम गुलाम ही बनाये रख सकते है, उन्नति के पथ पर अग्रसर कर अपने बराबर नही बना सकते। जो लोग इसे ही वाछनीय समझते है वे वास्तव मे जयपुर-सम्मेलन के अवसर पर राष्ट्रभाषा परिषद् के सभापति श्री कन्हैयालाल मुन्शी के शब्दो मे 'भाषा का साम्राज्यवाद' स्थापित करने का दुःस्वप्न देख रहे है। अखिल भारत मे जनपदीय भाषाओ और सस्कृतियो का प्रश्न किस प्रकार हल किया जाय, इसके लिए सोवियत् रूस की जातीय समस्याओ के प्रति व्यवहृत नीति का अध्ययन उपयोगी होगा। परन्तु चूँकि जनपद आन्दोलन के विरोधी, जिनमे समाजवादी-गाधीवादी दोनो शामिल है, सावियत् रूस के नाम से ही भडक उठते है, हम यहाँ उसका उल्लेख नही करेगे। यहाँ हमे जनपद समस्या के अखिल भारतीय समग्र रूप पर विहङ्गम दृष्टि डालकर पुन. हिन्दी क्षेत्रो तथा मध्य-देश की जनपद-समस्या का समाधान ढूँढने तक ही अपने प्रयत्नो को सीमित रखना चाहिए, क्योकि हमारे कार्यक्षेत्र की सीमा मे मध्यदेश ही आता है। अहिन्दी-प्रान्तो के लोग अपने-अपने यहाँ इस समस्या का हल स्वय अपने अनुभव और जनवादी विचारधारा के आधार पर कर लेगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

मध्य-देशीय जनपद-समस्या

मध्य-देश से तात्पर्य 'बिहार, सयुक्त-प्रान्त, हिन्दी मध्य-प्रान्त, मध्य-भारत, हिमालय

के पहाडी प्रान्त तथा पजाब' से है। इसमे से हम पजाब की लहँदी और पजाबी भाषाओ के क्षेत्रो को निकाल सकते है। केवल पूर्वी पजाब की बाँगरू बोली के क्षेत्र को ही मध्य-देश मे सम्मिलित करना अपेक्षित है। लहँदी के छियासी लाख बोलनेवाले प्राय मुसलमान है। अब उन्होने अपनी 'लेडा' लिपि को छोडकर फारसी लिपि का प्रयोग शुरू किया है। पजाबी के एक करोड उनतालीस लाख बोलनेवाले अब दो लिपियो का प्रयोग करते है, पश्चिम मे फारसी लिपि का और मध्य-पूरव के सिख गुरुमुखी लिपि का। जम्मू की डोगरी बोली भी पजाबी के अन्तर्गत है।

राजस्थान की भीली और बिहार के सथाल परगना की सथाली आदि आस्ट्रो-कुल की भाषाओ की भी हम मध्य-देश की भाषाओ मे गिनती न करेगे। भीली, सथाली आदि के बोलनेवालो को अपनी ही भाषाओ मे शिक्षा देनी होगी। उनकी लिपियाँ भी बनानी होगी। उन्हे केवल हिन्दी सिखाने से काम न चलेगा।

जैसा हम पहले कह चुके है, भाषा-शास्त्री समूचे मध्य-देश की एकमात्र भाषा हिन्दी (साहित्यि खडी बोली) है, ऐसा नही स्वीकार करते। केवल साधारण व्यवहार मे ही हिन्दी शब्द से लोग इतने व्यापक अर्थ लगाते है। इसी कारण जब जनपदीय भाषाओ का प्रश्न उठता है तब आग्रह और दुराग्रह भाषा-शास्त्रीय दृष्टि का स्थान ले लेता है।

अग्रेजी शासन ने वर्तमान प्रान्तो की सीमाएँ भाषाओ के आधार पर नही रखी। किसी भी नई व्यवस्था के अन्दर वर्तमान असुविधाओ को दूर करके नई सीमाएं निर्धारित करनी पडेगी। नई सीमाएँ क्या होगी और वे जनपदीय भाषाओ को स्वतन्त्र विकास की सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से बनाई जायेगी अथवा हिन्दी (साहित्यिक खडी बोली) के जनसख्या बल को और ठोस बनाने की दृष्टि से निर्धारित की जायेगी, इसका निर्णय तो तत्कालीन जनपद-आन्दोलन की शक्ति और राष्ट्र-सङ्घ के कर्णधारो की न्याय-भावना पर ही निर्भर करेगा। डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा का बहुत दिनो से स्वप्न रहा है कि समूचे मध्य-देश का नई व्यवस्था मे एक महाप्रान्त बना दिया जाय, क्योकि इस विशाल प्रदेश मे साहित्यिक खडी बोली (हिन्दी-उर्दू) ही साहित्य की भाषा है। उनके स्वप्न मे लहँदी जनपद भी सम्मिलित है। हम इस प्रश्न पर कोई मत प्रकट करना अनावश्यक समझते है। सर्वप्रथम हमारा उद्देश्य जनपदीय भाषाओ की वस्तुस्थिति समझ कर जनपद-आन्दोलन का पूरा परिचय पाना है ताकि अपना दृष्टिकोण स्थिर करते समय मध्य-देश की जनपदीय समस्या अपने रूप मे हमारे सामने स्पष्ट हो।

मध्यदेश की भाषाओ और उनके जनपद आन्दोलनो पर एक बार निकट से दृष्टि डाले

राजस्थानी—राजस्थानी **शौरसेनी** प्राकृत के नागर **अपभ्रंश** की भाषा है। वह **पश्चिमी हिन्दी** (खडी बोली, ब्रज, बुन्देली, बाँगरू) की अपेक्षा **गुजराती** के अधिक निकट है। एक समय राजस्थानी समस्त मध्यदेश की साहित्यिक भाषा रह चुकी है और राजस्थान का प्राचीन चारण, जैन, सन्त और लोक-साहित्य—गद्य और पद्य दोनो मे—काफ़ी बडा है।

आधुनिक साहित्य भी उसमे न्यूनाधिक मात्रा मे उत्पन्न होने लगा है। परन्तु समस्त राजस्थान की साहित्यिक भाषा का एक ही रूप नही है। राजस्थानी के चार रूप प्रचलित है ·

(१) **मेवाती**—अलवर राज्य और देहली के दक्षिण मे गुडगॉव के आस-पास की बोली,

(२) **मालवी**—मालवा प्रदेश अर्थात् इन्दौर राज्य मे प्रचलित बोली,

(३) **जयपुरी-हाड़ौती**—जयपुर, कोटा, बूँदी राज्यो मे प्रचलित बोली,

(४) **मारवाड़ी-मेवाड़ी**—जोधपुर, बीकानेर, जैलसमेर तथा उदयपुर राज्यो की बोली।

राजस्थानी के कुल बोलनेवाले एक करोड उन्तालीस लाख से अधिक है। और राजस्थान का क्षेत्रफल लगभग डेढ-लाख वर्गमील है। भारत के बम्बई, पञ्जाब, बगाल आदि प्रान्तो अथवा इग्लैण्ड, आयर्लैंड, रूमानिया, ग्रीस, नार्वे, फिन्लैड, जापान आदि देशो से राजस्थान का क्षेत्रफल बडा है। राजस्थान सदियो से अनेक देशी राज्यो मे बंटा रहा है, अत आश्चर्य की बात नही है कि राजस्थानी का कोई एक ही साहित्यिक रूप विकसित नही हो पाया है। राजस्थानी-आन्दोलन के नेताओ को पूरी आशा है कि यदि राजस्थानी को स्वतन्त्र विकास की सुविधा दी गयी तो वे निकट भविष्य मे ही राजस्थानी का एक सर्वसम्मत रूप निखार लेगे। इसके मार्ग मे कई बाधाएँ है। पहली तो यह कि जब तक देशी नरेश रहेंगे, वे समूचे राजस्थान को एक भाषा के सूत्र मे बँधने के मार्ग मे अवरोध बने रहेगे। दूसरे स्वय सदियो से पृथक् राज्यो मे बँटी जनता विभिन्न आर्थिक-सामाजिक इकाइयो मे विभाजित रही है और उसकी अलग-अलग जातीयता का विकास होता गया है। अत बिल्कुल सम्भव है कि देशी नरेशो से मुक्ति पाकर **मेवाती**, **मालवी**, **जयपुरी** और **मारवाड़ी** अपने-अपन क्षेत्रो मे स्वतन्त्र भाषाएँ बनने का प्रयत्न करे और अपनी पृथक् जातीयता को सुरक्षित रखना ही आवश्यक समझे। इस प्रकार असभव नही है कि राजस्थानी के एक सयुक्त साहित्यिक भाषा बनने के पूर्व ही उसके वर्तमान चारो रूप स्वतन्त्र विकास कर जाएँ। यह अनिवार्य नही है कि वे भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से 'पृथक् भाषा पदवाच्य' हो तभी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना सके। गुजराती तीन सौ वर्ष पूर्व राजस्थान की ही बोली थी, परन्तु आज एक स्वतन्त्र भाषा है। राजस्थानी के जनपद-आन्दोलन के नेता भी सोचते है कि 'प्रारम्भ मे सभी बोलियो मे रचना होगी। धीरे-धीरे या तो कोई एक बोली साहित्य की भाषा बन जायगी या सबका मिश्रण होकर साहित्य की भाषा का निर्माण होगा।' अभी इस विषय मे निश्चितरूपेण कुछ कहना दुस्साहस होगा, परन्तु राजस्थानी के नेताओ को इस सभावना की ओर भी ध्यान रखना होगा। राजस्थान मे मातृभाषा आन्दोलन बहुत व्यापक है और **जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर, जयपुर, इन्दौर** आदि इस आन्दोलन के केन्द्र बन गये है। राजस्थानी अपनी मातृभाषा की अवहेलना से खिन्न है, इसका उदाहरण मारवाडी की इस व्यग्योक्ति मे मिलता है .

'अगर-मगर' के सोरह आने 'इकडे-तिकडे' बार।
'अठे-कठे' के अठहिज आने 'मूँछे' पइसा चार।

अर्थात् राजस्थान मे जहाँ हिन्दी-उर्दू की कीमत सोलह आने और मराठी की बारह आने है, वहाँ मारवाडी की कीमत उसी के देश मे आठ आने है।

राजस्थानी स्वतन्त्र भारत मे अपना अलग राज्य बनाना चाहेगे अथवा वे मध्य-देश के सयुक्त राज्य मे सम्मिलित होना चाहेगे, इसका निर्णय वे स्वय करेगे। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के स्वप्न को वही सफल अथवा विफल बना सकते है। ऊपर से, राष्ट्रसघ की ओर से, उन पर कोई व्यवस्था नही लादी जा सकेगी।

मैथिली—**मागधी अपभ्रंश** की भाषा है, और अपनी उत्पत्ति के कारण **बंगाली, उड़िया, आसामी** से अधिक मिलती है। मैथिली दरभगा के आस-पास के जनपद की भाषा है। बोलने वालो की सख्या एक करोड है, लिपि मैथिली है जो प्राचीन नागरी से निकली है। प्राचीन साहित्य उच्च-कोटि का है। **विद्यापति** इसी भाषा के कवि थे। मैथिली साहित्य परिषद् है, जिसकी ओर से परीक्षाएँ होती है, परन्तु वह शिक्षा का माध्यम नही बनायी गयी है, यद्यपि इसके लिए आन्दोलन किया जा रहा है। मैथिली का जनपद आन्दोलन भी काफी सगठित और मुखर है। मैथिली का आधुनिक काव्य-साहित्य भी उत्तम है। दरभगा से **मिथिला मिहिर** और मुजफ्फरपुर से **तिरहुत समाचार** मैथिली मे निकलते है। **प्रो० जयकान्त मिश्र** ने **डॉ० धीरेन्द्र वर्मा** को उत्तर देते हुए अगस्त १९४४ मे **लीडर** मे लिखा था कि मिथिला कभी मध्यदेश का अग नही रहा है।

मगही—**पटना** और **गया** केन्द्रो के आस-पास की भाषा **मगही** भी **मागधी अपभ्रंश** से उत्पन्न हुई है। इसके बोलने वालो की सख्या पैसठ लाख है। मगही मे प्राचीन साहित्य नही के बराबर है और आधुनिक साहित्य भी नही है। इस भाषा-क्षेत्र मे जनपद आन्दोलन अभी तक नही पैदा हुआ। एक प्रकार से बिहार की भाषाओ मे सबसे पिछडा यही जनपद है।

डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी का कथन है कि मैथिली और मगही को भोजपुरी के साथ एक कोष्ठ मे रखकर तीनो को एक 'बिहारी' भाषा के अन्तर्गत रख देना गलत है, क्योकि मगही और मैथिली मागधी-अपभ्रश से निकली है और उनका हिन्दी से कोई सम्बन्ध नही है, परन्तु भोजपुरी अर्धमागधी से निकली है और कोसली के वह अधिक निकट है।

भोजपुरी—बिहार के **शाहाबाद, आरा, चम्पारन और सारन जिलो** मे तथा **संयुक्त प्रान्त की गोरखपुर और बनारस कमिश्नरियो में भोजपुरी भाषा बोली जाती है।** बोलने वालो की सख्या दो करोड पाँच लाख है। इसमे **काशिका, मल्लिका, बज्जिका** आदि भोजपुरी की बोलियाँ है। भोजपुरी भी अन्य बिहारी भाषाओ के समान ही हिन्दी से बिल्कुल पृथक् भाषा है। अब इस भाषा क्षेत्र मे जनपद चेतना काफी व्याप्त हो गयी है और यद्यपि भोजपुरी की अभी कोई साहित्य परिषद् नही बनी है, और न उसमे पत्र-पत्रिकाएँ ही निकलती है, फिर भी भोजपुरी के लिए आन्दोलन शुरू हो गया है, भोजपुरी के लोक-

गीतो के सग्रह प्रकाशित हो रहे है और भोजपुरी का व्याकरण लिखा जा रहा है।

पहाड़ी भाषाएँ—पूर्वी पहाड़ी, नेपाली—नेपाल की भाषा को **नेपाली, पर्वतिया, गोरखाली** या **खसकुरा** कहते है। बोलने वालो की सख्या लगभग ६० लाख है। नेपाल राज्य मे सर्वत्र नेपाली ही नही बोली जाती, मुख्यत यह **काठमॉडू घाटी की भाषा** है। **वैसे तिब्बती-चीनी** कुल की अनेक भाषाएँ नेपाल मे प्रचलित है, जिनमे **'नेवारी'** सबसे प्रमुख है। नेपाली देवनागरी लिपि मे ही लिखी जाती है। इधर सौ वर्षो मे इसमे साहित्य भी पैदा होने लगा है, और यह **नेपाल राज्य की राजभाषा** भी है। पहाडी भाषाएँ राजस्थानी से अधिक मिलती-जुलती है, हिन्दी से कम।

मध्य-पहाड़ी—मध्य-पहाडी के दो मुख्य भेद है

(१) **कुमाउँनी**, जो **अलमोड़ा नैनीताल** के प्रदेश मे बोली जाती है। इसमे थोडा सा साहित्य है। कवि सुमित्रानन्दन पन्त की मातृभाषा कुमाउँनी ही है। कुमाउँनी मे गत तीस वर्षों से जनपद आन्दोलन भी चल रहा है, यद्यपि यह आन्दोलन कभी बहुत प्रबल नही हो पाया।

(२) **गढ़वाली**, जो गढवाल राज्य तथा मसूरी के निकट पहाडी प्रदेश मे बोली जाती है। इसमे विशेष साहित्य नही है।

ये दोनो बोलियाँ देवनागरी लिपि मे ही लिखी जाती है। गढवालियो मे जातीय-चेतना तीव्रता से फैल रही है और यद्यपि अभी गढवाली मे नियमित रूप से जनपद आन्दोलन का सूत्रपात नही हुआ है, तथापि **इलाहाबाद, लखनऊ**, और **लाहौर** आदि शहरो मे **गढ़वाली साहित्य परिषदो की** स्थापना उनकी जातीय चेतना की शक्ति की सूचक है। गढवाली की उन्नति के प्रयत्न शुरू हो गये है। **प्रो० बल्देवप्रसाद नौटियाल** गढ-वाली का कोष तैयार कर रहे है, **शालिग्राम वैष्णव** ने नागरी प्रचारिणी सभा से गढवाली पखावो (कहावतो) का सग्रह निकाला है।

(३) **पश्चिमी-पहाड़ी**—पश्चिमी-पहाडी लगभग **तीस बोलियों का एक समूह है**। उनका कोई सर्वमान्य मुख्य रूप नही है। **शिमला के** निकटवर्ती प्रदेश म इनके लगभग बीस लाख बोलनेवाले पहाडो पर फैले हुए है। मुख्य बोलियाँ, सयुक्त-प्रान्त के **जौनसार-बाबर** प्रदेश की **जौनसारी, शिमला पहाड़** की **क्योंथली, कूलू** प्रदेश की **कुलुई** और **चंबा राज्य** की **चंबाली** है। **चंबाली** को छोडकर ये सभी बोलियाँ **टाकरी** या **टक्करी** लिपि मे लिखी जाती है। इन बोलियो मे कोई साहित्य नही मिलता, और न जनपद आन्दोलन ही है। अधिकाश बोलने वाली पहाडी जातियाँ बहुत पिछडी दशा मे है।

मध्य देश की उपरोक्त भाषाएँ—लहँदी, पजाबी, सिधी, भीली, राजस्थानी, मैथिली, मगही, भोजपुरी, सथाली और पहाडी भाषाएँ आदि—भाषा शास्त्रीय दृष्टि से अ-हिन्दी भाषाएँ है। यहाँ पर ब्रिटिश शासन ने हिन्दी या उर्दू को ही प्राइमरी शिक्षा का माध्यम बनाकर अपने दायित्व से छुट्टी पा ली है। स्वाभाविक है कि शिक्षा का और कोई माध्यम न होने के कारण और राज्य की ओर से हिन्दी-उर्दू को ही प्रोत्साहन मिलने के

कारण, इन अ-हिन्दी जनपदो के शिक्षित वर्ग ने स्थिति से समझौता किया और हिन्दी-उर्दू को ही अब तक साहित्य का माध्यम मानकर उसमे स्वय भी साहित्य-सृजन किया। परन्तु वहाँ की अमख्य अनपढ जनता अपनी-अपनी भाषाओ और बोलियो मे ही बोलती है और स्वय शिक्षित वर्ग भी अपने घरो मे अपनी मातृभाषाओ का ही प्रयोग करता है। अब जातीय चेतना के उदय होने से इन भाषाओ मे जनपद आन्दोलन उठ खडे हुए है। यह स्थिति तो है हिन्दी के अ-हिन्दी भाषा-क्षेत्रो की, अब हमे सक्षेप मे हिन्दी के अपने घर की परिस्थिति पर भी दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

हिन्दी—हिन्दी स्वय एक-रूप भाषा नही है, वरन् आठ बोलियो के समुदाय को हिन्दी के नाम से पुकारा जाता है। इनमे से **बाँगरू, खड़ी बोली, ब्रज, कन्नौजी** तथा **बुन्देली** को भाषा-शास्त्री **पश्चिमी हिन्दी** समुदाय की बताते है और **कोसली, बघेली** तथा **छत्तीसगढ़ी** को **पूर्वी-हिन्दी** की। ऐतिहासिक दृष्टि से **पश्चिमी-हिन्दी** का सम्बन्ध **शौरसेनी प्राकृत** से है और **पूर्वी-हिन्दी** का **अर्धमागधी** प्राकृत से। पहले हम पूर्वी-हिन्दी पर विचार करेंगे।

पूर्वी-हिन्दी—(१) **कोसली : अवधी**—सयुक्त प्रान्त के **लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फैज़ाबाद, गोंडा, बहराइच, सुलतानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी** आदि जिलो तथा दक्षिण मे **गंगापार, इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर, मिर्ज़ापुर** के कुछ भागो की मातृभाषा **अवधी** है। बोलने वालो की जनसख्या लगभग एक करोड बयालीस लाख है। थोडा प्राचीन साहित्य भी है, जिसमे **मलिक मुहम्मद जायसी-कृत 'पद्मावत'** और **गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस'** अवधी के महान् महाकाव्य है। अवधी मे अभी जनपद आन्दोलन का सूत्रपात नही हुआ है तथापि स्वर्गीय **बलभद्रप्रसाद दीक्षित**, स्वर्गीय **बुद्धिभद्र दीक्षित, बन्द्रभूषण** और **बन्शीधर** ने अवधी मे उच्चकोटि की आधुनिक कविता की है।

(२) **बघेली–अवधी के दक्षिण में बघेली का क्षेत्र है। रीवाँ राज्य** इसका केन्द्र है, किन्तु यह **मध्य-प्रान्त** के **दमोह, जबलपुर, मॉडला** तथा **बालाघाट** के जिलो तक फैली हुई है। बोलनेवालो की सख्या छियालीस लाख है। बघेली मे प्राचीन साहित्य थोडा ही है, परन्तु बघेलो मे जनपद-चेतना कई वर्षो से फैल रही है। बघेली के जनपद आन्दोलन की माँग अभी स्पष्ट नही बन पायी है, तथापि बघेले अपने को एक जाति मानते है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है, तथा उनका जनपद आन्दोलन निकट भविष्य मे ही बघेलो की पृथक् सत्ता की माँग करेगा, इसकी सम्भावनाएँ भी मौजूद है। रीवाँ की **रघुराज साहित्य परिषद्** बघेली की उन्नति के लिए कार्य कर रही है, और बघेली जनपद-आन्दोलन की ओर से एक पत्र **'बान्धव'** भी निकलता है।

छत्तीसगढ़ी—"छत्तीसगढी को **लरिया** या **खलताही** भी कहते है। यह **मध्यप्रान्त** मे **रायपुर** और **बिलासपुर** के जिलो तथा **काँकेर, नन्दगाँव, खैरगढ़, रायगढ़, कोटिया, सरगुजा, उदयपुर** तथा जयपुर आदि राज्यो मे भिन्न-भिन्न रूपो म बोली जाती है।" बोलने वालो की सख्या तेतीस या अडतीस लाख के लगभग है। थोडा पुराना साहित्य है, कुछ अत्यन्त साधारण नया साहित्य भी है। छत्तीसगढी मे अभी तक जनपद आन्दोलन नहीं

पैदा हुआ, क्योंकि अधिकाश बोलने वाले भिन्न-भिन्न रियासतो मे बँटे हुए है और उनम शिक्षा का प्रसार नही के बराबर है। **श्यामाचरण दुबे** छत्तीसगढी के लोक साहित्य का सग्रह कर रहे है।

पश्चिमी हिन्दी—(१) **बाँगरू**—**जाटू** या **हरियानी** नाम से प्रसिद्ध बाँगरू बोली **पंजाबी और राजस्थानी** मिश्रित **खड़ी बोली** है। यह **दिल्ली, करनाल, रोहतक** और **हिसार** जिलो मे और पडोस के **पटियाला, नाभा** और **जीद** रियासतो के गाँवो मे बोली जाती है। बोलने वालो की सख्या लगभग बाईस लाख है। पानीपत और कुरुक्षेत्र इस बोली की सीमा मे ही पडते है। बाँगरू मे न तो अधिक साहित्य है और न जनपद आन्दोलन ही।

(२) **ब्रजभाषा**—खडी बोली के पूर्व कई शताब्दियो तक **ब्रजभाषा** हिन्दी साहित्य की भाषा रह चुकी है। इसका प्राचीन काव्य-साहित्य अद्वितीय है। यह बोली **मथुरा, आगरा, अलीगढ़** जिलो और **धौलपुर** रियासत मे बोली जाती है। **गुड़गाँव, भरतपुर, करौली** तथा **ग्वालियर** के पश्चिमोत्तर भाग मे, **बुलन्दशहर, बदायूँ**, तथा **नेपाल** की तराई मे, **एटा, मैनपुरी, बरेली, पीलीभीत** और **इटावा** के जिलो मे ब्रजभाषा पर स्थानानुसार राजस्थानी, बुन्देली, खडी बोली, कन्नौजी का प्रभाव पडा है और बोली का रूप मिला-जुला हो गया है। ब्रजभाषा के बोलने वालो की सख्या लगभग उन्नासी लाख है। **टर्की, बेल्जियम, हालैण्ड, हंगेरी, आस्ट्रिया, पुर्तगाल** आदि देशो की भाषाओ मे ब्रजभाषा के बोलने वालो की सख्या ज्यादा है। **खड़ी बोली** थोड ही दिनो मे **ब्रजभाषा** के साहित्यिक स्थान पर विराजमान हुई है। ब्रजभाषा-भाषियो को अपनी भाषा पर गर्व है और वे आज भी उसके अपने प्राचीन गौरव को विस्मृत नही कर पाये है। '**ब्रज-साहित्य मण्डल**' की मथुरा मे कई वर्ष पूर्व स्थापना भी हो चुकी है और उसकी ओर से '**ब्रजभारती**' पत्रिका भी निकलती रही है। मण्डल की ओर से डॉ० अग्रवाल की योजना के अनुसार कुछ कार्य भी प्रारम्भ किया गया था। ब्रजभाषा मे थोडा प्राचीन गद्य साहित्य भी है। वर्तमान काल मे **अलीगढ़, आगरा** और **मथुरा** के दर्जनो जन-कवि ब्रजभाषा मे राष्ट्रीय जागरण के सुन्दर गीत और खडकाव्य लिखकर जनता को उद्बुद्ध कर रहे है।

(३) **बुन्देली**—जैसा नाम से ही प्रकट है, बुन्देली **बुन्देलखंड** की भाषा है। '**झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओरछा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी** तथा **होशंगाबाद** मे बुन्देली अपने शुद्ध रूप मे बोली जाती है। **दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट** तथा **छिन्दवाड़ा** के कुछ भागो म इसके कई मिश्रित रूप पाये जाते है।' बोलने वालो की सख्या लगभग उनहत्तर लाख है।' 'मध्यकाल मे बुन्देलखण्ड साहित्य का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है।' बुन्देली **ब्रजभाषा** के बहुत निकट है, परन्तु इधर कुछ दिनो से बुन्देलखण्ड मे जनपद-चेतना बहुत तेजी से जगी है। वे न केवल अपनी मातृभाषा के स्वतन्त्र विकास की माँग करने लगे है, वरन् पृथक् **बुन्देलखंड प्रान्त के निर्माण की** भी जोरदार माँग कर रहे है। इस प्रदेश के राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी इस माँग का समर्थन कर रहे है। **ध्यौहार राजेन्द्रसिंह** जो पहले **महाकोसल प्रान्त** बनाने की कमेटी के मन्त्री थे, **बुन्देलखंड प्रान्त निर्माण**

आंदोलन के भी अग्रगण्य नेता है। **पं० बनारसीदास चतुर्वेदी** और **जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी** के सम्पादकत्व मे टीकमगढ से निकलने वाला पाक्षिक-पत्र '**मधुकर**' बुन्देली जनपद आन्दोलन और बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण आन्दोलन का मुख-पत्र है। इस पत्र ने बुन्देलखण्ड मे जनपद-चेतना फैलाने मे सराहनीय कार्य किया है। **कृष्णानन्द गुप्त** के सम्पादकत्व मे बुन्देली मे '**लोकवार्ता**' नाम से एक त्रैमासिक पत्रिका टीकमगढ से प्रकाशित होने लगी है जिसमे बुन्देलखण्डी जनता के '**रहन-सहन, रीति-रिवाजो, उत्सवो, धार्मिक-विश्वासों, और संस्कारो** तथा **लोक-साहित्य और लोक-कलाओ का अध्ययन**' रहता है। बुन्देली जनपद के अधिकाश कार्यकर्त्ता और साहित्य-सेवी **राहुलजी** की विचारधारा से सहानुभूति रखते है।

(४) **कनौजी**—**ब्रजभाषा और अवधी** के क्षेत्रो के बीच मे **कनौजी** बोली जाती है। "कनौजी का केन्द्र **फर्रुखाबाद** है किन्तु यह **हरदोई, शाहजहाँपुर** तथा **पीलीभीत** तक और दक्षिण मे **इटावा** तथा **कानपुर** के पश्चिमी भाग मे बोली जाती है। कनौजी के बोलने वालो की सख्या पैतालीस लाख है।" भाषा-शास्त्री कनौजी को ब्रजभाषा का ही एक उपरूप मानते है और उसे स्वतन्त्र बोली भी मानने को तैयार नही है। जो भी हो, कनौजी मे अपना साहित्य नही है और न कनौजी मे जनपद-चेतना ही है कि उसका कोई पृथक् अस्तित्व ऊपर उभर कर सामने आये।

(५) **खड़ी बोली**—**खड़ी बोली** जिसका साहित्यिक रूप आज **हिन्दी** और **उर्दू** के नाम से विख्यात है '**पश्चिमी रुहेलखण्ड, गगा के उत्तरी दोआबा** तथा **अम्बाला जिले की बोली है।**' इसके बोलने वालो की सख्या लगभग साठ लाख है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस प्रदेश की ग्रामीण खडी बोली मे **फारसी-अरबी** के शब्दो का हिन्दी-समुदाय की अन्य बोलियो की अपेक्षा बहुत अधिक समावेश है। परन्तु ये शब्द शुद्ध तत्सम रूप मे कम प्रयुक्त होते है। ग्रामीण खडी बोली के साथ वे अर्धतत्सम अथवा तद्भव रूप मे घुलमिल गए है। उन्ही को तत्सम बनाने से खडी बोली **उर्दू** बन जाती है। इसका कारण यह है कि खडी बोली का क्षेत्र मुस्लिम शासन के केन्द्र **दिल्ली** के निकट रहा है, अत उस पर मुस्लिम-प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक पडा। आज जो **संस्कृत-प्रधान** रूप साहित्यिक खडी बोली का है, वह ग्रामीण बोली से बहुत दूर हटा हुआ है।

साहित्यिक खडी बोली '**हिन्दी**' या **उर्दू** के नाम से आज हिन्दी-समुदाय की आठ बोलियो के क्षेत्र मे ही नही वरन् अ-हिन्दी भाषाओ, जैसे राजस्थानी, बिहारी और पहाडी भाषाओ के क्षेत्रो तथा पजाबी के क्षेत्र मे भी साहित्यिक भाषा बनी हुई है एव प्राथमिक शिक्षा का माध्यम है।

हिन्दी-समुदाय की आठ बोलियो की स्थिति का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट है कि खडी बोली के अतिरिक्त और जो सात बोलियाँ है वे भाषा-शास्त्र की दृष्टि से किसी भी प्रकार **खड़ी बोली की बोलियाँ** नही कही जा सकती, **वे स्वतन्त्र बोलियाँ** है, जिस प्रकार **खड़ी बोली एक स्वतन्त्र बोली** है। केवल एक दूसरे के काफी निकट होने के कारण ही इन

सब बोलियो को अलग-अलग भाषाएँ न मानकर उनके समूह को **'पश्चिमी'** और **'पूर्वी' हिन्दी** का नाम दिया जाता है।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा अन्य भाषाशास्त्री इन बोलियो के इतिहास का उल्लेख करते हुए जब यह कहते है कि इनमे से कभी **ब्रजभाषा** साहित्य की भाषा के स्थान पर आसीन थी तो अब **खड़ी बोली** उस स्थान को सुशोभित कर रही है और इस परिवर्तन को ब्रज तथा अन्य बोलियो ने सहर्ष स्वीकार कर लिया है, तो वे इतिहास का गलत विवेचन हमारे सामने रखते है। किसी आन्तरिक वैशिष्ट्य के बल पर अथवा अन्य बोलियो के जन-पदो की सर्वसम्मति से कोई बोली साहित्यिक भाषा के पद पर पहुँची हो, ऐसा कभी नही हुआ। इसमे बाहरी और राजकीय प्रभाव ही निर्णायक रहे है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा या अन्य लोग इस तथ्य को स्वीकार करके यह निष्कर्ष निकालने से हिचकिचाते है कि चूंकि पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ, स्वतन्त्र बोलियाँ है, और खडी बोली के पूर्व ब्रज भी साहित्य की भाषा रह चुकी है, अत सम्भव है कि जनपद-चेतना उत्पन्न होने के पश्चात् इन सभी बोलियो मे पुन साहित्य की भाषा बनने की इच्छा प्रबल हो उठे, केवल इस बार ऐसा न होगा कि एक साहित्य की भाषा बनकर दूसरी भाषाओ के क्षेत्र मे भी राज्य करने लगे, ऐसी साम्राज्य-कामना से प्रेरित उनकी इच्छा न होगी, बल्कि इस बार वे स्वय अपने घर की रानी बनने का दावा करेगी और इस दावे को वे पूरा भी करा सकेगी, क्योकि ये बोलियाँ आत्मनिर्भर हो सकती है। वे खडी बोली की दूध पीती बेटियाँ नही है बल्कि वयस-प्राप्त बहने है और स्वय अपनी गृहस्थी बसाने का निश्चय कर सकती है। यदि ऐसा हुआ और बुन्देली, बघेली, ब्रज आदि भाषा-क्षेत्रो के जनपद आन्दोलन हमे ऐसा होने का संकेत दे रहे है तो फिर खडी बोली को अपने साम्राज्य का पश्चिमी हिन्दी के क्षेत्र मे भी विघटन करके अपने जनपद से ही सन्तोष करना पडेगा। भविष्य पुराने इतिहास की ही लकीर नही पीटेगा—इतिहास के क्षितिज पर नयी शक्तियो, नये विचारो, नये नैतिक-सम्बन्धो का उदय हो गया है जिनके आलोक मे नहा कर हमारा नव-सस्कार हो रहा है।

उक्त विवेचन मे हमने भाषा-शास्त्र की मान्य सीमाओ के अन्दर ही अपने को सीमित रखकर **'हिन्दी-साम्राज्य'** के विभिन्न **'भाषा-उपनिवेशो'** की आन्तरिक परिस्थितियो पर दृष्टि डाली है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का सुझाव मानकर हमने राहुलजी की तरह अत्यन्त सूक्ष्म विभाजन करने का प्रयत्न नही किया है और न उनकी तरह अनेक छोटे जनपदो की बोलियो को स्वतन्त्र भाषाएँ मानकर (जैसे पचाली, वात्सी, चेदिका, काशिका, वज्जिका, अगिका आदि) मातृभाषाओ के प्रश्न को और भी जटिल बनाने की चेष्टा की है, परन्तु इस विवेचन मे इतना तो स्पष्ट है कि हिन्दी का वर्तमान साम्राज्य **'ताश के घर'** से अधिक मजबूत नही है, क्योकि जिस आधार पर वह टिका है वह आधार समानता, स्वतन्त्रता और न्याय का नही है वरन् राजकीय प्रोत्साहन, पक्षपात, और अन्यान्य भाषाओ के असमान विकास अथवा पिछड़ेपन के कारण ही यह **'ताश का घर'** खडा हुआ है। राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी पहले हिन्दी को ही आगे बढाया, परन्तु राष्ट्रीय

आन्दोलन से ही अब अन्य भाषाएं भी प्रेरणा ले रही है और यदि वर्तमान आधार को हटाकर न्याय, समानता और स्वतन्त्रता का नया आधार न प्रदान किया गया तो भारत के स्वतन्त्र होने पर हिन्दी के साम्राज्य को ढहते देर न लगेगी । यह बड़ी द्वन्द्वमूलक परिस्थिति है और हमारे विचारकों को जनपदीय समस्या पर अपने विचार प्रकट करते समय अपने शब्दों के अर्थारोपों पर खूब विचार करके देख लेना चाहिए कि कहीं वे जो कुछ कह रहे हैं वह वास्तव में हिन्दी-क्षेत्रों के करोड़ों नर-नारियों की सांस्कृतिक (तथा राजनीतिक) गुलामी का चार्टर तो नहीं है। हिन्दी का हित और जनपदीय भाषाओं का हित दो विरोधी स्वार्थ नहीं हैं, जिनमें सामंजस्य सम्भव ही न हो। जो इस दृष्टि से देखने के आदी हैं वे लाख चेष्टा करने पर भी जनता के हित में नहीं सोच सकते।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के सुझाव

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने पक्षपात रहित दृष्टि से मातृभाषाओं के प्रश्न पर विचार किया है। उन्होंने मातृभाषाओं को या घरेलू बोलियों को शिक्षा, साहित्य तथा बाहरी जीवन की भाषा के पद पर उन्नति करने का निर्णय करने के पूर्व छः विषयों पर ध्यान देने की सम्मति दी है। (१) **व्याकरण या भाषा-तत्त्व**, (२) **भाव-प्रवणता**, (३) **आवश्यकता**, (४) **सम्भाव्यता**, (५) **सामाजिक योग-सूत्र** और (६) **प्रवृत्ति**।

(१) **व्याकरण या भाषा-तत्त्व**—अर्थात् भाषा-तात्त्विक दृष्टि से पृथक् भाषा होना। (२) **भावप्रवणता**—अर्थात् बोलने वालों में अपनी भाषा के प्रति पर्याप्त ममता-बोध होना। (३) **आवश्यकता**—अर्थात् जो साहित्य या शिक्षा का माध्यम अब चालू है उसे अपनाने में अनपढ़ लोगों को तकलीफ होती है, लोग उसे दिक्कत समझते हैं। (४) **सम्भाव्यता**—अर्थात् कहाँ तक मातृभाषा की साहित्यिक स्थापना सम्भव है, उसमें प्राचीन साहित्य है अथवा नहीं, यदि साहित्य है तो जागृति आसानी से सम्भव होगी, यदि नहीं तो कठिनाई होगी । (५) **सामाजिक योग-सूत्र**—अर्थात् ऐतिहासिक और सामाजिक योग के फलस्वरूप वह किसी अन्य भाषा की उपभाषा तो नहीं बन गई है। (६) **प्रवृत्ति**—अर्थात् बोलने वालों में स्वातन्त्र्य-बोध अधिक है अथवा मिलन-बोध । यदि स्वातन्त्र्य-बोध अधिक है तो उपभाषाएँ तक भाषा तात्त्विक भेद न होने पर भी स्वतन्त्र भाषा होने का प्रयत्न करेंगी और यदि मिलन-बोध अधिक है तो स्वतन्त्र भाषा भी किसी अन्य भाषा का एकाधिपत्य स्वीकार कर सकती है, जैसे प्राचीनकाल में संस्कृत का।

किसी भाषा के भाग्य का निर्णय करने में डॉक्टर चटर्जी के बताये हुए सुझाव उपयोगी हो सकते हैं, परन्तु इन सुझावों में दो-एक बातें ऐसी संदिग्ध रह जाती हैं जिनके कारण परस्पर-विरोधी विचारों से प्रेरित व्यक्ति उनकी व्याख्या अपने-अपने अनुकूल कर सकते हैं। **भाषा-तत्त्व** की कसौटी तो वैज्ञानिक है और उसमें खेंचातानी की ज्यादा गुंजाइश नहीं है, परन्तु **भाव-प्रवणता, आवश्यकता, सम्भाव्यता, सामाजिक-योगसूत्र** और **प्रवृत्ति** का स्थायी रूप से निर्णय करना असम्भव है। ऐतिहासिक कारणों से भाषाओं का असमान विकास हुआ है। अतः वर्तमान को ही उनकी चिरंतन स्थिति मानकर कोई निर्णय

कर लेना गलत होगा, क्योकि **सामाजिक योग-सूत्र** और **प्रवृत्ति** किसी भी समय बदल सकती है। फिर किसी भाषा की **सम्भाव्यता** के बारे मे भविष्यवाणी करके यह कहना कि चूँकि उसमे प्राचीन साहित्य नही है, अतएव उसकी साहित्यिक स्थापना नही हो सकती, उसको बोलनेवाली जाति के भावी विकास की सम्भावनाओ को ही नकारना है। वस्तुत ऐसी कोई भाषा नही है—चाहे उसकी अभी तक लिपि भी न बनी हो— जिसमे लोक-गीतो और लोक-वार्ताओ का सजीव प्राणवान् साहित्य न हो। मनुष्य अपनी अर्ध-सभ्य अवस्था मे भी जैसा कुछ सोचता और अनुभव करता है उसको और अपने भावो को अभिव्यक्ति देने की सतत् चेष्टा करता रहता है। उसमे सवेदन और अनुभूतियो की जागृति अक्षर-ज्ञान के उपरान्त ही नही पैदा होती। इस प्रकार प्रत्येक जाति के पास अज्ञात कवियो और कथाकारो-द्वारा रचित लोक-साहित्य की अक्षय पूँजी है और किसी भी जाति की विशिष्ट प्रतिभा की विकास-सभावनाएँ जाँचने के लिए इस पूंजी की ओर देखना चाहिए न कि केवल ज्ञातनामा कवियो और लेखको की कागज पर लिखी कृतियो की ओर। इससे हमारे अन्दर प्रत्येक भाषा और जाति के जीवित रहने की औचित्य भावना का उदय होगा और इससे हम श्रेष्ठ और निकृष्ट वर्गो मे किये अवैज्ञानिक जाति-भेद की दलदल मे गिरने से बचजायेगे। **भावप्रवणता** और **आवश्यकता** का निर्णय तो तभी हो सकता है जब प्रत्येक भाषा और जाति का ऐतिहासिक विकास समान रूप से हुआ हो, और उसको अपने आत्म-विकास की समान सुविधाएँ प्राप्त हो, वह पूर्ण रूप से स्वाधीन हो, ताकि कोई प्रचार की आँधी चला कर उसके **ममता-बोध** को धूल से न ढँकदे। आज की परिस्थिति मे ऐसा असम्भव है। राष्ट्रीय जागरण भी सर्वत्र समान रूप से नही हुआ है। कोई जाति पहले जागृत होकर आगे बढ गयी, कोई बाद मे जागृत होकर मध्य मे पडी है, और कोई अभी बिल्कुल अन्धकार मे डूबी है और कही भविष्य मे ही उससे बाहर निकलकर अपने अस्तित्व की घोषणा कर पायेगी। ऐसी स्थिति मे यदि डॉक्टर चटर्जी के बनाये हुए नियमो का उदारतापूर्वक प्रयोग न किया गया, जिसकी सम्भावना ही अधिक है, तो फिर निरकुशता की ही अन्तिम विजय होगी। डॉ० चटर्जी की इस कसौटी की सब से बडी कमी यह है कि वह वर्तमान स्थिति को ही थोडा-सा इधर-उधर उलट-फेर कर कायम रखने तक सीमित है। कोई व्यापक विचारधारा अथवा सिद्धान्त उसके मूल मे नही है जो आमूल ऐतिहासिक परिवर्तनो के फलाफल का निर्णय कर सके। हमारी दृष्टि मे भाषा-शास्त्रियो के सम्मुख यह प्रश्न नही है कि वे विभिन्न भाषाओ और इस प्रकार उनको बोलने वाली विभिन्न उन्नत-अनुन्नत जातियो के भाग्य-निर्णायक बन कर अपने बनाये नियमो के आधार पर किसी भाषा के जीवित रहने अथवा जीवित न रहने का फैसला करे—यह भाषा-शास्त्र की कार्य-सीमा से बाहर की बात है। भाषा शास्त्रियो का कर्तव्य केवल इतना है कि वे अपने देश की विभिन्न भाषाओ और भाषा-क्षेत्रो की खोज करके यह बताएँ कि तथोक्त भाषाओ की लिपि, व्याकरण साहित्य, शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ किस प्रकार हल की जा सकती है। प्रत्येक छोटी-बडी

भाषा को जीवित रहने और अपनी साहित्यिक स्थापना करने का अधिकार है, केवल इतना ही नही जिनकी साहित्यिक स्थापना नही हुई है, उनकी साहित्यिक स्थापना मे सक्रिय सहयोग देना भाषा-शास्त्रियो और उन्नत भाषाओ के साहित्य-सेवियो का जनवादी कर्तव्य है। अत यदि भाषा-शास्त्री किसी बात के निर्णायक हो सकते है तो केवल इस बात के कि छोटी या अनुन्नत भाषा की शीघ्रातिशीघ्र साहित्यिक स्थापना किस विधि से की जाय कि वह निकट भविष्य मे ही प्रारम्भिक से लेकर उच्च शिक्षा तक की माध्यम बन सके।

तीन सिद्धान्त : तीन उद्देश्य

इतना तो निर्विवाद है कि प्रगतिवादी जनपदीय भाषाओ के स्वतत्र विकास के पूर्ण समर्थक है और इसे वे राष्ट्र और हिन्दी की सास्कृतिक उन्नति का एक मात्र मार्ग समझते है। परन्तु ऐसे कौन से सिद्धान्त है, कौन से उद्देश्य है जो प्रगतिवादियो की दृष्टि के सामने हिन्दी-क्षेत्रो की १९-२० भाषाओ के विकास की एक सुविशाल समन्वित तस्वीर खोल देते है ? निश्चय ही अब हम उक्त रिपोर्ट के आधार पर इस विचारधारा, सिद्धान्त, उद्देश्य और कार्यक्रम की अविलम्ब स्थापना करके बहस के परिणामो को सूची-बद्ध कर सकते है।

प्रगतिवाद एक सास्कृतिक आन्दोलन है। सास्कृतिक प्रश्नो पर उसके दृष्टिकोण की विधायक, मूलभूत विचारधारा को हम तीन सिद्धान्तो मे बाँट सकते है

(१) जातियो के आत्मनिर्णय के अधिकार का सिद्धान्त,

(२) सास्कृतिक स्वाधीनता का सिद्धान्त, और

(३) प्रगतिवाद का सिद्धान्त।

जनपदीय भाषाओ का प्रश्न एक सास्कृतिक प्रश्न है, अत प्रगतिवाद की विचार-धारा के उपरोक्त तीनो सिद्धात पृथक् और सम्मिलित रूप मे इस प्रश्न का समाधान निर्दिष्ट करने मे हमारा पथ-प्रदर्शन करते है और उसके लक्ष्य की रूप-रेखा भी स्थिर करते है। जनपदीय प्रश्न पर, हमारी सम्मति मे, प्रगतिवाद के तीन उद्देश्य कार्यक्रम हो सकते है—

(१) जन-भाषा,

(२) जन शिक्षा, और

(३) जन-साहित्य-सस्कृति।

ये सिद्धान्त और उद्देश्य मनुष्य की सहस्रो वर्ष की स्वातन्त्र्य कामना के प्रतीक है और सास्कृतिक क्षेत्र मे जनवाद की श्रेष्ठतम परम्परा का सूत्रपात करते है। जनपदीय भाषाओ के विरोधियो से हमारा अनुरोध है कि वे भी एक बार निष्पक्ष भाव से इन सिद्धान्तो और उद्देश्यो पर विचार करे और इनके आलोक मे अपना हृदय-मन्थन करके देखे।

१. जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार का सिद्धान्त

जातियो के आत्मनिर्णय के अधिकार की चर्चा अब हमारे देश मे होने लगी है। विचारशील लोग इस परिणाम पर पहुँच रहे है कि अपने देश की स्वाधीनता का व्यापक

आधार इस सिद्धान्त को ही बनाना अभीष्ट होगा। हमारे देश के राष्ट्रीय आन्दोलन न भी अब आंशिक रूप से इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। प्रगतिवादियो के निकट जनपदीय भाषाओ के प्रश्न का समाधान इस सिद्धान्त का आधार लिए बिना असम्भव होगा। जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य-सस्कृति का लक्ष्य उस समय तक आकाश कुसुम बना रहेगा जब तक कि इस सिद्धान्त पर अमल न किया जायगा।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल और राहुलजी ने मातृभाषाओ को उनके जनपदो से सम्बद्ध किया है। डॉ० अग्रवाल ने जनपद का अर्थ केवल 'ग्रामो का समूह' ही बताया है। परन्तु ऐतिहासिक अर्थ मे भी केवल 'ग्रामो का समूह' बिना आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक जीवन की इकाई हुए अपने पृथक् जनपद-अस्तित्व का औचित्य नही रख सकता था। विभिन्न ग्राम-समूहो का विशिष्ट जनपद-नामकरण तभी हुआ होगा जब उनका विशिष्ट जातीय जीवन रहा होगा। जनपद शब्द की प्राचीनता और उपयुक्तता के कारण प्रगतिवादी 'जनपद' शब्द का आज भी प्रयोग करना वाछनीय और श्लाघ्य समझते है। परन्तु वे 'जनपद' शब्द के अर्थो को सदिग्ध और अनिश्चित न छोडकर उसकी एक निश्चित आधुनिक परिभाषा देना आवश्यक समझते है ताकि लोग उससे भिन्न-भिन्न अर्थ न लगाते जायँ। प्रगतिवादियो के अनुसार **'जनपद' एक ऐसा भू-खंड है जिस पर बसने वालों की एक ही भाषा हो, एक ऐतिहासिक परम्परा हो, एक संस्कृति हो और एक आर्थिक-सामाजिक जीवन हो, रहा हो या भविष्य में भी हो सकता हो---अर्थात् वह जन-समुदाय एक विशिष्ट जाति हो।**

अतएव भाषा, इतिहास, सस्कृति और आर्थिक जीवन की एकता के आधार पर फिर से प्रादेशिक विभाजन का प्रश्न उठेगा कि इन मातृभाषाओ का पृथक्-पृथक् क्षेत्र कहाँ से कहाँ तक समझा जाय। जातियो के आत्म-निर्णय के अधिकार के सिद्धान्त के आधार पर ही इस प्रकार के भाषा-मूलक जनपदो मे मध्यदेश का पुन क्षेत्र विभाजन प्रतिपादित किया जा सकता है। अपने-अपने क्षेत्रो मे ये भाषा-जनपद एक सघ-शासन के अन्तर्गत अपना राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक जीवन सङ्गठित करने के लिए स्वतन्त्र हो, इसकी अनिवार्यता भी स्वीकार की जा सकती है। परन्तु मध्यदेश के ये पृथक् भाषा-जनपद अलग-अलग राज्य होगे, अथवा एक विशाल मध्यदेशीय सयुक्त राज्य की विभिन्न स्वायत्त शासन-प्राप्त इकाइयो के रूप मे रहेगे, यह एक राजनीतिक प्रश्न है और उस पर कोई मत प्रकट करना हम अनपेक्षित समझते है। इन क्षेत्रो की जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि ही इसका निर्णय कर सकेगे। सास्कृतिक दृष्टि से हम केवल इतना ही प्रस्ताव कर सकते है कि भाषागत आधार पर मध्यदेश का प्रादेशिक विभाजन किया जाय। कदाचित् यह तभी सभव होगा जब भारत स्वतन्त्र हो और कोई सरकारी कमीशन पुनः समूचे मध्यदेश (तथा अखिल भारतवर्ष) के भाषा-क्षेत्रों का निर्णय करने के लिए भौगोलिक जाँच या सर्वे करे और तदन्तर क्षेत्र विभाजन किया जाय। कमीशन के बिना इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय नही किया जा सकता। परन्तु तब तक के लिए ग्रियर्सन के 'लिग्विस्टिक

सर्वे ऑफ इण्डिया' (Linguistic Survey of India) मे निर्दिष्ट भाषा-क्षेत्रों को ही स्वीकार करके हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अपने विधान मे मेवाती, मालवी, जयपुरी, मारवाडी, मैथिली, मगही, भोजपुरी, नेपाली, कुमाऊँनी, गढवाली, पश्चिमी पहाडी (जौनसारी, क्योथली, कुलुई, चम्बाली आदि), कोसली, बघेली, छत्तीसगढी, ब्रज, बुन्देली, कनौजी, बाँगरू और खडी बोली के १९ भाषा-क्षेत्रो के पृथक् अस्तित्व की स्वीकार करले और इन भाषा-जनपदो के आधार पर ही हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लिए प्रतिनिधि चुने जाने का नियम बनावे। इस प्रकार का क्षेत्र-विभाजन सम्मेलन और इन भाषा-जनपदो, दोनो के लिए सुविधाजनक होगा। इन जनपदो की विशिष्ट परिस्थितिजन्य आवश्यकताओ के अनुसार राष्ट्रभाषा-प्रचार का प्रबन्ध करना अधिक सुगम होगा और जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य के उद्देश्यो की पूर्त्ति के लिए विशेष सहयोग जुटाना भी सम्भव होगा।

अन्त मे, भाव-प्रवणता, आवश्यकता, सम्भाव्यता और प्रवृत्ति को कसौटी मानकर जो कठिनाइयाँ उपस्थित होती, जातियो के आत्म-निर्णय के अधिकार को मान लेने से वे कठिनाइयाँ भी नही उठेगी। किस जनपद की भाषा को जीवित रहने का अधिकार है, किसको नही, इस प्रकार के जनवाद-विरोधी विवाद की कटुता और गन्दगी मे बचाव करने का यही एक मात्र उपाय है। तब ऐसी दुर्भावनाओ को पनपने का अवसर ही नही मिलेगा कि एक दल उठकर कहे कि अमुक भाषा को जीवित रहने का अधिकार नही है, और न तब इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया को ही सिर उठाने का मौका मिलेगा। प्रत्युत एक जनवादी औदार्य से हम प्रत्येक उन्नत-अनुन्नत भाषा को पनपने और अपनी साहित्यिक स्थापना करने का अवसर देगे। आत्म-निर्णय के अधिकार का सिद्धान्त जातियो के भाई-चारे का पुनीत सिद्धान्त है।

२. सांस्कृतिक स्वाधीनता का सिद्धान्त

जातियो से आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के समान ही सास्कृतिक स्वाधीनता का सिद्धान्त भी अत्यन्त व्यापक सिद्धान्त है। इसके दो पक्ष है। इस सिद्धान्त को मानकर ही राष्ट्रीय काँग्रेस ने 'अल्पसख्यक जातियो और विभिन्न भाषा क्षेत्रो को [illegible] भाषा और लिपि की सुरक्षा' का दायित्व अपने ऊपर लिया है। जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस सिद्धान्त को स्वीकार करना अनिवार्य है, कदाचित् इतना तो स्पष्ट हो चुका होगा। विभिन्न भाषा-जनपदो को यदि अपने-अपने क्षेत्रो मे पूर्ण सास्कृतिक स्वाधीनता न हुई तो वे कभी उन्नति न कर सकेगे, यह भी असदिग्ध है। सास्कृतिक स्वाधीनता के अर्थ है कि वे कचहरियो मे, राजकीय व्यवहार मे, शिक्षालयो मे और सास्कृतिक आयोजनो मे—जैसे रेडियो, सिनेमा, थियेटर आदि मे—अपनी भाषा का प्रयोग करने को पूर्ण स्वतन्त्र हो। यदि उन्हे यह स्वतन्त्रता न मिली तो मातृभाषाएँ उपेक्षित ही बनी रहेगी और विद्वानो के निकट पुरातत्त्व की दृष्टि से ही महत्त्व रखेगी। राष्ट्र-

भाषा हिन्दी को ही तब अखण्ड भाषा के उन्माद मे इन जनपदों की मातृभाषा बनाने का प्रयत्न होगा और इस पकार जो आज 'भाषाओ का विशाल कारागार' है, भविष्य मे भी अक्षुण्ण बना रहेगा और जनता को कभी सौ फीसदी शिक्षित न बनाया जा सकेगा। उदारचेता विचारक शिक्षा-प्रसार की योजनाएँ बनाते रहेगे, पर वे योजनाएँ कभी सफल न हो सकेगी। दूसरी ओर हिन्दी साम्राज्य स्थापित करने का उन्माद इस सीमा तक भी पहुँच जाने की सम्भावना है कि जब इन भाषा जनपदो की जातीय विशिष्टताओ को नष्ट करने की खुलेआम घोषणाएं की जाने लगे और इसका स्वाभाविक परिणाम यह हो कि घोर प्रतिक्रिया की गोद मे इन जनपदो की जातीय चेतना जागे और वहाँ की प्रतिगामी, सामन्ती और पूंजीवादी शक्तियाँ, जनपदो की आत्मनिर्णय के अधिकार और सास्कृतिक स्वाधीनता की न्यायोचित भावना को अत्यन्त सकीर्ण पृथकत्व की भावना म परिणत करने मे समर्थ हो जाये और इस प्रकार हिन्दी और इन मातृभाषाओ मे स्थायी विग्रह के बीज उगने लगे। ऐसी स्थिति मे जन-साहित्य के स्थान पर ऐसे साहित्य की रचना की प्रवृत्ति जोर पकडे जिसमे अपनी-अपनी जनपदीय सस्कृति और इतिहास को मिथ्या गौरव मे अतिरञ्जित किया जाय और एक वैज्ञानिक सास्कृतिक दृष्टिकोण के स्थान पर अध-विश्वास, मिथ्याभिमान और जातीय अवसरवाद साहित्य और सस्कृति का आधेय बन जाय। साहित्य-सम्मेलन और उसके अनेक कार्यकर्त्ताओ ने अब तक जिस सकीर्ण मनो-वृत्ति का परिचय दिया है, उसने वातावरण को काफी विषैला बनाया है परन्तु फिर भी जनपदीय कार्यकर्त्ताओ ने असाधारण धैर्य और सयम दिखाया है। सम्मेलन के विचारक और कार्यकर्त्ता यदि इतिहास की साक्षी से इस तथ्य को हृदयगम करले कि सास्कृतिक स्वाधीनता के सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना देश की सर्वतोमुखी सास्कृतिक प्रगति नही हो सकती, तो विग्रह के बीज को कभी उर्वर धरती न मिले।

परन्तु साथ ही भाषा-जनपदो के कार्यकर्त्ताओ को भी सास्कृतिक स्वाधीनता के सिद्धान्त के व्यापक अर्थो को समझ कर अपनी चेतना का नया सस्कार करना होगा। जिस भाषागत तथा भौगोलिक एकता अथवा अखडता के आधार पर जातियो के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है, वह आधार भी सर्वथा अविभाज्य और अवचक नही है। प्रत्येक जनपद मे अनेक ऐसे छोटे-छोटे जनसमूह बसते है जिनका धर्म, भाषा, [illegible], रीति-रिवाज, रूढि-परम्पराएँ, रहन-सहन अपने जनपद-विशेष की भाषा, जाति और इति-हास-परम्परा मे सर्वथा भिन्न है। उदाहरण के लिए हिन्दी क्षेत्रो के समस्त जनपदो मे मुसलमान काफी सख्या मे बसते है, और वे अपनी मातृभाषा उर्दू बता सकते है—कम-से-कम नगरो के मुसलमानो की मातृभाषा तो उर्दू ही है। दफ्तरो मे अथवा उद्योग-धधो मे पजाबी, गुजराती, मद्रासी, बगाली, बिहारी, मराठी आदि अनेक जातियो के लोग प्रत्येक भाषा-जनपद के क्षेत्र मे लगे हुए है और वे अपने परिवारो के साथ वहाँ बसते है। सम्भव है, अनेक जनपदो मे हबूडी भाषा को बोलनेवाली डोम और जिप्सी जातियाँ भी यत्र-तत्र बिखरी हो। ऐसी स्थिति मे आत्मनिर्णय का अधिकार और सास्कृतिक स्वाधीनता पाने का

यह अर्थ नही होगा कि हठपूर्वक यह कहा जाय कि किसी भाषा-जनपद विशेष की सीमा मे केवल उस जनपद की भाषा ही शिक्षा का माध्यम होगी, उसी का एकच्छत्र राज्य होगा और बाहर से आकर बसी हुई विभिन्न अल्प-सख्यक जातियो को उनकी अपनी मातृभाषाओ मे शिक्षा नही दी जायगी। ऐसा सोचना साहित्य सम्मेलन के तर्क को ही अपना लेना होगा। जन-शिक्षा की योजना बनाते समय प्रत्येक भाषा-जनपद को स्वय अपने जनपद की विस्तृत सर्वे करनी पडेगी और यह देखना होगा कि किन-किन स्थानो पर, नगरो मे अथवा ग्रामो मे किसी अन्य मातृभाषा के बोलनेवाले कम-से-कम इतनी सख्या मे रहते है कि उनके लिए उनकी भाषा मे प्राथमिक और यदि आवश्यक हो तो पृथक् ही माध्यमिक अथवा उच्च शिक्षा का भी प्रबन्ध किया जाय। किसी छोटी-से-छोटी, यत्र-तत्र बिखरी अथवा खाना-बदोशो का जीवन व्यतीत करने वाली जाति से भी उसकी मातृभाषा को छुडाने का प्रयत्न जनवाद और सास्कृतिक स्वाधीनता के सिद्धान्तो के मूल पर आघात करेगा, इस सत्य को भाषा-जनपदो के कार्यकर्त्ताओ को हृदयगम कर लेना चाहिए। वैज्ञानिक नृशास्त्र उच्च और निम्न--इस प्रकार का फासिस्ती जातिभेद नही स्वीकार करता, अत केवल सख्या की अल्पता अथवा विजातीयता के कारण किसी भी जाति या भाषा समूह को सास्कृतिक स्वाधीनता के अधिकार से वचित नही किया जा सकता। इस प्रकार सास्कृतिक स्वाधीनता का सिद्धान्त विभिन्न भाषाओ और सस्कृतिओ मे परस्पर समानता और आदर-भाव स्थापित करने का उदार सिद्धान्त है।

३ प्रगतिवाद का सिद्धान्त

भाषा-जनपदो मे जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य-सस्कृति के निर्माण मे प्रगतिवाद का सिद्धान्त प्रेरक-शक्ति और पथ-प्रदर्शक के रूप मे क्यो अभिप्रेत है, इसका उत्तर सरल है। प्रगतिवाद एक वैज्ञानिक, जनवादी दृष्टिकोण है। प्रत्येक भाषा-जनपद के कार्यकर्त्ताओ के सम्मुख यह प्रश्न उठेगा अथवा उठना चाहिए कि उनके जनपद की भाषा की साहित्यिक स्थापना, उनके जनपद मे सार्वजनीन शिक्षा का प्रबन्ध और उनके जनपदीय साहित्य-सस्कृति के निर्माण का कार्य अनियमित-अनियन्त्रित-अराजक गति से आगे बढे अथवा किसी व्यापक, वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर योजनानुसार सङ्गठित किया जाय, ताकि अल्प-से-अल्प काल मे ही उनकी भाषा यथेष्ट उन्नति कर जाय, शिक्षा का प्रसार अपूर्व गति से आगे बढ जाय और साहित्य-सस्कृति आधुनिक और शक्तिशाली हो जाय। हमारा दृढ मत है कि पहला मार्ग जोखिम का है। भाषा-जनपदो की प्रगति को अवसर पर छोड देना हानिकर भी हो सकता है और जटिल समस्याएँ भी पैदा कर सकता है, फिर, ऐसे अनेक पिछडे जनपद है जिनमे प्राचीन साहित्य नही है। अत भाषा का साहित्यिक सस्कार करते समय किसी वैज्ञानिक, जनवादी दृष्टिकोण के अभाव मे बहुत सभव है कि यह प्रवृत्ति जोर पकडे कि साहित्य की भाषा को बोलचाल की भाषा से एकदम भिन्न रूप देने की चेष्टा की जाय, और इससे भाषा कृत्रिम बन जाय। सभव है, शिक्षा-

प्रणाली, पाठ्य-पुस्तकें और पाठ्य-क्रम को ऐसा बनाने की प्रवृत्ति हो जो पुरानी लकीरो को ही पीटता है और जनता को कम-से-कम समय मे अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक और उच्च-कोटि का ज्ञान देने की दृष्टि से न बनाया जाय। इससे अनुन्नत जनता दकियानूसी अवैज्ञानिक विचार पद्धति को पकडे रहे। सभव है साहित्य और सस्कृति का निर्माण ऐसा हो जिसमे जर्जर, रूढ परम्पराओ, हानिकर रस्मरिवाजो और अन्ध-विश्वासो को ही अपने जनपद का सास्कृतिक वैशिष्ट्य बताकर मिथ्या गौरव से मण्डित किया जाय और प्राचीन रूप-विधानो मे नयी, आधुनिक वस्तु न देकर पुरानी दकियानूसी वस्तु ही दी जाय और इस प्रकार एक जनपद का सास्कृतिक विकास टेढे-मेढे और उल्टे-सीधे मार्ग पकड ले। इस प्रकार अवसर पर छोड देने से प्रगति के मार्ग मे जो अराजकता फैलेगी, उसमे श्रम-साधन का कितना अपव्यय होगा और उद्देश्य-सिद्धि मे कितनी अप्रत्याशित बाधाएँ पडेगी, इसका अनुमान नही किया जा सकता। अतएव प्रगतिवाद के व्यापक तथा वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर ही योजना बनाकर प्रत्येक जनपद को जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य-सस्कृति के अभ्युत्थान का अनुष्ठान करना चाहिए।

इस प्रकार प्रगतिवाद जातियो के सास्कृतिक अभ्युदय का सबसे अधिक वैज्ञानिक और प्रशस्त मार्ग है।

इन तीन मूलभूत सिद्धान्तो के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी जनपदीय भाषाओ के प्रश्न का समाधान करते समय किसी भी अवस्था मे सकीर्ण राष्ट्रीयता, सकीर्ण जातीयता और सकीर्ण सास्कृतिक दृष्टिकोण को प्रश्रय नही देते।

इन तीन मूलभूत सिद्धान्तो के आधार पर जनपदीय भाषाओ के लिए जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य-सस्कृति के जो महान् उद्देश्य प्रगतिवादी अपने समक्ष रखते है, उनकी पूर्ति से राष्ट्रभाषा हिन्दी की किसी भी प्रकार से हानि सभव नही है। प्रत्युत हमारा विचार है कि इससे राष्ट्रभाषा अधिक समृद्ध और समुन्नत ही होगी। अर्थात् राष्ट्रभाषा और जनपदीय भाषाओ मे प्रतियोगिता अथवा हित-वैषम्य का प्रश्न नही उठता। ऐसा प्रश्न तभी उठ सकता है जब सिद्धान्तो को तिलाजलि देकर अनर्गल वादों-अपवादों का सहारा पकडा जाय।

जनपदीय प्रगतिशील साहित्य-सघ

उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि जनपदीय भाषाओ के प्रश्न को विवाद के क्षेत्र से हटाकर कार्य के क्षेत्र मे ले आया जाय। अर्थात् जनपदो को एक निश्चित कार्य-क्रम के अनुसार सगठित किया जाय। विवाद तो चलते ही रहेगे परन्तु जो उपरोक्त सिद्धान्तो को मानते है वे निष्क्रिय नही बैठ सकते, क्योकि उनकी निष्क्रियता का अर्थ है मध्यदेश की सास्कृतिक प्रगति के एकमात्र मार्ग के प्रति उदासीनता दिखाना। जिन जनपदो मे आन्दोलन मुखर हो गया है उसको भी एक व्यापक आधार पर पुनः सगठित करने का प्रश्न है। अत. यह आवश्यक है कि विभिन्न जनपदो मे जनपदीय प्रगतिशील साहित्य सघ

निर्विलम्ब स्थापित किये जायँ। 'प्रगतिशील' इसलिए कि जनपदीय साहित्य सघ अपने तीन सिद्धान्तो और तीन उद्देश्यो से कभी दूर न जा पडे अथवा उन्हे कभी विस्मृत न कर दे।

इन जनपदीय प्रगतिशील साहित्य सघो मे प्रत्येक भाषा जनपद के उन सभी लेखको की, जो इस समय चाहे हिन्दी मे ही क्यो न लिखते हो, उन सभी वैज्ञानिको, इतिहासवेत्ताओ, समाजशास्त्रियो, ग्रामीण कवियो आदि को सगठित किया जाय जो उपरोक्त तीन सिद्धान्तो और तीन उद्देश्यों को स्वीकार करते हैं।

भाषा-जनपदों का वर्गीकरण

ऊपर दिये गये विवरण से यह विदित हो चुका है कि मध्यदेश के सभी जनपदो का समान विकास नही हुआ है, कुछ भाषा, साहित्य और सस्कृति की दृष्टि से अधिक उन्नत हैं, कुछ बहुत पिछडे हुए। कुछ जनपदो की जनसख्या योरप के कतिपय राष्ट्रो के बराबर है और कुछ की जनसख्या बहुत कम है, जैसे पूर्वी और पश्चिमी पहाडी भाषाओ के जनपदो की। ऐसी स्थिति मे सभी जनपदीय प्रगतिशील साहित्य सघो का न एक ही कार्यक्रम सम्भव है और न उनकी तात्कालिक माँगे ही एक हो सकती हैं। विभिन्न जनपदो की भाषा और उनके साहित्य की वर्तमान अवस्था के आधार पर मध्यदेशीय जनपदो का तीन भागो मे वर्गीकरण करना सुविधाजनक होगा।

(१) मेवाती, मालवी, जयपुरी, मारवाडी, मैथिली, भोजपुरी, कोसली, बुन्देली और ब्रज भाषाओ के जनपद। इन जनपदीय भाषाओ के बोलनेवालो की सख्या भी बडी है और उनमे पुराना साहित्य भी मिलता है। अत थोडे प्रयत्न के पश्चात् ही इन भाषाओ और बोलियो को अपने-अपने क्षेत्रो मे माध्यमिक शिक्षा (हाईस्कूल तक) का माध्यम बनाया जा सकता है।

(२) मगही, बघेली, छत्तीसगढी, कनौजी, बाँगरू, कुमाऊँनी, गढवाली भाषाओ के जनपद। जनसख्या की दृष्टि से इनमे से पहली पाँच भाषाएँ बडी भाषाएँ हैं, तथापि उनमे प्राचीन साहित्य का अभाव है, अत. उनमे उच्चकोटि का साहित्य उत्पन्न करने मे समय लगेगा। इन भाषाओ को थोडे प्रयत्न से अभी केवल प्राथमिक शिक्षा (छठे दर्जे तक) का ही माध्यम बनाया जा सकेगा।

(३) जौनसारी, क्योथली, कूलुई और चबाली भाषाओ के जनपद। इन भाषाओ को बोलनेवालो की सख्या भी थोडी है और ये भाषाएँ बहुत पिछडी हुई हैं, अतः उनको नागरी तथा चबाली की जगह पर देवनागरी लिपि मे लिखने का प्रबन्ध करने तथा पाठ्य-पुस्तके आदि तैयार करने मे समय लगेगा। प्रारम्भिक प्रयत्न के पश्चात् ही इन भाषाओ को वर्णमाला सिखाने का माध्यम बनाया जा सकता है, अर्थात् उनमे प्रारभिक शिक्षा (तीसरे दर्जे तक) दी जा सकती है।

जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघों का कार्यक्रम

अपने-अपने भाषा-क्षेत्रो मे जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य का निर्माण

और प्रसार करने के लिए जनपदीय प्रगतिशील साहित्य सघो को उपरोक्त वर्गीकरण को ध्यान मे रखकर ही अपना कार्यक्रम बनाना चाहिए। ज्यो-ज्यो उनका तात्कालिक कार्यक्रम पूरा हो जाय, तीसरे वर्ग के जनपद दूसरे वर्ग के कार्यक्रम को अपना सकते है, दूसरे वर्ग के जनपद अपनी भाषाओ मे उच्चशिक्षा दी जाने की माँग कर सकते है। निश्चय ही सारा कार्य अविराम निर्माण का कार्य है, केवल प्रचार का नही। विभिन्न जनपदो मे जन-भाषाओ का साहित्यिक सस्कार कैसा होगा, जन-शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम और शिक्षा-पद्धति कैसी होगी, जन-साहित्य के निर्माण की योजना प्रारम्भ मे किन अङ्गो की समृद्धि पर विशेष जोर देगी आदि प्रश्न ऐसे है जिनका निर्णय विभिन्न जनपदीय प्रगतिशील साहित्य सघ स्वय ही करेगे। हम यहाँ पर प्रस्तावित साहित्य सघो के लिए कोई विस्तृत कार्य-योजना नही बना सकते, केवल कतिपय साधारण सुझाव रख सकते है जिन्हे केवल विस्तृत योजना का आधार बनाया जा सकता है :

जन-भाषा

(१) जनपदीय भाषाओं का साहित्यिक रूप स्थिर करने और उनकी प्रकृत-शक्ति का पूर्ण विकास करने के लिए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की जनपद-योजना के अनुसार कार्य करना। भेद केवल इतना रहे कि वैज्ञानिक खोज और संग्रह के उपरान्त जो अध्ययन प्रस्तुत किये जायँ, वे यथा-सभव जनपदीय भाषाओं मे ही हों। इसके लिए व्याकरण, साहित्य भूगोल, इतिहास और विज्ञान आदि की परिषदे स्थापित की जायँ और गद्य और पद्य की आधुनिक शैलियों का प्रयोग जनपदीय भाषाओं मे सिखाया जाय।

(२) जनपदीय भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्रों मे (उपरोक्त वर्गीकरण के आधार पर) प्रारम्भिक, प्राथमिक अथवा माध्यमिक शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए आन्दोलन करना।

जन-शिक्षा

(१) शिक्षा की दृष्टि से उन्नत देशो की शिक्षा-पद्धतियों का विस्तृत अध्ययन करके अपनी-अपनी जनपदीय भाषा की स्थिति के अनुसार समूची जनता को प्रारम्भिक, प्राथमिक अथवा माध्यमिक शिक्षा देने के लिए शिक्षा-प्रणाली का निर्णय करना और व्यापक कार्य-योजना बनाना।

(२) विभिन्न परिषदों द्वारा शिक्षण-योजना को कार्यान्वित करने के लिए ऐसी वैज्ञानिक पाठ्य-पुस्तकों की रचना जो संक्षेप मे सरलतापूर्वक अधिक ज्ञान प्रदान कर सकें।

(३) जनपदीय भाषाओं में प्रारम्भिक, प्राथमिक अथवा माध्यमिक स्टेज तक की परीक्षाएँ चालू करना और उनका व्यापक प्रचार करना। इनके ऊपर की शिक्षा के लिए जब तक जनपदीय भाषाएँ स्वयं सम्पन्न न हो जायँ, हिन्दी-माध्यम को प्रोत्साहन देना।

जन-साहित्य

(१) काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि के रूप मे मौलिक-साहित्य की रचना के लिए जनपदीय कवियों और लेखकों को प्रोत्साहन देना।

(२) विज्ञान और समाजशास्त्र के विभिन्न अंगों की समृद्धि के लिए परिषदो द्वारा ग्रन्थों का निर्माण कराना। जहाँ तक सम्भव हो हिन्दी मे प्रचलित पारिभाषिक शब्दों को ही ग्रहण किया जाय।

(३) एक व्यापक योजना के अनुसार अन्य देशी तथा विदेशी भाषाओं के उच्च-कोटि के उपन्यास और नाट्य-साहित्य तथा वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय साहित्य के प्रामाणिक अविकल अनुवादों का प्रबन्ध करना।

(४) उक्त साहित्य के लिए प्रेस और प्रकाशन की सुविधाएँ जुटाना, तथा जनपदीय भाषाओ मे पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करना।

जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघ और हिन्दी साहित्य सम्मेलन

उपरोक्त विवेचन मे यद्यपि हम जनपदीय प्रगतिशील साहित्य सघो और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के परस्पर सम्बन्ध के बारे मे एक-आध बार सकेत कर चुके है, परन्तु फिर भी सम्भव है कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वर्तमान कार्यकर्त्ताओ और विशेषकर जनपद आन्दोलन के विरोधियो के मन मे अब भी शकाए हो। इसके अतिरिक्त स्वय जनपदीय प्रगतिशील साहित्य सघो के प्रतिनिधि साहित्य-सम्मेलन की विरोधी नीति से क्षुब्ध होकर उनसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना ही आवश्यक समझ सकते है। वे कह सकते है कि जब बँगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि आर्य और द्राविड भाषाओ के साहित्य-सघ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से सबद्ध नही है तो जनपदीय प्रगतिशील साहित्य-सघो को इससे क्यो सबद्ध होना चाहिए? जनपदीय भाषाएँ भी स्वतन्त्र है और उन्हे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखना चाहिए।

यहाँ पर हम केवल प्रगतिवादियो की ओर से कुछ सुझाव पेश कर सकते है, यद्यपि इस सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय तो जनपदीय साहित्य-सघ ही करेगे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से जनपदीय साहित्य-सघो का क्या और कैसा सम्बन्ध रहे इस प्रश्न पर प्रगतिवादियो को अभी से अपनी कार्य-नीति निर्धारित कर लेनी चाहिए। मेरी सम्मति से इस विषय मे दो-तीन बाते विचारणीय है

पहली बात—जनपदीय भाषाओ के विकास के विरोध मे सबसे बडी बात यह कही जाती है कि इससे हिन्दी (साहित्यक खडी बोली) का अहित होगा। इस आशका का निर्मूल करना जनपदीय भाषाओ के प्रतिनिधियो का कर्त्तव्य है, क्योकि राजस्थानी, मैथिली और ब्रज आदि जनपदीय भाषाओ की प्राचीन साहित्यिक परम्परा का अपने को उत्तराधिकारी घोषित करके हिन्दी (साहित्यिक खडी बोली) ने समस्त मध्यदेश मे साहित्यिक पुनर्निर्माण और राष्ट्रीय जागरण की व्यापक नीव डाली है। जनपदीय भाषाओ की प्राचीन साहित्यिक

परम्पराओ का हिन्दी ने तिरस्कार करके फोर्ट विलियम कॉलेज के समय से अपनी कोई निराली सस्कृति और साहित्य-परम्परा बनाने की चेष्टा नही की, बल्कि उसने समूचे मध्य-देश के प्राचीन साहित्य की अटूट परम्परा को अपनाकर उसके प्रति अपना पूरा सम्मान दिखाया। इसी का परिणाम है कि आज मध्यदेश की अनेक जनपदीय भाषाएँ अपने प्राचीन साहित्य के गौरव से अपरिचित नही रही और वे अब पुन नये जीवन के स्पन्दन का अनुभव करने लगी है। अत अपने पुनर्जागरण के उष काल मे जनपदीय भाषाओ को भी मध्यदेश की इस परम्परा से, जिसको हिन्दी ने समृद्ध और विकसित किया है, अलग हटकर एकान्त-साधक नही बन जाना चाहिए, अर्थात् दोनो का साहित्यिक आदान-प्रदान अक्षुण्ण बना रहना चाहिए। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन इस आदान-प्रदान का भविष्य मे मध्य-केन्द्र बन सकता है।

दूसरी बात—यह सभी स्वीकार करते है कि हिन्दी के अतिरिक्त और कोई दूसरी भाषा मध्यदेश की राष्ट्रभाषा नही हो सकती और यदि द्राविडी क्षेत्रो के निवासी भी स्वीकार कर ले तो हिन्दी मध्यदेश और दक्षिण भारत की भी राष्ट्रभाषा बन सकती है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहता है, और राष्ट्रभाषा प्रचार ही उसका मुख्य कार्यक्रम है। व्यावहारिक रूप मे सम्मेलन राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन बन गया है, परन्तु अभी तक राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन की दृष्टि से साहित्य सम्मेलन का विधान और कार्य-प्रणाली एकागी है, जनतान्त्रिक और राष्ट्रीय नही। साहित्य सम्मेलन की ओर से अ-हिन्दी प्रान्तो मे राष्ट्रभाषा हिन्दी का जो प्रचार किया जा रहा है उसमे अ-हिन्दी भाषाओ के साहित्य-सम्मेलनो के प्रतिनिधियो की सहमति-असहमति को महत्त्व नही दिया जाता, और न उनसे परामर्श ही किया जाता है। सारा प्रचार ऊपर से किया जा रहा है, जिससे अनेक भ्रम भी उत्पन्न हो गये है। कुछ कार्यकर्त्ता अनावश्यक रूप से गलत उत्साह दिखा रहे है जिससे लगता है कि वे हिन्दी को मध्यदेश की राष्ट्रभाषा ही नही, वरन् मातृभाषा भी बनाना चाहते है। दक्षिण भारत मे काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने हिन्दी को शिक्षालयो मे अनिवार्य द्वितीय भाषा बनाकर द्राविडी भाषाओ के सम्मेलनो और प्रतिनिधियो की सम्मति के प्रति घोर उपेक्षा दिखाई और अपनी निरकुश नीति के विरुद्ध स्वाभाविक विरोध को न्यौता दिया। इन सब जटिल समस्याओ का हल हिन्दी वाले नही कर पा रहे, फिर भी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अपनी सीमित और एकागी विजयो पर ही प्रमत्त हो उठा है, और अपने आधार को जनतान्त्रिक बनाने के लिए तैयार नही है। ऐसी स्थिति मे जनपदीय साहित्य सघो का कर्तव्य है कि वे उसे जनतान्त्रिक आधार दे। यह तभी सम्भव हो सकता है जब हम यह स्वीकार करले कि हिन्दी को जोर-जबरदस्ती से नही बल्कि मध्यदेश और दक्षिण भारत की समस्त भाषाओ की सहमति से ही राष्ट्रभाषा बनाया जा सकता है, तथा इसके लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का राष्ट्रभाषा-साहित्य-सम्मेलन के रूप मे जनतान्त्रिक आधार पर पुनर्सङ्गठन किया जाय। इससे बहुत से विवादो का भी अन्त हो जायगा।

तीसरी बात—मध्यदेश और दक्षिण की अनेक जनपदीय भाषाएं पिछडी है। वे स्वय अपने बल पर साहित्यिक स्थापना करने मे समर्थ नही है। इसके लिए उन्हे उन्नत भाषाओ के सहयोग की आवश्यकता है। अत यह जरूरी है कि साहित्यिक जगत् का वातावरण असाहित्यिक प्रश्नो की गूँज से क्षुब्ध न होता रहे। लोग इस सहयोग का व्यापक आयोजन कर सकें और एक शान्त वातावरण मे आदान-प्रदान का क्रम अविराम चलता रहे। इस दृष्टि से भी साहित्य-सम्मेलन के आधार को व्यापक बनाने की जरूरत है और बिना उसे अन्यान्य भाषाओ की प्रतिनिधि सस्था, अर्थात् राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन बनाये यह कार्य सम्भव नही होगा। यह हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के हित मे होगा। यदि वर्तमान हिन्दी जनपदो के प्रतिनिधियो के अतिरिक्त गुजराती, मराठी, उडिया, असामी, बगाली आदि भाषाओ के प्रतिनिधि भी राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन मे हिन्दी के प्रतिनिधियो के साथ समानता के आधार पर एकत्र किये जा सके और वे एक मत से हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर ले तो फिर कौन हिन्दी को अपदस्थ कर सकेगा ? यदि द्राविडी भाषाओ के प्रतिनिधि भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान ले तो मद्रास प्रान्त मे हिन्दी को अनिवार्य द्वितीय भाषा बनाने से कौन आपत्ति करेगा ? राष्ट्रभाषा आदि के प्रश्न तात्कालिक महत्त्व के प्रश्न नही है। सब भाषाओ के प्रतिनिधियो को इस पर खूब सोचने-विचारने का और स्वतन्त्र मत रखने का अधिकार देना चाहिए। अत हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को विचार-स्वातन्त्र्य का वाहक बनाने के लिए उसे नये आधार पर सगठित करके राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन बनाना अनिवार्य हो गया है।

इन सभी दृष्टियो से देखने पर हमारा निश्चित मत है कि जनपदीय प्रगतिशील साहित्य सघो को एक निश्चित कार्यक्रम लेकर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से सम्बद्ध हो जाना चाहिए। हम सक्षेप मे इस कार्यक्रम की निम्न रूपरेखा बना सकते है

(१) हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के विधान मे परिवर्तन —

(अ) सम्मेलन का नाम 'राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार सम्मेलन' रखा जाय।

(ब) रा० हि० प्र० स० उन सभी हिन्दी और अहिन्दी भाषाओ का 'सघ' हो जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानती है, अर्थात् मध्यदेश के जनपदीय साहित्य सघो और गुजराती, मराठी, बगला, उडिया, असामी और यदि सम्भव हो तो द्राविडी भाषाओ (तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम आदि) के साहित्य सम्मेलनो का सघ हो। हिन्दी और अहिन्दी भाषाओ के साहित्य सम्मेलन राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर एक सामान्य नीति निर्धारित करने के लिए रा० हि० प्र० स० से सम्बद्ध हो और समस्त (छोटी-बडी) भाषाओ (हिन्दी को लेकर) को रा० हि० प्र० स० मे एक बराबर प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हो। उदाहरण के लिए १६ जनपदीय साहित्य सघ और ६ अन्य अहिन्दी भाषाओ के सम्मेलन यदि रा० हि० प्र० स० से सम्बद्ध हो जायँ और यदि प्रत्येक

को दस-दस प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हो तो इस प्रकार कुल प्रतिनिधियो की सख्या २८० होगी, अर्थात् उसमे अन्य किसी प्रकार के प्रतिनिधि स्वीकार न किये जायेगे। प्रत्येक भाषा को अपने प्रतिनिधि चुनकर भेजने का अधिकार होगा। कोई भी राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी निर्णय बहुमत से नही किया जा सकेगा, बल्कि जो भाषा बहुमत के निर्णय को स्वीकार करे वही उस पर पालन करने के लिए बद्ध हो। कार्यकारिणी के चुनाव मे भी यही सिद्धान्त बरता जाय, अर्थात् प्रत्येक भाषा को अपना-अपना प्रतिनिधि समानता के आधार पर चुनने का अधिकार हो।

(स) रा० हि० प्र० स० की परिषदो का पुनर्निर्माण किया जाय। सम्बद्ध भाषाओ मे साहित्यिक आदान-प्रदान के महत्त्वपूर्ण कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए समस्त भाषाओ का प्रतिनिधित्व करने वाली ऐसी स्थाई परिषदो का निर्माण किया जाय जो इतिहास, भूगोल आदि की ऐसी खोजो और सग्रहो को जो राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्व रखते है, राष्ट्र-भाषा हिन्दी और उसके द्वारा अन्य सभी सम्बद्ध भाषाओ मे अनुवाद कराये और उच्च कोटि के विशुद्ध साहित्य (कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, निबन्ध आदि) और वैज्ञानिक साहित्य का भी विभिन्न भाषाओ मे अनुवाद कराने का प्रबन्ध कराये। जहाँ तक सम्भव हो परिषदे इसके लिए पारिभाषिक शब्दो की एक सामान्य सूची तैयार करे। इसमे राष्ट्रभाषा हिन्दी का साहित्य भी निरन्तर समृद्ध होता जायगा और अन्य उन्नत अथवा अनुन्नत भाषाओ का साहित्य भी समृद्ध होता जायगा। ये परिषदे विभिन्न विषयो के आधार पर बनाई जायँ और प्रत्येक सम्बद्ध भाषा के प्रतिनिधि उनमे हो जो अपनी-अपनी भाषा की साहित्यिक प्रगति पर छमाही रिपोर्ट दे और मिलकर इस बात का निर्णय करे कि कौन-कौनसी पुस्तके राष्ट्रीय महत्त्व की है अत अनुवाद के योग्य है।

(२) रा० हि० प्र० स० का पुन केन्द्र-सगठन किया जाय अर्थात् मध्यदेश के किसी केन्द्रीय स्थान पर (दिल्ली, आगरा, लखनऊ अथवा इलाहाबाद आदि मे) रा० हि० प्र० स० का स्थायी केन्द्र स्थापित किया जाय, और प्रचार और अनुवाद कार्य के लिए प्रेस और प्रकाशन की सुविधाएँ जुटायी जायँ।

(३) जनपदीय भाषाओ को प्रोत्साहन दिया जाय रा० हि० प्र० स० जनपदीय भाषाओ की साहित्यिक स्थापना मे सहयोग दे, अर्थात् विभिन्न जनपदीय प्रगतिशील साहित्य सघो के कार्यक्रम को पूरा कराने मे प्रकाशन की सुवि-

धाएँ और अन्य साधन प्रदान करे।

उक्त कार्यक्रम के आधार को लेकर जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघो को हिन्दी साहित्य सम्मेलन से सम्बद्ध होना चाहिए। इसमे सन्देह नही कि यह कार्यक्रम और सुधारा जा सकता है। परन्तु इसमे भी सन्देह नही है कि जिस दिन हम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को० रा० हि० प्र० स० के रूप मे प्रस्तावित आधार पर संगठित करने मे समर्थ हो जायेगे वह दिन हिन्दी और अन्य भाषाओ के साहित्यिक जीवन मे सबसे महत्त्वपूर्ण दिन होगा। क्योकि उस दिन मध्यदेश और यदि सम्भव हुआ तो दक्षिण भारत की समस्त भाषाओ के बीच स्थायी सौहार्द्र और सहयोग की नीव पडेगी और सभी भाषाओ के उत्तरोत्तर विकास की अपरिमित सम्भावनाएं खुल जायेगी। उस समय छोटी-से-छोटी और अनुन्नत-से-अनुन्नत मातृभाषा मे भी लिखने मे किसी भी प्रतिभावान् लेखक को सकोच न होगा, क्योकि उसकी कृतियाँ प्रत्येक भाषा मे पढी जायेगी। कोई भी महत्त्वपूर्ण रचना विस्मृति के गर्त मे न डूब सकेगी, तब किसी भी जनपद की जनता को अपनी मातृ-भाषा को त्याग कर दूसरी भाषा मे अपने भाव-विचारो को अभिव्यक्ति देने के लिए बाध्य नही होना पडेगा।

जनपदीय भाषाओ के प्रश्न पर प्रगतिवादियो का यही दृष्टिकोण और कार्य-क्रम है[1]।

—नवम्बर, १९४५

---

१. देखिए परिशिष्ट ३।

२४

राष्ट्रभाषा : विवाद और समाधान

'Tis a great infirmity to think. God preserve you from it, my son, as He has preserved His greatest saints, and the souls whom He loves with special tenderness and destines to eternal felicity

—*Anatole France*

हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी की बहस गत १४० वर्षो से जिस राजनीतिक उत्तेजना और धार्मिक-साम्प्रदायिक उन्माद के वातावरण मे अविराम चलती आई है, और जिस हठधर्मी और दुराग्रह से इन तीनो के समर्थको और प्रतिपक्षियो ने अपनी तर्कावली को रूढ बना रखा है, मानो १४० वर्षो के अन्तराय मे उनकी सूझ-बूझ मे कोई विकास ही न हुआ हो, और जिस सतर्कता से वे इस बीच अपने पुराने तर्को को ही और-और ऊँचे स्वर से दुहराते आये है उससे सिद्धान्त-कथन, तथ्य-निरूपण, विचार-विनिमय और विवेक-सगत समाधानो का स्थान आत्म-प्रवचना और प्रमाद ने ले लिया है। केवल शक्ति-प्रदर्शन ही तर्क की सचाई का आधार बन गया है। राष्ट्रभाषा की गुत्थी सुलझने की जगह और भी उलझती गई है।

हिन्दी-उर्दू की बहस का अब वह प्रारम्भिक रूप नही रहा जब 'आर्य-भाषा' हिन्दी के समर्थक उसे हिन्दुओ की परम्परागत भाषा कहकर उर्दू के साथ-साथ अदालतो और सरकारी दफ्तरो मे उसका प्रचलन कराने के लिए आन्दोलन करते थे। इस बहस मे हिन्दी सफलता पा चुकी है, और कचहरियो और दफ्तरो मे उसका प्रयोग किया जा सकता है। प्रारम्भिक और कही-कही उच्च शिक्षा भी हिन्दी मे दी जाने लगी है। अत अब हिन्दी और उर्दू मे प्रतियोगिता राष्ट्रभाषा-पद के लिए है। कुछ लोगो ने प्रारम्भ से ही हिन्दी और उर्दू की बहस मे मध्यस्थ बनने की चेष्टा की है और आग्रह किया है कि हिन्दी-उर्दू के सम्मिलित रूप हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकार किया जाय। परन्तु हिन्दुस्तानी के समर्थक, जो मध्यस्थ बनना चाहते थे, स्वय एक वादी बन गये। इस प्रकार हिन्दी-उर्दू का सघर्ष अब हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी के सघर्ष का त्रिकोण बन गया है और इसमे विस्मय की बात नही है कि इस सघर्ष के त्रिकोण के तीन कोणो पर हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के स्थाई शिविर खुल गये है। अपने-अपने केन्द्र पर तीनो दल शक्ति-सगठन कर रहे है और वहाँ से राष्ट्रभाषा के सिहासन के लिए बढ-चढकर दावे पेश कर रहे है। कोई भी ठहर कर यह नही सोचना चाहता कि केवल शक्ति-सचय राष्ट्रभाषा के प्रश्न का

हल नही बना सकेगा। फिर, प्रत्येक दल के समर्थको की सख्या मे वृद्धि होती जाय तो उससे किसी भी दल के दावे को एकान्त औचित्य कहाँ से प्राप्त हो जायगा, यह विचारणीय है। अत समर्थको की सख्या-वृद्धि एक मरीचिका है जिसके पीछे तीनो दलो के नेता दौड रहे है। हिन्दी को हिन्दुओ का समर्थन मिल रहा है, उर्दू को मुसलमानो का——यह हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और अजुमन तरक्की-ए-उर्दू की परीक्षाओ मे बैठने वालो से स्पष्ट है। हिन्दुस्तानी को थोडे हिन्दुओ और थोडे ही मुसलमानो का समर्थन मिल पा रहा है। फिर भी तीनो दलो मे कोई अपनी विचार-पद्धति को व्यापक बनाकर नई सूझ-बूझ से इस प्रश्न का हल नही ढूँढना चाहता। तीनो दलो की राष्ट्रीय चेतना अत्यन्त सकुचित और सकीर्ण हो गई है क्योकि कोई भी अपने प्रतिपक्षियो के दृष्टिकोण को नही समझना चाहता। परिणाम यह है कि प्रत्येक दल के लिए राष्ट्रीयता भिन्न अर्थवाची शब्द बन गया है। एक विलक्षण, पर क्रूर, परिस्थिति पैदा हो गई है। हम यहाँ पर इस समूचे प्रश्न पर नई दृष्टि से सोचना चाहते है ताकि हम जिस दलदल मे फँसे है उसमे अपने पैर खीचकर आग बढ सकें। इसके लिए वर्तमान सघर्ष का सक्षेप मे सिंहावलोकन अपेक्षित है। इससे अनेक मनोरजक तथ्यो पर प्रकाश पडेगा।

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के नेतृत्व का यदि हम विश्लेषण करें तो हमे ज्ञात होगा कि हिन्दी का नेतृत्व विशेष कर हिन्दू-राष्ट्रवादियो के हाथ मे है। इनमे डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी और डॉ० अमरनाथ झा आदि भाषाविद्, इतिहासज्ञ और विचारक भी है, और बाबू पुरुषोत्तमदास टडन, बाबू सम्पूर्णानन्द, श्री कन्हैयालाल मुशी, गोरवामी गणेशदत्त आदि काँग्रेस, हिन्दू-महासभा, सनातन-धर्म-सभा, आर्य-समाज आदि के हिन्दू राष्ट्रवादी नेता और कार्यकर्त्ता भी है। इसी प्रकार उर्दू का नेतृत्व विशेषकर मुस्लिम राष्ट्रवादियो के हाथ मे है। यहाँ भी मौलवी अब्दुल हक, मियाँ बशीर अहमद आदि भाषा-विद्, इतिहासज्ञ और विचारक है और मुस्लिम-लीग आदि के मुस्लिम-राष्ट्रवादी नेता है। उर्दू वालो के साथ सर तेजबहादुर सप्रू आदि उर्दू-फारसी प्रेमी कतिपय हिन्दू नेता भी है। हिन्दुस्तानी का नेतृत्व उन लोगो के हाथ मे है जो अखिल भारतीय एकता के भावुक सम-र्थक है, अर्थात् जो हिन्दू-उर्दू के पृथक् विकास का कारण ऐतिहासिक परिस्थितियो मे न खोजकर उसे कुछ साम्प्रदायिक दुश्चिन्तको का कुचक्र मानते है और सोचते है कि व्यापक राष्ट्रीय चेतना के फैलने पर यह कुचक्र अपने आप बन्द हो जायगा और हिन्दी-उर्दू की धाराएं अपने आप मिल जायेगी। इस दल के नेताओ मे भी डॉ० ताराचन्द, डॉ० जाकिर हुसैन, जफर हुसैन, पण्डित सुन्दरलाल, काका कालेलकर, गुलाम सैयदेन, डॉ० अब्दुल-अलीम आदि भाषाविद्, इतिहासज्ञ और विचारक है। नेताओ मे महात्मा गाँधी, पण्डित जवाहरलाल और डॉ० राजेन्द्रप्रसाद आदि राष्ट्रीय नेता है।

तीनो दलो का उद्देश्य एक ही है, अर्थात् **अखिल भारत के लिए एक सर्वसम्मत राष्ट्रभाषा का निर्माण और प्रचार**। गत १४० वर्षो मे 'सर्वसम्मति' की ओर एक पग भी नही बढाया जा सका है। साधारणत जो इन तीनो दलो को सामान्य रूप से स्वीकार हो

वही सर्वसम्मत राष्ट्रभाषा कही जा सकती है, क्योकि ये तीन दल ही अपनी-अपनी भाषा के लिए दावे पेश कर रहे है। परन्तु स्थिति कुछ ऐसी विचित्र हो गई है कि 'सर्वसम्मत' का यह अर्थ किसी भी दल के निकट कोई महत्त्व नही रखता। अपना दावा ही 'सर्वसम्मत' है, बस इस प्रवचना का जोर है। राष्ट्रभाषा का अन्य भाषाओ से क्या सम्बन्ध रहेगा, अर्थात् राष्ट्रभाषा का क्षेत्र कितना होगा, उच्च शिक्षा और विशिष्ट वैज्ञानिक शिक्षा के लिए राष्ट्रभाषा को माध्यम बनाना उपयुक्त होगा अथवा अन्य प्रान्तिक भाषाओ मे भी यह शिक्षा दी जा सकेगी आदि व्यापक रचनात्मक प्रश्नो तक विवादी नही पहुंचे है। वे राष्ट्रभाषा के प्रश्न को उठाकर पहले ही कदम पर रुक गये है क्योकि अभी यह निश्चित नही हो पा रहा है कि **राष्ट्रभाषा का नाम क्या हो, उसका स्वरूप क्या हो और उसकी लिपि क्या हो।** इन तीनो प्रश्नो का हल असाध्य लगता है, क्योकि अपने-अपने दावे को वे ऐतिहासिक दृष्टि से सही मानते है। सर्वप्रथम हम तीनो के दावो का अध्ययन करेगे

एक हिन्दी—(क) राष्ट्रभाषा का नाम हिन्दी हो। ऐतिहासिक और व्यावहारिक दृष्टि से यही नाम अधिक समीचीन है।

ऐतिहासिक—मध्यदेश अथवा उत्तर भारत की भाषा का 'हिन्दी' नाम उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी की अपेक्षा अधिक पुराना है, और यह नाम मुसलमानो का दिया हुआ है। हिन्दू लेखको (तुलसीदास आदि) ने सर्वत्र 'भाषा' शब्द का ही प्रयोग किया है।

अमीर खुसरो (सन् १३४०-८१) ने सर्वप्रथम अपनी 'खालिकबारी' (उर्दू-हिन्दी-कोष) मे इस भाषा को 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' नाम दिया है, अर्थात् हिन्दुस्तानियो की भाषा हिन्दी, किसी जाति-विशेष की भाषा नही। अलाउद्दीन खिलजी (सन् १२९५-१३१५ ई०) के शासन-काल मे फखरुद्दीन मुबारक गजनवी ने एक शब्द-कोष तैयार किया जिसमे उसने फारसी शब्दो के हिन्दी पर्याय दिये। शाह मीरानजी शम्शुल उशाक (सन् १४९५) अपनी रचनाओ की भाषा को हिन्दी कहते थे। दक्खिन मे भी 'दक्खिनी' के साथ 'हिन्दी' नाम प्रचलित था। बीजापुर के अली आदिलशाह द्वितीय (१६५६-१६७३) के दरबारी कवि नसराती ने भी अपनी हिन्दी कविताओ का उल्लेख किया है। इसके पश्चात् 'सौदा' के उस्ताद शाह हातम (सन् १७५०), इशाअल्ला खाँ (सन् १८५५-७५), एलोर (मद्रास) के बाकर आगाह (११५७ हिजरी मे जन्म) आदि प्रसिद्ध मुसलमान लेखक अपनी भाषा के लिए 'हिन्दी' नाम का ही प्रयोग करते आये है। बाकर आगाह ने अपने दीवान का नाम 'दीवाने-हिन्दी' रखा। दिल्ली के विख्यात कवि 'मीर' ने अपनी भाषा को 'हिन्दी' ही कहा। हिन्दुओ ने अपनी 'भाषा' के लिए मुसलमानो द्वारा दिये गये इस नाम को अपना लिया। इस प्रकार हिन्दी नाम समस्त मध्यदेश की भाषा के लिए प्रयुक्त होता रहा है। उपयुक्त भी है।

'उर्दू' शब्द का भाषा के लिए कब से प्रयोग होने लगा, यह अभी तक विवादास्पद है। 'उर्दू' शब्द तुर्की भाषा का है, जिसका अर्थ लश्कर (छावनी) होता है। मीर अम्मन

देहलवी ने 'बागोबहार' (सन् १८०१) मे लिखा है कि उर्दू की उत्पत्ति अकबर बादशाह के समय मे हुई। सर सय्यद अहमदखाँ की पुस्तक 'आसारुस्सनादीद' (सन् १८५४) मे उर्दू की उत्पत्ति शाहजहाँ के काल मे बताई गई है। परन्तु यह भी सदिग्ध है, क्योकि यदि उस समय 'उर्दू' शब्द प्रचलित हो गया होता तो सैयद अताहुसैन 'तहसीन' को 'चहार-दरवेश' के अनुवाद 'नौ तर्जमुरस्सा' मे अपनी भाषा के लिए रेख्ता, हिन्दी और उर्दू-ए-मुअल्ला इन तीन नामो का एक साथ प्रयोग न करना पडता। इससे सिद्ध है कि सन् १७९७ तक 'उर्दू' शब्द व्यापक और रूढ नही हो पाया था। इसके पश्चात् ही 'मसहफी' और 'दाग' ने अपने शेरो को उर्दू भाषा के शेर कहा। इस प्रकार 'उर्दू' बहुत नया नाम है। राष्ट्रभाषा के लिए यह नाम किसी प्रकार भी उपयुक्त नही। फिर उर्दू एक विशेष शैली का नाम है, किसी स्वतन्त्र भाषा का नाम नही।

'हिन्दुस्तानी' नाम की व्युत्पत्ति मनोरजक है। सत्रहवी सदी मे पुर्तगालियो ने भारत मे आकर यहाँ की भाषा का नाम 'इन्डोस्तान' (Indostan) रखा। अठारहवी सदी के प्रारम्भ मे एक अग्रेज इतिहास-लेखक ने इस भाषा का नाम 'हिडोस्टैड' (Hindostand) लिखा है। इन महानुभवो के अनोखे नामो पर विस्मय न करके यदि हम और छानबीन करे तो हमे पता लगता है कि मौलाना वजही ने अपनी पुस्तक 'सरबस' (१०४० हिजरी) मे इस भाषा को 'जबाने हिन्दुस्तान' लिखा था। परन्तु यह समस्त मध्यदेश या उत्तर भारत की भाषा का नाम नही था बल्कि केवल युक्त-प्रदेश और अन्तर्वेद (दो आब) के मुसलमानो की भाषा का नाम था जिसमे विदेशी भाषाओ के शब्द अधिक हो। फोर्ट विलियम कॉलेज, कलकत्ते के डॉ० गिलक्राइस्ट (सन् १८०३) ने जब हिन्दी-उर्दू मे पुस्तके लिखवायी तब से ही 'हिन्दुस्तानी' शब्द पर सरकारी छाप लगी। हिन्दुस्तानी से अब तक हिन्दी की उर्दू शैली ही सूचित होती आई है। अत यह नाम भी अनुपयुक्त है।

व्यावहारिक—'हिन्दी' नाम मुसलमानो का दिया है और हिन्दुओ को भी स्वीकृत हो गया है, अत 'हिन्दी' नाम हिन्दुओ और मुसलमानो की सम्मिलित भाषा के नाम का, उनकी एकता का द्योतक है। व्यावहारिक दृष्टि से यह सर्वमान्य नाम है। इसके अतिरिक्त देशो के नाम पर ही भाषाओ के नाम भी होते है जैसे अरबी, ईरानी, फारसी, चीनी, जापानी, रूसी, अग्रेजी, फ्रासीसी आदि। हिन्दी भी ऐसा ही नाम है।

उर्दू एक प्रकार से मुसलमानो द्वारा हठपूर्वक गढी गई हिन्दी की ही एक शैली का नाम है। इस नाम को हिन्दुओ ने कभी नही अपनाया। सरकारी कृपादृष्टि बनी रहे, इसलिए कुछ सरकारी हिन्दू कर्मचारियो ने उर्दू को अपनी भाषा कहा हो तो वह बात दूसरी है। इसके अतिरिक्त उर्दू से किसी देश की भाषा होने का सकेत नही मिलता। अत व्यावहारिक दृष्टि से उर्दू नाम सर्वथा अग्राह्य है।

हिन्दुस्तानी नाम सकुचित अवश्य है, क्योकि इससे हिन्दुस्तान (उत्तरी दो आब) की भाषा का ही सकेत होता है। परन्तु अब सारे भारत को भी अक्सर हिन्दुस्तान कहा जाता है, अतः यदि सारा झगडा इस नाम को स्वीकार करने से ही खत्म हो जाय अर्थात् 'राष्ट्र-

भाषा के स्वरूप' और 'राष्ट्रलिपि' के लिए विवाद न उठे तो राष्ट्रभाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' भी स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु इस विवाद मे इन नामो के पीछे भाषा के स्वरूप का विवाद छिपा हुआ है। अत 'हिन्दुस्तानी' नाम भी उपयुक्त नही है।

(ख) **राष्ट्रभाषा का स्वरूप हिन्दी हो**—ऐतिहासिक, भाषाशास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टि से राष्ट्रभाषा का स्वरूप हिन्दी होना ही अधिक उपयुक्त है।

ऐतिहासिक—हिन्दी से तात्पर्य सस्कृतनिष्ठ साहित्यिक खडी बोली से है, परन्तु हिन्दी की समस्त बोलिया भी हिन्दी के ही अन्तर्गत आती है और उनके रूपो और प्रत्ययो मे परस्पर इतना भेद होते हुए भी खडी बोली, ब्रज, बाँगरू, राजस्थानी, बुन्देली, अवधी, भोजपुरी, मैथिल, मगही आदि भाषाओ का प्राचीन काव्य-साहित्य हिन्दी का ही काव्य-साहित्य माना जाता है। इस दृष्टि से उर्दू के समान हिन्दी कोई नयी कृत्रिम भाषा नही है, वरन् सीधे सस्कृत और मध्यदेश की शौरसेनी और मागधी, अर्ध-मागधी प्राकृतो और अपभ्रशो से उत्पन्न हुई भाषा है। गत एक हजार वर्षो की हिन्दी की गौरवमयी काव्य-परम्परा उसको अन्य भाषाओ के मुकाबले म राष्ट्रभाषा पद के लिए सबसे उपयुक्त भाषा बना देती है। चन्दबरदाई, विद्यापति, कबीर, जायसी, तुलसीदास, सूरदास, मीरा, बिहारी, केशव, मतिराम, भूषण, देव, पद्माकर, हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी के द्वारा प्रवाहित हिन्दी-काव्य और साहित्य परपरा की इस अजस्र-धारा मे ग्यारहवी शताब्दी अथवा उससे भी पूर्व से लेकर अबतक कही विक्षेप नही हुआ है। समस्त मध्यदेश और उत्तर भारत के सास्कृतिक जीवन की अभिव्यजना हिन्दी मे हुई है, अत वह यहाँ की सस्कृति की प्रतीक है। देश जब विदेशी आक्रमणो और अनार्य विजेताओ की नृशसताओ के कारण पदाक्रान्त हो रहा था, उस समय हिन्दी के कवियो ने ही उसे आशा का सदेश सुनाया, उसमे जीवन और स्फूर्ति का सचार

परपरा ने अपना अस्तित्व ज्ञान पैदा कर नयी जाग्रति फूँकी। लोक जीवन की श्रुति-परपरा ने हिन्दी के कवियो की रचनाओ को देश के गाँव-गाँव और घर-घर मे पहुँचा दिया है। अत हिन्दी जनता की भाषा है।

स्वय मुसलमानो ने हिन्दी के इस भारतीय स्वरूप को ही अपनाया और हिन्दी काव्य के निर्माण मे योग दिया। कारण, हिन्दी जनता की भाषा थी और मुसलमान बादशाहो के दरबारो मे फारसी का प्रचलन था। हिन्दी को समृद्ध बनाने मे मुसलमानो ने प्रत्येक काल मे और प्रत्येक काव्य-धारा मे रचनाएँ की है। ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेममार्गी शाखा, रामभक्ति शाखा, कृष्णभक्ति शाखा, रीति काव्य, आधुनिक काव्य—इन सभी काव्य परपराओ म मुसलमान कवियो ने जो योगदान किया है वह उपेक्षणीय नही है। अमीर खुसरो (स० १३४०) से लेकर, कबीर (स० १४५६), कुतबन (स० १५५०), मलिक मुहम्मद जायसी (सन् १५२८), रसखान (स० १६४०), रहीम (स० १६१०-८३), आलम (स० १६४०), जमाल (स० १६२७), कादिर (स० १६६५), मुबारक (स० १६७०),

उसमान (स० १६१३), शेखनबी (स० १६७६) अलीमुहिबखाँ (सं० १७८७), रसलीन (स० १७१४), आलम (स० १७४०), कासिमशाह (स०१७८८), नूरमुहम्मद (स० १८०१) और वर्तमान युग में अजमेरी जी तक मुसलमानों ने हिन्दी के जो काव्य ग्रन्थ रचे हैं उनपर किसी भी साहित्य को गर्व हो सकता है। परन्तु ये रचनाएँ उन्होंने अपने काल की हिन्दी की साहित्यिक भाषा अवधी, ब्रज या खडी बोली में ही की और उनमें विदेशीपन लाकर भारत की सांस्कृतिक एकता के तार को विच्छिन्न करने की चेष्टा नहीं की। ये कवि दिल्ली, काशी, जौनपुर, गाजीपुर, पिहानी, बिलग्राम, हरदोई, बाराबंकी, आगरा आदि मध्यप्रदेश के विभिन्न स्थानों में जन-जीवन के निकट रहकर कविता करते थे, दरबारों में जाकर शासकों के इंगित पर उन्होंने अपनी सरस्वती के आँचल को कलुषित नहीं होने दिया। इस प्रकार हिन्दी को हिन्दुओं और मुसलमानों की सम्मिलित भाषा होने का गर्व है। आज भी, नगरों के कुछ पढे-लिखे मुसलमानों को छोडकर, ग्रामतौर पर मुस्लिम जनता हिन्दी की ही विभिन्न बोलियों को बोलती है। अतएव हिन्दी का परम्परागत स्वरूप ही राष्ट्रभाषा का स्वरूप हो सकता है, अन्य कोई स्वरूप जनता में सर्वमान्य न हो सकेगा।

उर्दू के समर्थकों का दावा है कि खडी बोली का साहित्यिक भाषा के रूप में निर्माण सर्वप्रथम मुसलमानों ने ही किया और गदर, सन् १८५७ ईस्वी, तक उर्दू ही हिन्दू-मुसलमानों की सम्मिलित भाषा रही। यह एक भ्रान्त धारणा है। खडी बोली हिन्दी की अन्य बोलियों की तरह एक प्राचीन बोली है। उसमें अधिक काव्य-रचना नहीं हुई, इसका कारण केवल यह था कि ब्रजभाषा उस समय साहित्य की भाषा थी, और जब दिल्ली दरबार में फारसी का प्रयोग होने लगा तो उसका प्रभाव दरबार से सम्बन्ध रखने वाले आस-पास के लोगों पर भी पडा और उसमें अरबी-फारसी के शब्द घुसने लगे। जिन्होंने मुस्लिम दरबारों के आश्रय में रहकर खडी बोली में कविता लिखनी प्रारम्भ की उन्होंने उसे शासकों की सुविधा के लिए फारसी-अरबी-मिश्रित बनाने की कोशिश की। इस कविता का आदर्श, पद-विन्यास, शब्द-भण्डार सभी विदेशी होता चला गया। अत मध्यदेश की हिन्दू और मुस्लिम जनता को खडी बोली का यह 'उर्दू' संस्कार मान्य नहीं हुआ, और वह ब्रजभाषा में ही अपने को अभिव्यक्त करती आई। मुगल साम्राज्य के ध्वंस के बाद जब कायस्थ, अग्रवाल, खत्री आदि दिल्ली की व्यापारी अथवा दफ्तरों में काम करनेवाली जातियाँ पूरबी युक्तप्रान्त में आकर बसने लगीं तो खडी बोली को भी अपने साथ लेती गईं और इस प्रकार खडी बोली अपने शुद्ध रूप में मध्यदेश के अन्य स्थानों में भी फैलने लगी। यह कहना सरासर गलत है कि फोर्टविलियम कॉलेज अथवा गदर के पश्चात् ही प्रतिक्रियावश हिन्दुओं ने संस्कृतनिष्ठ गद्य लिखना प्रारम्भ किया और हिन्दू-मुसलमानों की सम्मिलित भाषा उर्दू को त्यागकर विग्रह का बीज बोया। मुसलमानों ने खडी बोली में जब गद्य लिखना आरंभ किया उसके बहुत पहले से उसमें गद्य लिखा जाता रहा है, परन्तु वह गद्य हिन्दी-परम्परा के अनुसार था, उसमें जान-बूझकर अरबी-फारसी नहीं भरी जाती थी। विग्रह का बीज तो मुसलमानों ने ही बोया। अकबर के समकालीन कवि गङ्ग की पुस्तक 'चन्द-छन्द

बरनन की महिमा' को खडी बोली गद्य की प्रथम पुस्तक कह सकते है। श्रीरामप्रसाद 'निरञ्जनी' का 'भाषा योगवासिष्ठ', (स० १७९८) पण्डित दौलतराम का हरिषेणाचार्य कृत जैन 'पद्मपुराण' का ७०० पृष्ठो का भाषानुवाद, मुशी सदासुख की ज्ञानोपदेश वाली पुस्तक, मुशी इशा की 'रानी केतकी की कहानी' (स० १८५८) आदि पुस्तकें फोर्टविलियम कॉलेज द्वारा (स० १८६० मे) खडी बोली गद्य मे पुस्तके लिखाने की व्यवस्था होने के पहले ही लिखी जा चुकी थी। इससे सिद्ध है कि खडी बोली का हिन्दी-रूप शिष्टजनो की भाषा बन चुका था। इस समय तक खडी बोली का शुद्ध रूप मध्यदेश के अन्य स्थानो मे भी फैल गया था, उच्चकोटि के हिन्दी गद्य-साहित्य के लिए क्षेत्र बन गया था, और उसका विकास स्वाभाविक हो गया था। प्रतिक्रिया का कोई प्रश्न कब उठता है?

इसके अतिरिक्त गत पचास-साठ वर्षो मे हिन्दी-साहित्य की जैसी सर्वाङ्गीण उन्नति हुई है, और उसका प्रचार जिस परिमाण मे हुआ है उससे भी सिद्ध है कि हिन्दी का वर्तमान सस्कृतनिष्ठ स्वरूप ही जनप्रिय और सर्वमान्य है, जनता किसी कृत्रिम, आपादमस्तक विदेशी वेश-भाषा मे सजी भाषा को स्वभावत नही अपना सकती। सरकारी पक्षपात के रहते हुए भी यदि देखा जाय तो उर्दू की लोकप्रियता दिनोदिन गिरती जा रही है। सन् १८८९-९९ मे हिन्दी की ३६१ और उर्दू की ५६९ पुस्तकें प्रकाशित हुई थी, परन्तु सन् १९३५-३६ मे सयुक्त प्रान्त मे हिन्दी की २१३९ और उर्दू की केवल २५२ पुस्तकें ही प्रकाशित हुई। यदि हिन्दी पढने वाले विद्यार्थियो, हिन्दी समाचार पत्रो और उनके पाठको की सख्या के आँकडे दिये जायें तो उनमे और उर्दू के आँकडो मे दसगुने से अधिक का अन्तर होगा। इससे कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति राष्ट्रभाषा के सर्वमान्य स्वरूप के सम्बन्ध मे निष्कर्ष निकाल सकता है।

भाषा-शास्त्रीय—यदि उर्दू मे अरबी के अनार्य (सामी) और फारसी के अभारतीय शब्दो का बहुतायत से प्रयोग करना छोड दिया जाय तो वह हिन्दी से भिन्न शैली भी न रह जाय। उर्दू खडी बोली की ही एक विशिष्ट (अरबी-फारसी-निष्ठ) शैली है, अन्यथा वह स्वतन्त्र भाषा नही है। मुसलमान उर्दू को अपनी पृथक् भाषा बनाने के लिए उसमे अभारतीय उपमाएँ और रूपक भर रहे है, यद्यपि हिन्दी-उर्दू का व्याकरण एक ही है, अर्थात् क्रिया, सर्वनाम, प्रत्यय, उपसर्ग और अव्यय एक ही है। केवल कुछ सज्ञाएँ और विशेषण अब दोनो मे भिन्न हो गये है, फिर भी दोनो भाषाओ की गठन एक है। अरबी-फ़ारसी के शब्द यदि हिन्दी व्याकरण के अनुसार भाषा की स्वाभाविक समीकरण पद्धति से हिन्दी मे घुलमिल जायें, जिस तरह हजारो शब्द घुलमिल गये है, तो उनसे किसी को कोई आपत्ति न हो। इससे तो भाषा और समृद्ध ही होती है, परन्तु यदि वे अपनी विदेशी वेषभूषा त्यागे बिना ही अपना सम्मान चाहे तो यह कैसे सभव है? प्रत्येक भाषा की अपनी गठन होती है, अपनी प्रकृतिगत आभा होती है, अपनी सस्कृति का वातावरण और आदर्श होता है। भाषा का ध्वनि-सामजस्य और स्वर-सामजस्य उसके विकास और मार्जन की दिशा निर्दिष्ट करता है। विदेशी शब्द अपने विदेशीपन को लेकर यदि घुस आये तो वे

इस सामजस्य को नष्ट करके भाषा को भोडी और विषम ही बना सकते है, उसको निखार नही सकते। इसके अतिरिक्त उर्दू वालो का आग्रह है कि पारिभाषिक शब्द अरबी से लिये जायँ। ऐसा क्यो किया जाय जबकि हिन्दी अपनी माँ सस्कृत और प्राकृतो से पारिभाषिक शब्द ले सकती है ?

व्यावहारिक—सस्कृत से पारिभाषिक शब्द उधार लेने का व्यावहारिक औचित्य भी है। हिन्दी-भाषा हिन्द-ईरानी-शाखा की भारतीय-आर्य उपशाखा की एक भाषा है। अत भारतीय-आर्य उपशाखा की अन्य भाषाओ—जैसे बगाली, गुजराती, मराठी, असामी, उडिया, सिधी, पजाबी, आदि से उसका निकट का सम्बन्ध है। ये सब भाषाएँ सस्कृत और प्राकृतो से निकली है। स्वाभाविक है कि उनमे सस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दो की बहुलता है। ये सब भाषाएँ भी अधिकतर सस्कृत की धातुओ को ही प्रयोग मे लाती है और पारिभाषिक शब्दो को अपनी जननी सस्कृति से उधार लेती है। ऐसी दशा मे राष्ट्रभाषा हिन्दी भी यदि सस्कृत से ही पारिभाषिक शब्द लेती है और तत्सम शब्दो का अधिक प्रयोग करती है तो इसमे अस्वाभाविक क्या है ? वह अपनी बहनो के और निकट ही पहुँचना चाहती है। दक्षिण की द्राविडी-कुल की भाषाओ—तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम पर भी सस्कृत और प्राकृतो का गहरा प्रभाव पडा है, जिसके कारण उन भाषाओ मे भी अरबी-फारसी की अपेक्षा सस्कृत के शब्द अधिक है। अत हिन्दी को अपनी सस्कृतनिष्ठता के कारण इन भाषा-क्षेत्रो मे भी प्रचलन पाने मे अधिक सुगमता होगी। यदि उर्दू अथवा प्रचलित हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा बन गयी तो इन प्रान्तो के निवासियो को राष्ट्रभाषा सीखने मे दुर्गम कठिनाइयाँ उठानी पडेगी। उल्लेखनीय बात यह है कि इन भाषा प्रान्तो के मुसलमान भी अपने-अपने यहाँ की मातृभाषा को ही बोलते है। यद्यपि साम्प्रदायिक उन्माद को जगाकर इन क्षेत्रो के मुसलमानो को भी उर्दू सीखने के लिए [illegible] बनाने का षड्यन्त्र रचा जा रहा है, तो भी अभी तक उर्दू बोलने वाले उत्तर भारत के कुछ लाख मुसलमान ही है। इसके विपरीत हिन्दी १४ करोड की मातृभाषा है और लगभग २५ करोड व्यक्ति उसे बोल लेते है और उसे अपने अन्तरप्रान्तीय व्यवहार मे भी लाते है। इन सब दृष्टियों से देखने पर हिन्दी का दावा निर्विवाद हो जाता है। केवल चन्द लोगो की हठधर्मी और साम्प्रदायिक-राजनीतिक स्वार्थों के कारण ही राष्ट्रभाषा का प्रश्न हल नही हो पा रहा।

(ग) राष्ट्रलिपि देवनागरी हो—ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टि से राष्ट्रभाषा के लिए देवनागरी लिपि ही उपयुक्त है।

ऐतिहासिक—ऐतिहासिक दृष्टि से देवनागरी लिपि का सम्बन्ध भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी से सिद्ध है। प्राचीन काल मे पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड कर समस्त भारत मे ब्राह्मी लिपि का ही प्रचलन था। ब्राह्मी लिपि का आविष्कार आर्यो ने ही किया था, ऐसा अनुमान किया जाता है, क्योकि सामी आदि विदेशी लिपियो से उसकी

उत्पत्ति बताने वाले मत कपोल-कल्पित ही लगते हैं। ब्राह्मी बायी ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी और सामी लिपियाँ दाहिनी ओर से बायी ओर को। उनके वर्णों मे कोई आकृति-मूलक समता भी नही है। यह भी निर्विवाद हो चुका है कि समस्त भारतीय लिपियो का उद्गम प्राचीन राष्ट्र-लिपि ब्राह्मी से हुआ है। लगभग ३५० ई० तक ब्राह्मी लिपि का भारत मे प्रचार रहा, उसके पश्चात् ब्राह्मी लिपि के लिखने के दो प्रवाह हो गये, एक को दक्षिणी शैली कहते हैं, दूसरी को उत्तरी शैली। द्राविडी परिवार की भाषाओ की तेलुगु-कन्नडी, ग्रन्थ, तामिल आदि लिपियाँ ब्राह्मी की दक्षिणी शैली मे निकली है। उत्तरी शैली का विकास नागरी और काश्मीरी की शारदा लिपियो के रूप मे हुआ। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से बगला, नैपाली, मैथिली और उड़िया लिपियाँ निकली और प्राचीन नागरी से कैथी, महाजनी, राजस्थानी, गजराती आदि लिपियाँ भी निकली।

देवनागरी लिपि का विकास प्राचीन नागरी लिपि से दसवी शताब्दी ईसवी के लगभग हुआ और आजकल मराठी और हिन्दी भाषाएँ देवनागरी लिपि मे लिखी जाती है तथा संस्कृत के ग्रन्थ सर्वत्र देवनागरी लिपि मे ही मुद्रित होते हैं। इससे सिद्ध है कि देवनागरी लिपि भारत की परम्परागत लिपि का विकसित रूप है और उसके ही विभिन्न रूप सारे देश मे प्रचलित है।

भाषा-शास्त्रीय––देवनागरी लिपि की विशेषता उसके ध्वनि चिन्हो (वर्णो) की वैज्ञानिक योजना और सुवाच्यता है। उसकी यही महत्ता है कि उसमे जो कुछ लिखा जाता है वही पढा भी जाता है, अर्थात् अक्षरो का विन्यास उच्चारण के अनुकूल है। देवनागरी की वर्णमाला और लिपि अरबी-फारसी-रोमन वर्णमालाओ की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक ध्वनि-क्रम के अनुसार है, इसे सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। देवनागरी लिपि सहज, सुबोध, सुवाच्य, नियमित और सरल है, यह भी सर्वमान्य तथ्य है। ऐसी दशा मे किसी अवैज्ञानिक, जटिल और दुर्बोध लिपि (जैसे अरबी-फारसी) को किस भाषा शास्त्रीय आधार पर स्वीकार किया जा सकता है?

उर्दू के समर्थक अरबी-फ़ारसी की लिपि के लिए आग्रह करते हैं। पहले तो अरबी-फ़ारसी की लिपि और वर्णमाला सामी लिपियो के परिवार की है, अतः दाहिनी ओर से बायी ओर को लिखी जाती है। नागरी अक्षरो से उर्दू के अक्षरो की आकृति एकदम भिन्न है। उर्दू वर्णमाला मे ध्वनि-क्रम की कोई योजना नही है। एक ही ध्वनि को अकित करने के लिए अनेक वर्ण है जैसे 'स' के लिए 'स्वाद' 'सीन' और 'से', 'त' के लिए 'ते और 'तोय', 'ह' के लिए छोटी 'हे' और बडी 'हे', 'ज' के लिए 'जाल' 'जे' ज्वाद' और 'जोय'। इन वर्णों के प्रतिरूप अरबी के समान उर्दू मे ध्वनियाँ नही है, अत यदि किसी को अरबी इमलो का ज्ञान न हो तो केवल सुनकर अक्षर विन्यास शुद्ध नही लिख सकता। आर्य-भाषाओ की लिपियों मे (देवनागरी आदि) स्वर मात्रा से दिखाये जाते है, परन्तु सामी भाषाओ की लिपियो मे स्वर चिह्नो से अकित किए जाते हैं। पर जेर, जबर, पेश आदि चिन्हो

को लगाकर भी आर्य-भाषाओं के सभी स्वर उसमें अंकित नहीं हो पाते और सामी लिपि में इन चिह्नों का प्रयोग बहुधा लेखक की इच्छा पर निर्भर करता है। फलतः ऐसी अराजकता फैलती है कि जो लिखा जाता है वह पढ़ा नहीं जाता और वाक्य-सन्दर्भ में संगति बैठाकर पढ़ना अनिवार्य हो जाता है। उदाहरण के लिए 'कुतुब' को 'कुतब' और 'कतब' पढ़ा जा सकता है, कोर को 'कूर', 'कवर' और 'कौर' भी पढ़ा जा सकता है। अतः बिना अर्थ समझे केवल अक्षर-ज्ञान से शुद्ध पढ़ लेना असंभव है।

इसमें सन्देह नहीं है कि देवनागरी लिपि में भी कतिपय त्रुटियाँ हैं, परन्तु ब्राह्मी लिपि के समय से यदि अब तक का भारतीय लिपियों का इतिहास देखें तो उसमें बड़ा स्वस्थ विकास-क्रम मिलता है। १० वीं सदी की लिपि में 'अ, आ, घ, प, म, य, ष, स' के सिर दो हिस्सों में विभक्त होते थे, परन्तु ११ वीं सदी से उनका आधुनिक रूप चल निकला। वर्तमान काल में ही च्च, क्क, त्व, की लिखावट बदलकर च्च, क्क, त्व आदि आगे-पीछे लिखा हुआ रूप ग्रहण कर गयी है। इस प्रकार देवनागरी लिपि में संशोधन होता जा रहा है। यदि अभी तक देवनागरी लिपि में ऐसी त्रुटियाँ वर्तमान हैं जैसे कि उ, ऊ, ऋ की मात्राएँ (ु, ू, ृ,) वर्णों के नीचे और ए, ऐ, ओ, औ की मात्राएँ (े, ै, ो, ौ,) वर्णों के ऊपर लगती हैं, अथवा ड, छ, ट, ठ, ड, ढ, द, ह आदि व्यञ्जनों में खड़ी पाई स्पष्ट अन्तिम अंश नहीं है, और उनमें संयुक्त व्यञ्जनों को ऊपर-नीचे लिखने का क्रम अभी तक जारी है अथवा 'र' कार के तीन रूप (–, ं, ्,) अभी तक प्रचलित हैं, ख से र व का भ्रम हो जाता है या ह्रस्व ए, ओ के लिए अतिरिक्त वर्ण और मात्राएँ नहीं हैं तो इन त्रुटियों के प्रति हिन्दी के भाषा-शास्त्री उदासीन नहीं हैं और वे देवनागरी लिपि को अधिक वैज्ञानिक और सम्पूर्ण बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। परन्तु फिर भी भारतीय भाषाओं की प्रकृति के अनुकूल देवनागरी लिपि ही है और उर्दू लिपि तो किसी प्रकार भी प्रयोग में नहीं लायी जा सकती। रोमन लिपि यद्यपि उर्दू लिपि से अधिक वैज्ञानिक और सरल-सुबोध है, तथापि किसी सामयिक लाभ की दृष्टि से देवनागरी जैसी वैज्ञानिक लिपि को त्याग देना समीचीन नहीं लगता।

व्यावहारिक––हिन्दी और मराठी भाषाएँ देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं और भारत की समस्त उत्तरी और दक्खिनी भाषाओं की लिपियाँ नागरी अथवा ब्राह्मी लिपि की ही रूपान्तर-मात्र हैं, अतः देवनागरी लिपि से भारत की समस्त भाषाओं की लिपियों का निकट साम्य है, जिसके कारण राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी लिपि को समस्त भारत में प्रचलित करना सुगम होगा। यदि अहिन्दी भाषाएँ भी स्वेच्छा से देवनागरी लिपि को ही ग्रहण कर लें तो समस्त भारतीय भाषाओं की एक ही लिपि हो सकती है। इसके अतिरिक्त संस्कृत का विशाल वाङ्मय देवनागरी लिपि में ही प्रकाशित हुआ है, तथा और भाषाओं का साहित्य भी देवनागरी अथवा उसका रूपान्तर करके बनी लिपियों में है। केवल उर्दू का संशोधनयोग्य साहित्य ही एक विदेशी लिपि में है। यदि उर्दू वाले

बाद अभी तक देवनागरी लिपि में कुछ त्रुटियाँ वर्तमान हैं जैसे कि उ, ऊ, ऋ की मात्राएँ (ु, ू, ृ,) वर्णों के नीचे और ए, ऐ, ओ, औ की मात्राएँ (े, ै, ो, ौ,) वर्णों के ऊपर

मिट जाय; क्योंकि तब मुसलमानो को भारतीय साहित्य और चिन्ता-धारा से एकदम अलग रखने वाला अवरोध हट जायगा। यह आसान भी है, परन्तु सारे सस्कृत और आधुनिक भाषाओ से साहित्य को उर्दू लिपि मे करना असम्भव कार्य है। और कोई ऐसी राष्ट्र-लिपि नही स्वीकार की जा सकती जिसका भारती साहित्य की परम्परा से कोई सम्बन्ध न हो, अथवा जिसके कारण आधुनिक या प्राचीन भाषाओ का साहित्य पढने के लिए एक और लिपि को सीखना पडे। हिन्दुस्तानी के समर्थको का यह कहना कि राष्ट्रभाषा दोनो लिपियो मे लिखी जाय, व्यावहारिक दृष्टि से अनुपयोगी प्रस्ताव है। देश की एकता के लिए एक राष्ट्रलिपि आवयश्क है। यदि दो लिपियाँ प्रयोग मे लायी गयी तो मुसलमान उर्दू लिपि सीखेगे और हिन्दू देवनागरी और दोनो का सास्कृतिक सम्पर्क फिर भी उतना ही असभाव्य बना रहेगा। इसके अतिरिक्त मुद्रण और प्रकाशन की दृष्टि से भी देवनागरी लिपि ज्यादा उपयुक्त ठहरती है। सार्वजनिक शिक्षा का उद्देश्य मुद्रण और प्रकाशन की सुविधा के बिना पूरा नही किया जा सकता।

संक्षेप मे हिन्दी वालों का दावा है कि हिन्दी (संस्कृत निष्ठ साहित्यिक खड़ी बोली) ही समूचे भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा हो सकती है और देवनागरी लिपि ही राष्ट्रलिपि बन सकती है।

दो : उर्दू—(क) कौमी जबान का नाम उर्दू हो। ऐतिहासिक और व्यावहारिक दृष्टि से यही नाम समीचीन है।

ऐतिहासिक दृष्टि से राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर विचार करने के पूर्व इस साम्प्रदायिक धारणा को मन से हटा देना चाहिए कि केवल वे ही नाम 'भारतीय' सस्कृति के द्योतक होगे जो मध्यकालीन आर्य भारत मे प्रचलित थे। उस समय के भारत का सास्कृतिक रूप प्रधानत आर्य अथवा हिन्दू था। भारत मे मुसलमानो के आने और आ कर यहाँ बस जाने से हिन्दुस्तान का सास्कृतिक अद्वैत अविच्छिन्न न रह सकता था। परस्पर प्रभाव पडना स्वाभाविक था और आज जब हम भारतीय सस्कृति की बात करे तब हमे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि जिन उपादानो से आधुनिक भारतीय सस्कृति का स्वरूप गढा गया है उसमे हिन्दुओ और मुसलमानों का सदियो का सक्रिय सहयोग और सम्मिलित योगदान है। हिन्दुस्तान की एकता या राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के प्रश्न मध्यकालीन भारत की मुस्लिम प्रभाव से अछूती हिन्दू सस्कृति को आदर्श या कसौटी मानकर नही हल किये जा सकते। मुसलसानो ने हिन्दुस्तान की सस्कृति, भाषा और विचारधारा पर जो प्रभाव डाला है और उसके विकास मे जो योग दिया है, उस सब को अलग करके किसी भी चीज को आधुनिक युग मे 'भारतीय' नही कहा जा सकता। आँकडे जोडकर या सत्याभासों का इन्द्रजाल रचकर इस तथ्य को नजर-अन्दाज करने की कोशिश करना एक बात है और गम्भीरतापूर्वक विचार करके इन प्रश्नो का हल तलाश करना बिल्कुल दूसरी बात है।

यह सत्य है कि मुसलमान लेखको ने प्रारम्भ मे हिन्दुस्तान की भाषा का 'हिन्दवी' या हिन्दी नाम दिया। और मुसलमान आज भी 'हिन्दी' अथवा 'हिन्दुस्तानी नाम को

स्वीकार कर लेते यदि हिन्दुओ ने अपनी सकीर्ण साम्प्रदायिकता के प्रमाद मे हिन्दू-मुसलमानों की सदियो की सम्मिलित कोशिश से बनायी सयुक्त भाषा उर्दू को मिटाकर उसके स्थान पर एक नयी सस्कृतगर्भित शैली चलाने की चेष्टा न की होती। हिन्दू-राष्ट्रवादी इतिहास की चरखी को पीछे घुमाना चाहते है, मुसलमान इसे कैसे स्वीकार कर सकते है ?

सर्वविदित है कि आदि से अन्त तक मुसलमानो के राजत्वकाल मे राजकीय भाषा फारसी ही रही। किसी देशी भाषा को उन्होने यह गौरव-पद नही दिया, जैसे अग्रेजी शासन मे राजकीय भाषा अग्रेजी है। अत मुस्लिम शासको द्वारा गढी अथवा प्रोत्साहन दी गयी भाषा उर्दू नही है। एक प्रकार से उर्दू की तो दरबारो मे सदैव उपेक्षा ही की जाती रही। कारण स्पष्ट है कि उर्दू मुसलमानो की खास भाषा नही थी, बल्कि दो सस्कृतियो के स्वाभाविक मेल से विकसित आम जनता की भाषा थी, और शासकगण यह अपनी शान के खिलाफ समझते थे कि वे आम जनता की भाषा को राजकीय पद प्रदान करे।

उर्दू तुर्की जबान का लफ्ज है, इसके अर्थ लश्कर (छावनी) होते है। प्रारम्भ मे तुर्क और मुगल बादशाह छावनी मे रहते थे। इन छावनियो मे राजकाज और व्यापार के सिलसिले मे हिन्दू एक बडी तादाद मे मुसलमानो के सम्पर्क मे आते थे और यद्यपि राजकीय भाषा फारसी थी, पर हिन्दू-मुसलमान आपस मे देशी भाषा ही बोलते थे। स्वाभाविक है कि इस आदान-प्रदान मे यहाँ की देशी भाषा (दिल्ली के आसपास की बोली--खडी बोली) मे अनेक फारसी, अरबी और तुर्की के शब्द घुलमिल गये। सदियो तक यह मिश्रण होता रहा और उत्तर भारत और हैदराबाद (दक्खिन) मे हिन्दू-मुसलमानो की एक सम्मिलित भाषा का रूप विकसित होता गया। इस भाषा की जमीन खडी बोली थी, व्याकरण और वाक्य-विन्यास भी खडी बोली का ही था, केवल अरबी-फारसी के योग से इस भाषा का एक नया साहित्यिक सुन्दर, समन्वित रूप निखर आया। यही भाषा आगे चलकर 'उर्दू' कहलाई।

इस प्रकार उर्दू उत्तर भारत के हिन्दू और मुसलमान दोनो की सम्मिलित भाषा है। आज भी काश्मीर, पश्चिमोत्तर प्रान्त, सिन्ध, पजाब और मध्यदेश के हिन्दू-मुसलमानों की लिखने-पढने और बोल-चाल की भाषा उर्दू है। हिन्दी कोई स्वतन्त्र भाषा नही है, क्योंकि उर्दू मे से फारसी-अरबी के शब्द निकाल कर सस्कृत के तत्सम शब्द ठूँस देने से ही हिन्दी शैली बन जाती है, जो सर्वथा कृत्रिम, कष्टसाध्य और अस्वाभाविक है। हिन्दू-सम्प्रदायी 'हिन्दी' का झण्डा खडा करके हिन्दू-मुसलमानो के बीच विग्रह का बीज बो रहे है। ऐसी स्थिति मे मुसलमानो को 'हिन्दी' नाम कभी भी स्वीकार नही हो सकता। हिन्दी का नाम मुसलमानो की सस्कृति और उनके योगदान के प्रति कुटिल तिरस्कार का सूचक है। उर्दू आज भी हिन्दू-मुसलमानो की सम्मिलित भाषा है। 'हिन्दुस्तानी' का नाम उर्दू वाले स्वीकार कर लेते परन्तु महात्मा गान्धी से लेकर अन्य सभी हिन्दुस्तानी के समर्थक हिन्दुस्तानी का अर्थ वस्तुत: हिन्दी ही लगाते है, अत: हिन्दुस्तानी जैसे श्रुतिमधुर, निष्पक्ष शब्द

भी हिन्दुओ के षड्यन्त्र की गन्ध आने लगी है।

व्यावहारिक—उर्दू नाम उत्तर भारत के हिन्दुओ को भी मजूर रहा है। उर्दू नाम किसी अन्य नाम से कम प्रचलित नही है, बल्कि उत्तर और पश्चिमोत्तर मे तो उर्दू नाम ही प्रचलित है। उर्दू नाम दो जातियो की सस्कृतियो के सगम का प्रतीक है अत सर्वमान्य होना चाहिए।

किसी देश के नाम पर ही एक भाषा का भी नाम हो यह कोई अनिवार्य नियम नही है। सयुक्त राष्ट्र अमरीका की भाषा अमरीकी नही बल्कि अँग्रेजी है। अत **हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी नाम मे हिन्द अथवा हिन्दुस्तान से साम्य बैठा करके** हिन्दू साम्प्रदायिकता के एकागी दृष्टिकोण को औचित्य प्रदान करने की खातिर अधिक व्यापक सास्कृतिक हेतु को तिलाजलि नही दी जा सकती।

उर्दू नाम स्वीकार करने मे कोई व्यावहारिक कठिनाई नही उत्पन्न होगी, उलटे यह हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतीक और स्मारक को नयी प्रतिष्ठा देना होगा।

(ख) **कौमी जबान का स्वरूप उर्दू हो**—ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टि से कौमी जबान का स्वरूप उर्दू होना ही उपयुक्त है।

ऐतिहासिक—उर्दू हिन्दुओ और मुसलमानो की सामान्य भाषा रही है। यही कारण है कि जब मुगल शासन के पश्चात् अँग्रेजी हुकूमत आयी और उसे एक ऐसी सर्वमान्य भाषा की जरूरत पडी जिसके द्वारा दफ्तरो और कचहरियो का काम चलाया जा सके तो उन्होने उर्दू को ही चुना। सन् १८३५ मे उर्दू अदालतो मे मजूर कर ली गयी। उस समय किसी हिन्दू ने उसका विरोध नही किया, बल्कि उसके २६ वर्ष बाद बगाल, बिहार और उडीसा के हिन्दू जमीदारो और दूसरे लोगों ने वायसराय से लिखकर अनुरोध किया कि उनके प्रान्तो मे भी उर्दू को अदालती-भाषा बना दिया जाय। विग्रह का बीज तो सर्वप्रथम फोर्ट विलियम कॉलेज मे बोया गया जब डॉ० जॉनगिलक्राइस्ट ने सदलमिश्र और लल्लूलाल को आदेश दिया कि वे ब्रजभाषा की पुस्तको का अनुवाद खडी बोली मे करे और ऐसी भाषा गढने की कोशिश करे जो हिन्दुओ की भाषा बन सके और तत्काल प्रचलित दोनों की सम्मिलित भाषा उर्दू का स्थान ले सके। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के लेखक एफ़ ई. की ने भी इस बात को स्वीकार किया है और लिखा है कि उर्दू मे से फारसी के शब्दो को निकालकर और सस्कृत के शब्द भरकर हिन्दुओ के लिए हिन्दी भाषा गढी गयी। वस्तुत यह एक नयी भाषा थी। विग्रह का यह बीज सन् १८५७ के गदर के पश्चात् पनपा और उसका अकुर दिखायी पडने लगा। वैदिक सस्कृति को पुनरुज्जीवित करने के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायियो ने सस्कृत का जोर-शोर से प्रचार शुरू किया। गुरुकुल खुलने लगे, हिन्दू-साम्प्रदायिकता का झडा लेकर आर्य-समाजो की स्थापना होने लगी। स्वामी दयानन्द ने अपना सत्यार्थ प्रकाश सस्कृत-गर्भित खडी बोली मे लिखा। धर्म-प्रचारक ईसाइयो ने भी इस नयी बोली को चलाने मे हिन्दुओ की कम सहायता नही की। उन्होने हिन्दी मे इजील के अनुवाद प्रकाशित किये। अँग्रेजो

ने स्वय हिन्दुओ को अपने लिए अलग हिन्दी-भाषा का निर्माण करने के लिए प्रोत्साहित किया। प्रो० मेक्समूलर, मदाम ब्लेवत्स्की, एनीबेसट और कर्नल अल्काट ने विशेषकर अपने लेखो द्वारा हिन्दुओ की पृथकतावादी साम्प्रदायिकता को प्रेरणा दी। सन् १८६७ के लगभग बिहार मे हिन्दी के लिए आन्दोलन शुरू हो गया। परन्तु हिन्दी मे उस समय उर्दू की तरह उच्चकोटि का पद्य या गद्य साहित्य का अभाव था, इस कारण शिक्षालयो के लिए पुस्तको के बिना कोरा आन्दोलन कब तक चलाया जा सकता था। अत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन अनेक हिन्दू लेखको ने हिन्दी मे समाचार पत्र और पत्रिकाएँ निकाली, पुस्तको की रचना बडी लगन के साथ शुरू कर दी और हिन्दी-आन्दोलन कुछ समय तक मध्यम पडा रहा। परन्तु जब पण्डित मदनमोहन मालवीय ने 'शुद्धि' और 'सगठन' आन्दोलन शुरू किये तब हिन्दी को राजकीय भाषा बनाने के लिए भी एक व्यापक कार्यक्रम बनाया और इससे हिन्दी-आन्दोलन मे पुन जान पड गयी। यहाँ तक कि मध्यदेश के बाहर पजाब और पश्चिमोत्तर प्रान्त के हिन्दुओ तक मे हिन्दी प्रेम उमड पडा, यद्यपि पहले उन्होने कभी हिन्दी का नाम भी नही सुना था और अपने घरो मे वे सदियो से उर्दू ही बोलते आये थे। यह साबित करने की कोशिश की गयी कि उर्दू मुसलमानो की भाषा है, अत विदेशी और अभारतीय है। वस्तुत सत्य इसके विपरीत है। मुसलमानो की अपनी भाषा फारसी थी, परन्तु उन्होने हिन्दुस्तान मे आकर अपनी भाषा त्यागकर यही की भाषा अपना ली थी। अरबी-फारसी के शब्दो के मिश्रण से तो यहाँ की भाषा की अभिव्यजना शक्ति ही बढी। वह अधिक बारीक-बुलन्द खयालो को व्यक्त करने योग्य बन गयी। यह नयी भाषा उर्दू सस्कृत-फारसी से बनी थी, अत कदापि अकेले मुसलमानो की भाषा न थी। परन्तु एक राष्ट्रीयता के लिए एक राष्ट्रभाषा के समर्थक वस्तुत साम्प्रदायिक भावनाओ से प्रेरित थे और वे हिन्दुओ के लिए एक नयी भाषा गढकर भारत की एकता की जडे स्वय खोद रहे थे। सरसैयद अहमदखाँ आदि ने इसका भरसक विरोध किया, परन्तु हिन्दू साम्प्रदायिकता के उन्माद मे किसी को सत्य न दिखायी दिया और हिन्दी-उर्दू का व्यवधान बढता गया, यहाँ तक कि अब हिन्दी इतनी सस्कृतमय हो गयी है कि आम जनता उसको समझ ही नही सकती। वह केवल शिक्षित हिन्दुओ के साम्प्रदायिक अहकार को ही सन्तुष्ट करती है। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि सन् १९०० मे हिन्दी भी उर्दू के समान ही अदालती भाषा मान ली गयी और दफ्तरो मे उसका प्रयोग होने लगा। हिन्दी प्रचार के लिए सन् १९१० मे हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की नीव डाली गयी और तब से काँग्रेस के नेता और दूसरे हिन्दू नेता उसमे प्रमुख भाग लेते रहे है। काँग्रेस ने सन् १९३१ के प्रस्ताव मे 'हिन्दुस्तानी' को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया, परन्तु गाँधीजी ने सन् १९३६ मे भारतीय परिषद् के नागपुर अधिवेशन से राष्ट्रभाषा का नाम 'हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी' पास करवाया। जब मौलमी अब्दुलहक आदि ने इसका विरोध किया तो गाँधीजी को अपनी त्रुटि का ज्ञान हुआ। परन्तु वे बहुत देर से 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक बने जबकि ऐसा करना उर्दू के खिलाफ मोर्चा बदलना मात्र था, हिन्दी-उर्दू समस्या का हल नही था। गाँधीजी अब

सम्मेलन से अलग हो गये है, क्योकि वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने मे असमर्थ है। किन्तु उर्दू-हिन्दी के भेद को बढाने मे उनका कितना बडा हाथ है, इसका वे स्वय अनुमान नही लगा सकते। इसी की प्रतिक्रिया हुई कि मुस्लिम लीग ने भी राष्ट्रभाषा के प्रश्न मे दिलचस्पी ली और उर्दू के पक्ष मे सन् १९३८ के लखनऊ अधिवेशन मे प्रस्ताव पास कर दिया। सर तेजबहादुर सप्रू जैसे निष्पक्ष व्यक्ति भी हिन्दी वालो की सकीर्ण मनोवृत्ति से क्षुब्ध है, और उन्होने अजुमन तरक्की-ए-उर्दू के सभापति पद से अपील की कि जाति-धर्म का विचार न करके सभी विचारशील लोगो को चाहिए कि वे हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियो की एकता के इस पवित्र सबल 'उर्दू' को हाथ से गिरने न दे।

भाषा-शास्त्रीय——भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से देखने का तात्पर्य यह नही है कि ११वी सदी की 'भारतीयता' की कसौटी पर हिन्दुस्तान की अन्य भाषाओ से उर्दू का साम्य अथवा असाम्य सिद्ध किया जावे। यह भाषाशास्त्र का ऐतिहासिक मूल्याकन करना नही होगा। भाषाओ के इतिहास को एक गत्यात्मक विकास-क्रम के रूप मे देखना चाहिए जिसमे नये प्रभाव अपनी प्रक्रिया से विकास की नयी दिशाएँ खोल देते है। पिछले १ हजार वर्ष हिन्दुस्तान के इतिहास मे इस दृष्टि से अपूर्व रहे है। इस बीच भाषा, न्याय, रहन-सहन, नैतिक आचार-विचार, साहित्य और कला के आदर्श इन सभी क्षेत्रो मे दो महान सस्कृतियो (हिन्दू और मुस्लिम अथवा आर्य और सामी) का सगम होता रहा है। हमारी मौजूदा जिन्दगी के हर पहलू पर इस मिश्रण की अमिट छाप है। इसी का परिणाम है कि देश की समस्त भाषाओ मे अरबी और फारसी के हजारो शब्द इस तरह घुलमिल गये है जैसे यही के हो। द्राविडी-कुल की भाषाओ तक मे अरबी-फारसी के शब्द व्यवहृत होने लगे है, बगाली, गुजराती, मराठी, बिहारी और हिन्दुस्तानी भाषाओ की बात तो अलग है, और पजाबी, सिधी, काश्मीरी आदि भाषाओ पर अरबी-फारसी का बहुत गहरा प्रभाव है। इस प्रभाव को अस्वीकृत करके हिन्दुस्तान की भाषाओ मे 'शुद्धि' का आन्दोलन चलाना और अरबी-फारसी के शब्दो का बहिष्कार करना एक प्रकार से हिटलर की यहूदियो के प्रति बरती गयी नीति को भाषा के क्षेत्र मे ग्रहण करना है।

उर्दू एक विदेशी भाषा है, उसमे अरबी-फारसी के शब्दों की बहुलता है——आदि भ्रान्तियो का खण्डन करना सरल है। सैयद अहमद देहलवी के प्रसिद्ध उर्दू शब्द-कोश 'फरहग आसफिया' के अनुसार उर्दू के ५४००९ शब्दो मे २१६४४ शब्द पश्चिमी हिन्दी, पजाबी और पूर्वी हिन्दी आदि के है, १७५०५ शब्द उर्दू तथा अन्य भाषाओं से मिलकर बने है। इस प्रकार ठेठ और व्युत्पन्न भारतीय शब्दो की सख्या ३९१४९ है। बाकी शब्दों मे ७५८४ अरबी के है, ६०४१ फारसी के, ५५४ सस्कृत के, ५०० अँग्रेजी के, और तुर्की. इबरानी, सुरयानी, यूनानी, पुर्तगाली, लातीनी, फ्रासीसी, पाली, बर्मी, मलयालम, हस्पानबी आदि के मिलाकर कुल १८७ शब्द है। सामी भाषाएँ आर्य परिवार के बाहर की है। उनके (अरबी-सुरयानी) कुल ७६०२ शब्द उर्दू मे है, आर्य-भाषाओ (हिन्दी, सस्कृत, फ़ारसी) के शब्द इससे ६ गुना ज्यादा है। इससे सिद्ध है कि यद्यपि उर्दू आर्य और सामी भाषाओ का मिश्रित रूप है परन्तु

उसमे दोनों का अनुपात ६ और १ है, जिसके कारण वस्तुत: उर्दू एक आर्य-भाषा ही है। उर्दू के व्याकरण से भी यही सिद्ध है कि वह आर्य-परिवार की ही भाषा है क्योकि उसकी जमीन खडी बोली है और खडी बोली के व्याकरण के अनुसार ही उर्दू के क्रिया, सर्वनाम, प्रत्यय, अव्यय आदि है। विलक्षण बात यह है कि 'फरहग-आसफिया' के पश्चात् काशी नागरी-प्रचारणी सभा से प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी शब्द सागर' मे, जिसमे शब्दो की सख्या ९३११५ है, 'फरहग-आसफिया' के हिन्दी-उर्दू के प्राय सभी शब्द सम्मिलित किये गए है। स्पष्ट है कि किसी उर्दू निबन्ध मे से जिन शब्दो को चुन-चुनकर उनके प्रयोग का हिन्दी वाले विरोध करते है वे सब शब्द स्वय उनके हिन्दी शब्दसागर मे मिलते है। उदाहरण के लिए असासुल्बैत, आमेजिश, आजुर्दा, आकवत, इस्तेदाद, इजमाल, इतलाक, इताअत, इत्तिहाम, इनफिसाल आदि। हिन्दी शब्दसागर के विद्वान कोषकारो ने इन शब्दो को वर्जित क्यो नही ठहराया ? क्या इससे यह सिद्ध नही है कि ये शब्द आमफहम हो गये है और यहाँ की भाषा मे घुलमिल गये है ? परन्तु व्यवहार मे इन शब्दो का बहिष्कार करके हिन्दू-मुसलमानो के सामान्य इतिहास की परम्पराओ को नष्ट करने की चेष्टा की जाती है, और उर्दू से अलग एक सस्कृतनिष्ठ शैली चलाकर हिन्दुओ के लिए एक अलग भाषा गढने की कुघड कोशिश हो रही है। 'बल्कि' के स्थान पर 'किन्तु', लेकिन' की जगह 'परन्तु', 'जैसे' की जगह 'यथा' आदि का प्रयोग इस मनोवृत्ति के साधारण उदाहरण है।

व्यावहारिक—उर्दू पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त से लेकर सुदूर दक्खिन और पूरब तक अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की भाषा बन चुकी है, इसे सभी स्वीकार करते है क्योकि उर्दू सबसे आमफहम भाषा है। अखिल भारतीय कान्फ्रेन्सो मे भाषण देते समय ववता उर्दू भाषा मे ही बोलते है। आज भी उर्दू की समस्त परीक्षाओ मे बैठने वाले विद्यार्थियो की सख्या मे हिन्दू विद्यार्थियो का अनुपात मुसलमानो से बहुत कम नही रहता। हिन्दी-परीक्षाओ मे कदाचित् ही कभी कोई मुसलमान बैठता हो। सन् १९३१ की जन-गणना से सिद्ध है कि उर्दू बोलने और समझने वालो की सख्या २५ करोड से ज्यादा है। अत यदि हिन्दू-सम्प्रदायवादी मुस्लिम-सस्कृति और साहित्य के प्रति थोडा सम्मान दिखाने को तैयार हो तो उर्दू को राष्ट्रभाषा मान लेने से कोई व्यावहारिक कठिनाई उत्पन्न होने की सभावना नही है।

(ग) लिपि : क़ौमी रस्मुलख़त फ़ारसी हो। ऐतिहासिक और व्यावहारिक दृष्टि से फारसी लिपि का ही प्रयोग समीचीन होगा।

ऐतिहासिक—फारसी लिपि कई सौ वर्षो तक राष्ट्र लिपि रह चुकी है। मुसलमान शासको के काल मे राजकीय कार्यों मे फारसी लिपि ही चलती थी। अँग्रेजो ने भी प्रारम्भ मे राजकीय कार्यों के लिए उर्दू लिपि को ही स्वीकार किया। इससे कभी किसी को कोई कठिनाई नही हुई और न इससे अन्य भाषाओ के विकास पर कोई बुरा प्रभाव ही पडा। प्रान्तीय भाषाओ का साहित्य उनकी अपनी लिपियो मे ही लिखा जाता रहा। जो लिपि हिन्दू और मुसलमानो द्वारा समान रूप से प्रयुक्त होती रही है उसे हिन्दू सम्प्रदाय-वादियो के दुराग्रह से छोडकर एक ऐसी लिपि को स्वीकार करना जो हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की नही

वरन् उनके पृथकत्व की प्रतीक है, सच्ची राष्ट्रीयता नही है। वस्तुत उर्दू लिपि ज्यो-की-त्यो फारसी लिपि नही है वरन् भारतीय ध्वनियो के लिए आवश्यक सकेत चिन्ह जोडकर फारसी लिपि का रूपान्तर करके बनी है, इस प्रकार यह लिपि आर्य-सामी भाषाओ के मिश्रण से उत्पन्न उनके ध्वनि-सामजस्य को प्रकट करती है। देवनागरी लिपि मे यह बात नही है।

व्यावहारिक—फारसी लिपि दाहिनी ओर से बायी ओर को लिखी जाती है जिसके कारण लिखने मे सुविधा होती है। दाहिना हाथ स्वाभाविक रीति से बायी ओर को चलता है। दूसरे जिसे द्रुत-गति से उर्दू लिपि लिखी जाती है उतनी द्रुत-गति से अन्य कोई लिपि नही लिखी जाती।

इसमे सन्देह नही है कि इन गुणो के होते हुए भी उर्दू लिपि मे अपूर्णताएं और जटिलताएँ है। उर्दू के भाषा शास्त्री उनके प्रति उदासीन नही है। अजुमन तरक्की ए-उर्दू की ओर से 'इसलाह रस्मुल खत' (लिपि-सुधार) की चेष्टा की जा रही है। उर्दू लिपि को सुधार कर ऐसा बनाया जा सकता है कि वह छापेखाने की सुविधाओ के अनुकूल भी हो और अक्षरो के उच्चारण और लिखावट मे भी कोई दिक्कत न हो।

यदि हिन्दी वाले उर्दू लिपि को स्वीकार नही कर सकते तो फिर उचित होगा कि इस झगडे को दफनाने के लिए रोमन लिपि को कौमी रस्मुलखत मान लिया जाय। परन्तु इसमे व्यावहारिक कठिनाइयाँ ज्यादा पैदा होगी।

संक्षेप मे उर्दू वालो का दावा है कि उर्दू (अरबी-फारसी मिश्रित खड़ी बोली) ही समूचे भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है और उर्दू लिपि ही राष्ट्र-लिपि बन सकती है।

तीन : हिन्दुस्तानी—(क) **राष्ट्र-भाषा का नाम हिन्दुस्तानी हो।** ऐतिहासिक और व्यावहारिक दृष्टि से यही नाम समीचीन है।

ऐतिहासिक—हिन्दुस्तानी नाम का प्रयोग सबसे पहले पुर्तगालियो और अग्रेजो ने उत्तर-भारत के हिन्दू-मुसलमानो की सम्मिलित भाषा के लिए किया। तब से हिन्दुस्तानी नाम इसी अर्थ मे प्रयोग मे आ रहा है। वास्तव मे हिन्दुस्तानी ही मूल बोली है जिसकी दो शैलियाँ बन गयी है, एक अरबी-फारसी के प्रभाव से उर्दू, और दूसरी सस्कृति के प्रभाव से हिन्दी। जॉन गिलक्राइस्ट ने स्वय हिन्दुस्तानी भाषा के सम्बन्ध मे सोलह पुस्तके लिखी और फोर्ट विलियम कॉलेज मे हिन्दुस्तानी भाषा मे पुस्तके अनुवाद कराने के लिए पण्डित सदल मिश्र और पण्डित लल्लूलाल और मीर 'अम्मन' देहलवी आदि को नियुक्त किया। डॉ० ग्रियर्सन ने हिन्दुस्तानी की व्याख्या देते हुए लिखा है कि हिन्दुस्तानी मुख्यत उत्तरी दो आब (अन्तर्वेद) की भाषा है, पर साथ ही समस्त भारत की राष्ट्रभाषा भी। उसे दोनो देवनागरी और फारसी लिपियो मे लिखा जा सकता है, और साहित्य के लिए प्रयोग करते समय विशुद्धता पर जोर न देकर उसे अत्यधिक फारसी अथवा सस्कृतनिष्ठता से बचाया जा सकता है।

व्यावहारिक—हिन्दुस्तानी नाम व्यावहारिक दृष्टि से इसलिए भी उपयुक्त है कि

इस समय हिन्दी और उर्दू से जिन भाषा-शैलियों का बोध होता है उनमें से कोई अकेली समस्त भारत की राष्ट्रभाषा के लिए पर्याप्त रूप से व्यापक और मान्य नहीं है। हिन्दू 'उर्दू' शब्द को स्वीकार नहीं कर सकते, यद्यपि उर्दू केवल मुसलमानों की भाषा नहीं है। और मुसलमान 'हिन्दी' शब्द को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि हिन्दुओं ने सामान्य भाषा हिन्दुस्तानी को संस्कृतमयी बना कर उसका एक विशेष संस्कृति और धर्म से गठबन्धन कर दिया है। अत हिन्दुस्तानी शब्द ही सबको समान रूप से मान्य हो सकता है।

(ख) **राष्ट्रभाषा का स्वरूप हिन्दुस्तानी हो।** ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टि से राष्ट्रभाषा का हिन्दुस्तानी स्वरूप ही उपयुक्त है।

ऐतिहासिक—हिन्दुस्तानी में पर्याप्त साहित्य मिलता है। मुन्शी इन्शाअल्लाह की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दुस्तानी भाषा में ही लिखी गयी है। इनके अतिरिक्त सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास, बिहारी, नाथूराम शंकर शर्मा आदि अनेक प्राचीन और अर्वाचीन हिन्दी कवियों की पर्याप्त संख्या में ऐसी कविताएं मिलती हैं जिनमें भाषा का आदर्श सरल, सुबोध हिन्दी-उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी भाषा रहा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर प० महावीरप्रसाद द्विवेदी तक के हिन्दी लेखक भी अपने निबन्धों और कविताओं में उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं। प्रेमचन्द की भाषा को हिन्दुस्तानी की आदर्श भाषा कह सकते हैं। इसी प्रकार उर्दू के प्रसिद्ध कवियों वली, सौदा, मीर, इन्शा, जफर, नजीर, हाली और अकबर की कविताओं में हिन्दुस्तानी के श्रेष्ठ नमूने मिलते हैं।

भाषा-शास्त्रीय—भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से हिन्दुस्तानी वह भाषा है अथवा होगी जिसमें खड़ी बोली के ठेठ शब्दों के अतिरिक्त फारसी-अरबी के वे सब शब्द जिनका प्रयोग हिन्दी लेखकों और कवियों ने किया है तथा संस्कृत के वे शब्द जिनका प्रयोग उर्दू लेखकों और कवियों ने किया है—अर्थात् अरबी, फारसी और संस्कृत के समान रूप से हिन्दू-मुसलमानों में प्रचलित शब्द—प्रयोग में आते हैं अथवा आयेंगे। इसमें भाषा को कुरूप और विरूप बनाने का प्रश्न नहीं उठता। प्रत्युत इससे भाषा अधिक सरल, सुबोध, मधुर और प्रसाद-गुणयुक्त बन जायगी। इस प्रकार के शब्दों का एक प्रामाणिक शब्द-कोश तैयार करना परम आवश्यक है। उसमें एक ही शब्द के लिए कई पर्यायवाची शब्द भी रहेंगे, परन्तु इससे भाषा की समृद्धि ही प्रकट होगी। पारिभाषिक शब्दों के लिये संस्कृत, अरबी और अंग्रेजी, तीनों से मुक्त हृदय से शब्द उधार लिये जा सकेंगे।

व्यावहारिक—व्यावहारिक दृष्टि से हिन्दुस्तानी ही सबसे अधिक प्रचलित भाषा है। वक्ता हिन्दू मुसलमानों की सम्मिलित सभाओं में हिन्दुस्तानी में ही बोलकर जनता को अपना मन्तव्य समझा पाते हैं। आमतौर पर अन्तरप्रान्तीय व्यवहार में लोग हिन्दुस्तानी का ही प्रयोग करते हैं और रोजमर्रा की बोलचाल में भी हिन्दुस्तानी का ही प्रयोग होता है, संस्कृतमयी अथवा अरबी-फारसीमयी भाषा का प्रयोग पण्डितों और मौलवियों के घरों में भी नहीं होता। इसके अतिरिक्त हिन्दू-मुसलिम संस्कृतियों में से किसी एक के प्रति पक्षपात की बू हिन्दुस्तानी में नहीं मिलती। वह दोनों के योगदान को स्वीकार करती है

और उसे अभिव्यक्ति देती है। इसमे सन्देह नही है कि वर्तमान स्थिति मे हिन्दुस्तानी का कोई सार्वदेशिक आदर्श रूप नही हो सकेगा। उत्तर भारत मे उर्दू की अधिक पुट होगी और मध्य और दक्षिण-पूर्व भारत मे उसमे सस्कृत की अधिक पुट होगी। अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की सुविधा के लिए यह अनिवार्य होगा।

हिन्दी और उर्दू अपना स्वतन्त्र विकास करने के लिए स्वाधीन होगी। वस्तुत वे ही साहित्य की भाषाएँ होगी, हिन्दुस्तानी केवल राजकीय और अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की भाषा होगी।

(ग) **राष्ट्रलिपि देवनागरी और उर्दू दोनों हों।** व्यावहारिक दृष्टि से दोनो ही लिपियो का रखना अपेक्षित है।

राष्ट्रभाषा का प्रश्न अन्ततोगत्वा हिन्दू-मुस्लिम समस्या का प्रश्न भी है। इस समय जैसी स्थिति है दोनो मे से कोई एक लिपि सर्वमान्य नही हो सकती। इस कारण दोनो लिपियो का रखना अनिवार्य होगा।

राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी का दोनो लिपियो मे प्रचार करने के लिए जरूरी है कि प्रत्येक व्यक्ति दोनो लिपियाँ सीखे। इससे हिन्दी-उर्दू का शैली-भेद भी धीरे-धीरे कम होता जायगा। और सम्भव है कि राष्ट्रीयता का पूर्ण विकास होने पर दोनो धाराएँ मिलकर एक हो जाँय और समूचे भारत की एक ही राष्ट्रभाषा और एक ही लिपि बन जाय।

संक्षेप मे हिन्दुस्तानी वालों का दावा है कि हिन्दुस्तानी (प्रचलित अरबी, फारसी, सस्कृत मिश्रित खड़ी बोली) समूचे भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है और दोनों देवनागरी और फ़ारसी लिपियाँ समान भाव से राष्ट्रलिपियाँ मानी जायँ।

हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी के समर्थक अपने दावो को हमेशा इतने धीरज और तार्किकता से नही समझाते, ऐसा उपक्रम तो वे तभी करते है जब विवाद पत्र-पत्रिकाओ मे चलता है और उसमे कोरी भावुकता और प्रमादभरी उक्तियो का कोई प्रचार-मूल्य नही रहता। अन्यथा सम्मेलनो और सभाओ के मचो से जो गलेबाजी की जाती है उसमे अपने हर विपक्षी को भाषण-कला की सहज-रीति के अनुसार लाछनो और आरोपो से मढ दिया जाता है, एक बडे षड्यन्त्र या कुचक्र की चेतावनियाँ दी जाती है और जो विषय शान्त वातावरण मे गम्भीरतापूर्वक विद्वानो द्वारा सोचने समझने का है, उसे साम्प्रदायिक भावनाएँ उभारने का साधन बना लिया जाता है। यह दिन-प्रतिदिन की बात है। [illegible] सम्मेलन और अजुमन तरक्की-ए-उर्दू दोनो ही इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देते है और अपने-अपने दोषो की गठरी दूसरे के सिर पर पटककर स्वय निर्दोष होने का पाखण्ड रचते है। अबौद्धिकता ही जैसे तीनो दलो का मूलमन्त्र है। हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी का विवाद राजा लक्ष्मणसिह अथवा उनसे भी पहले से चला आ रहा है, इस पर सहस्रो पृष्ठ रँगे जा चुके है, हजारो सभा-मचो से धुआधार भाषण दिये गये है, अनेक कॉन्फ्रेन्सो और सम्मेलनो मे कथित विद्वानो ने इस प्रश्न पर सोचा है और परामर्श दिये है, परन्तु इस समस्या का जो रूप पहले था, उससे आज और ज्यादा उग्र हो गया है, जो तर्क पहले दिये जाते रहे है, वे

ही आज भी दिये जाते है, जो लांछन और आरोप पहले लगाये जाते थे, वे आज भी वैसे ही लगाये जाते है। अर्थात् इन तीनो दलो के कर्णधारो की समझ एक ही स्थान पर अड्डद का पाँव रोपकर बैठ गयी है और अब बस अनियन्त्रित उद्‌गारो और आवेशपूर्ण भावनाओ का विस्फोट ही आये दिन इस बात की साक्षी देता रहता है कि यह समझ एकदम जड नही हो गयी है।

बहुधा सूक्ष्म भाव चेतना के सुसस्कृत विचारको को जब इस विवाद मे साग्रह घसीट लिया गया है तब उन्होने इसके विषाक्त वातावरण से खिन्न होकर प्रतिवाद किया है कि इस बहस मे तरह-तरह के अनधिकारी व्यक्ति घुस आये है, और विभिन्न विरोधी राजनीतिक दलो के नेताओ और कार्यकर्त्ताओ ने तो जैसे इन बहसो के मच पर कब्जा ही जमा लिया है। कोई किसी की बात नही सुनना चाहता, जब कि राष्ट्रभाषा क्या हो, क्या न हो, एक अत्यन्त व्यापक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और भाषाशास्त्री और शिक्षाविद् ही मिलकर इसका कोई सर्वमान्य उत्तर दे सकते है। जिस प्रश्न का निर्णय बुद्धि और विज्ञान को करना चाहिए था, उसका निर्णय लोग अपने-अपने दल की ताकत के बल पर करना चाहते है। राजनीतिज्ञो ने इस विवाद मे पाँव रखकर राष्ट्रभाषा के प्रश्न को हिन्दू-मुस्लिम समस्या का एक अग बना दिया है। और जब तक हिन्दू-मुस्लिम समस्या का कोई हल नही हो पाता, तब तक इस प्रश्न का हल भी असम्भव रहेगा।

हमारी दृष्टि मे राष्ट्रभाषा के विवाद मे राजनीतिज्ञो का प्रवेश क्षोभ का कारण नही बनना चाहिए, क्योकि राष्ट्रभाषा की आवश्यकता हमारे लिए तभी अनिवार्य हो सकी जब देश मे राष्ट्रीय जागरण एक सीमा तक पहुँच गया। सामान्य राजनोतिक आकाक्षा की अभिव्यक्ति के लिए एक सामान्य राष्ट्रभाषा का अभीष्ट हो जाना स्वाभाविक है। और इस सम्बन्ध मे जो विवाद उठे, उससे राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओ और विचारको का तटस्थ रहना अनपेक्षित होता। क्षोभ केवल इस बात पर किया जा सकता है कि राजनीतिक कार्यकर्त्ताओ ने इस विवाद मे तर्क की राजनीतिक विधि से ही काम लिया, पूर्व-निश्चित धारणाओ को लेकर वे आग्रह-दुराग्रह मे पड गये। उन्होने यह नही विचारा कि भाषा का प्रश्न राजनीतिक नही, वरन् सास्कृतिक क्षेत्र का प्रश्न है, अत. उसमे यथावसर कामचलाऊ समाधान ढूँढने से काम नही चल सकेगा। उनका सोचने-समझने का तरीका इतना सरल और साधारण है कि उसका प्रभाव भाषा-शास्त्रियो और शिक्षाविदो पर भी पडा है जिससे भाषा-शास्त्रियो ने समझा कि राष्ट्रभाषा क्या हो, क्या न हो, का प्रश्न वस्तुत भाषा का प्रश्न नही वरन् बीजगणित अथवा अकगणित का प्रश्न है और प्रत्येक दल के भाषाविद् अको की गणना करके विपक्षी भाषाओ के मुकाबले मे अपनी भाषा के दावे का औचित्य सिद्ध करने लगे। इस प्रकार न भाषा-शास्त्रियो ने और न राजनीतिज्ञो ने ही इस समूचे विवाद का कोई समुचित समाधान उपस्थित करने की कभी कोई गम्भीर चेष्टा की। अपनी पूर्वनिश्चित धारणाओ को प्रमाणित करने मे ही उन्होने अपनी गभीर विचार-शैली की चरम-सिद्धि मान ली। इस बात का प्रमाण यह है कि तीनों दलो के तर्कों, आरोपों

और समाधानो मे एक विलक्षण साम्य है। हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी वाले तीनो पक्ष इतिहास, भाषा-शास्त्र और व्यवहार की कसौटी पर परखवा कर अपने-अपने दावो को न्यायसगत प्रमाणित करते है। तीनो इतिहास की साक्षी देकर यह सिद्ध करते है कि हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी ही राष्ट्रभाषा के लिए सबसे उपयुक्त नाम है। तीनो दलो के अनुसार यथाक्रम प्रत्येक नाम हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक है। प्रत्येक दल का दावा है कि सच्चे अर्थो मे उसकी भाषा भारतीय है, साम्प्रदायिक नही। सन् १६३१ की जन-गणना के आधार पर प्रत्येक भाषा के बोलने वालो की सख्या २५ करोड साबित की जाती है। कभी-कभी बडी मनोरजक घटनाएं भी हो जाती है। श्री कन्हैयालाल मुशी जब महात्मा गाँधी के अनुयायी थे, तब उन्होने सन् १६३१ की जन-गणना के आँकडो के आधार पर हिन्दुस्तानी बोलने वालो की सख्या २५ करोड बताकर हिन्दुस्तानी का दावा पेश किया और इस वर्ष जब वे जयपुर सम्मेलन के सभापति चुन लिये गये तो उन्होने अपने अभि-भाषण मे उसी जन-गणना के आँकडे हिन्दी का दावा सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किये। इस प्रकार इन दावो मे सत्य पर कितना जोर दिया जाता है, यह अनुमेय है। अवसर-सिद्धि मे जो साधन बने, वही सत्य है--कुछ ऐसी नीति तीनो दल प्रयोग मे ला रहे है। प्रत्येक भाषा को १४ करोड की मातृभाषा बताया जाता है। हिन्दी वालो की मान्यता है कि उर्दू कोई पृथक् भाषा नही है, वह केवल हिन्दी की ही फारसी-अरबी-प्रधान एक शैली है। इसके विपरीत उर्दू वाले हिन्दी को कोई भाषा नही मानते, उनके अनुसार वह उर्दू की ही सस्कृत-प्रधान शैली है। हिन्दुस्तानी वाले हिन्दी और उर्दू दोनो को हिन्दुस्तानी की ही दो भिन्न साहित्यिक शैलियाँ सिद्ध करते है। प्रत्येक दल का दावा है कि हिन्दू-मुसलमानो के सम्मिलित प्रयत्न से उसकी भाषा के साहित्य का निर्माण हुआ है। प्रत्येक का सुविचारित अनुमान है कि केवल उसकी ही भाषा व्यावहारिक दृष्टि से समूचे भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है।

इन स्थापनाओ के अतिरिक्त तीनो के एक-दूसरे के विरुद्ध आरोप भी एक-से ही है। हिन्दी वालो की शिकायत है कि उर्दू वाले अरबी-फारसी के शब्द ठूँसकर एक नयी कृत्रिम भाषा गढ रहे है, उर्दू वालो की भी यही शिकायत है कि हिन्दी वाले सस्कृत के तत्सम शब्द ठूँसकर एक कृत्रिम भाषा गढ रहे है और हिन्दुस्तानी वालो को दोनो से शिकायत है कि वे उनकी भाषा की ऐसी खीचतान कर रहे है। हिन्दी वालो की दृष्टि से उर्दू वालो का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक और अराष्ट्रीय है और मुस्लिम साम्प्रदायिकता से प्रेरित है। उर्दू वालो की दृष्टि से हिन्दी वालो का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक और अराष्ट्रीय है, और हिन्दू साम्प्रदायिकता से प्रेरित है। हिन्दुस्तान वालो की दृष्टि से इन दोनो का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक और अराष्ट्रीय है और हिन्दी-उर्दू वालो की सकीर्ण और हीन मनोवृत्ति पर क्षुब्ध होकर वे गहरे आत्म-सतोष की दीर्घ श्वास लेते है कि भगवान की दया से उन्होने अभी तक अपने दामन को पाक रखा है। और उनकी यह आशा कि राष्ट्रीय भावनाओ का व्यापक प्रसार होते ही इस मनोवृत्ति का अन्त हो जायगा, उनको हिन्दी और उर्दू के पृथक्

उत्थान के मूल कारणो की खोज मे अपना मस्तिष्क खपाने से अवकाश दे देती है।

इन दलो की स्थापनाएँ और [illegible] हो, केवल इतना ही नही है। वे जो राष्ट्रभाषा की समस्या का समाधान उपस्थित करते है उनमे भी एक विलक्षण साम्य है। तीनो दल यह अनुभव करते है कि एक अखिल-भारतीय राष्ट्रभाषा की परम आवश्यकता है और वह हिन्दू-मुस्लिम एकता की प्रतीक होनी चाहिए। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये वे इस बात का भी अनुभव करते है कि हिन्दी और उर्दू के बीच का उत्तरोत्तर बढता व्यवधान किसी प्रकार कम होना चाहिए और यदि सभव हो तो दोनो भाषाओ को एक हो जाना चाहिए। इसके लिए बाबू पुरुषोत्तम दास टडन, मौलवी अब्दुल-हक और महात्मा गाधी, तीनो एक सामान्य शब्द-कोष का प्रस्ताव करते है। उनका विचार है कि ऐसे शब्द-कोष के बनते ही जिसमे हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के प्रचलित शब्द सग्रहीत हो, इस समस्या का हल अपने आप हो जायगा। फिर केवल थोडा प्रचार करने की जरूरत रह जायगी ताकि लेखक सस्कृत और फारसी-अरबी के तत्सम शब्दो का बहुल प्रयोग करने का दुराग्रह छोड दे। परन्तु वे साथ ही इस बात का भी अनुभव करते है कि कदाचित् अब यह सम्भव न हो सके। हिन्दी और उर्दू की दो भिन्न शैलियाँ बन चुकी है और सूक्ष्म भावनाओ और दार्शनिक विचारो की अभिव्यक्ति के लिये लेखक तत्सम शब्दो के प्रयोग का मोह न छोडेगे। अत वे इस परिणाम पर पहुँचते है कि राष्ट्रभाषा का आधार बोल-चाल की भाषा हो (हिन्दी वालो के अनुसार हिन्दी, उर्दू वालो के अनुसार उर्दू और हिन्दुस्तानी वालो के अनुसार हिन्दुस्तानी) और उच्च शिक्षा और साहित्य के माध्यम के रूप मे हिन्दी और उर्दू अपने वर्तमान रूप मे ही विकास करती रहे। यदि उर्दू वाले बोल-चाल की हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान ले तो वे साहित्यिक भाषा के रूप मे उर्दू का पृथक् विकास करते रहे, इससे हिन्दी वालो को आपत्ति न होगी। उर्दू वाले कहते है कि हिन्दी वाले यदि बोल-चाल की उर्दू को राष्ट्रभाषा मान ले तो हिन्दी के साहित्यिक विकास से उन्हे कभी कोई आपत्ति न होगी। हिन्दुस्तानी वाले कहते है कि दोनो दल यदि हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर ले तो हिन्दी-उर्दू के पृथक् साहित्यिक-विकास के मार्ग मे वे अवरोध न बनेगे। परन्तु बोल-चाल की भाषा का रूप निश्चित करते समय पुन दुर्निवार कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती है! उत्तर भारत मे उसका जो रूप है वह मध्य और दक्खिन-पूरब भारत मे नही है। अत तीनो दल यह भी स्वीकार करते है कि पश्चिमोत्तर भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी मे उर्दू-फारसी की अधिक पुट रहेगी और दक्षिण अथवा पूरबी भारत मे राष्ट्रभाषा उर्दू पर सस्कृत की छाप अधिक रहेगी। इस प्रकार हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी किसी एक को राष्ट्रभाषा बना देने पर भी उत्तर और दक्षिण की शैलियो मे भेद तो बना ही रहेगा, इस बात को तीनो दल स्वीकार करते है। अत यह सारा विवाद किस लिये है, यह तथ्य भ्रान्ति मे पड जाता है। इस बहस का अध्ययन करके कोई निष्पक्ष व्यक्ति यह नही समझ सकता कि अखिल भारतीय एकता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, सर्वमान्य भाषा आदि शब्दो का इस बहस मे प्रयोग केवल दिखावे के लिए किया जाता है

और समाधानो मे एक विलक्षण साम्य है। हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी वाले तीनो पक्ष इतिहास, भाषा-शास्त्र और व्यवहार की कसौटी पर परखवा कर अपने-अपने दावो को न्यायसगत प्रमाणित करते है। तीनो इतिहास की साक्षी देकर यह सिद्ध करते है कि हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी ही राष्ट्रभाषा के लिए सबसे उपयुक्त नाम है। तीनो दलो के अनुसार यथाक्रम प्रत्येक नाम हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक है। प्रत्येक दल का दावा है कि सच्चे अर्थो मे उसकी भाषा भारतीय है, साम्प्रदायिक नही। सन् १६३१ की जन-गणना के आधार पर प्रत्येक भाषा के बोलने वालो की सख्या २५ करोड साबित की जाती है। कभी-कभी बडी मनोरजक घटनाएं भी हो जाती है। श्री कन्हैयालाल मुशी जब महात्मा गाँधी के अनुयायी थे, तब उन्होने सन् १६३१ की जन-गणना के आँकडो के आधार पर हिन्दुस्तानी बोलने वालो की सख्या २५ करोड बताकर हिन्दुस्तानी का दावा पेश किया और इस वर्ष जब वे जयपुर सम्मेलन के सभापति चुन लिये गये तो उन्होने अपने अभि-भाषण मे उसी जन-गणना के आँकडे हिन्दी का दावा सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किये। इस प्रकार इन दावो मे सत्य पर कितना जोर दिया जाता है, यह अनुमेय है। अवसर-सिद्धि मे जो साधन बने, वही सत्य है--कुछ ऐसी नीति तीनो दल प्रयोग मे ला रहे है। प्रत्येक भाषा को १४ करोड की मातृभाषा बताया जाता है। हिन्दी वालो की मान्यता है कि उर्दू कोई पृथक् भाषा नही है, वह केवल हिन्दी की ही फारसी-अरबी-प्रधान एक शैली है। इसके विपरीत उर्दू वाले हिन्दी को कोई भाषा नही मानते, उनके अनुसार वह उर्दू की ही सस्कृत-प्रधान शैली है। हिन्दुस्तानी वाले हिन्दी और उर्दू दोनो को हिन्दुस्तानी की ही दो भिन्न साहित्यिक शैलियाँ सिद्ध करते है। प्रत्येक दल का दावा है कि हिन्दू-मुसलमानो के सम्मिलित प्रयत्न से उसकी भाषा के साहित्य का निर्माण हुआ है। प्रत्येक का सुविचारित अनुमान है कि केवल उसकी ही भाषा व्यावहारिक दृष्टि से समूचे भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है।

इन स्थापनाओ के अतिरिक्त तीनो के एक-दूसरे के विरुद्ध आरोप भी एक-से ही है। हिन्दी वालो की शिकायत है कि उर्दू वाले अरबी-फारसी के शब्द ठूँसकर एक नयी कृत्रिम भाषा गढ रहे है, उर्दू वालो की भी यही शिकायत है कि हिन्दी वाले सस्कृत के तत्सम शब्द ठूँसकर एक कृत्रिम भाषा गढ रहे है और हिन्दुस्तानी वालो को दोनो से शिकायत है कि वे उनकी भाषा की ऐसी खीचतान कर रहे है। हिन्दी वालो की दृष्टि से उर्दू वालो का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक और अराष्ट्रीय है और मुस्लिम साम्प्रदायिकता से प्रेरित है। उर्दू वालो की दृष्टि मे हिन्दी वालो का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक और अराष्ट्रीय है, और हिन्दू साम्प्रदायिकता मे प्रेरित है। हिन्दुस्तान वालो की दृष्टि से इन दोनो का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक और अराष्ट्रीय है और हिन्दी-उर्दू वालो की सकीर्ण और हीन मनोवृत्ति पर क्षुब्ध होकर वे गहरे आत्म-सतोष की दीर्घ श्वास लेते है कि भगवान की दया से उन्होने अभी तक अपने दामन को पाक रखा है। और उनकी यह आशा कि राष्ट्रीय भावनाओ का व्यापक प्रसार होते ही इस मनोवृत्ति का अन्त हो जायगा, उनको हिन्दी और उर्दू के पृथक्

उत्थान के मूल कारणो की खोज मे अपना मस्तिष्क खपाने से अवकाश दे देती है ।

इन दलो की स्थापनाएँ और एक दूसरे के विरुद्ध आरोप ही एक-से हो, केवल इतना ही नही है । वे जो राष्ट्रभाषा की समस्या का समाधान उपस्थित करते है उनमे भी एक विलक्षण साम्य है । तीनो दल यह अनुभव करते है कि एक अखिल-भारतीय राष्ट्रभाषा की परम आवश्यकता है और वह हिन्दू-मुस्लिम एकता की प्रतीक होनी चाहिए । इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये वे इस बात का भी अनुभव करते है कि हिन्दी और उर्दू के बीच का उत्तरोत्तर बढता व्यवधान किसी प्रकार कम होना चाहिए और यदि सभव हो तो दोनो भाषाओ को एक हो जाना चाहिए । इसके लिए बाबू पुरुषोत्तम दास टडन, मौलवी अब्दुल-हक और महात्मा गाधी, तीनो एक सामान्य शब्द-कोष का प्रस्ताव करते है । उनका विचार है कि ऐसे शब्द-कोष के बनते ही जिसमे हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के प्रचलित शब्द सग्रहीत हो, इस समस्या का हल अपने आप हो जायगा । फिर केवल थोडा प्रचार करने की जरूरत रह जायगी ताकि लेखक सस्कृत और फारसी-अरबी के तत्सम शब्दो का बहुल प्रयोग करने का दुराग्रह छोड दे । परन्तु वे साथ ही इस बात का भी अनुभव करते है कि कदाचित् अब यह सम्भव न हो सके । हिन्दी और उर्दू की दो भिन्न शैलियाँ बन चुकी है और सूक्ष्म भावनाओ और दार्शनिक विचारो की अभिव्यक्ति के लिये लेखक तत्सम शब्दो के प्रयोग का मोह न छोडेगे । अत वे इस परिणाम पर पहुँचते है कि राष्ट्रभाषा का आधार बोल-चाल की भाषा हो (हिन्दी वालो के अनुसार हिन्दी, उर्दू वालो के अनुसार उर्दू और हिन्दुस्तानी वालो के अनुसार हिन्दुस्तानी) और उच्च शिक्षा और साहित्य के माध्यम के रूप मे हिन्दी और उर्दू अपने वर्तमान रूप मे ही विकास करती रहे । यदि उर्दू वाले बोल-चाल की हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान ले तो वे साहित्यिक भाषा के रूप मे उर्दू का पृथक् विकास करते रहे, इससे हिन्दी वालो को आपत्ति न होगी । उर्दू वाले कहते है कि हिन्दी वाले यदि बोल-चाल की उर्दू को राष्ट्रभाषा मान ल तो हिन्दी के साहित्यिक विकास से उन्हे कभी कोई आपत्ति न होगी । हिन्दुस्तानी वाले कहते है कि दोनो दल यदि हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर ले तो हिन्दी-उर्दू के पृथक् साहित्यिक-विकास के मार्ग मे वे अवरोध न बनेगे । परन्तु बोल-चाल की भाषा का रूप निश्चित करते समय पुन दुर्निवार कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती है ! उत्तर भारत मे उसका जो रूप है वह मध्य और दक्खिन-पूरब भारत मे नही है । अत तीनो दल यह भी स्वीकार करते है कि पश्चिमोत्तर भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी मे उर्दू-फारसी की अधिक पुट रहेगी और दक्षिण अथवा पूरबी भारत मे राष्ट्रभाषा उर्दू पर सस्कृत की छाप अधिक रहेगी । इस प्रकार हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी किसी एक को राष्ट्रभाषा बना देने पर भी उत्तर और दक्षिण की शैलियो मे भेद तो बना ही रहेगा, इस बात को तीनो दल स्वीकार करते है । अत यह सारा विवाद किस लिये है, यह तथ्य भ्रान्ति मे पड जाता है । इस बहस का अध्ययन करके कोई निष्पक्ष व्यक्ति यह नही समझ सकता कि अखिल भारतीय एकता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, सर्वमान्य भाषा आदि शब्दो का इस बहस मे प्रयोग केवल दिखावे के लिए किया जाता है

या वस्तुत: एक सर्वमान्य राष्ट्रभाषा की संभावनाओं के यथार्थ ज्ञान से। सच तो यह है कि इन शब्दो के पीछे किसी सच्ची भावना और समझ का आभास नही मिलता, केवल प्रथा-पालन के लिए ही उन्हे दुहराया जाता है।

इस स्थल पर प्रगतिवादियो के दृष्टिकोण का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। प्रारम्भ से ही प्रगतिवादी राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर हिन्दुस्तानी का समर्थन करते आये है। इस समर्थन के लिए उन्हे तीन बातो से प्रेरणा मिली। पहली बात तो यह थी कि हिन्दुस्तानी को उन्होने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक समझा और चूँकि प्रगतिवादी साम्प्रदायिकता से दूर रहना चाहते थे, इसलिए उन्होंने हिन्दी अथवा उर्दू के पक्षो को साम्प्रदायिक पक्ष मानकर उनके दृष्टिकोण को समझना अवाछनीय माना। दूसरे, इससे उन्हे राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर गहराई से सोचने से जैसे छुट्टी मिल गयी और सरल समाधानो को ही स्वीकार करके उन्होने अपनी इतिकर्तव्यता मान ली। तीसरे, प्रगतिवादी आन्दोलन मे हिन्दी और उर्दू के प्रमुख लेखक एक ही सगठन मे एकत्र होते थे, अत: यह और भी जरूरी था कि हिन्दी अथवा उर्दू मे से किसी एक का पक्ष न लिया जाय बल्कि दोनो की ऐतिहासिक परम्पराओ की एकता पर जोर दिया जाय। इससे तथ्य-निरूपण की एकागी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देकर भी प्रगतिवादी असन्तुष्ट नही हुए। फिर भी दोनो लिपियो का प्रत्येक व्यक्ति द्वारा सीखना व्यावहारिक सिद्ध न हो सका। प्रगतिवादी अपनी तर्क-पद्धति से किसी एक लिपि का पक्षपात करके हिन्दी-उर्दू के लेखको का सयुक्त मोर्चा कायम न रख सकते थे, अत लिपि के प्रश्न पर उनको पलायन का मार्ग ही इष्ट हुआ और उन्होने न फारसी और न देवनागरी बल्कि रोमन लिपि का मत प्रतिपादित किया। डॉ० अब्दुल अलीम ने, जो उस समय (सन् १९३९ मे) अखिल-भारतीय प्रगतिशील लेखक सघ के प्रधान मन्त्री थे, 'नया भारतीय साहित्य' (अँग्रेजी) म राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर एक निबन्ध लिखा जिसकी विचारधारा का मूलाधार यही था। परन्तु जब राष्ट्रभाषा के विवाद मे और अधिक कटुता आने लगी तो प्रगतिवादी इस प्रश्न से तटस्थ-से हो गये। मैंने स्वय 'हस' के सम्पादन काल मे हिन्दुस्तानी की भ्रूण-हत्या का प्रयत्न' शीर्षक टिप्पणी मे इस विवाद मे आयी कटुता का विरोध करके हिन्दुस्तानी का पक्ष-समर्थन किया था। फिर भी प्रगतिवादियो की तटस्थता की नीति पूर्ववत् जारी रही, क्योकि इस प्रश्न पर उन्होने नया कुछ सोचा नही था और पुराने तर्कों को दुहराने से कोई लाभ न था। इसका यह अभिप्राय नही कि प्रगतिवादियो मे विचार-मथन न हो रहा था। गत वर्ष से वे पुन इस प्रश्न पर सोचने लगे है, कारण वे अब स्वय सरल-समाधानो की व्यर्थता का अनुभव करने लगे है और इस बात की आवश्यकता उन्हे महसूस हो रही है कि इस समूचे प्रश्न पर नये सिरे से रूढ सीमाओ को तोडकर आमूल सोचा जाना चाहिए।

राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर अब तक जिन्होंने सोचा है उनमे केवल पण्डित जवाहरलाल और डॉ० तासीर ने ही पुरानी लकीर पीटने से इन्कार किया है यद्यपि वे भी पुरानी धारणाओ की सीमा से एकदम बाहर नही निकल सके। पण्डित जवाहरलाल ने अपने निबन्ध

'राष्ट्रभाषा का प्रश्न' मे राष्ट्रभाषा की बहस को नाम, स्वरूप और लिपि तक ही सीमित रखने को श्लाघ्य नही माना, उन्होने उसे अधिक मौलिक प्रश्नो से सम्बद्ध करने की चेष्टा की। उन्होने कहा कि मूल प्रश्न तो यह है कि सार्वजनिक शिक्षा की योजना बनाते समय हमारी भाषा सम्बन्धी नीति क्या होगी, भाषा के द्वारा हम देश की एकता किस प्रकार और स्थायी बना सकते है और साथ ही किस प्रकार अपनी महान विरासत के वैविध्य को सुरक्षित रख सकते है। इन मौलिक प्रश्नो का पण्डित नेहरू ने उत्तर देने का प्रयत्न किया, परतु वे इस पूर्वधारणा को लेकर चले कि हिन्दुस्तानी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है, अत: अपनी समस्त उदार चेतना के बावजूद वे अनेक जटिल प्रश्नो से कतरा जाने के लिए विवश हुए। उन्होने अनेक भ्रात धारणाओ को प्रामाणिक स्वीकार कर लिया, जैसे वर्तमान प्रान्तीय सीमाओ को उन्होने भाषागत आधार पर बनी सीमाएँ स्वीकार किया, हिन्दुस्तानी को समस्त उत्तर भारत की मातृभाषा माना, उर्दू को नगरो और हिन्दी को गाँवो की भाषा कहा—इस प्रकार अनेक प्रचलित धारणाओ को आधार मानकर उन्होने राष्ट्रभाषा का प्रश्न सुलझाने की चेष्टा की। फलत स्वय एक लेखक और सस्कृत व्यक्ति होने के कारण जहाँ उन्हे यह स्वीकार करना पडा कि हिन्दी-उर्दू का भेद एक स्वस्थ विकास है क्योकि दो दिशाओ का यह विकास दो सास्कृतिक परम्पराओ द्वारा नये विचारो और नयी शैलियो के माध्यम से उत्कृष्ट साहित्यिक भाव-वस्तु को अभिव्यक्ति देने की उदात्त चेष्टा का परिणाम है और दोनो का यह विकास-भेद जारी रहेगा, और इसमे घबराने की कोई बात नही है, वहाँ हिन्दुस्तानी और एक राष्ट्रभाषा की पूर्वनिश्चित धारणाओ मे बधे रहने के कारण उन्होने ऐसे निराधार उद्‌गार भी प्रकट किये कि राष्ट्रीय एकता की भावना के प्रबल होते ही दोनो भाषाएँ एक-दूसरे मे मिलकर एक हो जाएँगी। पण्डित नेहरू की विचार-पद्धति के मूल मे जो विरोधाभास था उसके कारण वे कोई सही समाधान उपस्थित करने मे असमर्थ रहे। अत: हल पाने के लिए उन्होने भी पुराने सरल-समाधानो की ही अराधना अर्थात् **यह कि 'बेसिक-हिन्दुस्तानी' का विकास किया जाय, पारिभाषिक शब्दों का एक हिन्दुस्तानी कोष तैयार किया जाय और राष्ट्रीय भावनाओं के प्रसार पर जोर दिया जाय, वैसे हिन्दी और उर्दू अन्य प्रान्तिक भाषाओं की तरह अपना स्वतंत्र विकास करती रहें। दोनों लिपियाँ** स्वीकार की जायँ, परन्तु हर व्यक्ति को दोनों लिपियों को सीखने के लिए बाध्य न किया जाय।

फिर भी पण्डित नेहरू ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होने राष्ट्रभाषा के प्रश्न को सार्वजनिक शिक्षा के व्यापक प्रश्न से सम्बद्ध किया और उस पर अपने निबध मे विस्तारपूर्वक विचार किया। परन्तु इसके पश्चात भी अन्य सभी विचारक इस मौलिक प्रश्न की उपेक्षा करते गये और अपनी पुरानी लकीर ही पीटते गये।

डॉ० तासीर ने प्रथम बार 'एक राष्ट्रभाषा' की समस्त प्रचलित धारणाओ पर निर्भीक होकर आक्रमण किया। उन्होंने पहले तो भाषा-शास्त्र के इस नियम की ओर ध्यान दिलाया कि कोई भी जाति राजनीतिक, धार्मिक अथवा सास्कृतिक प्रभाव या दबाव मे

पडकर विदेशी भाषा नही सीख लेती, जिसके कारण उसकी अपनी भाषा मिश्रित हो जाती है, बल्कि स्वय उसकी मातृभाषा विदेशी भाषा के प्रभावो से मिश्रित बन जाती है। अर्थात् उर्दू भाषा हिन्दुस्तानी मिश्रित फारसी नही है जिसके कारण विदेशी कही जा सके। वह फारसी-मिश्रित हिन्दुस्तानी (खडी बोली) है अत पूर्णत भारतीय है। भाषा-शास्त्र के इस नियम को विस्मृत नही कर देना चाहिए। दूसरे, भारत मे आन्तरिक विरोध का कारण भाषा-भेद नही है। अनेक ऐसे राष्ट्र और जातियाँ है जिनमे सास्कृतिक एकता के अनेक तत्त्व मिलते है परन्तु उनकी भाषाएँ भिन्न है। हिन्दी और उर्दू का भिन्न विकास हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियो के भिन्न विकास का परिणाम है, यद्यपि उनमे बहुत कुछ ऐक्य और साम्य भी है। अत प्रश्न यह नही है कि इन दोनो धाराओ को पीछे मोडकर पुन उनका सगम करा देना चाहिए, बल्कि प्रश्न यह है कि क्या ऐसा सगम सभव है? क्या ऐतिहासिक विकास-क्रम को पलट कर किसी धारा का पुन प्रारभ किया जा सकता है? तात्पर्य यह कि सारे देश की एकता को सिद्ध करने के लिए केवल **एक ही राष्ट्रभाषा** का आग्रह क्यो किया जाय? राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की सीमाएँ क्या सदैव एक ही होनी चाहिए? डॉ० तासीर के अनुसार ऐसा अनिवार्य नही है। कनाडा, दक्षिण अफ्रीका और अनेक दूसरे राष्ट्रों मे एक से अधिक राष्ट्रभाषाएँ स्वीकृत है। अत दोनो भाषाओ—हिन्दी और उर्दू को राष्ट्र-भाषाएँ क्यो न मान लिया जाय? हिन्दुस्तानी का अभी कोई रूप नही बना है, और जो भाषा अभी बनी नही है, उसे मानने के लिए गाँधी जी क्यो जोर दे? परन्तु डॉ० तासीर भी इस तर्क-पद्धति पर आद्यन्त आरूढ न रह सके और उन्होने भी अन्त मे यही सुझाया कि यदि हिन्दुस्तानी बनाना ही है तो उसके शब्दो और व्याकरण का एक गुटका बनाया जाय, उसे सारे कॉग्रेस जन सीखे और धीरे-धीरे हिन्दुस्तानी भाषा का विकास करे। तब तक जनता को हिन्दुस्तानी सीखने के लिए बाध्य न किया जाय।

सक्षेप मे हम कह सकते है कि एक राष्ट्रभाषा हो, उसका एक ही स्वरूप और एक ही लिपि हो, तभी हमारी राष्ट्रीय एकता व्यक्त हो सकती है—यह धारणा एक प्रकार से सभी विचारकों का बद्धमूल सस्कार बन गयी है, जिससे वे इसकी परिधि से निकलने की चेष्टा करके भी नही निकल पाते।

इस बद्धमूल सस्कार के कारण राष्ट्रभाषा का प्रश्न एक अनबूझ पहेली बन गया है। हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी के समर्थक जो एक से ही दावे पेश करते है वे सब निश्चय ही एक साथ सत्य नहीं हो सकते। और जो वे अपनी-अपनी भाषाओं के स्वतन्त्र अस्तित्व का दावा करते है वह दूसरे पक्ष के नकारने से असत्य भी नही हो सकता, अर्थात् हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ है। हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध मे यह बात नही कही जा सकती। 'हिन्दुस्तानी' शब्द से यथावसर अन्यान्य अर्थों का बोध किया जाता है। कोई लेखक हिन्दी-समूह की सभी भाषाओ और बोलियो (खडी बोली, ब्रज, अवधी, बाँगरू, बुन्देली, बघेली, कोसली, छत्तीसगढी, राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी, मगही आदि) के लिए हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग करता है, कोई केवल खड़ी बोली के लिए। वास्तव मे हिन्दु-

स्तानी का प्रयोग केवल खडी बोली के अर्थ मे होना चाहिए। यदि ऐसा है तो हिन्दी अथवा उर्दू से हिन्दुस्तानी कोई भिन्न भाषा नही रह जाती। महात्मा गान्धी और दूसरे विचारक भी हिन्दुस्तानी से खडी बोली का ही अर्थ लेते है, तभी वे यह दावा करते है कि हिन्दुस्तानी की ही जमीन पर हिन्दी-उर्दू का विकास किया गया है। ऐसी दशा मे यह विचारणीय है कि खडी बोली (अर्थात् हिन्दुस्तानी) अपने प्रकृत रूप मे साहित्य की भाषा नही है। हिन्दू सस्कृति के प्रभाव के अन्दर उसका जो रूप निखरा है वह आधुनिक हिन्दी (साहित्यिक खडी बोली है) और मुस्लिम सस्कृति के प्रभाव मे उसका उर्दू रूप विकसित हुआ है। अतएव जब हिन्दुस्तानी के समर्थक यह कहते है कि हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहिए तब वे इस बात को नही सोचते कि हमारे ऐतिहासिक विकास-क्रम ने खडी बोली के दो भिन्न साहित्यिक रूप विकसित किए है——वर्तमान हिन्दी और उर्दू। इन दो साहित्यिक रूपो के अतिरिक्त कोई तीसरा साहित्यक रूप जो इनसे सर्वथा भिन्न हो विकसित किया जा सकेगा, यह सन्दिग्ध है। केवल सन्दिग्ध ही नही, असम्भव भी है। राष्ट्रभाषा के लिए हिन्दुस्तानी (खडी बोली) का यदि पुन साहित्यिक सस्कार करने की चेष्टा की गई तो पश्चिमोत्तर और पूर्व-मध्य भारत मे उसके पुन दो रूप निखरेगे जो आधुनिक हिन्दी और आधुनिक उर्दू की ही अनुकृति होगे और इस प्रकार एक राष्ट्रभाषा गढने का यह सारा सकल्प-अनुष्ठान एक प्राचीन ऐतिहासिक विकास-क्रम की ही पुनरावृत्ति करके अपनी व्यर्थता सिद्ध कर देगा। इस सम्भावना को गाधी जी और दूसरे हिन्दुस्तानी समर्थक भी स्वीकार करते है। अत ऐसे प्रयोग मे श्रम और साधन का अपव्यय कहाँ तक समीचीन है जो खडी बोली की दो भाषाओ के ऐतिहासिक विकासक्रम को थामने की चेष्टा करे पर अन्त मे निष्फल होकर उस विकास-क्रम के अजस्र प्रवाह को पुन मुक्त करने के लिए विवश हो जाय ? इस सम्भावना को स्वीकार करने मे हिन्दुस्तानी के समर्थको के कन्धो पर जो दायित्व आता है उससे वे अब तक बचने की चेष्टा करते आये है। यही कारण है कि वे यह भी स्वीकार करते है कि पश्चिमोत्तर भारत मे हिन्दुस्तानी अरबी-फारसी-निष्ठ होगी और मध्य और दक्षिण भारत मे सस्कृत-निष्ठ; और वे यह भी स्वीकार करते है कि हिन्दी और उर्दू का स्वतन्त्र विकास होता रहेगा, परन्तु साथ ही वे हिन्दुस्तानी की मरीचिका के पीछे दौडना भी बन्द नही करते। यथार्थ-सत्य से आँख-मिचौनी खेलने का यह प्रयत्न उन्हें वैज्ञानिक चिन्तन के दायित्व से मुक्ति पाने के लिए विवश कर देता है और वे हिन्दुस्तानी के ऐसे राष्ट्रभाषा रूप की कल्पना करने लगते है जिसमे राष्ट्रभाषा बोल-चाल की ही भाषा होगी; अर्थात् आजकल सार्वजनिक भाषणो मे जो भाषा प्रयुक्त होती है वही राष्ट्रभाषा का लिखित स्वरूप होगा। परन्तु विचारणीय प्रश्न केवल इतना है कि क्या राष्ट्रभाषा का उपयोग स्वतन्त्र भारत मे केवल राजनीतिक व्याख्यानो तक ही सीमित रहेगा ? केन्द्रीय सरकार के दफ्तरो मे, विभिन्न विभागो मे जब पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया जायगा, तब वे शब्द बोल-चाल की भाषा से तो नही मिलेगे। सस्कृत या अरबी-फ़ारसी या अग्रेजी से ही वे शब्द लेने पड़ेगे। इसमे ५०-५० का अनुपात रखने की

चेष्टा करना राजनीतिक क्षेत्र की बहसो को सांस्कृतिक क्षेत्र मे प्रक्षेपित करना होगा। ऐसी कठिनाइयाँ रोज उठेगी और किसी भी कृत्रिम उपाय से उनका निवारण न किया जा सकेगा। फिर राष्ट्रभाषा मे यदि साहित्य न होगा (हिन्दुस्तानी के राष्ट्रभाषा हो जाने पर भी उच्च साहित्य तो हिन्दी और उर्दू मे ही रचा जायगा) तो इसका अर्थ यह होगा कि उच्च शिक्षा और वैज्ञानिक शिक्षा से राष्ट्रभाषा का कोई सम्बन्ध न रहेगा। देश की अनेक प्रान्तीय और जनपदीय भाषाएँ अनुन्नत और पिछडी है, उनमे अभी तक केवल नाम मात्र को ही साहित्य मिलता है। अतएव जब ऐसे जनपदो को अपनी ही मातृ-भाषाओ मे सार्वजनिक रूप से प्राथमिक और उच्च-शिक्षा देने का प्रश्न उठेगा तब प्रारम्भ मे उच्च-शिक्षा का माध्यम राष्ट्रभाषा को नही बनाया जायगा तब और कौन-सी भाषा इस दायित्व को निभायेगी ? सोवियत रूस आदि मे जहाँ ऐसी ही स्थिति रह चुकी है, रूसी भाषा को ही तत्काल के लिए उच्च-शिक्षा का माध्यम बनाया गया था और ज्यो-ज्यो जनपदीय भाषाओ मे साहित्य रचना होती गयी, वे स्वय शिक्षा का माध्यम बनती गयीं। शिक्षा, रेडियो, सिनेमा, रगमच, इन सभी क्षेत्रो मे उच्च सास्कृतिक परम्पराओं की विकास-समृद्धि के लिए राष्ट्रभाषा को स्वय ऐसी भाषा होना पडेगा जिसमे उच्च-कोटि का वैज्ञानिक और रचनात्मक साहित्य हो। साथ ही समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन, राजनीति और उच्चकोटि के रचनात्मक साहित्य का विदेशी भाषाओ से हिन्दु-स्तानी मे अनुवाद करते समय शब्द-विन्यास और वाक्य-विन्यास उर्दू के अनुसार होगा या हिन्दी के, इन प्रश्नो का निर्णय कैसे होगा और हिन्दुस्तानी कैसे रहेगी ? परन्तु हिन्दुस्तानी के प्रतिपादक राजनीतिक मचो के अतिरिक्त राष्ट्रभाषा का और कही कोई उपयोग नही देखते, राष्ट्र-जीवन के बृहद् सास्कृतिक प्रश्न उनकी सकीर्ण विचार-सीमा के बाहर है। और यदि वे कभी इन प्रश्नों पर सोचते है तो उनकी राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी पुनः हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाओ मे बँट जाती है और वे इस सभावना से निर्भीक होकर आँखे नहीं मिलाना चाहते। परन्तु इन समस्त प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् हम इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि राष्ट्रभाषा के विवाद में हिन्दुस्तानी का दावा सब से कमजोर है। न तो हिन्दुस्तानी की एक सम्मिलित भाषा के रूप में साहित्यिक प्रतिष्ठा संभव है और न उसकी कोई एक लिपि हो सकती है। उच्च साहित्यिक और वैज्ञानिक अभि-व्यक्ति के लिए सदैव उसके दो भिन्न रूप बन जाया करेंगे और देवनागरी और फारसी की लिपियो का भी उसे व्यवहार करना पडेगा। अतः व्यवहार मे आकर हिन्दुस्तानी निरन्तर हिन्दी और उर्दू रूपों मे बँट जाया करेगी। इस प्रकार हिन्दुस्तानी नाम केवल एक पाखण्ड का द्योतक रह जायगा। यह कहना कि साहित्यिक हिन्दुस्तानी सरल हिन्दी और सरल उर्दू होगी जिसकी मिसाल हमे प्रेमचन्द और नजीर की भाषा मे मिलती है, तो यह एक बडे भ्रम को प्रश्रय देना है। प्रेमचन्द या नजीर की भाषा एक नहीं है, वह चाहे जितनी सरल क्यों न हो। एक हिन्दी है, दूसरी उर्दू। सरलता से किसी को विरोध नहीं हो सकता और कथा-साहित्य की प्रवृत्ति अपनी आन्तरिक आवश्यकता से सरल भाषा की ओर ही

होती है, परन्तु दार्शनिक और अधिक विचार-प्रधान विषयों पर सरल हिन्दी मे कहाँ तक लिखा जा सकता है, यह प्रयोग-सिद्ध नही है। इसके अतिरिक्त हिन्दी और उर्दू का भेद अब केवल दो शैलियो की सरलता-दुरूहता तक ही सीमित नही रहा, वे दोनो भिन्न पद-वाच्य भाषाएँ बन गयी है और केवल सरल शैली मे लिखे जाने मे एक ही नही कही जा सकती। अत हमारा आग्रह है कि राष्ट्रभाषा की बहस के मैदान से हिन्दुस्तानी शिविर के खेमे उखाड लेने चाहिएँ। व्यर्थ का वितडावाद खडा करने से कोई लाभ नही है। इससे राष्ट्रभाषा के प्रश्न को हल करने मे भी सहायता मिलेगी, क्योकि असली दावेदार सामने आ जायँगे। और हिन्दी-उर्दू के विवाद को नयी दृष्टि से समझने मे सुविधा होगी।

हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ है, इस तथ्य को स्वीकार करना हमारे लिए आवश्यक है, क्योंकि वास्तव मे, चाहे प्रिय हो अथवा अप्रिय, सत्य यही है। हिन्दी वाले जब उर्दू को हिन्दी की शैली बताते है अथवा उर्दू वाले जब हिन्दी को उर्दू की शैली बताते है तब वे हिन्दी अथवा उर्दू के ऐतिहासिक विकास की अवहेलना करते है। एक क्षण के लिए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी और उर्दू दोनो ही खडी बोली की दो भिन्न शैलियाँ है। इस दावे मे सत्य है, यद्यपि इससे न हिन्दुस्तानी (खडी बोली) के दावे को औचित्य मिल जाता है और न हिन्दी और उर्दू को एक ही भाषा सिद्ध किया जा सकता है। एक ही शौरसेनी अपभ्रश से अनेक भाषाएँ राजस्थानी, मराठी, गुजराती, ब्रज, बुन्देली आदि निकली है। एक समय मे उनको भी शौरसेनी, प्राकृत और अपभ्रश की अन्य-अन्य शैलियाँ ही कहा जा सकता था, परन्तु इससे, वे एक ही भाषाएँ है, यह अब किसी प्रकार भी सिद्ध नही किया जा सकता। कारण, देश और काल की विभिन्न परिस्थितियो मे सामाजिक-ऐतिहासिक-सास्कृतिक विभेद के कारण, उनका विकास-क्रम असामान्य रहा और वे कालान्तर मे भिन्न-भिन्न भाषाओ का रूप धारण कर गयी। हिन्दी और उर्दू के ऐतिहासिक विकास मे जिन सास्कृतिक परम्पराओ ने दोनो को प्रेरणा दी है, वे आपस मे एक-दूसरे से अत्यधिक भिन्न है। गुजराती, मराठी और राजस्थानी आदि की सांस्कृतिक परम्पराओं में इतनी भिन्नता कदापि नहीं रही। उदाहरण के लिए, यद्यपि यह सत्य है कि प्रारम्भ में जब खड़ी बोली की साहित्यिक स्थापना होने लगी तब उसमे हिन्दू और मुस्लिम दोनों सस्कृतियों का न्यूनाधिक समागम रहा; परन्तु ब्रज और अवधी की भक्ति और रीतिकाव्य की परम्पराओ ने आर्य अथवा हिन्दू सस्कृति के ही जीवन-दर्शन, दृष्टिकोण, ऐतिहासिक-सास्कृतिक परम्पराओं और सौन्दर्य-प्रतीको, ध्वनि, छन्द, रस, अलङ्कार-विधानो को अपनाया। अत दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करना कि चूँकि चन्दबरदायी के पृथ्वीराज रासो मे फ़ारसी-अरबी-तुर्की के अनेक शब्द मिलते है, पृथ्वीराज की पुत्री पृथाबाई ने चित्तौड के राजकुमार को खडी बोली मे जो पत्र लिखा था उसमे फारसी के शब्दो का भी प्रयोग किया था, अथवा यह कि अमीर खुसरो और बाबा फ़रीद शकरगज (११७३-१२६५) आदि ने खडी बोली मे जो कविताएँ की वे चाहे फारसी लिपि मे क्यो न लिखी हो, परन्तु उनकी भाषा सरल हिन्दी (खड़ी बोली) है; या चौदहवी सदी मे सूफी सन्त हजरत गेसूद-

राज बन्दानवाज ने खडी बोली मे जो प्रथम गद्य-रचना (मिराजुल-आशिकीन) की उसकी भाषा खडी बोली हिन्दी है, जिसमे २५-३० फीसदी से ज्यादा फारसी के शब्द नही है, अथवा यह कि कबीर और मलिक मुहम्मद जायसी की रचनाओ मे हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियो का अत्यन्त सफल समन्वय हुआ है—अत हिन्दी और उर्दू एक ही भाषाएँ है, ऐसा कहना वस्तुस्थिति से आँखे मीच लेना है।

इसमे सन्देह नही कि भारत मे मुसलमानो के आगमन के पश्चात् हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियो मे एक लम्बी अवधि तक मुक्त आदान-प्रदान और मिश्रण होना रहा। हिन्दुओ ने देवनागरी लिपि का प्रयोग किया या मुसलमानो ने अरबी-फारसी लिपि का, अथवा कुछ हिन्दुओ ने फारसी लिपि का और कुछ मुसलमानो ने देवनागरी लिपि का, यह उतने महत्त्व की बात नही है जितनी यह कि उस समय दोनो सस्कृतियो ने परस्पर प्रभाव ग्रहण किये और इस प्रकार जहाँ गेसूदराज, कुतबन, मलिक मुहम्मद जायसी, कबीर, उसमान आदि की रचनाओ मे हिन्दू-सस्कृति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है वहाँ रैदास, धर्मदास, नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मझन आदि कवियो मे मुस्लिम सस्कृति की प्रतिच्छाया मिलती है। धार्मिक भेदभाव के विरुद्ध निर्गुणपन्थी और प्रेममार्गी कवियो ने जो रचनाएँ की है उनकी सृष्टि मे हिन्दू और मुसलमानो ने समान उत्साह से योग दिया। उन्होने भारतीय अद्वैतवाद, योग और अहिसावाद का समर्थन करके हिन्दुओ के बहुदेवोपासना, अवतार, मूर्तिपूजा और छुआछूत के भेद-भाव का विरोध किया, साथ ही मुसलमानो के एकात्मवाद और एकेश्वरवाद को स्वीकार करके उनके रोजा, नमाज, कुरबानी आदि का भी विरोध किया। सूफियो ने अपनी प्रेम कहानियो के लौकिक दृष्टान्तो द्वारा उस अलौकिक प्रेमत्व की चर्चा की, जो बौद्धिक खण्डन-मण्डन से परे है, केवल हृदय की वस्तु है, अत जीव और परमात्मा के एकात्म होने मे अधिक समर्थ माध्यम है। इस सयुक्त विचार-परम्परा की कविताएँ यद्यपि सत्रहवी शताब्दी तक होती रही, परन्तु स्वामी रामानुजाचार्य के अनुयायी रामानन्द और श्री वल्लभाचार्य ने राम और कृष्ण की सगुणोपासना की जो परिपाटी चलायी उसने तुलसी और सूर जैसे महाकवियो को जन्म दिया, जिन्होने अवधी और ब्रज की काव्य-धारा को कबीर और जायसी की हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियो की सम्मिलित परम्परा से एकदम अलग कर दिया। अवधी और ब्रज की काव्य-परम्परा हिन्दू-संस्कृति की प्राचीन काव्य-परम्पराओं की उत्तराधिकारिणी बन गयी। यह हिन्दुओं की सांस्कृतिक नवचेतना का परिणाम था।

तुलसी, सूर अथवा रीतिकालीन कवियो की रचनाओ मे अरबी-फारसी के प्रचलित शब्द भी प्रयुक्त हुए है, परन्तु यह तथ्य इससे अधिक और कुछ नही सिद्ध करता। यह कहना गलत होगा कि उनकी रचनाएँ हिन्दू-मुस्लिम सस्कृति के समन्वय की प्रतीक है। रामभक्ति, कृष्णभक्ति और रीतिकाव्य की परम्पराएँ हिन्दू-सस्कृति से प्रेरित-पोषित विचारधाराएँ है, उनमे मुस्लिम सस्कृति के प्रभाव उतने ही ग्रहण किये गये जितने इस विचारधारा को अभिव्यक्ति देने के लिए अनिवार्य थे—अर्थात् कतिपय प्रचलित शब्दों

को ही अवधी या ब्रज के व्याकरण के अनुसार लिया गया। ये काव्य-धाराएँ हिन्दू संस्कृति के नवोन्मेष की प्रतीक हैं। इनकी भाव-भूमि, जीवन-दर्शन, सौन्दर्य-मूल्य, छन्द-रचना, ध्वनि-योजना, अलकार-विधान, पद-विन्यास, रूपक और प्रतीक आदि विचारवस्तु और रूप-विधान सभी सस्कृत साहित्य और हिन्दू-आर्य सस्कृति से प्रभावित और निरूपित हैं। सूरदास और तुलसीदास के समय से भारतेन्दु-काल तक ब्रज और अवधी की काव्य-परम्परा मे यह विचारधारा ही सर्व-प्रधान बनी रही। मुस्लिम सस्कृति के मेल से एक सामान्य विचार-धारा का विकास करने का लक्ष्य इस परम्परा के सम्मुख नही रहा। हिन्दू-काव्यो मे अरबी-फारसी के शब्द यदि प्रयुक्त हुए तो केवल इसलिए कि वे सर्वसाधारण मे प्रचलित हो गये थे। उनके प्रयोग से हिन्दू-काव्यो की विचारवस्तु और सास्कृतिक मूल्यो पर प्रभाव नही पडता था।

अत जब आधुनिक हिन्दी (साहित्यिक खडी बोली) का विकास हुआ तो हिन्दी के समर्थको ने समग्र खडी बोली साहित्य को हिन्दी की परम्परा मे ग्राह्य नही माना। खडी बोली मुस्लिम शासन के प्रभाव के कारण समस्त मध्यदेश के नगरो मे फैल चुकी थी। यद्यपि खडी बोली का हिन्दू परम्परा के अन्तर्गत इस बीच जो साहित्य उत्पन्न हुआ उसे नगण्य ही कहना चाहिए, परन्तु जब फोर्ट विलियम के समय से खडी बोली मे हिन्दी गद्य की रचना होने लगी और उसके पश्चात काव्य-रचना भी प्रारम्भ हुई तो खडी बोली हिन्दी ने अपने ही अरबी-फारसी-प्रभावित साहित्य की परम्परा को अस्वीकृत करके ब्रज, अवधी, राजस्थानी और मैथिली की काव्य-परम्पराओ को अपनी प्राचीन विरासत माना और अपने को उन्ही की उत्तराधिकारिणी घोषित किया। खडी बोली हिन्दी का प्राचीन साहित्य न परिमाण मे इतना था न इस कोटि का था कि उसकी पूँजी पर आधुनिक हिन्दी गर्व कर सकती। गग कवि (अकबर के दरबारी कवि) का 'चन्द छन्द बरनन की महिमा', रामप्रसाद 'निरञ्जनी' (अठारहवी सदी) का 'योगवशिष्ठ', पण्डित दौलतराम (अठारहवी सदी) का 'पद्मपुराण' का अनुवाद, या मुन्शी सदासुखलाल का 'सुखसागर' आदि अगुलियो पर गिनी जाने योग्य खडी बोली हिन्दी की रचनाएँ उसके प्राचीन गौरव का आधार नही बन सकती थी। और हिन्दू साम्प्रदायिकता, दक्षिण (बीजापुर, गोलकुण्डा) और उत्तर भारत (दिल्ली, लाहौर) मे मुस्लिम सस्कृति के प्रभाव मे खड़ी बोली उर्दू का जो साहित्य उत्पन्न हुआ था, उसकी परम्परा को अपनाने के लिए प्रस्तुत न थी, क्योंकि खडी बोली उर्दू का साहित्य उसकी दृष्टि से इतर भारतीय संस्कृति का द्योतक था। फलत. खडी बोली हिन्दी ने सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रशो से अपना सोधा सम्बन्ध जोडकर शौरसेनी, मागधी आदि अपभ्रशो की अन्य भाषाओ के प्राचीन साहित्य को अपना प्राचीन साहित्य घोषित करके अपने को आर्य-हिन्दू परपरा का उत्तराधिकारी सिद्ध किया। इस प्रकार हिन्दू साम्प्रदायिकता ने अपनी जाग्रति, सगठन और विकास के लिए खडी बोली हिन्दी के द्वारा अपना मार्ग प्रशस्त किया, अथवा कहे कि इस पुनरुत्थान और राष्ट्रीय चेतना मे हिन्दुओ के लिए खडी बोली हिन्दी माध्यम और वाहक बनी। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो ने इस तथ्य को मुक्त कण्ठ

से स्वीकार किया है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के यदि सभी अङ्ग-उपागों का निरीक्षण करें तो उससे निर्विवाद सिद्ध हो जायगा कि हिन्दी-साहित्य मे साहित्य, सस्कृति, विचारधारा तथा राष्ट्रीयता आदि जिन शब्दो के आगे 'भारतीय' विशेषण का निर्बाध प्रयोग होता है वह वास्तव मे मुसलमानो के योग से विकसित एक सयुक्त अखिल-भारतीय सस्कृति अथवा विचारधारा का द्योतन नही करती। इन प्रयोगो मे 'भारतीय' केवल हिन्दू-आर्य सस्कृति और हिन्दू साम्प्रदायिकता का अर्थवाची है। हिन्दी की दार्शनिक पुस्तको मे आर्य-हिन्दू दर्शन का ही इतिहास रहता है, समीक्षा-सिद्धान्तो की पुस्तको मे रस, ध्वनि, अलकार आदि आर्य-हिन्दू काव्य-शास्त्रो का ही विवेचन होता है, और काव्य-ग्रन्थो मे रूपक, उपमाएँ और अन्योक्तियाँ पुराणो और सस्कृत से ही ली जाती है। इस प्रकार हिन्दी (साहित्यिक खडी बोली) के द्वारा जिस सास्कृतिक मनोभूमि (कल्चरल कॉम्प्लेक्स) की सृष्टि की गयी है और की जा रही है वह प्रधानत· हिन्दू-जीवन-दर्शन, हिन्दू इतिहास और परम्परा से प्रभावित-निरूपित है। यह प्रभाव हिन्दी-साहित्य की शैली, छन्द-चयन, शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास, आदि सभी पर स्पष्ट लक्षित है। अत इसको कतिपय लेखको की साम्प्रदायिक अहकारिता के मत्थे मढकर विवेचित नही किया जा सकता।

हिन्दी (सस्कृतनिष्ठ साहित्यिक खडी बोली) के समानान्तर उर्दू (अरबी-फारसी-निष्ठ साहित्यिक खडी बोली) का विकास मुस्लिम सस्कृति के प्रभाव मे हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू भाषा और साहित्य का विकास हिन्दी की अपेक्षा पहले और अधिक पुष्ट हुआ। सन्त कवियो तक हिन्दू-मुस्लिम सस्कृति के समन्वय को व्यक्त करने वाली साहित्य की जो सामान्य परम्परा थी वह कालान्तर मे दो धाराओ मे फूट निकली। हिन्दू परम्परा का उल्लेख हम कर चुके है, मुस्लिम परम्परा और सस्कृति ने उर्दू भाषा और साहित्य का विकास किया और उसके माध्यम से उसने अभिव्यक्ति पायी। चौदहवी शताब्दी मे गुजरात और दक्षिण भारत मे मुस्लिम राज्य स्थापित हो गये थे। दिल्ली मे उस समय फ़ारसी का ही जोर था और वहाँ के शासक सर्वसाधारण की बोली मे साहित्य रचना को प्रोत्सान देकर अपने गौरव को कम नहीं करना चाहते थे। परन्तु दक्षिण भारत की परिस्थिति इससे भिन्न थी। दक्षिण में मुस्लिम शासक उत्तर भारत से गये थे, उनके साथ अहलकारों और व्यापारियों आदि दरबार से सम्बन्धिन लोगों का दल भी उत्तर भारत से ही गया था। इन लोगों की बोल-चाल की भाषा खडी बोली थी। परन्तु प्रथानुसार वहाँ भी राजभाषा तो फारसी ही रही, यद्यपि मराठी, कन्नड, तमिल, तेलुगु आदि भाषा-क्षेत्रों मे फैली इन रियासतों मे फारसी का प्रयोग सुविधाजनक न था। फारसी की अपेक्षा खडी बोली अधिक सरल और सुबोध थी। इसके अतिरिक्त सन्त कवियो ने खडी बोली मे काव्य-रचना भी प्रारम्भ कर दी थी। चौदवी सदी के गुजरात के हजरत गेसूदराज बन्दानवाज का उल्लेख हम कर चुके है। पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दियों मे बीजापुर और गोलकुण्डा के शासकों और अमीरों ने खडी बोली का उर्दू के रूप मे साहित्यिक संस्कार किया और उर्दू मे उच्चकोटि की रचनाएँ की। उन्होंने मसनवी और मरसिये लिखे। इस भाषा को हिन्दी

कहना अनुचित होगा। क्योंकि इसकी भावभूमि मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित है और हिन्दू काव्य-परम्परा से भिन्न है। कुछ दिनों में ही उर्दू में इतने उच्चकोटि के गद्य और पद्य-साहित्य की रचना हुई कि उसने दक्षिण में राजभाषा के रूप में फारसी का स्थान ले लिया। इसके पश्चात् जो काव्य रचना हुई उसे खडी बोली के अन्तर्गत रखना गलत होगा, उसे उर्दू की रचनाएँ कहना उपयुक्त होगा। औरगजेब ने जब बीजापुर और गोलकुण्डा पर आक्रमण किया तब दिल्ली की मुस्लिम सस्कृति की और गहरी छाप वहाँ पर पडी। उर्दू का प्रथम महाकवि वली (१६६८-१७४४) का यही काल है। वली ने दक्षिण भारत, गुजरात और उत्तर भारत में सर्वत्र पर्यटन किया था, अत उन्होंने जो काव्य-रचना की उसमें उत्तर और दक्षिण भारत की शैलियो को मिलाकर उनका विकास किया। परन्तु उनकी गजलो में फारसी का प्रभाव अधिक निखर कर सामने आया।

दिल्ली के दरबार में फारसी का बोलबाला था। परन्तु फिर भी शाह हातिम (१६९९-१७४४) के समय से ही खडी बोली में फारसी प्रभाव को लेकर रचनाएँ शुरू हो गयी थी। उर्दू की शैली उस समय तक पूर्णत फारसी से अलग स्वतन्त्र रूप नही धारण कर पायी थी, और रेख्ता (मिश्रत भाषा) का वाक्य-विन्यास फारसी का अनुकरण करता था। कविता में कभी-कभी एक पद फारसी का और दूसरा उर्दू का होता था। वली ने उर्दू की साहित्यिक शैली को परिमार्जित करके सुष्ठु और कलात्मक बना दिया। इसके पश्चात् तो अनेक महान् कवियो ने उर्दू की काव्य-परम्परा को समृद्ध बनाया। मीर, सौदा, दर्द, नजीर आदि महाकवियो ने अठारहवी सदी में उर्दू काव्य की जो उन्नति की वह अभूतपूर्व है। इस काल में उर्दू के मुशायरे होने लगे, उस्तादो ने नये कवियो की रचनाओ में इस्लाह देने की परिपाटी चलायी। अठारहवी सदी के उत्तरार्ध और उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध में, जब मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था, दिल्ली के अतिरिक्त उर्दू के अन्य अनेक केन्द्र सारे देश में स्थापित हो गये। इनमें लखनऊ, पटना, रामपुर, मुर्शिदाबाद आदि प्रमुख है। इस नये दौर में अब तक गालिब, हाली, इकबाल, और जोश मलीहाबादी की रचनाओ में उर्दू काव्य को जो उत्कर्ष मिला, वह अनुपम है।

हिन्दी और उर्दू की भिन्नता केवल शब्दो के सस्कृत या फारसी प्रयोग तक ही सीमित नही है। उनके व्याकरण, पिगल, वाक्य-विन्यास आदि में भी मौलिक भेद उत्पन्न हो गया है। अधिक क्लिष्ठ उर्दू में क्रियापदो और कारक-चिह्नो के अतिरिक्त कभी-कभी प्रत्येक शब्द फारसी और अरबी का होता है। क्लिष्ठ हिन्दी का भी यही हाल है। पन्त और निराला की अनेक कविताओ में भी यही प्रवृत्ति मिलती है। परन्तु इससे भी अधिक खडी बोली के व्याकरण का शुद्ध पालन न हिन्दी में किया जाता है न उर्दू में। हिन्दी व्याकरण पर सस्कृत व्याकरण का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है और उर्दू व्याकरण पर फारसी और सामी भाषा पर अरबी व्याकरण की गहरी छाप पड गयी है। हिन्दी में सस्कृति से जो तत्सम शब्द उधार लिए जाते है उनका प्रयोग बहुधा सस्कृत व्याकरण के अनुसार ही किया जाता है। हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल प्रत्यय न लगाकर विशुद्ध प्रयोग पर जोर दिया

जाने लगा है। कतिपय प्रयोग न हिन्दी व्याकरण के अनुसार होते है न सस्कृत व्याकरण के अनुसार, और इससे एक विचित्र अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी है। विशेषकर तद्धित का आवश्यक-अनावश्यक सर्वत्र प्रयोग, कृन्दत रूपो की विलक्षणता, विशेषणो के स्थान पर भाववाचक शब्दो को रखकर नये मुहावरे गढने की प्रवृत्ति आदि अनेक व्याकरणगत उच्छृङ्खलताएँ हिन्दी भाषा के शब्द-विन्यास और वाक्य-विन्यास को अधिकाधिक जटिल बनाती जाती है और उसे उर्दू भाषा से दूर खीच रही है। इसी प्रकार उर्दू साहित्य और भाषा के निर्माण मे यद्यपि हिन्दुओ ने भी पर्याप्त योगदान किया है तो भी उर्दू की भाव-भूमि हिन्दी से सर्वथा भिन्न है। उसकी विचारधारा, दृष्टिकोण, भावधारा मुस्लिम सस्कृति से निरूपित है। उर्दू काव्य मे इस्लामी पुराण के उपाख्यानो के दृष्टान्त रहते है, उसकी अन्योक्तियाँ, रूपक और उपमाएँ अरबी-फारसी की काव्य-पद्धति से प्रभावित है। हिन्दी और उर्दू की शैली मे भी मौलिक भेद है जो गद्य और पद्य दोनो मे समान रूप से व्यक्त है। विशेषकर उर्दू का पिगल (अरूज) फारसी से लिये जाने के कारण हिन्दी के पिगल से बहुत भिन्न है। मसनवी, कसीदा, रुबाई, गजल—सभी फारसी से लिए गए है। फारसी ने ये असनाफे सखुन (कविता के रूप-विधान) अरबी से लिये थे। फलत उर्दू की उपमाएँ (तशबीहात) और रूपक (इस्तराआत) भी फारसी-अरबी के है। इससे उर्दू को कविता को उत्कर्ष अवश्य मिला, परन्तु वह हिन्दी की काव्य-परम्परा से सदैव को अलग हो गयी।

इस विवाद मे यह बात महत्त्वपूर्ण नही है कि हिन्दी वालो की सस्कृत-प्रियता अथवा उर्दू वालो की अरबी-फारसी-प्रियता उचित अथवा अनुचित है, या यह कि हिन्दी के छन्दोनियम (पिगल) अच्छे है अथवा उर्दू बहरो के, न यह महत्त्वपूर्ण है कि दोनो मे से कौनसी भाषा अधिक सरल अथवा कठिन है। इन कसौटियो पर दो भाषाओ की तुलना करना कम-से-कम इस विवाद मे समीचीन नही है, न इस सम्बन्ध मे शास्त्रीय विधि से कोई निर्णय करके हिन्दी अथवा उर्दू के दावे को अस्वीकृत किया जा सकता है। सर्वप्रथम यह स्वीकार करने की आवश्यकता है कि हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ है। उत्तरोत्तर हिन्दी उत्तर भारत और मध्य भारत के हिन्दुओ की भाषा बनती जाती है और उर्दू मुसलमानो की। यह एक ऐतिहासिक सत्य है, इस सत्य की प्रियता-अप्रियता उसके अस्तित्व को नकारने का औचित्य नही प्रदान करती। इसके अतिरिक्त यह कहना कि राष्ट्रीय भावना ज्यो-ज्यो व्यापक होती जायगी त्यो-त्यो हिन्दी-उर्दू का भेद कम होता जायगा, केवल भ्रान्त धारणा है। यथार्थ सत्य तो यह है कि ज्यो-ज्यो राष्ट्रीय भावना व्यापक होती गयी है, दोनो भाषाओ के पृथक् विकास की गति भी उतनी ही तीव्र होती गयी है। परन्तु यह कोई ऐसी रहस्यमय घटना नही है जिसका विवेचन न किया जा सके। इस पृथक् विकास को प्रतिस्पर्धा, साम्प्रदायिकता और सकीर्ण जातीयता की भावना ने प्रेरणा दी है, केवल ऐसी बात भी नही है, क्योकि यह अनुभव सिद्ध उदाहरण है कि हिन्दी और उर्दू के प्रगतिवादी साहित्यकारो की भाषा मे भी उतना ही भेद है जितना श्री सम्पू-

र्णानन्द और मौलवी अब्दुलहक की भाषा मे, यद्यपि हिन्दी-उर्दू के प्रगतिवादी साहित्यकार एक ही सघ मे परस्पर मिलते रहे हैं और एक दूसरे की रचनाएँ सुनते-सुनाते रहे है। विलक्षण बात यह है कि उनमे कभी साम्प्रदायिकता, प्रतिस्पर्धा और सकुचित मनोवृत्ति का लेश भी नही रहा और वे सच्चे दिल से 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक रहे है। परन्तु न जोश मलीहावादी की कविता हिन्दुस्तानी की कविता बन पायी और न पन्त की युगवाणी या ग्राम्या की कविता हिन्दुस्तानी की। अत जब महात्मा गान्धी अथवा दूसरे विचारक इस भेद का सारा दायित्व लेखको की कुप्रवृत्ति या दुर्भावना के मत्थे मढ देते है तब सहज ही आश्चर्य होता है कि ये विचारक इतने विनयशील क्यो है! जिस राष्ट्रीय आन्दोलन ने समस्त भारत के कण-कण मे जाग्रति भर दी है, उससे लखक क्यो नही अनुप्राणित हुए और वे इतने जड-बुद्धि क्यो है कि एकता के मूल-मन्त्र का पहला पाठ भी नही सीख पाये? क्या हमारे महाप्राण नेताओ की मेधा इतनी अशक्त है कि वह इन मुट्ठी भर लेखको का विचार नही पलट सकती और वे 'एक राष्ट्रभाषा', 'हिन्दुस्तानी', 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' आदि के श्रुति-मधुर नारो के लिए वधिर बनकर हिन्दी और उर्दू को पृथक्-पृथक् मार्गो पर खीचे लिये जा रहे है? अत या तो हिन्दी और उर्दू के समस्त महान् साहित्यकार निम्न कोटि के सम्प्रदायी, सकीर्ण मनोवृत्ति के षड्यन्त्रकारी और भारतीय एकता के द्रोही रहे है और ऐसी दशा मे हमारे राष्ट्रीय नेताओ की साहित्यकारो के प्रति प्रच्छन्न रूप मे तिरस्कारभरी विनयशीलता उचित है, अथवा स्वय हमारे नेताओ की चिन्ता मे दोष है और वे इतिहास का अपने मनोनुकूल अध्ययन करते है। ऐसा त्रुटिपूर्ण अध्ययन प्रगतिवादियो का भी था, परन्तु चूँकि वे कोरे प्रचारक न होकर साहित्य-सृष्टा भी थे अत व्यवहार मे वे इतिहास की प्रेरक शक्तियो की उपेक्षा न कर सके और अपने पूर्व-चिन्तित निर्णयो के बावजूद हिन्दी और उर्दू की शैलियो का नयी सौन्दर्य-दृष्टि और नयी विचार-वस्तु के अनुकूल अलग-अलग ही परिमार्जन करते रहे। उन्होने अपनी कला और उत्कृष्ट भाव-विचार की अभिव्यक्ति को प्रचार के अधीन करके बाल्योचित सरलता का बाना नही पहनाया और शैली मे 'जनता की भाषा' या 'बोल-चाल की भाषा' के नारो के प्रभाव मे पडकर ऐसे प्रयोग नही किये जिनसे हिन्दी अथवा उर्दू के काव्य या साहित्य का चरम उत्कर्ष हरिऔध के 'चुभते चौपदो' या नजीर के 'बजारा नामा' तक ही सीमित रह जाता और इशा की 'रानी केतकी की कहानी' ही हमारे गद्य का आदर्श बन जाती। प्रगतिवादी लेखको ने प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला या मीर, गालिब, इकबाल, जोश की विरासत की रक्षा और उसका विकास करना अधिक अनिवार्य और साहित्य के लिए गौरवपूर्ण समझा, न कि कृत्रिम रूप से हिन्दी और उर्दू को मिला करके एक करना। और यह उन्होने एक दूसरे की सद्भावना के वातावरण मे किया। अत इस विवाद मे कटुता आयी है उसके लिए लेखको से अधिक राजनीतिज्ञ और प्रचारक जिम्मेदार हैं जिसके कारण एक राष्ट्रभाषा की खोज मे उर्दू वाले हिन्दी के अस्तित्व को नकारते है, हिन्दी वाले उर्दू के अस्तित्व को और महात्मा गान्धी दोनो को,

और उनके ऐतिहासिक विकास का तिरस्कार करके एक नयी ही भाषा 'हिन्दुस्तानी' गढ़ने की धमकी देते है।

इसके अतिरिक्त इस विवाद में एक भाषा के अस्तित्व और दूसरी के अनस्तित्व का निर्णय करने के लिए अपने अनुकूल आँकडे जोडकर जनसंख्या-बल दिखाना और भी हीन मनोवृत्ति का सूचक है। वास्तविक सत्य यह है कि खडी बोली, जिसकी जमीन पर हिन्दी और उर्दू के पौधे फूटे हैं, केवल उत्तरी दोआब के ५३ लाख जनो की ही मातृभाषा है। १४ करोड की मातृभाषा है, यह दावा भाषा-शास्त्र सम्मत नही है। परन्तु यह सत्य है कि देश के २५ करोड व्यक्ति इस बोली को समझ लेते है और अन्तरप्रान्तीय व्यवहार मे इसका प्रयोग करते है, यद्यपि प्रत्येक प्रान्त अथवा भाषा-क्षेत्र मे अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की इस भाषा का एक सामान्य रूप ही प्रचलित नही है, उसके अनेक स्थानीय रूपान्तर हो गये है। फिर भी मोटे तौर पर इतना कहा जा सकता है कि पश्चिमोत्तर भारत, सीमाप्रान्त, काश्मीर, सिन्ध, बलोचिस्तान और पजाब मे खडी बोली का उर्दू रूप अधिक प्रचलित है--हिन्दू और मुसलमान सभी मे--और सयुक्त प्रान्त (कतिपय नगरो को छोड कर) राजस्थान, बिहार, बगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य भारत तथा दक्षिण भारत मे खडी बोली का हिन्दी रूप अधिक प्रचलित है। ऐसी स्थिति मे अङ्क गणना मे इन निरीह २५ करोड जनो की बडी छीछालेदर होती है। हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी वाले तीनो उन्हे अपने-अपने कोष्ठो मे भर देते है। इस वितण्डावाद का अन्त करके हमे वस्तुस्थिति को देखना चाहिए, अर्थात् यह कि पश्चिमोत्तर भारत और मध्य और दक्षिण भारत की अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार की भाषा एक ही नही है। पश्चिमोत्तर भारत मे उर्दू और मध्य और दक्षिण भारत मे हिन्दी का अधिक प्रचलन है।

इस सम्बन्ध मे एक कुतर्क और प्रचलित है, वह यह कि मद्रास या बगाल के मुसलमान भी शुद्ध द्रविड या बगाली भाषाएँ ही बोलते है, उनकी मातृभाषा उर्दू नही है। परन्तु फिर वहाँ के हिन्दुओ की मातृभाषा भी तो हिन्दी नही है। अत. हिन्दी अथवा उर्दू उनके लिए एक द्वितीय भाषा ही हो सकती है। ऐसी स्थिति मे अपने धर्म और अपनी सस्कृति का परिचय पाने के लिए यदि बङ्गाल या मद्रास के मुसलमान हिन्दी के स्थान पर उर्दू सीखना चाहे तो इसमे आपत्तिजनक क्या है? इसी प्रकार पश्चिमोत्तर प्रान्तो के हिन्दू यदि अपनी मातृभाषा पश्तो, पजाबी, सिन्धी, काश्मीरी या बलूची आदि के साथ-साथ द्वितीय भाषा के रूप मे हिन्दी सीखना चाहे तो इस पर आपत्ति क्योकर की जा सकती है?

हमने ऊपर कहा कि राष्ट्रीय जाग्रति के साथ-साथ हिन्दी और उर्दू का भेद और भी बढता गया और यह कि इसमे कुछ भी रहस्यमय नही है। न इस बात पर क्षुब्ध होने की आवश्यकता है। कारण, इस भेद के बढ़ने से साहित्य की दृष्टि से केवल इतना ही तात्पर्य है कि दोनो भाषाओ ने अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल पर्याप्त विकास किया और अब वे न केवल दो भिन्न भाषाएँ ही है बल्कि उनका साहित्य-भण्डार भी इतना

समृद्ध और उन्नत हो गया है कि वे स्वतन्त्र भारत मे राष्ट्रभाषा का दायित्व भी उठा सकती है। राष्ट्रीय जागृति के बिना, इन दोनो भाषाओ का ऐसा अपूर्व विकास असम्भव होता, इस बात के लिए अधिक विस्तार मे जाने की आवश्यकता नही है। हिन्दी और उर्दू के स्वतन्त्र विकास से केवल ऐसे ही लोग विक्षुब्ध है जो अपने अनैतिहासिक दृष्टिकोण और इस बद्धमूल धारणा के कारण कि हिन्दू-मुस्लिम एकता अथवा समस्त भारत की अखण्डता के लिए एक ही राष्ट्रभाषा का होना अनिवार्य है, भारत की विशिष्ट वस्तु-स्थिति को समझ नही पाते। वे इस बात को समझ नही पाते कि राष्ट्रीय चेतना के परिणामस्वरूप ही देश के विभिन्न भागो मे जातीय चेतना उत्पन्न हो रही है साथ ही इन जातियो मे जो इस्लाम के अनुयायी है, वे चाहे नृशास्त्र की दृष्टि मे आर्य ही हो और हिन्दू ही धर्म परिवर्तन करके चाहे मुसलमान बन गये हो, परन्तु वे हिन्दू-धर्म, वर्ण-व्यवस्था और हिन्दू-विधान को स्वीकार नही करते और अब साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय चेतना प्राप्त करके तो वे अपनी सस्कृति, रस्म-रिवाज, सामाजिक-विधान और साहित्य के वैशिष्ठ्य को सुरक्षित रखने के लिए और भी सतर्क हो गये है। वस्तुत हमारे देश के ऐतिहासिक विकास-क्रम की ही यह विशिष्टता है कि राष्ट्रीय चेतना ने हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिकता का रूप ग्रहण किया है। जिन सामाजिक-योग-सूत्रो ने इस द्वैत को स्थायित्व प्रदान किया उसमे भिन्न सास्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक दृष्टिकोणो के अतिरिक्त अंग्रेजी शासन की दुरगी नीति का भी हाथ है, परन्तु राष्ट्रीय जागरण ने इस भेद-चैतन्य को और भी निखारा है यह एक ऐसा सत्य है जिसकी अवहेलना नही की जा सकती। इसमे औचित्य-अनौचित्य के नैतिक मानदण्डो का प्रयोग अनपेक्षित है। यह एक परिस्थितिजन्य सत्य है और कितने भी प्रचार से इसको बदल देना, पाँच-सात सौ वर्षों के ऐतिहासिक जीवन की स्मृतियो तक का उन्मूलन करने की असम्भव चेष्टा करना है।

अत राष्ट्रभाषा के विवाद मे पडने वाले विचारको को सर्वप्रथम उन दो बद्धमूल धारणाओ को अपने मन से निकाल देना चाहिए जिनके कारण यह प्रश्न एक न सुलझने वाली गुत्थी बन गया है। पहली धारणा यह कि समस्त भारत के लिए केवल एक ही राष्ट्रभाषा होनी चाहिए क्योकि तभी राष्ट्रीय एकता अथवा हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित की जा सकती है। राष्ट्रीय एकता और एक राष्ट्रभाषा, एक लिपि आदि मे कोई अन्योन्याश्रय सम्बन्ध नही है और फिर हमे अपने देश की विशिष्ट परिस्थितियो के अनुसार हल निकालने के लिए किसी पूर्व निश्चित धारणा को अपना जड सस्कार नही बना लेना चाहिए। दूसरी धारणा जिसको हमे निर्मूल करना है वह यह है कि हिन्दी और उर्दू दो प्रतिद्वन्द्वी भाषाएँ है अत हिन्दी और उर्दू के अलग-अलग दावे और कुछ लोगो द्वारा 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन। इस प्रतिद्वन्द्विता का अन्त करने के लिए राष्ट्रभाषा-पद के लिए हिन्दी और उर्दू को प्रतिद्वन्द्वी मानने का अर्थ है कि अन्त मे इनमे जिसकी विजय होगी वही राष्ट्रभाषा हो सकेगी, दूसरी को अपनी पराजय स्वीकार करके पीछे हटना पडेगा। यह धारणा अत्यन्त सकीर्ण और खतरनाक है। हिन्दी और उर्दू को प्रतिद्वन्द्वी कहने

का अर्थ है कि भारत मे हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियाँ प्रतिद्वन्द्वी है, अर्थात् उनके सामने प्रश्न है कि स्वतन्त्र भारत में हिन्दू राज्य करेगे अथवा मुसलमान राज्य करेगे। जो लोग हिन्दी अथवा उर्दू के पृथक् भाषा अस्तित्व से ही इन्कार करते है वे लोग कण्ठमुल्ला हिन्दू-सभावादियो अथवा मुस्लिम लीगियो के समान है जो हिन्दुस्तान को हिन्दुओ अथवा मुसलमानो का ही देश बताते है। अत. प्रतिद्वन्द्विता की धारणा को हमे समूल नष्ट करना पडेगा, क्योकि हिन्दी अथवा उर्दू प्रतिद्वन्द्वी भाषाएँ नही है बल्कि हमारे देश के ऐतिहासिक विकास-क्रम के अनुसार यह दोनो भाषाएँ एक साथ ही राष्ट्रभाषा होने की अधिकारी है, जिस प्रकार स्वतन्त्र भारत पर हिन्दू और मुसलमान दोनो ही साथ-साथ राज्य करने के अधिकारी है, चाहे स्वतन्त्र भारत 'अखण्ड भारत' हो अथवा हिन्दुस्तान और पाकिस्तान मे बँटा हो। अत. यदि हम इन दो बद्धमूल धारणाओ को त्याग दे तो 'हिन्दुस्तानी' गढ़ने की आवश्यकता न रहेगी और राष्ट्रभाषा की समस्या का समाधान अत्यन्त सरल हो जायगा।

यहाँ पर एक बात का स्पष्टीकरण कर देना अप्रासगिक न होगा। इस देश मे 'पाकिस्तान' और 'अखण्ड हिन्दुस्तान' का विवाद छिडा हुआ है। हमने अपने विवेचन मे अखण्ड अथवा विभाजित भारत को लक्ष्य मे रखकर कोई समाधान निकालने की चेष्टा नही की, क्योकि हमारी दृष्टि मे अखण्ड हिन्दुस्तान हो अथवा पाकिस्तान और हिन्दुस्तान अलग-अलग हो, दोनो दशाओ मे राष्ट्रभाषा के प्रश्न का वही समाधान हो सकता है जिस पर हम अभी विचार करेगे। किसी राजनीतिक-आर्थिक विभाजन से सास्कृतिक प्रश्नो के समाधानो मे कोई मौलिक परिवर्तन नही आयेगा, अधिक-से-अधिक मात्रा भेद ही हो सकेगा। क्योकि हम जनवाद के उन सिद्धान्तो के आधार पर इस प्रश्न का समाधान करना चाहते है जिनका आधार अखण्ड हिन्दुस्तान अथवा विभाजित हिन्दुस्तान की केन्द्रीय सरकारो को भी लेना पडेगा। अभी तक जिन विचारको ने इस प्रश्न पर सोचा है उन्होने जनवाद के सिद्धान्तो को आधार बनाकर राष्ट्रभाषा की समस्या का हल निकालने की चेष्टा नही की। फलतः उन्होने इस बात पर भी नही सोचा कि यदि भारत का विभाजन दो अथवा इससे अधिक भागो मे होना ही पडा तो उनका एक राष्ट्रभाषा का स्वप्न-लोक पल मात्र मे ढह जायगा। बहुमत के ज़ोर पर आज हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा मनवा भी ले तो कल यदि मुसलमानो ने अपना पाकिस्तान बना लिया तो वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा क्यो स्वीकार करने लगे? और फिर पाकिस्तान और हिन्दुस्तान मे यही विवाद दूसरा रूप लेकर उठ खड़ा हुआ तो उसका अन्त कहाँ होगा? पाकिस्तान के हिन्दू हिन्दी के लिए और हिन्दुस्तान के मुसलमान उर्दू के लिए फिर भी अपना सिर फोडते रहेगे। अतः अब तक यह विवाद जिस असयम के साथ निम्नस्तर पर चलता रहा है, उससे निकाल कर इसको जनवादी आधार देने की आवश्यकता है, कोई ऐसा समाधान ढूँढने की ज़रूरत है जिसके कारण इस समस्या का अपेक्षाकृत स्थायी फैसला हो जाय और राजनीतिक परिवर्तनों से राष्ट्रभाषा का भाग्य न बदलता रहे।

अतः उपरोक्त विवेचन से यदि पाठक अपने को उन दो बद्धमूल धारणाओ से मुक्त करने मे समर्थ हो गये हैं जिनके कारण राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर प्रगति अवरुद्ध है तो वे सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जायँगे कि हिन्दी और उर्दू वालो को यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि ये दोनो अलग-अलग स्वतन्त्र भाषाएँ है और चूँकि वे प्रतिद्वन्द्वी नही है अतः दोनो मे परस्पर विरोध का कोई प्रश्न नही उठाना चाहिए। ये दोनो पृथक् भाषाएँ खडी बोली की जमीन पर सस्कृत और फारसी के खाद-बीज से उत्पन्न दो पौधो के समान है जो भिन्न सस्कृतियो-हिन्दू और मुस्लिम से प्रभावित है। इन दोनो भाषाओ को एक साथ रहना है, क्योकि जनवाद का सिद्धान्त सास्कृतिक साम्राज्यवाद का उतना ही विरोधी है जितना आर्थिक-राजनीतिक साम्राज्यवाद का। इन दोनो को अपनी-अपनी सस्कृति की अभिवृद्धि का माध्यम बने रहना है और यह किसी महत्त्वाकाक्षा के वशीभूत होकर नही बल्कि उस अधिकार और दायित्व के कारण जो ऐतिहासिक विकास-क्रम और सामाजिक योग-सूत्र ने उन्हे सौपा है।

इस जनवादी उदार दृष्टि को प्राप्त करने पर राष्ट्रभाषा के प्रश्न का समाधान स्वत. स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् हिन्दी और उर्दू दोनो को समान रूप से राष्ट्रभाषा स्वीकार किया जाय। कम-से-कम पश्चिमोत्तर और मध्यदेश के लिए तो हिन्दी और उर्दू दोनो को राष्ट्रभाषा घोषित करना न केवल राष्ट्रीय काँग्रेस और मुस्लिम लीग का कर्तव्य है, वरन् हिन्दी साहित्य सम्मेलन और अजुमन तरक्की-ए-उर्दू का भी। दक्षिण भारत (द्राविडी भाषा-क्षेत्र) और बगाल का मत जान करके इन दो राष्ट्रभाषाओ को सार्वदेशिक प्रतिष्ठा प्रदान की जा सकती है। जबरन किसी पर राष्ट्रभाषा लादने का हमे अधिकार नही है, विशेषकर द्राविडी प्रान्तो पर, क्योकि उनकी भाषाएँ आर्य-हिन्द परिवार की भाषाएँ नही है और सम्भव है कि वे अपनी ही किसी भाषा को अपने प्रान्तो की राष्ट्रभाषा बनाना चाहे।

परन्तु हिन्दी और उर्दू दोनो राष्ट्रभाषाएँ स्वीकार की जायँ, इस प्रस्ताव के सम्पूर्ण मन्तव्य को समझ लेना आवश्यक है। महात्मा गान्धी और काँग्रेस की नीति यह है कि हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषाओ, अर्थात् न हिन्दी, न उर्दू बल्कि उनका सम्मिलित रूप हिन्दुस्तानी। उनके अनुसार यह भाषा अभी बनने के मार्ग मे है और उसे नये सिरे से गढने के प्रयत्न मे अजीब कुघड चेष्टाएँ की जा रही है जैसे टिकट का अनुवाद 'घरघुस' आदि। परन्तु एक बात जिस पर अब हिन्दुस्तानी वाले विशेष जोर देने लगे है वह यह है कि प्रत्येक काँग्रेस और राष्ट्रभाषा-प्रचार कार्यकर्ता को हिन्दी और उर्दू, दोनो लिपियाँ सीखनी चाहिएँ। यह आम खाने से इन्कार करके पेड गिनने पर ज़ोर देने की प्रवृत्ति है, अर्थात् महात्माजी का विचार है कि दोनो लिपियों को जानने मात्र से एक तीसरी सम्मिलित भाषा बन जायगी। दोनों लिपियाँ सीखिए पर दोनों भाषाएँ मत सीखिए, मानों ऐसा करने से एक तिलिस्म घटित हो जायेगा जिससे एक नई भाषा उत्पन्न हो जायेगी। हम ऐसे काल्पनिक समाधानों की व्यर्थता का विवेचन कर चुके है और पुन. यह कहने की आवश्यकता

नहीं है कि हिन्दुस्तानी (खडी बोली) की साहित्यिक प्रतिष्ठा हिन्दी तथा उर्दू के ही रूप मे हो सकती है, किसी तीसरे रूप मे नही । अत यह बताने की भी जरूरत नही है कि भाषाओ से लिपियो को अलग करके उनको सीखने पर जोर देना भी राष्ट्रभाषा के प्रश्न को टालने की चेष्टा करना है । सम्भव है कि गान्धी जी और हिन्दुस्तानी वाले इतना तो जानते ही है कि वर्तमान शिक्षण-व्यवस्था के अन्तर्गत भी द्वितीय भाषा के रूप मे प्रत्येक विद्यार्थी को हिन्दी अथवा उर्दू के साथ-साथ उर्दू अथवा हिन्दी की प्रारम्भिक पुस्तके पढनी पडती है जिसके कारण दोनो लिपियो का ज्ञान तो उन्हे हो ही जाता है । परन्तु फिर भी भाषा-भेद तो बना ही है । अत दोनो लिपियो का ज्ञान पर्याप्त नही है । हिन्दी और उर्दू दोनो को राष्ट्रभाषाएँ मानने का अभिप्राय केवल यही नही हो सकता कि दोनो लिपियो का समान रूप से प्रयोग तो हो, परन्तु भाषा एक ही हो। यह तो एक व्यक्ति को एक साथ ही कुरता-धोती और पाजामा-शेरवानी पहना कर प्रदर्शित करने के समान होगा। गाधी जी यह जानते है कि ऐसा करना असम्भव है और वे पश्चिमोत्तर और मध्यदेश की हिन्दुस्तानी के शैली-भेद को अभी अनिवार्य भी समझते है । परन्तु वे अपने चिन्तन के विरोधाभास को दूर करने का प्रयत्न न करके अविराम अँधेरे मे टटोलते रहना ही पसन्द करते है ।

इस नीति का एक ही परिणाम हो सकता है, वह यह कि राजकीय कार्यो मे आज जो स्थिति पश्चिमोत्तर प्रान्तो और मध्यदेश मे हिन्दी की है, वही स्थिति मध्यदेश मे उर्दू की हो जाय। अदालत मे उर्दू के साथ ही हिन्दी का प्रयोग भी स्वीकार कर लिया गया है, परन्तु दोनो लिपियो मे जिस भाषा का प्रयोग होता है, वह क्लिष्ट उर्दू भाषा है । अदालती सम्मन एक ओर उर्दू मे छपे होते है, दूसरी ओर हिन्दी मे । उर्दू लिपि वाले भाग की भाषा तो उर्दू होती ही है हिन्दी वाले भाग की भाषा भी उर्दू ही होती है क्योकि समस्त पारिभाषिक शब्द अरबी-फारसी के होते है । दोनो लिपियो मे हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लेने मे और पश्चिमोत्तर और मध्यदेश मे उसके शैली-भेद को भी स्वीकार कर लेने मे केवल इतना फरक पडेगा कि पश्चिमोत्तर प्रान्तो मे राजकीय कार्य उर्दू भाषा मे होगा, यद्यपि हिन्दी लिपि का भी समान रूप से ही प्रयोग होगा और मध्यदेश मे राजकीय कार्य हिन्दी भाषा मे होगा यद्यपि उर्दू लिपि का भी प्रयोग किया जायगा । यह स्थिति वर्तमान स्थिति से मूलत. भिन्न न होगी, केवल हिन्दी की स्थिति कुछ सुधर जायगी । फलत पश्चिमोत्तर प्रान्तो मे हिन्दी लिपि मे लिखी हिन्दी, हिन्दी न होगी और मध्यदेश की उर्दू, उर्दू न होगी। इस वैषम्य को इन दोनो भूखण्डो की हिन्दू अथवा मुस्लिम जनता कैसे स्वीकार कर लेगी, यह समझ मे नही आता। अत दोनो भाषाओ को समान रूप से राष्ट्रभाषा स्वीकार करने का यह अर्थ होगा कि हिन्दुस्तानी के प्रपञ्च को सदैव के लिए दफना दिया जायगा और राजकीय कार्यों मे पश्चिमोत्तर प्रान्तो अथवा मध्यदेश या दक्षिण भारत मे दोनो लिपियो मे जो भाषा लिखी जायगी वह साहित्यिक हिन्दी और साहित्यिक उर्दू के आदर्श को स्वीकार

करेगी। उर्दू और हिन्दी के पारिभाषिक शब्द एक किये जा सकते है, परन्तु जब तक वे प्रचलित नही हो जाते और विद्वान उनका निर्णय नही कर देते तब तक दोनो भाषाओ के अपने-अपने पारिभाषिक शब्दो का ही प्रयोग होना चाहिए।

इस प्रकार से हिन्दी और उर्दू दोनों को समान रूप से राष्ट्रभाषा सीखने का तात्पर्य यह होगा कि मुस्लिम-प्रधान प्रान्तो मे राजकीय कार्यो मे उर्दू भाषा का प्रयोग होगा, परन्तु वहाँ के अल्पसख्यक हिन्दुओ को हिन्दी-भाषा (केवल लिपि ही नही) का प्रयोग करने का समान अधिकार होगा। इसी प्रकार मध्यदेश (हिन्दू-प्रधान प्रान्तो) मे राजकीय कार्यो मे हिन्दी भाषा का प्रयोग होगा, परन्तु मुसलमानो को उर्दू भाषा (केवल लिपि ही नही) का प्रयोग करने का समान अधिकार होगा। अत प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य न होगा कि वह दोनो भाषाएँ और दोनो लिपियाँ सीखे ही। सरकारी कर्मचारियो के लिए ही ऐसी विशेष योग्यता आवश्यक होगी, क्योकि सारा सरकारी कार्य दोनो भाषाओ मे होगा और सरकारी विज्ञप्तियाँ आदि दोनो भाषाओ और दोनो लिपियो मे निकलेगी। सर्वसाधारण जिस राष्ट्रभाषा को जानते है, उसका ही प्रयोग करेगे।

जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, यह प्रश्न विचारणीय है कि प्रारम्भ मे विभिन्न भाषा-क्षेत्रो मे उच्चशिक्षा का माध्यम क्या होगा, क्योकि अभी तक सभी प्रान्तिक भाषाओ का विकास समान नही हुआ है। परन्तु यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समूची शिक्षा, प्राथमिक से लेकर उच्चतम तक, अपनी मातृभाषा मे प्राप्त करने का अधिकार है। ऐसी दशा मे समूचे देश का भाषागत् प्रान्तो मे पुनर्विभाजन करने की आवश्यकता होगी, और भाषा-क्षेत्रो का निर्णय जरूरी होगा। इस आधार पर हिन्दी प्रान्तो का भी पुनर्विभाजन करना होगा, क्योकि इन क्षेत्रो मे लगभग २० भाषाएं और बडी बोलियाँ बोली जाती है। साहित्यिक हिन्दी सर्वत्र मातृभाषा के रूप मे नही बोली जाती। उदाहरण के लिए इस सिद्धान्त के अनुसार यदि मैथिली जनपद का भाषा-क्षेत्र निर्णीत कर दिया गया तो वहाँ की प्राथमिक और उच्च शिक्षा का माध्यम मैथिली होगी जो हिन्दू और मुसलमानो दोनो को समान रूप से सीखनी होगी, क्योकि नगरो मे उत्तर भारत मे जाकर बसे कुछ परिवारो को छोडकर, जिनकी मातृभाषा उर्दू (खडी बोली) है, वहाँ के आम मुसलमानो की मातृभाषा भी मैथिली ही है। राष्ट्रभाषाएँ अनिवार्य द्वितीय भाषा के रूप मे उच्च कक्षाओ मे सिखायी जायेंगी। यहाँ हिन्दी और उर्दू मे विकल्प होगा, विद्यार्थी जिस राष्ट्रभाषा को चाहेगा, चुन लेगा। यही नियम गुजराती, मराठी, सिन्धी, पजाबी, पश्तो, काश्मीरी आदि अ-हिन्दी और अ-उर्दू भाषा क्षेत्रो पर भी लागू होगा। इस प्रकार सारे देश मे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार हिन्दी अथवा उर्दू मे से अपनी राष्ट्रभाषा चुनने का अवसर मिल जायगा। इससे न हिन्दुओ को असुविधा होगी, न मुसलमानो को। सीमाप्रान्त के हिन्दू अथवा मद्रास के मुसलमान को हिन्दी अथवा उर्दू सीखकर अपनी सास्कृतिक परम्पराओ तक पहुँचना सुगम और सुलभ होगा। अहिन्दी-अउर्दू प्रान्तो के निवासियो के लिए तो दो लिपियो का सीखना इससे अनिवार्य हो ही जायगा। गुजराती

अपनी गुजराती लिपि सीखेगे, साथ ही उन्हें हिन्दी तथा उर्दू मे से एक लिपि सीखनी होगी। वर्तमान हिन्दी-उर्दू प्रान्तों मे दोनो लिपियो का सीखना अनिवार्य किया जा सकता है, परन्तु अभी यह प्रश्न विचारणीय है। उत्तरी दोआब (अन्तर्वेद) मे तो कम-से-कम हिन्दी और उर्दू दोनो भाषाओ और लिपियो का जानना अनिवार्य किया ही जा सकता है, क्योकि वहाँ की मातृभाषा खडी बोली है जिससे ये दोनों भाषाएँ निकली है। परन्तु ये सब ऐसे प्रश्न है जिन पर अभी अन्तिम रूप से कोई सुझाव नही दिया जा सकता। परन्तु जिन जनपदो की भाषा मे अभी उच्च कोटि का साहित्य नही है, वहाँ पर मातृभाषा मे उच्च शिक्षा देने मे कठिनाई पड सकती है। ऐसी स्थिति मे राज्य की ओर से उन भाषाओ को विकास के लिए प्रोत्साहन देना अपेक्षित होगा, तथा प्रारम्भ मे उच्च शिक्षा का माध्यम राष्ट्रभाषाओ को बनाना होगा। उच्च शिक्षा मे हमे एक विदेशी भाषा का जानना भी अनिवार्य करना पडेगा। कदाचित् इस आवश्यकता को सभी महसूस करते है।

हिन्दी और उर्दू दोनो को समान रूप से राष्ट्रभाषाएँ मान लेने से केवल विशिष्ट-शिक्षा (विज्ञान, चिकित्सा, इजीनियरिग आदि) के मार्ग मे कठिनाइयाँ उत्पन्न होने की सम्भावना रह जायगी, क्योकि पारिभाषिक शब्द सस्कृत से लिए जाये अथवा अरबी-फारसी से, इस पर विवाद उठेगा। परन्तु दोनो को समान रूप से राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लेने के उपरान्त जो सद्भावना का वातावरण उत्पन्न होगा उसमे विद्वानो को इस प्रश्न पर विचार करने की पर्याप्त सुविधा होगी कि पारिभाषिक शब्द अलग-अलग हो अथवा उनका अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप ही स्वीकार कर लिया जाय और उनकी व्याख्या हिन्दी और उर्दू भाषाओ मे अलग-अलग की जाय, आदि।

इस प्रकार हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के विवाद का अध्ययन करके हम इस परिणाम पर पहुँचे है कि हिन्दी और उर्दू दोनो को ही समान रूप से राष्ट्रभाषाएँ स्वीकार करना चाहिए। भारत जैसे महाप्रदेश के लिए दो राष्ट्रभाषाओ का होना अनभीष्ट नही समझना चाहिए, क्योकि इस प्रश्न का और कोई दूसरा समाधान नही हो सकता।

—अक्तूबर १९४६

परिशिष्ट

१

पंचवर्षीय जनपद कल्याणी योजना

वर्ष १——साहित्य, कविता, लोकगीत, कहानी आदि जनपदीय साहित्य के विविध अङ्गो की खोज और सग्रह। वैज्ञानिक पद्धति मे उनका प्रकाशन और सम्पादन।

वर्ष २——भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जनपदीय भाषा का सागोपाग अध्ययन—— अर्थात् उच्चारण और ध्वनि-विज्ञान, शब्दकोष, प्रत्यय, धातुपाठ, मुहावरे, कहावत और नाना प्रकार के पारिभाषिक शब्दो का सग्रह और आवश्यकतानुसार सचित्र सम्पादन।

वर्ष ३——स्थानीय भूगोल, स्थानो के नाम की व्युत्पत्ति और उनका इतिहास। स्थानीय पुरातत्त्व और शिल्प का अध्ययन।

वर्ष ४——पृथ्वी के भौतिक रूप का समग्र परिचय प्राप्त करना——अर्थात् वृक्ष वनस्पति, मिट्टी, पत्थर, खनिज, पशु-पक्षी, धान्य, कृषि, उद्योग-धन्धो का अध्ययन।

वर्ष ५——जनपद के निवासी-जनो का सम्पूर्ण परिचय—अर्थात् मनुष्यो की जातियाँ, लोक का रहन-सहन, धर्म-विश्वास और रीति-रिवाज, नृत्य-गीत और आमोद-प्रमोद, पर्व-उत्सव, मेले, खान-पान, स्वभाव के गुण-दोष, चरित्र की विशेषताएँ, इन सबकी बारीक छानबीन और पूरी जानकारी प्राप्त करके ग्रन्थ रूप मे प्रस्तुत करना।

यह पञ्चविधि योजना वर्षानुक्रम मे पूरी की जा सकती है, अथवा एक साथ ही प्रत्येक क्षेत्र मे कार्यकर्त्ताओ की इच्छानुसार प्रारम्भ की जा सकती है। किन्तु यह आवश्यक है कि वार्षिक कार्य का विवरण प्रकाशित होता रहे। प्रत्येक जनपद अपने क्षेत्र के साधनो को एकत्र करके 'मधुकर', 'व्रजभारती' और 'बान्धव' के ढग के पत्र प्रकाशित करे तो और अच्छा है। स्थानीय कार्यकर्त्ताओ की सूची तैयार होनी चाहिए और कार्य के सम्पादन के लिए विविध समितियो का सगठन करना चाहिए। उदाहरणार्थ कुछ समितियो के नाम ये है .——

(१) भाषा समिति——जनपदीय भाषा का अध्ययन, वैज्ञानिक खोज और कोष का निर्माण। धातु पाठ और पारिभाषिक शब्दो का सग्रह इसी के अन्तर्गत होगा।

(२) भूगोल या देश-दर्शन समिति——भूमि का आँखो देखा भौगोलिक वर्णन तैयार करना। स्थानो के प्राचीन नामो की पहिचान, नदियो के सागोपाग वर्णन तैयार करना।

(३) पशु-पक्षी-समिति——अपने प्रदेश के सत्वो की पूरी जाँच-पडताल करना इस समिति का कार्य होना चाहिए। इस विषय मे लोगो की जानकारी से लाभ उठाना, नामो की सूचियाँ तैयार करना, अग्रेजी मे प्रकाशित पुस्तको से नामो का मेल मिलाना आदि

विषयों को अध्ययन के अन्तर्गत लाना चाहिए।

(४) वृक्ष-वनस्पति-समिति--पेड़, पौधे, जड़ी-बूटी, फूल-फल-मूल सबका विस्तृत संग्रह तैयार करना।

(५) ग्राम-गीत-समिति--लोक-गीत, कथा-कहानी आदि के संग्रह का कार्य।

(६) जन-विज्ञान-समित--विभिन्न जातियों और वर्णों में लोगों के आचार-विचार और रीति-रिवाजों का अध्ययन।

(७) इतिहास-पुरातत्त्व-समिति--प्राचीन इतिहास और पुरातत्व की सामग्री की छानबीन, उसका अध्ययन, संग्रह और प्रकाशन। पुरातत्व सम्बन्धी खुदाई का भी प्रबन्ध करना।

(८) कृषि-उद्योग-समिति--जनता के कृषि-विज्ञान, उद्योग-धन्धों और खनिज पदार्थों का अध्ययन।

इस प्रकार साहित्यिक दृष्टिकोण को प्रधानता देते हुए, अपने लोक का रुचि के साथ एक सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करना इस योजना का उद्देश्य है।

—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

२

मातृभाषाओं के जनपदों की सूची

भाषा	जनपद	राजधानी
हिन्दकी	पश्चिमी पञ्जाब	रावलपिण्डी
मध्य-पञ्जाबी	मध्य-पञ्जाव	लाहौर
पूर्वीय-पञ्जाबी	पूर्वी-पञ्जाब	लुधियाना
सिन्धी	सिन्ध	कराची
मुल्तानी	मुल्तान	मुल्तान
काश्मीरी	काश्मीर	श्रीनगर
पश्चिमी पहाडी	त्रिगर्त	काँगडा
हरियानी	हरयाना	दिल्ली
मारवाडी	मारवाड	जोधपुर
बैराटी	विराट	जयपुर
मेवाडी	मेवाड	उदयपुर
मालवी	मालवा	उज्जैन
बुन्देली	बुन्देलखण्ड	झाँसी
ब्रज	सूरसेन	आगरा
कौरवी	कुरु	मेरठ
पञ्चाली	रुहेलखण्ड	बरेली
गढवाली	गढवाल	श्रीनगर
कूर्माचली	कूर्माचल	अल्मोडा
कौसली	कौसल (अवध)	लखनऊ
वात्सी	वत्स	प्रयाग
चेदिका	चेदि	जबलपुर
बघेली	बघेलखण्ड	रीवा
छत्तीसी	छत्तीसगढ	बिलासपुर
काशिका	काशी	बनारस
मल्लिका	मल्ल	छपरा
बज्जिका	बज्जी	मुज़फ़्फ़रपुर

मैथिली	विदेह (तिर्हुत)	दरभगा
अङ्गिका	अङ्ग	भागलपुर
मागधी	मगध	पटना
सन्थाली	सन्थाल परगना	जसीडीय

—राहुल सांकृत्यायन

३

संयुक्त प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक सघ की कौसिल का प्रस्ताव

(श्री शिवदानसिह चौहान की रिपोर्ट पर बहस के उपरान्त कौसिल का यह मत हुआ कि 'जनपदीय भाषाओ का प्रश्न' बहुत व्यापक है और एक ही बैठक मे श्री चौहान की रिपोर्ट के सब अङ्गो पर सम्यक् विचार करके कोई अन्तिम निर्णय कर लेना असम्भव है, अत अभी इस प्रश्न का और अध्ययन किया जाना चाहिए। अत कौसिल ने श्री चौहान के मूल प्रस्ताव को सशोधन करके निम्न रूप मे स्वीकार किया।)

युक्त प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक सघ की यह कौसिल हिन्दी-भाषी क्षेत्रो, विशेषकर राजस्थानी, मैथिली, बुन्देलखण्डी और ब्रजभाषा क्षेत्रो मे जनपद आन्दोलन के सूत्रपात का स्वागत इस दृष्टि से करती है कि यह आन्दोलन इन प्रदेशो मे रहने वाली जनता की इस आकाक्षा का परिचायक है कि उनकी मातृभाषा और सस्कृति का भी स्वतन्त्र, सम्पूर्ण तथा स्वस्थ विकास हो।

कौसिल को यह देखकर दु ख हुआ है कि अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के जयपुर अधिवेशन ने इस आन्दोलन को अवाञ्छनीय और हानिकर बतलाया है। इस कौसिल का विचार है कि इस आन्दोलन का विरोध करने वाली सस्थाओ तथा व्यक्तियो को यह आशका है कि विभिन्न भाषाओ और सस्कृतियो का विकास समस्त भारतवर्ष के लिए एक राष्ट्रभाषा बनाने के मार्ग मे व्याघात उपस्थित करेगा। इस आशका मे पडकर हमे इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या मे निहित आधारभूत प्रश्नो को आँख से ओझल न कर देना चाहिए।

इस कौसिल का निश्चित मत है कि जनपदीय भाषाओ के स्वतन्त्र विकास से इन प्रदेशो की स्वतन्त्र सस्कृतियो और निजी विशेषताओ का समुचित प्रस्फुटन होगा। इसके साथ-ही-साथ जनपदीय भाषाओ के विकास से जन-शिक्षा के कार्य मे सहायता मिलेगी और देश के सबसे पिछडे हुए, विस्मृत कोनो मे भी जन-साहित्य के विकास को अप्रत्याशित बल मिलेगा।

इस कौसिल का यह मत है कि ऐतिहासिक रूप से देखने पर जनपद आदोलन हमारी बढती हुई राष्ट्रीय चेतना का परिणाम ही सिद्ध होता है। यह चेतना विभिन्न प्रदेशों की जनता की इस प्रजातान्त्रिक माँग के रूप मे अभिव्यक्ति पा रही है कि उसे अपनी भाषा और सस्कृति की रक्षा और विकास का अधिकार मिले।

अत यह कौसिल इस आन्दोलन के सम्बन्ध मे उठाये गये सन्देहो को न्यायोचित

नहीं समझती। यह समझती है कि हम सबको इस आन्दोलन से उठने वाली मौलिक समस्याओं का गम्भीर अध्ययन करना चाहिए। इस अध्ययन से यह लाभ होगा कि हम इस आन्दोलन का कुछ लोगो के विरोध की प्रतिक्रिया-स्वरूप अस्वस्थ विच्छेदमूलक धारा में प्रवाहित होने से बचाते हुए उसे रचनात्मक दिशा मे लेजा सकेंगे।

अत. यह कौसिल सभी हिन्दी और उर्दू लेखको से अनुरोध करती है कि वे इस समस्या का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करे और जनपद आन्दोलन के समुचित विकास मे सहायक हों।

—प्रस्तावक : शिवदानसिंह चौहान

—अनुमोदक : डॉ० रामविलास शर्मा

हमारा प्रसिद्ध आलोचनात्मक साहित्य

गुलाबराय

काव्य के रूप	५.००
सिद्धान्त और अध्ययन	६.००
अध्ययन और आस्वाद	७.५०
हिन्दी-काव्य-विमर्श	४.००
मन की बातें	३.५०

गुलाबराय : स्नातक

आलोचक रामचन्द्र शुक्ल	६.५०

सहल : स्नातक

कामायनी-दर्शन	४.००

स्नातक : सुमन

हिन्दी-साहित्य और उसकी प्रगति	३.५०
आधुनिक हिन्दी साहित्य	२ ००

सुमन : मल्लिक

साहित्य-विवेचन	७.००
साहित्य-विवेचन के सिद्धान्त	३.५०

यज्ञदत्त शर्मा

कबीर-साहित्य और सिद्धान्त	३.००
सूर-साहित्य और सिद्धान्त	३.००
जायसी-साहित्य और सिद्धान्त	३.००
तुलसी-साहित्य और सिद्धान्त	३.००
प्रबन्ध-सागर	६.५०
आदर्श पत्र-लेखन	८.००
आदर्श भाषण-कला	८.००

जयनाथ 'नलिन'

हिन्दी-नाटककार	५.५०
हिन्दी-निबन्धकार	६ ५०

शचीरानी गुर्टू

हिन्दी के आलोचक	८.००
महादेवी वर्मा	६ ५०
सुमित्रानन्दन पन्त	६.५०

आचार्य विश्वेश्वर

हिन्दी-काव्यालंकार-सूत्र	१२.००
हिन्दी-वक्रोक्तिजीवितम्	१६.००

डॉ० सावित्री सिन्हा

मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ	८·००
अनुसन्धान के स्वरूप	३.५०

डॉ० विमलकुमार जैन

सूफीमत और हिन्दी-साहित्य	८.००

डॉ० सुधीन्द्र

हिन्दी-कविता में युगान्तर	८.००

ब्योहार राजेन्द्रसिंह

आलोचना के सिद्धान्त	४.००

नन्ददुलारे वाजपेयी

महाकवि सूरदास	४.००

हंसराज रहबर

प्रेमचन्द-जीवन, कला और कृतित्व	७.००

महावीर अधिकारी

प्रसाद-जीवन, कला और कृतित्व	८.००

रामवृक्ष बेनीपुरी

वन्दे वाणी विनायको	३.००

मोहनलाल जिज्ञासु

कहानी और कहानीकार	३.५०

देवराज उपाध्याय

रोमांटिक साहित्य-शास्त्र	४.००

अशोककुमार सिंह

उद्धवशतक-परिशीलन	२.००

प्रभाकर माचवे

सन्तुलन	४.५०

रामकृष्ण शुक्ल

कला और सौन्दर्य	३.५०

ललिताप्रसाद सुकुल

साहित्य-जिज्ञासा	३.००

हरिश्चन्द्र खन्ना

रेडियो-नाटक	६ ५०

मन्मथनाथ गुप्त

प्रगतिवाद की रूपरेखा	७.००

राजेन्द्र द्विवेदी

साहित्य-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द-कोष	८.००

बालमुकुन्द अर्श मलसियानी

मुहावरे और कहावतें	५.००

शिवदानसिंह चौहान

साहित्यानुशीलन	६.००



आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६